कुल्लूकभट्टविरचित

मन्वर्थमुक्तावली संस्कृत टीका एवं हिन्दीभाषानुवाद

सम्पादक एवं अनुवादक

डॉ० राकेश शास्त्री

कुल्लूकभट्टविरचित

मन्वर्थमुक्तावली संस्कृत टीका एवं हिन्दीभाषानुवाद

सम्पादक एवं अनुवादक

डॉ० राकेश शास्त्री

मनुस्मृतिः

कुल्लूकभट्टविरचित

मन्वर्थमुक्तावली संस्कृत टीका एवं हिन्दीभाषानुवाद

(प्रथम भाग)

सम्पादक एवं अनुवादक
डॉ. राकेश शास्त्री
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
राजकीय महाविद्यालय, राजसमन्द (राजस्थान)

विद्यानिधि प्रकाशन
दिल्ली

MANUSMṚTI

With the Sanskrit commentary
Maṇvartha-Muktāvalī of
KULLŪKABHAṬṬA
and Hindi Translation

Volume I

Editor and Translator
DR. RAKESH SHASTRI

VIDYANIDHI PRAKASHAN
DELHI

प्राक्कथन

वैदिक संस्कृत वाङ्मय में धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा हमारे समाज की व्यवस्था एवं दिशा निर्धारित होती रही है। इसीकारण ये ग्रन्थ हमेशा समाज में आदृत रहे हैं। इन ग्रन्थों में मनुस्मृति का 'मानक' स्थान रहा है। एक समय था कि मनुस्मृति के अनुसार अपनी जीवनशैली जीने वाला तथा अपने राज्य को इसके सिद्धान्तों के अनुसार संचालित करने वाला राजा, श्रेष्ठ एवं अग्रणी माना जाता था।

आचार्य मनु की स्मृति वस्तुतः धर्मग्रन्थ न होकर एक व्यवस्थापक ग्रन्थ कहा जा सकता है। जिसमें तात्कालिक जीवनपद्धति के सिद्धान्तों को विस्तारपूर्वक निबद्ध किया गया है, साथ ही उनके पालन की अनिवार्यता भी प्रतिपादित की गई है। यह बात अलग है कि वर्तमान सामाजिक परिवेश में मनुस्मृति में प्रतिपादित अनेक बातें बेमानी प्रतीत होती हों, किन्तु फिर भी इसके महत्त्व को पूर्णरूप से नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि हमारे समाज में प्रचलित कानून 'हिन्दू कोड बिल' का मुख्य आधार मनुस्मृति ही रही है।

अत: आज भी भारतीय समाज की धार्मिक, सामाजिक एवं अनेक अर्थों में राजनैतिक व्यवस्थाओं के निर्धारण में इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है। साथ ही प्राचीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पद्धतियों की जानकारी भी हमें इस ग्रन्थ से सहज ही हो जाती है।

यद्यपि स्मृतियों की संख्या सौ से भी अधिक रही है तथापि इनमें जो सम्मान याज्ञवल्क्यस्मृति एवं मनुस्मृति को प्राप्त हुआ, वह किसी अन्य स्मृति-ग्रन्थ को प्राप्त नहीं हो सका। यही कारण है कि या तो उनका केवल नामोल्लेख ही आज प्राप्त होता है अथवा वे प्रचलन से पूर्णतया बाहर हो गयी हैं। मनुस्मृति के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए ही अनेक टीकाकारों ने इस ग्रन्थ पर अपनी-अपनी टीकाओं का प्रणयन किया है। जिनमें मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभट्ट, सर्वज्ञनारायण, राघवानन्द, मणिराम, रामचन्द्र, नन्दन एवं भारुचि, विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

श्री जयन्तकृष्ण, हरिकृष्ण दुबे ने १९७२ ई० में नौ संस्कृत टीकाओं के साथ

मनुस्मृति का प्रकाशन बम्बई से कराया तथा इससे पूर्व श्री विश्वनाथ मण्डलीक द्वारा भी सन् १८८६ ई० में मनुस्मृति का सात टीकाओं के साथ सम्पादन किया गया जो दो खण्डों में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। इतने विद्वानों द्वारा इस ग्रन्थ की टीका से इसके महत्त्व का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है तथापि उक्त सभी टीका ग्रन्थों में जो समादर विद्वत्समाज द्वारा आचार्य मेधातिथि के मनुभाष्य, गोविन्दराज की मनुटीका एवं आचार्य कुल्लूकभट्ट विरचित 'मन्वर्थमुक्तावली' को प्रदान किया गया, वह अन्य टीकाओं को प्राप्त नहीं हो सका।

किन्तु इन तीनों टीकाओं में भी आचार्य कुल्लूकभट्ट की 'मन्वर्थमुक्तावली' सर्वाङ्गपूर्ण टीका होने के साथ-साथ कुछ विशेष ही कही जा सकती है। यही कारण है कि कुछ विश्वविद्यालयों ने मनुस्मृति की इस टीका को भी पाठ्यक्रम में निर्धारित किया हुआ है। यद्यपि मनुस्मृति पर अभी तक अनेक हिन्दी व्याख्याओं एवं अनुवाद आदि का प्रकाशन हुआ है तथापि प्रत्येक विद्वान् का अपना दृष्टिकोण एवं सोच होती है। इसलिए किसी भी प्राचीन कृति के किए गए अनुवाद को अन्तिम नहीं कहा जा सकता है। उस दिशा में निरन्तर चिन्तन ही नई-नई दृष्टियों का जन्मदाता है।

इसी दृष्टि से विद्यानिधि प्रकाशन के लिए दिल्ली विश्वविद्यालय में स्नातक संस्कृत स्तर पर निर्धारित मनुस्मृति के द्वितीय एवं सप्तम अध्याय की मन्वर्थमुक्तावली सहित हिन्दी व्याख्या लिखने के पश्चात्, प्रकाशन के व्यवस्थापक श्री बद्रीनाथ तिवारी के विशेष आग्रह पर 'मन्वर्थमुक्तावली' सहित सम्पूर्ण मनुस्मृति का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का मैंने मानस बनाया।

इस प्रसङ्ग में यह बात विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि इस बात को स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करना चाहिए कि वर्तमान मनुस्मृति में अनेक श्लोक बाद में विद्वानों द्वारा जोड़ दिए गए हैं, किन्तु उनकी पहचान, वह भी सही-सही करना अत्यन्त दुरुह कार्य है। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली द्वारा विशुद्धस्मृति का प्रकाशन करके निःसन्देह प्रशंसनीय कार्य किया गया है। विद्वद्द्वय द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ में सतर्क कुल २६८५ श्लोकों में से १५०२ को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। यद्यपि यहाँ तर्क अत्यन्त प्रभावी रहे हैं, किन्तु सम्पूर्ण विद्वत्समुदाय इससे पूर्णतः सहमत नहीं है। अतः इस सम्पूर्ण विवाद से बचने की दृष्टि से ही यहाँ सभी श्लोकों को प्रस्तुत करते हुए अनुवाद किया गया है। इस संस्करण में निर्णयसागर संस्करण एवं कुल्लूक भट्ट की टीका का मूलरूप से उपयोग किया गया है।

अनेक व्यस्तताओं बाधाओं के परिणामस्वरूप परमपिता परमेश्वर की असीम

अनुकम्पा से यह अनुवाद आपके हाथों में है। यद्यपि इसमें अनुवाद करते समय मन्वर्थमुक्तावली की भावना को विशेषरूप से दृष्टिगत रखा गया है तथापि अनेक स्थलों पर अपने विचारों के अनुरूप भी अर्थ किया है। ग्रन्थ की उपयोगिता में श्रीवृद्धि करने हेतु आरम्भ में विस्तृत भूमिका एवं अन्त में श्लोकानुक्रमणिका का निबन्धन किया गया है।

यह प्रस्तुतीकरण कैसा बन पड़ा है? इसका निर्धारण तो सहृदय विद्वत्समुदाय ही करेगा, पुनरपि मेरा यह तुच्छ प्रयास, ग्रन्थ की भावनाओं को उपयुक्त रूप से प्रस्तुत करने में, यदि थोड़ा भी सफल हो सका तो मैं स्वयं को कृत्कृत्य समझूँगा।

ग्रन्थ को सुन्दररूप में प्रकाशन का सम्पूर्ण श्रेय विद्यानिधि प्रकाशन के स्वामी श्री बद्रीनाथ तिवारी को है। साथ ही इस ग्रन्थ में जो कुछ भी अच्छाइयाँ हैं वे सब गुरुकृपा का फल है तथा सभी त्रुटियाँ मेरी अज्ञानता स्वरूप हुई हैं। आशा है विद्वद्गण एतदर्थ क्षमा प्रदान करके मार्गदर्शन एवं आशीर्वाद देते हुए अनुगृहीत करेंगे।

अन्त में उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। जिनके ग्रन्थों से इसके लेखन में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्षरूप से सहायता प्राप्त हुई। इति शुभम् ।।

डॉ. राकेश शास्त्री

वन-जे-३८, केशवनगर, हाउसिंग बोर्ड
बांसवाड़ा (राज०)
दूरभाष : ०२९६२/२५००२६
मोबाइल : ९४१४१०२६३६

विषयानुक्रमणिका

मूल, मन्वर्थमुक्तावली वर्ण्यविषय एवं हिन्दी अनुवाद

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याम

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

परिशिष्ट

भूमिका

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में 'धर्म एवं कर्म' इन दोनों शब्दों का प्रयोग लगभग एक ही अर्थ में होता था, तभी तो आचार्य मनु ने मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में स्मृति को धर्मशास्त्र की संज्ञा प्रदान की है– 'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'[१]। अभिधानचिन्तामणिकार ने भी इसीप्रकार के भाव अभिव्यक्त किए हैं– 'धर्मशास्त्रं स्यात् स्मृतिः'।[२]

इसके अतिरिक्त आचार्य गौतम ने भी स्मृति को धर्मशास्त्र के रूप में उद्धृत करते हुए मनु एवं याज्ञवल्क्य को उसका प्रणेता बताया है–'स्मृति धर्मशास्त्राणि, तेषां प्रणेतारः.......मनुयाज्ञवल्क्यादयः।' आचार्य वसिष्ठ भी स्मृति को धर्म का उपादान स्वीकार करते हैं।[३]

किन्तु यदि हम सूक्ष्मदृष्टि से विचार करें तो सम्पूर्ण स्मृति–साहित्य में धर्म की वैसी व्याख्या उपलब्ध नहीं है, जैसा आज इसे परिभाषित किया जाता है। यहाँ तो वस्तुतः धर्म से अभिप्राय कर्म से ही है, क्योंकि इस ग्रन्थ में सर्वत्र समाज के विभिन्न वर्गों के लिए कर्तव्यकर्म का उपदेश दिया गया है। इसलिए इसे कर्मशास्त्र की संज्ञा प्रदान करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

'स्मृति' शब्द वस्तुतः एक विचारधारा का भी प्रतिनिधित्व करता है। पाणिनीय धातुपाठ में पठित √ स्मृ धातु के अर्थ भी इस कथ्य की पुष्टि करते हैं। वहाँ भ्वादिगण में दो बार पठित √ स्मृ धातु के उन्होंने क्रमशः "√ स्मृ–आ ध्याने" तथा "√ स्मृ-चिन्तायाम्" अर्थ किए हैं अर्थात् स्मृतियों की संरचना, स्मृतिकारों ने वेदों का ध्यान करके, उनके अभिप्राय एवं सिद्धांतों को, लोक की स्मृद्धि, उन्नति एवं बौद्धिक तथा शारीरिक आदि सभी प्रकार के विकास की दृष्टि से की।

तत्पश्चात् स्वादिगण में पठित √ स्मृ धातु का आचार्य पाणिनि ने एक अर्थ 'प्रीतिसेवनयोः' भी किया है अर्थात् स्मृतिग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धांतों का सम्पूर्ण

---

१. मनुस्मृति, २/१०.

२. अभिधानचिन्तामणि, २/१६५.

३. वसिष्ठ स्मृति, १.४.

तात्कालिक समाज अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक सेवन करता था। जो व्यक्ति इनका पालन नहीं करता था, उसे हेयदृष्टि से देखा जाता था। शङ्कराचार्य ने 'स्मृति' शब्द का अपेक्षाकृत व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए इसे पाणिनीय व्याकरण, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, महाभारत आदि अर्थों में प्रयुक्त माना है। इसीकारण उन्होंने 'पाणिनि स्मृतिरिति' इसप्रकार अनेकशः प्रयोग किया है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी स्मृति शब्द का प्रयोग हुआ है।[1] मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि ने 'अनुभूत अर्थ विषयक विज्ञान' को स्मृति कहा है।

अनुभूतार्थ विषयकं विज्ञानं स्मृतिरुच्यते।

(मनुस्मृति टीका, २/६)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहना ही उपयुक्त होगा कि 'स्मृति-साहित्य' वस्तुतः हमारे प्राचीन ऋषियों, मुनियों, विद्वानों का सुव्यवस्थित चिन्तन है, जिसे उन्होंने वैदिक परम्परा का ध्यान रखते हुए लोकहित में प्रतिपादित किया। सामाजिक मर्यादा बनाए रखने की दृष्टि से सम्पूर्ण मानव समाज के लिए कर्तव्यकर्मों का उपदेश दिया। जिसका समाज के सभी वर्गों द्वारा अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक सेवन किया गया। इसलिए सम्पूर्ण स्मृतिसाहित्य को वस्तुतः धर्मशास्त्र न कहकर कर्मशास्त्र कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि मनुस्मृति में धर्म के नाम पर कहीं भी पूजापाठ, देवी-देवताओं की अभ्यर्चना की अनुशंसा नहीं की गयी है।

इसीकारण मनुस्मृति का अध्ययन करने पर हमें तात्कालिक समाज की परिकल्पना साकार हो उठती है, क्योंकि इसमें ग्रन्थकार ने उन कर्त्तव्यों एवं व्यवहारों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, जो उस समय की परिस्थितियों में आवश्यक रहे होंगे। यह बात दूसरी है कि वर्तमान समय में उनमें से अधिकांश अप्रासङ्गिक हो गए हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और हमें यहाँ देखने को मिलती है कि मनुस्मृतिकार के समय में नीति का निर्धारण करने वाले, सभी विद्वान् प्रायः कठोर व्यवस्था के प्रबल समर्थक रहे। यही कारण है कि कर्तव्यकर्मों का समुचितरूप से पालन न करने पर यहाँ कठोर दण्डविधान किया गया है।

साथ ही इस ग्रन्थ के अध्ययन से हम यह भी निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि तात्कालिक समाज में ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च था। दण्डस्वरूप भी उसकी हत्या का पूर्णतः निषेध था। अज्ञानवश भी उसकी हत्या होने पर महापातक की कोटि में आने

१. तैत्तिरीय आरण्यक, १/२.

के कारण यहाँ कठोर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है, वेदविद् होना उसकी सर्वोच्च योग्यता थी तथा राजा भी उसे नमन करता था। आचार्य मनु सवर्णविवाह के पक्षधर थे। वर्णसंकर सन्तति को उन्होंने अनेक स्थलों पर हेय माना है, इस दृष्टि से हमें मनुस्मृति का अध्ययन तात्कालिक समाज का यथार्थचित्र प्रस्तुत करने में सहायक प्रतीत होता है।

वर्तमान मनुस्मृति में १२ अध्यायों के अन्तर्गत कुल २६८४ श्लोकों का प्रयोग हुआ है, जिन पर आचार्य कुल्लूक भट्ट ने 'मन्वर्थमुक्तावली' का प्रणयन किया है। किन्तु मनुस्मृति के नाम से १७० श्लोक ऐसे भी मिलते हैं, जिनपर कुल्लूक भट्ट ने टीका नहीं की है, जिनका सङ्केत आचार्य जगदीशलाल शास्त्री ने किया है।[१] उन सभी श्लोकों को सम्मिलित करते हुए हमने यहाँ उनका अनुवाद प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह संख्या यहाँ कुल मिलाकर २८५४ हो गयी है।

मैक्समूलर, बेबर और बुहलर आदि अनेक विद्वानों का मत है कि वर्तमान मनुस्मृति वस्तुतः आरम्भिक 'मानवधर्मसूत्र' का ही विस्तार है। इस सम्बन्ध में मैक्समूलर का तो यहाँ तक कहना है कि 'इसमें कोई सन्देह नहीं कि सभी सच्चे धर्मशास्त्र जो आज विद्यमान हैं, प्राचीन कुलधर्मों वाले धर्मसूत्रों के, जो स्वयं किसी न किसी वैदिकचरण के प्रारम्भिकरूप से सम्बन्धित थे, संशोधित रूप हैं।"[२]

किन्तु धर्मशास्त्र के इतिहास के लेखक महामहोपाध्याय डॉ० पी०वी० काणे ने मैक्समूलर के इस अनुमान को भ्रामक माना है तथा अनेक तर्क प्रस्तुत करते हुए इस मत का खण्डन भी किया है।[३] इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र मत है कि मैक्समूलरादि विद्वानों का विचार पूर्णतया उपेक्षा योग्य नहीं है। सम्भव है वह ग्रन्थ 'मानव-धर्मसूत्र' लिखितरूप में रहा हो, किन्तु व्यावहारिक अथवा मौखिकरूप से ऐसे नियमों एवं सिद्धांतों से भी पूर्णतया इन्कार नहीं किया जा सकता, जो मनुस्मृति में अपेक्षाकृत विकसित एवं विस्तृतरूप में प्रयुक्त हुए हों।

स्वयं महामहोपाध्याय डॉ० पी०वी० काणे ने इसी ग्रन्थ के प्रकरण ३१ में मनुस्मृति के विकासात्मक स्वरूप की, 'मनु' के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नामोल्लेख के व्याज से चर्चा की है। उनके अनुसार—मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया यह

---

१. मनुस्मृति-संकलन कर्ता-मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली-१९९६

२. हिस्ट्री ऑफ ऐंशियेण्ट लिटरेचर, पृ० १३४-१३५ (धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ० २७ से उद्धृत)

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी० वी० काणे, अनु० अर्जुन चौबे, पृ० २७-२८.

कहना कठिन है। यह सत्य है कि मानव के आदिपूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है।...... सम्भवत: मानवधर्मसूत्र नामक ग्रन्थ कभी विद्यमान ही नहीं था।[१]

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि डॉ० काणे ने इस ग्रन्थ के कर्ता एवं मानवधर्मसूत्र की उपस्थिति दोनों ही विषयों पर निश्चयात्मक अभिव्यक्ति नहीं की है, किन्तु इस सम्पूर्ण प्रसङ्ग पर गम्भीरतापूर्वक, सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि–

नि:सन्देह मनु का यह धर्मशास्त्र अत्यधिक प्राचीन है। महर्षि दयानन्द ने भी मनु को सृष्टि के आदि में स्वीकार किया है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण सामाजिक मान्यताओं और धार्मिकं मर्यादाओं के संस्थापक एवं व्याख्याता मनु को मानने में कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि घर, परिवार व समाज में आयु, विद्या आदि की दृष्टि से वृद्ध मुखिया आज भी वही करता ही है।

इस दृष्टि से उत्तरवर्ती काल में यही नाम उपाधिरूप में प्रचलित हो गया, जिससे वेदज्ञ, मनु के सिद्धांतों के पालक एवं व्याख्याता विद्वान् भी 'मनु' कहलाए तथा उन्होंने समय-समय पर समाज की आवश्यकता के अनुरूप कर्तव्यों का निर्देश किया। ये सभी निर्देश पद्यबद्ध शैली में ही निबद्ध थे। आरम्भ में यह निर्देश-निबन्धन पूर्णतया निरपेक्षदृष्टि से होता रहा, किन्तु बाद में वर्णव्यवस्था की छिन्नावस्था में ये सापेक्ष हो गए। यह सम्पूर्ण निबन्धन मनु के नाम से अविरतगति से होता रहा। अन्त में इनकी संख्या इतनी अधिक हो गयी कि इसके सम्पादन एवं संक्षिप्तीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। जिसकी ओर महाभारत शान्तिपर्व में भी संकेत किया गया है–

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वरबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थ: कामश्चैवाभिवर्णित:।।
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।[२]
कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्।
लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्म: प्रवर्तते।।[३]

इसके अनुसार ब्रह्मा ने धर्म को आधार बनाकर एक सौ सहस्र श्लोकों की

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी० वी० काणे, अनु० अर्जुन चौबे, पृ० ४३
२. महाभारत शान्तिपर्व–५९/२९-८९.
३. वही ३३६/३८-४६.

संरचना की। पुनः मनु ने उन धर्मों की व्याख्या की। तत्पश्चात् उशना और बृहस्पति ने मनु स्वायंभुव के ग्रन्थ के आधार पर शास्त्रों का प्रणयन किया। इसी पर्व में दूसरे स्थल पर यही बात भिन्नरूप में इसप्रकार कही गई है– ब्रह्मा ने धर्म, अर्थ और काम पर एक लाख अध्यायों का प्रणयन किया। बाद में इसी महाग्रन्थ को विशालाक्ष, इन्द्र, बाहुदन्तक, बृहस्पति एवं उशना द्वारा क्रमशः १०,०००, ५०००, एवं एक सहस्र अध्यायों में संक्षिप्त किया गया।

इसीप्रकार नारदस्मृति में भी मनु द्वारा एक लाख श्लोकों की रचना १०८० अध्यायों एवं २४ प्रकरणों के अन्तर्गत धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थलेखन का कथन किया गया है। इसे उन्होंने नारद को पढ़ाया, जिसे उन्होंने १२ हजार श्लोकों में संक्षिप्त किया तथा पुनः इसे मार्कण्डेय ऋषि ने नारद से पढ़कर ८००० श्लोकों में संक्षेप करके सुमति भार्गव को इनका ज्ञान दिया, जिसे अध्ययन करके उन्होंने चार हजार श्लोकों के अन्तर्गत संक्षिप्त किया।

ठीक इसी बात का कथन प्रस्तुत मनुस्मृति[१] में भी आया है। जहाँ ब्रह्मा से विराट एवं उनसे मनु की उत्पत्ति, पुनः उनसे भृगु, नारद आदि ऋषियों की उत्पत्ति का कथन हुआ है। ब्रह्मा ने मनु को इस शास्त्र का अध्ययन कराया। पुनः मनु ने मरीचि आदि मुनियों को इसका उपदेश किया–

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद् ग्राह्यामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्।।[२]

इन दस ऋषियों में एक ऋषि भृगु भी थे, जिन्होंने मनु के आदेश पर अन्य ऋषियों के द्वारा जिज्ञासा किए जाने पर इस शास्त्र का उपदेश किया है–

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः।।[३]

यही कारण है कि वर्तमान मनुस्मृति में यह अध्यापन कराने की बात आरम्भ से लेकर अन्त तक दृष्टि गोचर होती है। वस्तुतः यहाँ मनु सर्वत्र विराजमान हैं, क्योंकि अनेक स्थलों पर 'मनुराह', 'मनोरब्रवीत्' तथा 'मनोरनुशासनम्'[४] इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।

---

१. मनुस्मृति, १/३२-३३
२. वही, १/५८.
३. वही, १/५९-६०
४. वही, ९/१५८, ८/१३९, २७९, ९/२३९, १०/७८.

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन का उद्देश्य यही प्रतिपादित करना है कि यहाँ आचार्य मनु एक व्यक्ति न होकर उपाधिधारी अनेक व्यक्ति रहे हैं। 'मनुरब्रवीत्' आदि पदों का प्रयोग निश्चय ही आदिमनु की ओर सङ्केत का सूचक कहा जा सकता है। इन आदिमनु द्वारा निश्चितरूपेण कुछ सामाजिक सिद्धांतों, व्यवहारों एवं नियमों का कथन किया गया होगा, जो लिपिबद्ध न होते हुए भी वर्तमान रीतिरिवाज एवं मान्यताओं के समान ही मौखिकरूप में विद्यमान रही होंगी। जो किसी राजकीय नियम या कानून से कम नहीं होंगे, ऐसी सम्भावना से लेशमात्र भी इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इन परिस्थितियों में जबकि राजा एवं प्रजा सभी 'मनु' के नाम से इतने अधिक प्रभावित रहे, तो कुछ कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने अनेक बातें इस ग्रन्थ में स्वहितार्थ अथवा स्वजाति हितार्थ जोड़ दी होंगी, जो आज हमें असम्भव होने के साथ-साथ अव्यावहारिक भी प्रतीत होती हैं। जिनके एकमत से शोधन की महती आवश्यकता है, जिससे यह सम्पूर्ण ग्रन्थ समाज में आदरणीय स्थान प्राप्त कर सके।

इसके अतिरिक्त स्मृतियों की संख्या के सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद है। आरम्भ में स्मृतिग्रन्थों की संख्या अत्यल्प थी, किन्तु धीरे-धीरे यह संख्या बढ़ते हुए सौ के लगभग पहुँच गई। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि जब भी कोई आचार्य समाज में प्रतिष्ठित हुआ, उसने अपने विचारों एवं भावनाओं के अनुरूप एक स्मृतिग्रन्थ का प्रणयन कर दिया। यही कारण है कि आचार्य गौतम जहाँ एकमात्र आचार्य मनु का नाम स्मृतिकार के रूप में उल्लेख करते हैं।[१] वहीं आचार्य बौधायन सात धर्मशास्त्रियों-'औपजंघनि, कात्य, काश्यप, गौतम, प्रजापति, मौद्गल्य एवं हारीत' के नाम का कथन करते हैं।[२]

इसके विपरीत आचार्य वसिष्ठ ने केवल पाँच नामों का ही परिगणन किया है-'गौतम, प्रजापति, मनु, यम और हारीत'। आचार्य मनु ने भी अपने अलावा छः अन्य धर्मशास्त्रियों-अत्रि, उतथ्य के पुत्र, भृगु, वसिष्ठ, वैखानस एवं शौनक के नामों का उल्लेख किया है। जबकि याज्ञवल्क्य ने एक स्थल पर एक साथ ही २० धर्मशास्त्र-कारों के नामों का कथन किया है। उन्होंने बौधायन के नाम का उल्लेख नहीं किया है।

इसके पश्चात् पराशर ने स्वयं को छोड़कर १९ नामों का परिगणन किया है,

---

१. गौतम स्मृति-११/१९.

२. धर्मशास्त्र का इतिहास-भाग-१, पृ० ४१.

किन्तु उन्होंने बृहस्पति, यम और व्यास के नाम का उल्लेख नहीं किया है, जबकि यहाँ काश्यप, गार्ग्य और प्रचेता के नामों को सम्मिलित किया गया है। पुनः तन्त्रवार्तिक में कुमारिलभट्ट ने १८ धर्मसंहिताओं का कथन किया है। जबकि 'चतुर्विंशति मत' नामक ग्रन्थ में २४ धर्मशास्त्रकारों के नामों का उल्लेख किया गया है। इस सूची में याज्ञवल्क्य द्वारा दी गई सूची की अपेक्षा गार्ग्य, नारद, बौधायन, वत्स, विश्वामित्र, शङ्ख आदि छः नाम अधिक हैं, किन्तु इस सूची में कात्यायन एवं लिखित इन दो नामों का कथन नहीं किया गया है।

तत्पश्चात् पैठीनसि ने ३६ स्मृतियों के नामों का परिणगन किया है। इसीप्रकार भविष्यपुराण में भी ३६ स्मृतियों का उल्लेख किया गया है, जबकि वृद्ध गौतमस्मृति में ५७ धर्मशास्त्रों के नामों का कथन किया गया है। इसके विपरीत वीरमित्रोदय में उद्धृत किए गए 'प्रयोगपारिजात' द्वारा १८ मुख्य स्मृतियों, १८ उपस्मृतियों तथा २१ अन्य स्मृतिकारों के नामों का उल्लेख किया गया है। इसीप्रकार उत्तरकालीन ग्रन्थ-निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ एवं वीरमित्रोदय की सूचियों में उल्लिखित नामों के आधार पर स्मृतियों की संख्या कुल मिलाकर सौ के लगभग हो जाती है।[१]

किन्तु यह संख्या भी अन्तिम नहीं कही जा सकती है। मनसुखराय मोर ने कलकत्ता से छः भागों में ५६ स्मृतियों के प्रकाशन के साथ जिन अनुपलब्ध स्मृतियों के नामों का कथन किया है।[२] उन सबको मिलाकर स्मृतियों की संख्या ११६ हो जाती है। ये स्मृतियाँ किसी एक कालखण्ड की रचना न होकर कई युगों की कृतियाँ हैं। इनमें अधिकांश पद्य में होते हुए भी कुछ गद्य अथवा गद्यपद्य के मिश्रितरूप में लिखी गई हैं। इनमें कुछ स्मृतियों, यथा-गौतम, आपस्तम्ब एवं मनुस्मृति आदि की रचना, ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व की गई। जबकि याज्ञवल्क्य, पराशर और नारदादि स्मृतियाँ ईसा की प्रथम शताब्दी की देन कही जा सकती हैं। अन्य स्मृतियों का रचनाकाल विद्वानों ने ४०० ई० से १००० ई० के मध्य स्वीकार किया है।[३]

यद्यपि इस विषय में विद्वानों की मान्यता है कि स्मृतियों का काल-निर्णय सरल कार्य नहीं है, क्योंकि इनमें कुछ स्मृतियाँ तो प्राचीन सूत्रों की पद्यबन्धन मात्र हैं। जैसे-शङ्खस्मृति। कभी दो या तीन स्मृतियाँ एक ही नाम के साथ प्रचारित हुईं, जैसे-शातातप, हारीत, अत्रि। कुछ स्मृतियों के प्रणेता प्रमुख स्मृतिकार होते हुए भी

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी०वी० काणे, हिन्दी अनु०, पृ० ४१.
२. स्मृतिसंदर्भ-मनसुखराय मोर, पञ्चम भाग. भूमिका, पृ० ग.
३. धर्मशास्त्र का इतिहास-हिन्दी अनुवाद, पृ० ४१.

वृद्ध, वृहत् एवं लघु उपाधियों के साथ प्रयुक्त हुए हैं, जैसे-वृद्धगार्ग्य, वृद्धयाज्ञवल्क्य, बृहत्पराशर आदि।[१] अत: इस दिशा में भी अभी पर्याप्त शोध की आवश्यकता है। मनुस्मृति की रचना कब की गई यह भी निश्चयपूर्वक कहना अत्यधिक कठिन है। पुनरपि अन्त:साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इसके कालनिर्धारण का यहाँ प्रयास किया जा रहा है–

मनुस्मृति की सर्वाधिक प्राचीनटीका मेधातिथि का मनुभाष्य माना गया है, जिसका समय ९०० ई० के लगभग माना जाता है। आचार्य बृहस्पति, जिनका समय ईसा की पाँचवीं शती है, ने अनेक स्थलों पर मनुस्मृति के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। लगभग इसी कालावधि में स्थित जैमिनिसूत्र के भाष्यकार आचार्य शबरस्वामी ने (५०० ई० के लगभग) ने भी मनुस्मृति को अनेकश: उद्धृत किया है। इसके अलावा ५७१ ई० के लगभग स्थित बलभीराज धारसेन के एक अभिलेख द्वारा भी मनुस्मृति की ओर सङ्केत किया गया है। अत: इस कालावधि के अन्तर्गत मनुस्मृति की स्थिति सिद्ध होती है।

याज्ञवल्क्यस्मृति (तृतीय शती) के भाष्यकार आचार्य विश्वरूप ने मनुस्मृति के अनेकानेक श्लोकों को उद्धृत किया है। शङ्कराचार्य के मतानुसार–वेदान्तसूत्र के लेखक मनुस्मृति पर अत्यधिक निर्भर रहे हैं। स्वयं शङ्कराचार्य ने वेदान्तसूत्र का भाष्य करते हुए अनेक स्थलों पर मनु को उद्घृत किया है। इसके अतिरिक्त कुमारिलभट्ट ने अपने तन्त्रवार्तिक नामक ग्रन्थ में, मनुस्मृति को अन्य सभी स्मृति-ग्रन्थों, यहाँ तक कि गौतमधर्मसूत्र से भी प्राचीन माना है।

इसीप्रकार ई० पू० प्रथम शताब्दी में स्थित महाकवि शूद्रक[२] ने मृच्छकटिकम् में एक स्थल पर आचार्य मनु को उद्धृत करते हुए पापी ब्राह्मण को मृत्युदण्ड न देकर देश निकाला देने की बात का कथन किया है–

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह।। (९/३९)

इसके अतिरिक्त अपरार्क एवं कुल्लूकभट्ट ने भी भविष्यपुराण में उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों का उल्लेख किया है। स्मृतिचन्द्रिका में कथित अङ्गिरा ऋषि द्वारा मनु के धर्मशास्त्र की चर्चा का उल्लेख मिलता है। साथ ही अश्वघोष की

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० 41
२. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डॉ० कपिल देव द्विवेद्वी, पृ० ३०७.

वज्रसूचिकोपनिषद् के कुछ उद्धरण मनुस्मृति में उपलब्ध हैं तथा रामायण में भी वर्तमान मनुस्मृति की अनेक बातों का कथन हुआ है। अत: इस आधार पर अधिकांश विद्वान् मनुस्मृति की अपरसीमा ईसा की द्वितीय शताब्दी मानने के पक्षधर हैं।[१]

इसके अलावा आचार्य मनु ने यवन, काम्बोज, शक, पहल्लव एवं चीनियों के नाम का उल्लेख किया है। अत: इस आधार पर इसे ई० पू० तृतीय शती से पूर्व की रचना नहीं कहा जा सकता है। यवन, काम्बोज, एंवं गान्धार लोगों का उल्लेख अशोक के पाँचवें प्रस्तर अनुशासन में भी हुआ है तथा वर्तमान समय में उपलब्ध मनुस्मृति भाषा की प्रौढ़ता एवं सिद्धांतों की प्रतिपादन शैली आदि की दृष्टि से आपस्तम्ब, बौधायन, गौतम आदि प्राचीन धर्मसूत्रों से पर्याप्त आगे की कही जा सकती है। अत: इस आधार पर इसे इन धर्मसूत्रों से पश्चातवर्ती कहा जा सकता है।

इसलिए उपर्युक्त विवेचन एवं साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि मनुस्मृति का प्रणयन ई० पू० द्वितीय शती एवं ईसा की द्वितीय शती के मध्य होने की सम्भावना व्यक्त की जा सकती है। महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काणे भी इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं।[२]

सम्पूर्ण स्मृतिसाहित्य के अन्तर्गत मनुस्मृति की महत्ता के कारण अनेक विद्वान् आचार्यों ने इसके अभिप्राय को स्पष्ट करने की दृष्टि से टीकाग्रन्थों का प्रणयन किया। जिनमें मेधातिथि, गोविन्दराज, कुल्लूकभट्ट, सर्वज्ञनारायण (नारायणसर्वज्ञ), राघवानन्द मणिराम, रामचन्द्र, नन्दन एवं भारुचि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। साथ ही कुछ अन्य व्याख्याकारों ने भी मनुस्मृति पर अपनी टीकाओं की संरचना की, जिनकी कृतियाँ आज पूर्णरूप से उपलब्ध नहीं हैं, उनमें असहाय, उदयकर, भागुरि, भोजदेव एवं एक काश्मीरी टीकाकार जिनका नाम अज्ञात है, के नाम विशेषत: उद्घृत किए जा सकते हैं।

इसप्रकार मनुस्मृति की टीकाओं की संख्या कुल मिलाकर पन्द्रह के लगभग हो जाती है। इन सब टीकाओं में मेधातिथि की मनुभाष्य टीका सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है। कुल्लूकभट्ट की 'मन्वर्थमुक्तावली' नामक टीका भाषा की सरलता एवं प्रवाहमयी शैली के कारण विद्वानों में अत्यधिक लोकप्रिय एवं प्रंशसनीय रही। इसके अतिरिक्त गोविन्दराज की मनुटीका का भी टीकाकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा।

इन सभी नौ टीकाओं का कालनिर्धारण विद्वानों ने इसप्रकार किया है–

१. धर्मशास्त्र का इतिहास डॉ० पी०वी० काणे, अनु० अर्जुन चौबे, पृ० ४६ (भाग-१)
२. वही।

१.	मेधातिथि	-	मनुभाष्य	८२५-९०० ई०
२.	गोविन्दराज	-	मनुटीका	१०५०-११४० ई०
३.	कुल्लूकभट्ट	-	मन्वर्थमुक्तावली	११५०-१३०० ई०
४.	सर्वज्ञनारायण	-	मन्वर्थवृत्ति	१४०० ई० से पूर्व
५.	राघवानन्द	-	मन्वर्थचन्द्रिका	१३०० ई० के पश्चात्
६.	मणिराम	-	मन्वर्थबोधिनी	१६३०-१६६० ई०
७.	रामचन्द्र	-	चन्द्रिका	समय अनिश्चित
८.	नन्दन	-	नन्दिनी	समय अनिश्चित
९.	भारुचि	-	मनुशास्त्रविवरण	छटी शताब्दी अथवा १०५० ई० से पूर्व[1]

अब हम इन टीकाकारों में से प्रमुख टीकाकारों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

मेधातिथि—मनुस्मृति के सर्वाधिक प्राचीन भाष्यकार हैं। इनके भाष्य में कश्मीर का वर्णन अधिक किए जाने के कारण कुछ विद्वान् इन्हें काश्मीरी मानते हैं। इन्होंने मनुस्मृति की विस्तृत एवं विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की है। इस भाष्य की हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में उपलब्ध श्लोक से पता चलता है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से इस भाष्य की प्रतियाँ मंगवाकर इसका जीर्णोद्धार कराया। इन्होंने अपने भाष्य के अन्तर्गत—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, विष्णु, शङ्ख, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर, बृहस्पति और कात्यायन आदि स्मृतिकारों का नामोल्लेख किया है। बृहस्पति को इन्होंने वार्ता एवं राजनीति का लेखक स्वीकार किया है।

इनके भाष्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन्हें पूर्वमीमांसा शास्त्र अत्यन्त प्रिय था, क्योंकि इन्होंने अपने भाष्य में 'विधि' एवं 'अर्थवाद' नामक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया है। जैमिनि सूत्रों के परिप्रेक्ष्य में भी इन्होंने अनेक स्थलों पर मनुस्मृति की व्याख्या प्रस्तुत की है। शाबरभाष्य से भी कुछ उद्धरणों को प्रस्तुत किया गया है। एक स्थल पर इन्होंने कुमारिल के नाम तथा उनकी उपाधि भट्टपाद का भी कथन किया है।

उक्तं च भट्टपादैः "विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्था दृष्टकारणा। स्मृति र्न श्रुति-मूला स्याद्या चैव सम्भवश्रुतिः।" (मनुस्मृति मेधातिथि भाष्य–२/१८)

---

१. मनुस्मृति, उर्मिला रुस्तगी व डॉ० सुदेश नारंग, प्रथमोऽध्यायः भूमिका, पृ० xvi ।

मीमांसादर्शन के प्रभाव के कारण उन्होंने शङ्कराचार्य के शारीरकभाष्य को उद्धृत करते हुए भी मोक्ष का साधन केवल ज्ञान को न मानकर, ज्ञान एवं कर्म दोनों को स्वीकार किया है। मनुस्मृति का भाष्य करते हुए उन्होंने अपनी संरचना 'स्मृतिविवेक' से भी अनेक स्थलों पर उद्धरण प्रस्तुत किए हैं, जो वर्तमान समय में अनुपलब्ध हैं। उन्होंने व्यास को ही पुराणों का लेखक स्वीकार किया है। पराशरमाधवीय ने भी उनके स्मृतिविवेक से अनेक उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। इसीप्रकार लोल्लट ने अपने 'श्राद्धप्रकरण' नामक ग्रन्थ में मेधातिथि का उल्लेख किया है।[1]

गोविन्दराज–मनुस्मृति के द्वितीय महत्त्वपूर्ण टीकाकार हैं। उन्होंने मनुस्मृति पर मनु टीका नामक भाष्य की संरचना की। साथ ही 'स्मृतिमञ्जरी' नामक स्वतन्त्र धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ का भी प्रणयन किया। मनुटीका एवं स्मृतिमञ्जरी के आधार पर ज्ञात होता है कि जाति से ब्राह्मण ये गङ्गातट निवासी नारायण के पुत्र माधव के पुत्र थे। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका में इनके नाम का उल्लेख नहीं हुआ है, जबकि मेधातिथि एवं भोजदेव का उल्लेख वहाँ किया गया है। इसी आधार पर विद्वानों ने इनका समय १०५० ई० से १०८० ई० के लगभग माना है। इन्होंने अपने भाष्य में पुराणों, गृह्यसूत्रों एवं योगसूत्र आदि अनेक स्थलों की चर्चा की है तथा मेधातिथि के समान ही मोक्ष के लिए ज्ञान एवं कर्म दोनों की आवश्यकता प्रतिपादित की है। कुल्लूकभट्ट ने अपनी मन्वर्थमुक्तावली में मेधातिथि एवं गोविन्दराज इन दोनों ही टीकाकारों को अनेकशः उद्धृत किया है।

इन्होंने अपनी 'स्मृतिमञ्जरी' में धर्मशास्त्र विषयक अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। कुल्लूकभट्ट ने गोविन्दराज को मेधातिथि का पर्याप्त पश्चात्वर्ती माना है। जीमूतवाहन ने भोजराज एवं विश्वरूप के साथ गोविन्दराज का भी उल्लेख किया है तथा हेमांद्रि ने भी गोविन्दराज के मत को प्रदर्शित किया है। इस सम्पूर्ण आधार पर ही विद्वानों ने गोविन्दराज को १०५०-१०८० ई० के मध्य स्थित माना है।[2]

कुल्लूकभट्ट–मनुस्मृति के टीकाकारों में कुल्लूकभट्ट का अद्वितीय स्थान है। इन्होंने 'मन्वर्थमुक्तावली' नामक टीका की संरचना की। सरलता, संक्षिप्तता, स्पष्टता एवं उद्देश्यपूर्णता इस टीका की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ कही जा सकती हैं। इन्होंने अनेक स्थलों पर मेधातिथि एवं गोविन्दराज को उद्धृत किया है। इनका समय विद्वानों ने ११५० ई० से १३०० ई० के मध्य स्वीकार किया है। इन्होंने अनेक स्थलों

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी० वी० काणे, पृ० ६९।
२. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी० वी० काणे, पृ० ७८।

पर मेधातिथि एवं गोविन्दराज के मतों की कटु आलोचना तथा अपने मत की प्रशंसा की है। इनके भाष्य में गोविन्दराज, धरणीधर, भास्कर, भोजदेव, हलायुध, मेधातिथि, काशिका प्रणेता वामन, कामधेनु शङ्खधर, भट्टवार्तिककार एवं विश्वरूप आदि विद्वानों के नामों का उल्लेख किया गया है।

ये बंगाल के बारेन्द्र कुल के नन्दन निवासी भट्टदिवाकर के पुत्र थे तथा इन्होंने अपने भाष्य की रचना काशी में पण्डितों के सान्निध्य में रहते हुए की। इन्होंने 'स्मृतिसागर' नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी संरचना की जो सम्प्रति अनुपलब्ध है, किन्तु उसके केवल अशौचसागर एवं विवादसागर नामक प्रकरणों के अंश ही मिलते हैं।

इन्होंने अपने पिता की आज्ञा के परिणामस्वरूप ही विवादसागर, अशौचसागर एवं श्राद्धसागर प्रकरणों की संरचना की। श्राद्धसागर में पूर्वमीमांसा विषयक विवेचन भी किया गया है। इन्होंने महाभारत से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। साथ ही महापुराण, उपपुराण, धर्मसूत्र एवं अन्य स्मृतिग्रन्थों को भी अनेकशः उद्‌धृत किया है। बुहलर एवं चक्रवर्ती ने इन्हें १५वीं शताब्दी में स्थित माना है, जबकि महामहोपाध्याय डॉ० काणे ने इनका समय ११५०-१३०० ई० के मध्य स्वीकार किया है।[१]

आचार्य मनु द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि के यदि हम इस ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं तो हमें यहाँ वर्णाश्रम व्यवस्था का कठोरता से पालन देखने को मिलता है। व्यवस्था की दृष्टि से उन्होंने सम्पूर्ण समाज को चार वर्णों में विभाजित किया–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों को वेदोक्त संस्कार किए जाने के कारण 'द्विज' नाम दिया गया, क्योंकि व्यक्ति जन्म से शूद्र होता है, चाहे वह किसी भी वर्ण का क्यों न हो तथा संस्कार किए जाने के बाद ही उसका दूसरा जन्म होता है–

"जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।"

किन्तु उन्होंने चतुर्थ वर्ण शूद्र के संस्कार का निषेध किया है। इसीकारण उसे एक जाति कहा गया है–

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः।। (१०/४)

आचार्य कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की टीका इसप्रकार की है।

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, डॉ० पी० वी० काणे, पृ० ८४।

'ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा द्विजाः, तेषामुपनयनविधानात्। शूद्रः पुनश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः, उपनयनाभावात्। पञ्चमः पुनर्वर्णो नास्ति।'

अतः इस श्लोक के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि इस समय तक वर्णव्यवस्था को जन्म से स्वीकार कर लिया गया था। ऋग्वेद में भी इन चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है, वहाँ इन्हें विराट्पुरुष के विभिन्न अङ्गों से उत्पन्न बताया है। उसके अनुसार ही सम्भवतः इन वर्णों के महत्त्व की भावना मनुस्मृतिकाल तक आते-आते दृढ़मूल हो गयी-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। (ऋ. १०/९०/१२)

यद्यपि आरम्भ में यह वर्णव्यवस्था कर्म के आधार पर थी। इस दृष्टि से शरीर में प्रत्येक अङ्ग के समान किसी भी वर्ण का महत्त्व समाज में कम नहीं था। क्षत्रिय. वैश्य यहाँ तक कि शूद्र भी श्रेष्ठकर्मों का सम्पादन करके ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित हो सकते थे, किन्तु बाद में यह व्यवस्था जन्म पर आधारित हो गयी तथा विराट् पुरुष के सर्वोत्कृष्ट अङ्ग मुख से उत्पन्न होने के कारण, ब्राह्मण की स्थिति समाज में सर्वोत्कृष्ट मानी गयी और वह समाज में श्रेष्ठ मार्गदर्शक एवं समादरणीय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

आचार्य मनु ने उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन इसप्रकार किया है-

वैशेष्यात् प्रकृति श्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः।। (मनु. १०/१३)

अर्थात् उत्पत्तिस्थल की श्रेष्ठता, नियमों को धारण करने, संस्कारों के वैशिष्ट्य तथा जाति की उत्कृष्टता के कारण ही ब्राह्मण सम्पूर्ण समाज में पूजनीय है। समाज की शिक्षा एवं धर्म की सम्पूर्ण व्यवस्था का दायित्व इसी श्रेष्ठ वर्ग को सौंपा गया। शास्त्रों का अध्येता होने के साथ-साथ वह समाज के सभी वर्गों को धर्म का उपदेश भी प्रदान करता था तथा आवश्यकता पड़ने पर राजा का मार्गदर्शन भी करता था।

इसके अतिरिक्त यज्ञ करना, कराना, अध्ययन, अध्यापन ही उसके मुख्य कार्य थे तथा समाज के अन्य वर्णों का दायित्त्व था कि वे ब्राह्मण के सम्मान, सेवा, सुरक्षा एवं भरणपोषण आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखें। उसके दैनिक-कार्यों में किसी के द्वारा भी व्यवधान उत्पन्न न किया जाए। उसे किसी प्रकार का शारीरिक, मानसिक कष्ट न हो।

क्षत्रिय की उत्पत्ति विराट् पुरुष की भुजाओं से मानी गई है। शक्तिसम्पन्न होने के कारण यह वर्ण समाज की रक्षा करने वाला हुआ। राजा इसी वर्ण का होता था। समाज के सभी वर्णों को मर्यादित करना उन्हें सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करना, सामाजिक व्यवस्था बनाए रखना, सभी वर्णों को सुरक्षा उपलब्ध कराना ही इस वर्ण के मुख्य कार्य थे। वैश्य एवं शूद्र ये दोनों वर्ण इसके अधीन कार्य करते थे।

समाज का तृतीय वैश्यवर्ण जिसकी उत्पत्ति विराट् पुरुष की जंघाओं से मानी गयी, का मुख्यकार्य कृषि एवं वाणिज्यकर्म करना था। इस दृष्टि से समाज की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को ठीक रखने का दायित्व वैश्यवर्ण का ही था। इसके अतिरिक्त इसका काम ब्राह्मणों का आदर करने के साथ-साथ क्षत्रिय की आज्ञापालन करना भी था।

चतुर्थ वर्ण, शूद्र की उत्पत्ति विराट् पुरुष के पैरों से मानी गई है। अतः समाज में इसकी स्थिति चतुर्थ स्थान पर रही। इसके संस्कारों का निषेध किया गया। इसका प्रमुख कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन द्विजों की सेवा-शुश्रूषा करना था, किन्तु आपत्तिकाल में इनके कार्यों की विभिन्नता का भी यहाँ विधान किया गया। जैसे-यदि शूद्र सेवावृत्ति द्वारा अपने परिवार का भरणपोषण न कर सके तो वह वैश्यवृत्ति को भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इस स्थिति में भी द्विजातियों का हितचिन्तन, उसका सर्वोत्कृष्ट दायित्व है। इसीप्रकार ब्राह्मण भी आपत्तिकाल में हीनवर्ण की आजीविका को स्वीकार कर सकता था। आचार्य मनु के समय में इस वर्णव्यवस्था का कठोरतापूर्वक पालन किया जाता था।

यदि हम इस वर्णव्यवस्था पर सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से सूक्ष्मविचार करें तो हमें इस व्यवस्था के महत्त्व को स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं होना चाहिए, किन्तु यह व्यवस्था केवल तब तक ही प्रशंसनीय रही, जब तक इसका आधार कर्म था। जन्म पर आधारित होने के साथ-साथ इसमें दोषों का आगमन प्रारम्भ हो गया।

धर्म द्वारा क्षत्रिय को भयभीत करते हुए उसका सहयोग लेकर ब्राह्मणवर्ण ने सम्पूर्ण समाज पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। जिसके कारण विशेषरूप से समाज के चतुर्थ वर्ण कि स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी। इसका उल्लेख अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। श्री अंजरिया ने 'पोलिटिकल ऑब्लीगेशन इन दॉ हिन्दू स्टेट' में शूद्रों की स्थिति को जानवरों के समान बताया है।

यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से आचार्य मनु ने शूद्रों को परिवार के सदस्यों की संख्या के आधार पर वेतन देने[१], स्वामी द्वारा सेवक को भोजन कराकर स्वयं भोजन करने[२] तथा भोजन के समय आए शूद्र को भी अतिथि मानकर पूज्यभाव[३] रखने का विधान किया, किन्तु सम्भवत: व्यवहार में इसका पालन नहीं किया जाता था।

मनुस्मृति में मनुष्य की आयु को सौ वर्ष मानते हुए आचार्य मनु ने पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति की दृष्टि से, वर्णव्यवस्था के समान ही आश्रमव्यवस्था का भी उल्लेख किया है। तदनुसार व्यक्ति को उपनयन संस्कार से लेकर २५ वर्ष पर्यन्त, ब्रह्मचर्य आश्रम में निवास करते हुए, गुरु की सेवापूर्वक विद्याध्ययन करना चाहिए। भिक्षावृत्ति द्वारा जो भी अन्न प्राप्त हो सर्वप्रथम उसे निरपेक्षभाव से गुरु को सौंपकर, गुरु जितना भी उसमें से दे, उसी से सन्तोष करना चाहिए। अपने आचार्यों की सेवा ही इस आश्रम में वस्तुत: ब्रह्मचारी का मुख्य कार्य था।

इस दृष्टि से २५ वर्षों की इस कालावधि को जीवन का निर्माणकाल भी कहा जा सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण आचार, व्यवहार की शिक्षा उसे इसी आश्रम में प्रदान की जाती थी। विद्या पूर्ण करने के बाद उसका समावर्तन संस्कार होता था तथा गुरु की आज्ञा से अग्रिम २५ वर्षों के लिए वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। विवाह करके व्यक्ति सन्तानोत्पत्ति द्वारा सृष्टिप्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता था।

५० वर्षों की अवस्था पर्यन्त गृहस्थाश्रम का पालन करने के पश्चात् व्यक्ति परिवार के भरणपोषण का दायित्व अपने बड़े पुत्र को सौंपकर, पत्नी सहित वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था तथा वहाँ पञ्चयज्ञों का निष्पादन करता हुआ वह ईश्वरीय-चिन्तन द्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति करता था। इस आश्रम में वह सांसारिक भोगों का पूर्णरूप से परित्याग कर देता था एवं कन्दमूल, नीवार आदि का सेवन करके शरीर-साधन करता था।

पच्चीस वर्ष तक इस आश्रम का सेवन करने के बाद पिछहत्तर वर्ष की आयु में रागद्वेषादि पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति संन्यास आश्रम में प्रवेश करता

---

१. प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्ति: स्वकुटुम्बाद्यथार्हत:।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम्।। (मनु. १०/१२४)

२. भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां तत: पश्चादवशिष्टं तु दम्पती।। (मनु. ३/११६)

३. वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्।। (मनु. ३/११२)

था। इस आश्रम में प्रवेश से पूर्व देव-पितृ और ऋषि, इन तीनों ऋणों से पूर्णतया मुक्त होना, इसकी प्रमुख अनिवार्यता थी, किन्तु आचार्य मनु ने एक स्थल पर[1] गृहस्थ के सभी दायित्व पुत्र को सौंपने के पश्चात्, उदासीनभाव से घर में रहकर भी ब्रह्मचिन्तन करने वाले व्यक्ति को संन्यासी कहा है। अत: मनु के काल में बाद में सम्भवत: संन्यासी के लिए गृहत्याग की अनिवार्यता नहीं थी।[2]

वस्तुत: मनुस्मृतिकाल में वर्णव्यवस्था जहाँ समाज को व्यवस्थित एवं मर्यादित रखने में सहायक थी, वहीं आश्रम व्यवस्था द्वारा मनुष्य का सर्वांगीण विकास होता था तथा वह इस लोक के सुखों को भोगकर मोक्षप्राप्ति की ओर अग्रसर होता था। अत: तात्कालिक आश्रम व्यवस्था को पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक कहा जा सकता है।

राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से मनुस्मृति का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि आचार्य मनु, राजा के दैवी उत्पत्ति विषयक सिद्धांत में आस्था रखते हैं। तदनुसार राजा का निर्माण करते हुए परमात्मा ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, चन्द्रमा, वरुण और कुबेर आदि दैवी अंशों को ग्रहण किया। यही कारण है कि राजा में इनके गुण, कर्म एवं प्रभाव के दर्शन होते हैं। आचार्य मनु के अनुसार–राजा बालक ही क्यों न हो, सभी को उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए–

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।। (मनु० ७/८)

वेदविद् ब्राह्मण, राजा के लिए समादरणीय है, उसके प्रति उसे विनम्रतापूर्वक व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वेन, नहुष, नेमि आदि के समान अविनय उसे नष्ट कर डालती है। इसके अतिरिक्त राजा का कर्तव्य है कि राजनीति में काम आने वाली विद्या–आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति का गहन अध्ययन, वेदज्ञ विद्वानों एवं राजनीति में कुशल गुरुओं से करना चाहिए।

इतना ही नहीं उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषों से सदैव दूर रहना चाहिए। मदिरापान व जुआ राजा को विनष्ट करने वाली बुराइयाँ हैं। अत: राजा का इनसे दूर रहना ही श्रेयष्कर है। उन्होंने दुर्व्यसन और मृत्यु इन दोनों में से व्यसन को अपेक्षाकृत अधिक कष्टकारी माना है।

---

१. मनुस्मृति, ६/५९।
२. वही, ४/२५७-२५८।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः।। (मनु० ७/५३)

आचार्य मनु ने राजा के लिए ब्राह्मणों की सेवा एवं उनके आदेशों की पालना की अनिवार्यता प्रतिपादित की। विभिन्न देवताओं के अंशों से उत्पन्न होने के कारण राजा को इन्द्र के समान प्रजा की सुख-सुविधाओं की वर्षा करनी चाहिए। सूर्य की किरणों के समान प्रजा से अत्यल्प मात्रा में कर-ग्रहण करना चाहिए। वायु के समान गुप्तचरों के माध्यम से सर्वत्र गतिवान् होना चाहिए। इसीप्रकार यम के समान पक्षपातरहित न्याय वाला और वरुण के समान पापियों एवं अपराधियों को विनष्ट करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।[१]

मनुस्मृति के अनुसार-राजा का कर्तव्य है कि वह रात्रि के अन्तिम प्रहर में निद्रा का परित्याग करके, अग्निहोत्र करे एवं ब्राह्मणादि का वन्दन करे एवं सभागार में आए हुए प्रजाजनों के साथ प्रसन्नतापूर्वक वार्तालाप करे। उसके बाद मन्त्रियों के साथ राजनीति के विभिन्न अङ्गों पर विचारविमर्श करे। राजा के लिए रात और दिन हमेशा चौकन्ना रहने का भी मनु ने निर्देश दिया है, क्योंकि थोड़ी भी असावधानी उसके विनाश का कारण हो सकती है।

मनु का मत है। कि राजा को मन्त्रियों से राजकार्यों में सहयोग अवश्य लेना चाहिए, किन्तु उन पर कभी भी अन्धविश्वास नहीं करना चाहिए। रुग्णावस्था में ही राजा अपने कार्य मन्त्रियों एवं सेवकों पर छोड़ने में सक्षम है।

राजकार्यों के सम्यक् सम्पादन हेतु मनुस्मृतिकार ने योग्य सचिवों की नियुक्ति की भी व्यवस्था दी है। उनके अनुसार-राजा कम से कम सात, आठ योग्य सचिवों की नियुक्ति अवश्य करे, जिससे उसकी कार्यकुशलता में वृद्धि हो सके।

"सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।।" (मनु ७/५४)

उनके मत में-शास्त्रों का जानने वाला, बलवान्, लक्ष्य को सिद्ध करने में निपुण एवं उच्च कुल में उत्पन्न व्यक्ति ही सचिव पद पर नियुक्त किया जा सकता है। राजा के लिए राज्य के प्रत्येक विषय के सम्बन्ध में उचित अवसर एवं स्थान पर मन्त्रणा की अनिवार्यता भी प्रतिपादित की गई है। मन्त्रणा का गुप्त रहना भी आवश्यक है। अतः उन्होंने मन्त्रणा हेतु पर्वत की चोटी, महल का एकान्त भाग अथवा निर्जन वन को उपयुक्त बताया है, क्योंकि इन स्थलों पर मन्त्रणा की गोपनीयता बनी रहती

---

१. मनुस्मृति-९/३०४-३०९।

है। आचार्य मनु का मत है कि–मन्त्रणा की गोपनीयता के अभाव में शक्तिशाली राजा भी नष्ट हो जाता है।

उन्होंने यहाँ मन्त्रणा के विषयों का विस्तारपूर्णक उल्लेख किया है। उनके अनुसार गुप्तचरों की चेष्टाएँ, अष्टविध कर्म, पञ्चवर्ग, राजमण्डल का प्रचार, मध्य, उदासीन एवं शत्रु का प्रचार, विजिगीषु की चेष्टाएँ तथा षड्गुणादि ये सभी विषय मन्त्रणा के योग्य हैं।

धार्मिककार्यों के निष्पादन हेतु मनु ने अन्य अधिकारियों के समान ही पुरोहित की नियुक्ति पर विशेष बल दिया है। आवश्यकता पड़ने पर यह राज्य के संचालन में भी राजा को सहयोग प्रदान करता था। इसके अतिरिक्त दूसरे राष्ट्रों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाने व बनाए रखने के लिए योग्य दूतों की नियुक्ति की आवश्यकता भी यहाँ प्रतिपादित की गयी है।

उनके अनुसार–दूत का कर्तव्य है कि शत्रु के राजकार्यों एवं उनके सेवकों की गतिविधियों को भलीप्रकार जानकर उन्हें अपने वश में कर ले। उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता शुद्ध हृदय, चतुर एवं उच्चकुलोत्पन्न होना मानी गई है–

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथाऽऽत्मानं न पीडयेत्।। (मनु० ७/६८)

इसके अतिरिक्त आचार्य मनु राज्य की स्थिरता के लिए गुप्तचरों की अनिवार्यता का प्रतिपादन भी करते हैं। यहाँ इन्हें राजा का नेत्र कहा गया है। इनके द्वारा राजा सम्पूर्ण राज्य में सभीप्रकार की गतिविधियों पर दृष्टि रख सकता है। इनका मुख्यकार्य प्रजा एवं राज्य के कर्मचारियों के षड्यन्त्रों का पता लगाना है। कार्य एवं व्यवहार की दृष्टि से यहाँ गुप्तचरों के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया गया है–कापटिक, उदासीन, गृहपति, वैदेहक और तापस। ये सभी अपने नाम के अनुसार ही वेष धारण करके गुप्त बातों की जानकारी प्राप्त करते हैं।

राज्य की आय के साधनों के सम्बन्ध में भी मनुस्मृतिकार ने विस्तारपूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें कर, कृषि की आय का छटा भाग, दण्ड से प्राप्त धन तथा व्यापारियों से लिया गया शुल्क, राजा की आय के प्रमुख स्रोत हैं, किन्तु इस प्रसङ्ग में ध्यातव्य है कि उन्होंने राजा को प्रजा से केवल इतना टैक्स वसूलने की अनुमति प्रदान की है, जिससे प्रजा को किसी प्रकार का कष्ट न हो, अन्यथा राजा स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद् राज्ञाब्दिकः कर।। (मनु० ७/१२९)

इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने जौंक, बछड़े एवं भौरे के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, क्योंकि जिसप्रकार ये तीनों अपने आश्रय को हानि पहुँचाए बिना ही अपने जीवन के हेतु क्रमशः रक्त, दूध एवं मधुपान करते हैं। ठीक उसीप्रकार प्रजा की हानि किए बिना राजा को राज्य संचालन हेतु थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ही ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य मनु की मान्यता है कि राजा के समान ही दण्ड की सृष्टि भी परमात्मा द्वारा ही की गई है। अतः न्याय व्यवस्था बनाए रखने के लिए राजा को, अपराधियों एवं दुष्टों को दण्ड अवश्य प्रदान करना चाहिए, किन्तु दण्ड का निर्धारण उसे देश, काल, परिस्थितियों एवं अपराधी की शक्ति व सामर्थ्य को देखकर ही करना चाहिए। दण्ड के अभाव में प्रजा उच्छृङ्खल हो जाती है। मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में दण्ड के विषय में में विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए उन्होंने इसकी अनिवार्यता प्रतिपादित की है-

स राजा पुरुषो दण्ड स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः। (मनु० ७/१७)

मनु के मत में-दण्ड द्वारा राजा समृद्धि प्राप्त करता है। अतः उसे इसका सदैव उचित प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रसङ्ग में उन्होंने दण्ड के चार प्रकारों का भी उल्लेख किया है। वाग्दण्ड, धिक्दण्ड, धनदण्ड एवं वधदण्ड। उनके अनुसार- इनमें से एक, एकाधिक अथवा चारों का ही एक साथ प्रयोग भी सम्भव है। दण्ड द्वारा ही राजा प्रजा की रक्षा करने में समर्थ है। दण्ड के भय से ही चोर, लुटेरे आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते हैं।

न्याय व्यवस्था की चर्चा करते हुए मनु ने इसकी निष्पक्षता की अनिवार्यता भी प्रतिपादित की है। विवादास्पद मामलों में विचार करने के लिए राजा को सर्वप्रथम ब्राह्मण की नियुक्ति करनी चाहिए तथा अन्य तीन सदस्यों के साथ स्वयं न्यायालय में जाकर उसे विवादों का निपटारा करना चाहिए। गलत निर्णय देने पर ब्राह्मण न्यायाधीश के अधर्मरूपी शल्य से पीड़ित होकर नष्ट होने की बात का भी यहाँ उल्लेख किया गया है। साथ ही उन्होंने न्यायाधीश एवं सदस्यों के ब्राह्मण होने के साथ-साथ वादी-प्रतिवादी के मनोभावों को समझने की, उनकी सामर्थ्यसम्पन्नता का भी कथन किया है।

आचार्य मनु प्रशासन की दृष्टि से राज्य को विभिन्न भागों में बाँटने के पक्षधर

भी प्रतीत होते हैं, क्योंकि इस दृष्टि से गाँव सबसे छोटी इकाई है, जिसके प्रशासन को ग्रामिक देखता था। उसका कर्तव्य ग्रामवसियों की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखना एवं ग्राम में शान्ति बनाए रखना था। १०, २०, १०० एवं एक हजार गांवों की व्यवस्था देखने के लिए क्रमशः एक-एक रक्षक की नियुक्ति की जाती थी। इन सबके ऊपर एक मन्त्री होता था, जो सभी व्यवस्थाओं का सम्यक् अवलोकन करता था। ग्रामरक्षकों को गांवों की आय के कुछ भाग के उपभोग का अधिकार भी प्रदान किया गया था।

मनुस्मृति में युद्ध के नियमों का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार-सोए हुए, कवचरहित, नग्न, शस्त्ररहित एवं युद्ध के दर्शक का वध नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त नपुंसक, अपनी पराजय स्वीकार करने वाले तथा शरणागत की भी हत्या नहीं करनी चाहिए। यहाँ युद्ध में गुप्त, तीक्ष्ण शस्त्रादि कूटशस्त्रों, विष से बुझे हथियारों, आग्नेयास्त्रों के प्रयोग का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपने शस्त्र टूटने के कारण दुःखी हो, पुत्रादि के शोक से व्याकुल हो, भयभीत होकर युद्ध से विमुख हो गया हो, उसे भी युद्ध में नहीं मारना चाहिए।

इसप्रकार आचार्य मनु ने राजनीतिक दृष्टि से मनुस्मृति में इसके सभी अङ्गों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। इसकारण प्रथम दृष्ट्या यह ग्रन्थ अनेक अर्थों में कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान ही प्रतीत होता है। पुनरपि तात्कालिक राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को जानने के लिए यह ग्रन्थ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

मनुस्मृति का अध्ययन करने पर हमें तात्कालिक समाज में स्त्रियों की अच्छी स्थिति का आभास नहीं होता है। आचार्य मनु यद्यपि एक स्थल पर कन्या के शरीर की पवित्रता के लिए सम्पूर्ण संस्कार ठीक समय पर बिना मन्त्रों के ही कराने के पक्षधर प्रतीत होते हैं।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृतशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।। (मनु० २/६६)

किन्तु वहीं उन्होंने इसके लिए अध्ययनादि के द्वार बन्द करते हुए कहा कि विवाह की वैदिकरीति ही इनका उपनयन संस्कार है। पति की सेवा करना गुरुकुल में निवास तथा घर के कार्यों का सम्पादन ही इनके लिए नित्य होम है-

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।। (मनु० २/६७)

अतः आचार्य मनु यहाँ प्रत्यक्षरूप से स्त्रीशिक्षा के पक्षधर प्रतीत नहीं होते हैं। इतना ही नहीं अपितु स्त्रियों के सम्बन्ध में सामान्यतया उनकी दृष्टि उज्ज्वल नहीं है, क्योंकि उनका मत है कि–स्त्रियों का स्वभाव सामान्यरूप से अपनी शृङ्गारिक चेष्टाओं द्वारा पुरुषों को दूषित करना है। ये मूर्ख हो अथवा विद्वान् उसे काम के वशीभूत करके कुमार्ग में प्रवृत्त करते हुए विनष्ट कर डालती हैं।[१] इसलिए विद्वान् व्यक्ति को कभी भी एकान्त में अपनी माता, बहन अथवा पुत्री के साथ भी नहीं बैठना चाहिए–

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः।। (मनु० २/२१३)
मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वान्समपि कर्षति।। (मनु० २/२१५)

इतना ही नहीं उन्होंने स्त्रियों को प्रतिक्षण यत्नपूर्वक संरक्षित करने का भी निर्देश दिया है, क्योंकि अरक्षित स्त्री के चरित्रपतन की सम्भावना रहती हैं।[२] अतः उन्होंने कौमार्यावस्था में उसे पिता के अधीन, यौवनावस्था में पति के अधीन तथा वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहने के लिए कहते हुए स्पष्टरूप से उसकी स्वतन्त्रता का निषेध किया है–

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।। (मनु० ९/३)

इसके अतिरिक्त स्त्री द्वारा चरित्रविषयक अपराध करने पर भी आचार्य मनु अत्यन्त कठोर प्रतीत होते हैं, क्योंकि एक स्थल पर उन्होंने परपुरुष के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करने पर उसे कुत्तों द्वारा नुचवाकर मार डालने के दण्ड का विधान किया है–

भर्तारं लंघयेद् या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते।। (मनु० ८/३७१)

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मनु तात्कालिक समाज में वर्णसङ्करता का

---

१. मनुस्मृति, २/२१४
२. वही, ९/२।

दोषी पूर्णरूप से स्त्री को ही मानते थे। उन्होंने स्त्री को चारित्रिक दृष्टि से अत्यन्त कमजोर माना तथा इसलिए प्रत्येक अवस्था में उस पर कठोर दृष्टि रखने का निर्देश दिया, यहाँ तक कि वृद्धावस्था में भी उसे स्वतन्त्रता प्रदान करने के वे पक्षधर नहीं थे, उसे पुत्र के संरक्षण में रहना अनिवार्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब तात्कालिक पुरुष प्रधान समाज के कारण ही किया गया।

यहाँ वस्तुतः वह केवल एक सेविका के रूप में ही चित्रित हुई है। उसे न अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार था और न ही शिक्षादि का। किन्तु फिर भी माता के रूप में आचार्य मनु ने स्त्री की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए उसे हजारों पिताओं से भी श्रेष्ठ बताया है–

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते।। (मनु० २/१४५)

साथ ही तृतीय अध्याय में एक स्थल पर उन्होंने पुत्री, पुत्रवधु, बहन आदि का सत्कार करने का भी कथन किया है। तदनुसार इनका अनादर करने पर व्यक्ति कुल सहित नष्ट हो जाता है।[१]

इतना सब कुछ होते हुए भी अत्यन्त आश्चर्य का विषय हैं कि एक स्थल पर उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि जिस कुल में नारियों की पूजा होती है, उसमें देवता भी प्रसन्न होते हैं तथा जहाँ इनका सम्मान नहीं होता है। उनकी सभी याज्ञिक-क्रियाएँ भी निष्फल हो जाती हैं–

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः।। (मनु० ३/५६)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षरूप में इतना ही कहा जा सकता है कि जहाँ तक आचार्य मनु की स्त्री के प्रति दृष्टि का प्रश्न है सामान्यरूप से वह पवित्र एवं समादरणीय थी। इसीकारण उन्होंने माता के रूप में उसे अगाध श्रद्धा का पात्र बताया। इतना ही नहीं, अपितु जामिजन अर्थात् पुत्री, बहिन तथा पुत्रवधु आदि सभी के सम्मान का भी कथन करते हुए शुभकार्यों एवं उत्सवों के अवसर पर, आभूषण, वस्त्र एवं भोजनादि द्वारा सत्कार करने का प्रतिपादन किया।

---

१. शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।। (मनु० ३/५७।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामै नरै नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।। (मनु० ३/५९)

साथ ही पत्नी की सन्तुष्टि को भी उन्होंने कुल को प्रकाशित करने वाला एवं कल्याणों को देने वाला कहा–

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। (मनु० ३/६०)
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते।। (मनु० ३/६२)

किन्तु तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति एवं ढांचे के अनुरूप वे स्त्री की स्वतन्त्रता के पक्षधर नहीं थे। बाह्य सामाजिक वातावरण में निकलकर कामकाजी महिला के रूप में कार्य करना समाज द्वारा अनुमोदित नहीं था। सम्भवतः इसी कारण उसकी शिक्षा–दीक्षा की आवश्यकता का भी अनुभव नहीं किया गया। गृहकार्यों में निपुणता ही उसकी श्रेष्ठ शिक्षा मानी जाती थी। घर एवं परिवार की चाहरदिवारी ही उसका कार्यक्षेत्र था।

कुछ स्त्रियाँ जो अपने चारित्रिक दोष के कारण समाज को दूषित करती थीं अथवा कर रहीं थीं, उनके प्रति अवश्य आचार्य मनु अत्यन्त कठोर थे, क्योंकि इससे समाज में वर्णसङ्कर सन्तति की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है, जो किसी भी समाज के विनाश का कारण माना गया है। इसीलिए उन्होंने वर्णसङ्कर जाति का समाज में हेयस्थान प्रतिपादित किया है। कुल मिलाकर आचार्य मनु के समय में स्त्रियों की स्थिति को इतना अधिक निम्न नहीं कहा जा सकता, जिनता की विद्वान् समालोचकों ने इसे चित्रित किया है।

●●●

कुल्लूकभट्टकृतमन्वर्थमुक्तावलीसहिता

मनुस्मृतिः

प्रथमोऽध्यायः

(स्वयंभुवे नमस्कृत्य ब्रह्मणेऽमिततेजसे।
मनुप्रणीतान्विविधान् धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्।।१।।)
मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन्।।१।।

श्रीगणेशाय नमः।

गौडे नन्दनवासिनाम्नि सुजनैर्वन्द्ये वरेन्द्यां कुले
श्रीमद्भट्टदिवाकरस्य तनयः कुल्लूकभट्टोऽभवत्।
काश्यामुत्तरवाहिजह्नुतनयातीरे समं पण्डितै-
स्तेनेयं क्रियते हिताय विदुषां मन्वर्थमुक्तावली।।१।।

सर्वज्ञस्य मनोरसर्वविदपि व्याख्यामि यद्वाङ्मयं
युक्त्या तद्बहुभिर्यतो मुनिवरैरेतद्बहु व्याहृतम्।
तां व्याख्यामधुनातनैरपि कृतां न्याय्यां ब्रुवाणस्य मे
भक्त्या मानववाङ्मये भवभिदे भूयादशेषेश्वरः।।२।।

मीमांसे बहु सेवितासि सुहृदस्तर्काः समस्ताः स्थ मे
वेदान्ताः परमात्मबोधगुरवो यूयं मयोपासिताः।
जाता व्याकरणानि बालसखिता युष्माभिरभ्यर्थये
प्राप्तोऽयं समयो मनूक्तविवृतौ साहाय्यमालम्ब्यताम्।।३।।

द्वेषादिदोषरहितस्य सतां हिताय मन्वर्थतत्त्वकथनाय ममोद्यतस्य।
दैवाद्यदि क्वचिदिह स्खलनं तथापि निस्तारको भवतु मे जगदन्तरात्मा।।४।।

मानववृत्तावस्यां ज्ञेया व्याख्या नवा मयोद्भिन्ना।

प्राचीना अपि रुचिरा व्याख्यातॄणामशेषाणाम्।।५।।

अत्र महर्षीणां धर्मविषयप्रश्ने मनोः श्रूयताभित्युत्तरदानपर्यतश्लोकचतुष्टयेनैतस्य-शास्त्रस्य प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तानि विषयसंबन्धप्रयोजनान्युक्तानि। तत्र धर्म एव विषयः। तेन सह वचनसंदर्भरूपस्य मानवशास्त्रस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकलक्षणः संबन्धः। प्रमाणान्तरासन्निकृष्टस्य स्वर्गापवर्गादिसाधनस्य धर्मस्य शास्त्रैकगम्यत्वात्। प्रयोजनं तु स्वर्गापवर्गादि। तस्य धर्माधीनत्वात्। यद्यपि पत्न्युपगमनादिरूपः कामोऽप्यत्रा-भिहितस्तथापि "ऋतुकालभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा" (अ० ३ श्लो० ४५) इत्यृतुकालादिनियमेन सोऽपि धर्म एव। एवं चार्थार्जनमपि "ऋतामृताभ्यां जीवेत" (अ० ४ श्लो० ४) इत्यादिनियमेन धर्म एवेत्यवगन्तव्यम्। मोक्षोपायत्वेनाभिहित-स्यात्मज्ञानस्यापि धर्मत्वाद्धर्मविषयत्वं मोक्षोपदेशकत्वं चास्य शास्त्रस्योपपन्नम्। पौरुषेयत्वेऽपि मनुवाक्यानामविगीतमहाजनपरिग्रहाच्छ्रुत्युपग्रहाच्च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। तथा च छान्दोग्यब्राह्मणे श्रूयते– "मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः" इति। बृहस्पतिरप्याह–"वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते[१]।। तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते।।" महाभारतेऽप्युक्तम–"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः।।" विरोधिबौद्धादितर्कैर्न। हन्तव्यानि। अनुकूलस्तु मीमांसादितर्कः प्रवर्तनीय एव। अत एव वक्ष्यति–"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः" (अ० १२ श्लो० १०६) इति। सकलवेदार्थादिमननान्मनुं महर्षय इदं द्वितीयश्लोकवाक्यरूपमुच्यतेऽनेनेति वचनमब्रुवन्। श्लोकस्यादौ मनुनिर्देशो मङ्गलार्थः। परमात्मन एव संसारस्थितये सार्वज्ञैश्वर्यादिसंपन्नमनुरूपेण प्रादुर्भूतत्वात्तदभिधानस्य मङ्गलातिशयत्वात्। वक्ष्यति हि–"एनमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्" (अ० १२ श्लो० १२३) इति। एकाग्रं विषयान्तराव्याक्षिप्तचित्तम्। आसीनं सुखोपविष्टम्। ईदृशस्यैव महर्षिप्रश्नोत्तरदानयोग्यत्वात्। अभिगम्य अभिमुखं गत्वा महर्षयो महान्तश्च ते ऋषयश्चेति तथा। प्रतिपूज्य पूजयित्वा। यद्वा मनुना पूर्वं स्वागतासनदानादिना पूजितास्तस्य पूजां कृत्वेति प्रतिशब्दादुन्नीयते। यथान्यायं येन न्यायेन विधानेन प्रश्नः कर्तुं युज्यते प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना। वक्ष्यति च–"नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः" (अ० २ श्लो० ११०) इति। "अभिगम्य प्रतिपूज्य, अब्रुवन्निति"

---

१. पुस्तकान्तरे विनश्यति।

क्रियात्रयेऽपि मनुमित्येव कर्म। अब्रुवन्नित्यत्राकथितकर्मता। ब्रुविधातोर्द्विकर्मकत्वात्।।१।।

एकाग्र चिन्त से बैठे हुए आचार्य मनु के पास जाकर (उनका) यथोचित विधि से पूजन करके महर्षियों ने यह वचन कहा।।१।।

किमब्रुवन्नित्यपेक्षायामाह-

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मान्नो वक्तुमर्हसि।।२।।
(जरायुजाण्डजानां च तथा संस्वेदजोद्भिदाम्।
भूतग्रामस्य सर्वस्य प्रभवं प्रलयं तथा।।२।।
आचारांश्चैव सर्वेषां कार्याकार्यविनिर्णयम्।
यथाकामं यथायोगं वक्तुमर्हस्यशेषतः।।३।।)

ऐश्वर्यादीनां भगशब्दो वाचकः। तदुक्तं विष्णुपुराणे—" ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना[1]।।" मतुबन्तेन संबोधन भगवन्निति। वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः सर्वे च ते वर्णाश्चेति सर्ववर्णाः तेषामन्तरप्रभवाणां च संकीर्णजातीनां चापि अनुलोमप्रतिलोमजातानां अम्बष्ठक्षत्तृकर्ण-प्रभृतीनां तेषां विजातीयमैथुनसंमवत्वेन खरतुरगीयसंपर्काज्जाताश्वतरवज्जात्यन्तरत्वाद्वर्ण-शब्देनाग्रहणात्पृथक् प्रश्नः। एतेनास्य शास्त्रस्य सर्वोपकारकत्वं दर्शितम्। यथावत् यो धर्मो यस्य वर्णस्य येन प्रकारेणार्हतीत्यनेनाश्रमधर्मादीनामपि प्रश्नः। अनुपूर्वशः क्रमेण जातकर्म, तदनु नामधेयमित्यादिना। धर्मान्नोऽस्मभ्यं वक्तुमर्हसि सर्वधर्माभिधाने योग्यो भवसि तस्माद्ब्रूहीत्यध्येषणमध्याहार्यम्। यत्तु ब्रह्मइत्यादिरूपाधर्मकीर्तनमप्यत्र तत्प्रायश्चित्तविधिरूपधर्मविषयत्वेन न स्वतन्त्रतया।।२।।

हे भगवन्! (आप) क्रमशः (ब्राह्मणादि) सभी वर्णों, (सूत आदि) प्रतिलोमज तथा संकीर्ण जातियों में उत्पन्न लोगों के धर्मों को हमें कहने में समर्थ हैं।।२।।

(शरीर से उत्पन्न, अण्डे से उत्पन्न, पसीने से पैदा हुए, पृथ्वी से जन्मे सम्पूर्ण जीवों के समूह के जन्म तथा विनाश को।।२।। सभी प्राणियों के करने योग्य तथा न करने योग्य आचरणों को, (आप) इच्छानुसार यथायोग्य पूर्णरूप से कहने में समर्थ हैं।।३।।)

---

१. इतीरणा।

सकलधर्माभिधानयोगत्वे हेतुमाह-

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो।।३।।

हिशब्दो हेतौ। यस्मात्त्वमेकोऽद्वितीयः अस्य सर्वस्य प्रत्यक्षश्रुतस्य स्मृत्याद्यनुमेयस्य च विधानस्य विधीयन्तेऽनेन कर्माण्यग्निहोत्रादीनीति विधानं वेदस्तस्य स्वयं-भुवोऽपौरुषेयस्याचिन्त्यस्य बहुशाखाविभिन्नत्वादियत्तया परिच्छेत्तुमयोग्यस्य अप्रमेयस्य मीमांसादिन्यायनिरपेक्षतयानवगम्यमानप्रमेयस्य। कार्यमनुष्ठेयमग्निष्टोमादि, तत्त्वं ब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति० उ० २-१-१) इत्यादि वेदान्तवेद्यं तदेवार्थः प्रतिपाद्यभागस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थवित्। मेधातिथिस्तु कर्ममीमांसावासनया वेदस्य कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थस्तं वेत्तीति कार्यतत्त्वार्थविदिति व्याचष्टे। तन्न। वेदानां ब्रह्मण्यपि प्रामाण्याभ्युपगमान्न कार्यमेव तत्त्वरूपोऽर्थः। धर्माधर्मव्यवस्थापनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम्।।३।।

क्योंकि हे प्रभो! एकमात्र आप ही स्वयं उत्पन्न होने वाले, अचिन्त्य, अप्रमेय ब्रह्म (वेद) एवं (सृष्टिरूप) यज्ञकार्य के तत्त्व को जानने वाले हैं।।३।।

स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्महर्षीञ्छ्रूयतामिति।।४।।

स मनुस्तैर्महर्षिभिस्तथा तेन प्रकारेण पूर्वोक्तेन न्यायेन प्रणतिभक्तिश्रद्धातिशयादिना पृष्टस्तान्सम्यग्यथातत्त्वं प्रत्युवाच श्रूयतामित्युपक्रम्य। अमितमपरिच्छेद्यमोजः सामर्थ्यं ज्ञानतत्त्वाभिधानादौ यस्य स तथा। अत एव सर्वज्ञसर्वशक्तितया महर्षीणामपि प्रश्नविषयः। महात्मभिर्महानुभावैः आर्च्य पूजयित्वा। आङ्पूर्वस्यार्चतेर्ल्यबन्तस्य रूपमिदम्। धर्मस्याभिधानमपि पूजनपुरःसरमेव कर्तव्यमित्यनेन फलितम्। ननु मनुप्रणीतत्वेऽस्य शास्त्रस्य 'स पृष्टः प्रत्युवाच' इति न युक्तम्। अहं पृष्टो ब्रवीमिति युज्यते, अन्यप्रणीतत्वे च कथं मानवीयसंहितेति। उच्यते-प्रायेणाचार्याणामियं शैली यत्स्वाभिप्रायमपि परोपदेशमिव वर्णयन्ति। अत एव "कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्" इति जैमिनेरेव सूत्रम्। अत एव "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" (व्या० सू० १-३-२६) इति बादरायणस्यैव शारीरकसूत्रम्। अथवा मनूपदिष्टा धर्मास्तच्छिष्येण भृगुणा तदाज्ञयोपनिबद्धाः। अत एव वक्ष्यति—" एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः" (अ० १ श्लो० ५९) इत्यतो युज्यत एव स पृष्टः प्रत्युवाचेति। मनूपदिष्टधर्मोपनिबद्धत्वाच्च मानवीयसंहितेति व्यपदेशः।।४।।

उन महात्माओं द्वारा इसप्रकार पूछे गए अमित ओजसम्पन्न, उन्होंने उन सभी महर्षियों का सत्कार करके 'सुनिये' इसप्रकार उत्तर दिया।। ४।।

श्रूयतामित्युपक्षिप्तमर्थमाह—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। ५।।

ननु मुनीनां धर्मविषयप्रश्ने तत्रैवोत्तरं दातुमुचितं तत्कोऽयमप्रस्तुतः प्रलयदशायां कारणलीनस्य जगतः सृष्टिप्रकरणावतारः। अत्र मेधातिथिः समादधे;- शास्त्रस्य महाप्रयोजनत्वमनेन सर्वेण प्रतिपाद्यते। ब्रह्माद्याः स्थावरपर्यन्ताः संसारगतयो धर्माधर्मनिमित्ता अत्र प्रतिपाद्यन्ते। "तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना" (अ० १ श्लो० ४९) इति। वक्ष्यति च "एता दृष्ट्वास्य जीवस्य गतीः स्वेनैव चेतसा। धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः" अ० १२ श्लो० २३ इति। ततश्च निरतिशयैश्वर्यहेतुधर्मस्तद्विपरीतश्चाधर्मस्तद्रूपपरिज्ञानार्थमिदं शास्त्रं महाप्रयोजनमध्येतव्य-मित्यध्ययतात्पर्यमित्यन्तेन। गोविन्दराजस्यापीदमेव समाधानम्। नैतन्मनोहरम्। धर्म-स्वरूपप्रश्ने यद्धर्मस्य फलकीर्तनं तदप्यप्रस्तुतम्। धर्मोक्तिमात्राद्धि शास्त्रमर्थवत्। किंच "कर्मणां फलनिर्वृत्तिं शंसेत्युक्ते महर्षिभिः। द्वादशे वक्ष्यमाणा सा वक्तुमादौ न युज्यते।।" इदं तु वदामः। मुनीनां धर्मविषये प्रश्ने जगत्कारणतया ब्रह्मप्रतिपादनं धर्मकथनमेवेति' नाप्रस्तुताभिधानम्। आत्मज्ञानस्यापि धर्मरूपत्वात्। मनुनैव "धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्" (अ० ६-श्लोक ९२) इति दशविधधर्माभिधाने विद्याशब्दवाच्यमात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्। महाभारतेऽपि-"आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप" इत्यात्मज्ञानं धर्मत्वेनोक्तम्। याज्ञवल्क्येन तु परमधर्मत्वेन यदुक्तम्—"इज्याचारदमाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" (अ० १ श्लो० ८) इति। जगत्कारणत्वं च ब्रह्मलक्षणम्। अत एव ब्रह्ममीमांसायाम्—"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (व्या० सू० १-१-१) इति सूत्रानन्तरं ब्रह्मलक्षणकथनाय " जन्माद्यस्य तयः" (व्या० सू० १-१-२) इति द्वितीयसूत्रं भगवान्बादरायणः प्रणिनाय। अस्य जगतो यतो जन्मादि सृष्टिस्थितिप्रलयमिति सूत्रार्थः। तथाच श्रुतिः—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्म" इति प्राधान्येन जगदुत्पत्तिस्थितिलयनिमित्तोपादानब्रह्मप्रतिपादनम्। आत्मज्ञानरूपपरमधर्मावगमाय प्रथमाध्यायं कृत्वा संस्कारादिरूपं धर्मं तदङ्गतया द्वितीयाध्यायादिकमेण वक्ष्यतीति न कश्चिद्विरोधः।। किंच प्रश्नोत्तरवाक्यानामेव स्वरसादयं मदुक्तोऽर्थो लभ्यते। तथा

हि; "धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं ब्रुवन्। आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान्।। प्राधान्यात्प्रथमाध्याये साधु तस्यैव कीर्तनम्। धर्मोऽन्यस्तु तदङ्गत्वाद्युक्तो वक्तुमनन्तरम्।।" इदमित्यध्यक्षेण सर्वस्य प्रतिभासमानत्वाज्जगन्निर्दिश्यते। इदं जगत् तमोभूतं तमसि स्थितं लीनमासीत्। तमःशब्देन गुणवृत्त्या प्रकृतिर्निर्दिश्यते तम इव तमः। यथा तमसि लीनाः पदार्था अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्त एवं प्रकृतिलीना अपि भावा नावगम्यन्त इति गुणयोगः। प्रलयकाले सूक्ष्मरूपतया प्रकृतौ लीनमासीदित्यर्थः। तथाच श्रुतिः-"तम आसीत्तमसा गूह्ळमग्रे" इति। प्रकृतिरपि ब्रह्मात्मनाऽव्याकृतासीत्। अतएव अप्रज्ञातमप्रत्यक्षं सकलप्रमाणश्रेष्ठतया प्रत्यक्षगोचरः प्रज्ञात इत्युच्यते तन्न भवतीत्यप्रज्ञातं अलक्षणमननुमेयं लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गं तदस्य नास्तीति अलक्षणं अप्रतर्क्यं तर्कयितुमशक्यं तदानीं वाचकस्थूलशब्दाभावाच्छब्दतोऽप्यविज्ञेयम्। एतदेव च प्रमाणत्रयं सतर्कं द्वादशाध्याये मनुनाभ्युपगतं अतएवाविज्ञेयमित्यर्थापत्त्याद्यगोचरमिति धरणीधरस्यापि व्याख्यानम्। नच नासीदेवेति वाच्यम्। तदानीं श्रुतिसिद्धत्वात्। तथाच श्रूयते—"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" छान्दोग्योपनिषच्च—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (६/२/१) इदं जगत्सदेवासीत्। ब्रह्मात्मना आसीदित्यर्थः। सच्छब्दो ब्रह्मवाचकः। अतएव प्रसुप्तमिव सर्वतः। प्रथमार्थे तसिः। स्वकार्याक्षममित्यर्थः।। ५।।

पहले यह संसार अंधकारस्वरूप, अज्ञेय, लक्षणचिह्नों से रहित, तर्क से परे अविज्ञेय, मानो सब ओर से सुप्त था।। ५।।

अथ किमभूदित्याह—

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः।। ६।।

ततः प्रलयावसानानन्तरं स्वयंभूः परमात्मा स्वयं भवति स्वेच्छया शरीरपरिग्रहं करोति, न त्वितरजीववत्कर्मायत्तदेहः। तथाच श्रुतिः—"स एकधा भवति द्विधा भवति"। भगवानैश्वर्यादिसंपन्नः। अव्यक्तो बाह्यकरणागोचरः। योगाभ्यासावसेय इति यावत्। इदं महाभूतादि। आकाशादीनि महाभूतानि। आदिग्रहणान्महदादीनि च व्यञ्जयन्नव्यक्तावस्थं प्रथमं सूक्ष्मरूपेण ततः स्थूलरूपेण प्रकाशयन्। वृत्तौजाः वृत्तमप्रतिहतमुच्यते। अतएव "वृत्ति सर्गतायनेषु क्रमः" (पा० सू० १/३/३८) इत्यत्र वृत्तिरप्रतिघात इति व्याख्यातं जयादित्येन। वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य स तथा। तमोनुदः प्रकृतिप्रेरकः। तदुक्तं भगवद्गीतायाम्—"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (अ० ९ श्लो० १०) इति। प्रादुरासीत्प्रकाशितो बभूव। तमोनुदः प्रलयावस्थाध्वंसक इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ।। ६।।

तत्पश्चात् अपरिमित सामर्थ्यसम्पन्न, अन्धकार को दूर करने वाले परमपिता परमात्मा, महाभूतादि से युक्त इस दृश्यमानजगत् को प्रकट करते हुए आविर्भूत हुए।। ६।।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ।।७।।

योऽसाविति सर्वनामद्वयेन सकललोकवेदपुराणेतिहासादिप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति। अतीन्द्रियग्राह्यः इन्द्रियमतीत्य वर्तत इत्यतीन्द्रियं मनस्तद्ग्राह्य इत्यर्थः। यदाह व्यासः—"नैवासौ चक्षुषा ग्राह्यो न च शिष्टैरपीन्द्रियैः। मनसा तु प्रयत्नेन गृह्यते सूक्ष्मदर्शिभिः।।" सूक्ष्मो बहिरिन्द्रियागोचरः। अव्यक्तो व्यक्तिरवयवस्तद्रहितः। सनातनो नित्यः। सर्वभूतमयः सर्वभूतात्मा। अतएवाचिन्त्याः इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्यः। स एव स्वयं उद्बभौ महदादिकार्यरूपतया प्रादुर्बभूव। उत्पूर्वो भातिः प्रादुर्भावे वर्तते। धातूनामनेकार्थत्वात्।।७।।

वह जो परमात्मा इन्द्रियों से परे, सूक्ष्मस्वरूप, अव्यक्त, सनातन, सभी प्राणियों में व्याप्त एवं अचिन्त्य हैं, वही स्वयं प्रकट हुए।। ७।।

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।।८।।

स परमात्मा नानाविधाः प्रजाः सिसृक्षुरभिध्यायापो जायन्तामित्यभिध्यानमात्रेणाप एव ससर्ज। अभिध्यानपूर्विकां सृष्टिं वदतो मनोः प्रकृतिरेवाचेतनाऽस्वतन्त्रा परिणमत इत्ययं पक्षो न संमतः, किंतु ब्रह्मैवाव्याकृतशक्त्यात्मना जगत्कारणमिति त्रिदण्डि-वेदान्तसिद्धान्त एवाभिमतः प्रतिभाति। तथा च छान्दोग्योपनिषत्—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इति। अतएव शारीरकसूत्रकृता व्यासेन सिद्धान्तितम् "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (व्या० सू० १/१/५) इति। ईक्षतेरीक्षणश्रवणान्न प्रधानं जगत्कारणम्। अशब्दं न विद्यते शब्दः श्रुतिर्यस्य तदशब्दमिति सूत्रार्थः। स्वाच्छरीरादव्याकृतरूपादव्याकृतमेव भगवद्भास्करीयवेदान्तदर्शने प्रकृतिः, तदेव तस्य च शरीरं अव्याकृतशब्देन पञ्चभूतबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियप्राणमनः कर्माविद्यावासना एव सूक्ष्मरूपतया शक्त्यात्मना स्थिता अभिधीयन्ते। अव्याकृतस्य च ब्रह्मणा सह भेदाभेदस्वीकाराद्ब्रह्माद्वैतं, शक्त्यात्मना च ब्रह्म जगद्रूपतया परिणमत इत्युभयमप्युपपद्यते। आदौ स्वकार्यभूमिब्रह्माण्डसृष्टेः प्राक्। अपां सृष्टिश्चेयं महदहंकारतन्मात्रक्रमेण बोद्धव्या। महाभूतादि व्यञ्जयन्निति पूर्वाभिधानादनन्तरमपि महदादिसृष्टेर्वक्ष्यमाणत्वात्। तास्वप्सु बीजं शक्तिरूपं आरोपितवान्।।८।।

(तब) ध्यान करके उसने अपने शरीर से, अनेकप्रकार की प्रजाओं की सृष्टि की कामना से, सर्वप्रथम जल की ही सृष्टि की तथा उनमें (शक्तिरूप) बीज का आरोप किया।। ८।।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।। ९।।

तद्बीजं परमेश्वरेच्छया हैममण्डमभवत्। हैममिव हैम शुद्धिगुणयोगान्न तु हैममेव। तदीयैकशकलेन भूमिनिर्माणस्य वक्ष्यमाणत्वात्। भूमेश्चाहैमत्वस्य प्रत्यक्षत्वादुपचारा-श्रयणम्। सहस्रांशुरादित्यस्तत्तुल्यप्रभं तस्मिन्नण्डे हिरण्यगर्भो जातवान्। येन पूर्वजन्मनि हिरण्यगर्भोऽहमस्मीति भेदाभेदभावनया परमेश्वरोपासना कृता तदीयं लिङ्गशरीरा-वच्छिन्नजीवनमनुप्रविश्य स्वयं परमात्मैव हिरण्यगर्भरूपतया प्रादुर्भूतः। सर्वलोकानां पितामहो जनकः, सर्वलोकपितामह इति वा तस्य नाम।। ९।।

(तत्पश्चात्) वह बीज सूर्य के समान प्रभासम्पन्न स्वर्णिम अण्डा हो गया। (तब) सभी लोकों के पितामह ब्रह्मा स्वयं उसमें उत्पन्न हुए।। ९।।

इदानीमागमप्रसिद्धनारायणशब्दार्थनिर्वचनेनोक्तमेवार्थं द्रढयति—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं येन नारायणः स्मृतः।। १०।।
(नारायणपरोव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम्।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपात्र मेदिनी।। ४।।)

आपो नाराशब्देनोच्यन्ते। अप्सु नाराशब्दस्याप्रसिद्धेस्तदर्थमाह— यतस्ता नराख्यस्य परमात्मनः सूनवोऽपत्यानि। "तस्येदम्" (पा० सू० ४/३/१२०) इत्यणप्रत्ययः। यद्यपि अणि कृते ङीप्प्रत्ययः प्राप्तस्तथापि छान्दसलक्षणैरपि स्मृतिषु व्यवहारात् "सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते" इति पाक्षिको ङीप्प्रत्ययस्तस्याभावपक्षे सामान्यलक्षणप्राप्ते टापि कृते नारा इति रूपसिद्धिः। आपोऽस्य परमात्मनो ब्रह्मरूपेणावस्थितस्य पूर्वमयनमाश्रय इत्यसौ नारायण इत्यागमेष्वाम्नातः। गोविन्दराजेन तु आपो नरा इति पठितं व्याख्यातं च-नरायण इति प्राप्ते "अन्येषामपि दृश्यते" (पा० सू० ६/३/१३७) इति दीर्घत्वेन नारायण इति रूपम्। अन्ये त्वापो नारा इति पठन्ति।। १०।।

जलों को नारा इस रूप में कहा गया है, क्योंकि जल परमात्मा (नर) की सन्तान हैं, क्योंकि वे नारा (जल) इस (परमात्मा) का प्रथम आश्रय हैं, इस कारण (परमात्मा को) नारायण कहा गया।। १०।।

(अव्यक्त से उत्पन्न वह स्वार्णिम अण्डा वस्तुतः अव्यक्तस्वरूप वाले नारायण से व्याप्त था। ये सभी लोक तथा सात दीपों वाली पृथ्वी वास्तव में इस अण्डे के अन्दर ही (विराजमान) थे।। ४।।)

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते।। ११।।

यत्तदितिसर्वनामभ्यां लोकवेदादिसर्वप्रसिद्धं परमात्मानं निर्दिशति। कारणं सर्वोत्पत्तिमतां। अव्यक्तं बहिरिन्द्रियागोचरं। नित्यं उत्पत्तिविनाशरहितम्। वेदान्तसिद्धत्वात्सतस्वभावं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वादसत्स्वभावमिव। अथवा सद्भावजातं असदभावस्तयोरात्मभूतम्। तथाच श्रुतिः—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इति। तद्विसृष्टस्तेनोत्पादितः स पुरुषः सर्वत्र ब्रह्मेति कीर्त्यते।। ११।।

अव्यक्त, नित्य, सद् असद्स्वरूप वह जो सबका कारण है। उससे उत्पन्न हुआ वह पुरुष, संसार में 'ब्रह्मा' इस रूप में (भी) कहा जाता है।। ११।

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा।। १२।।

तस्मिन् पूर्वोक्तेऽण्डे स ब्रह्मा वक्ष्यमाणब्रह्ममानेन संवत्सरमुषित्वा स्थित्वा आत्मनैवाण्डं द्विधा भवत्वित्यात्मगतध्यानमात्रेण तदण्डं द्विखण्डं कृतवान्।। १२।।

उस परमात्मा ने उस अण्डे में एक वर्ष तक निवास करके, स्वयं ही अपने ध्यान से उस अण्डे को दो भागों में (विभाजित) कर दिया।। १२।।

ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्।। १३।।
(वैकारिकं तैजसं च तथा भूतादिमेव च।
एकमेव त्रिधाभूतं महानित्येव संस्थितम्।। ५।।
इन्द्रियाणां समस्तानां प्रभवं प्रलयं तथा।)

शकलं खण्डं ताभ्यामण्डशकलाभ्यां उत्तरेण दिवं स्वर्लोकमधरेण भूर्लोकं उभयोर्मध्य आकाशं दिशश्चान्तरालदिग्भिः सहाष्टौ समुद्राख्यं अपां स्थानं स्थिरं निर्मितवान्।। १३।।

तब उसने उन दोनों टुकड़ों के द्वारा द्युलोक तथा पृथिवी लोक, बीच में आकाश और आठ दिशाओं एवं जलों के शाश्वत स्थानों का निर्माण किया।। १३।।

(इसप्रकार (वह) अकेला ही वैकारिक, तैजस एवं भूतादि इन तीन रूपों में विभक्त होकर 'महान्' इस रूप में स्थित हुआ तथा (उसने) समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति एवं विनाश की भी (व्यवस्था की)।। ५।।

इदानीं महदादिक्रमेणैव जगन्निर्माणमिति दर्शयितुं तत्तत्सृष्टिमाह—

उद्बबर्हात्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
मनसश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम्।। १४।।

ब्रह्मा आत्मनः परमात्मनः सकाशात्तेन रूपेण मन उद्धृतवान्। परमात्मन एव ब्रह्म स्वरूपेणोत्पन्नत्वात्परमात्मन एव च मनःसृष्टिर्वेदान्तदर्शने न प्रधानात्। तथाच श्रुतिः—"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी।।" मनश्च श्रुतिसिद्धत्वाद्युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गाच्च सत् अप्रक्षत्वादसदिति। मनसः पूर्वमहंकारतत्त्वं अहमित्यभिमानाख्यकार्ययुक्तं ईश्वरं स्वकार्यकरणक्षमम्।। १४।।

(तत्पश्चात् ब्रह्मा ने) आत्मा से सद् असद्भावयुक्त मन को तथा मन से ईश्वर का अभिमान करने वाले अहंकार को उत्पन्न किया।। १४।।

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
विषयाणां ग्रहीतॄणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च।। १५।।
(अविशेषान् विशेषांश्च विषयांश्च पृथग्विधान्।। ६।।

महान्तमिति महदाख्यतत्त्वमहंकारात्पूर्वं परमात्मन एवाव्याकृतशक्तिरूपप्रकृतिसहितादुद्धृतवान्। आत्मन उत्पन्नत्वात् आत्मानमात्मोपकारकत्वाद्वा। यान्यभिहितानि अभिधास्यन्ते च तान्युत्पत्तिमन्ति सर्वाणि सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तानि विषयाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां ग्राहकाणि शनैः क्रमेण वेदान्तसिद्धेन श्रोत्रादीनि द्वितीयाध्यायवक्तव्यानि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, च शब्दात्पञ्च पाय्वादीनि कर्मेन्द्रियाणि शब्दतन्मात्रादीनि च पञ्चोत्पादितवान्। नन्वभिध्यानपूर्वकसृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तसिद्धान्त एव मनोरभिमत इति प्रागुक्तं तन्न संगच्छते। इदानीं महादादिक्रमेण सृष्ट्यभिधानाद्वेदान्तदर्शनेन च परमात्मन एवाकाशादिक्रमेण सृष्टिरुक्ता। तथाच तैत्तिरीयोपनिषत्- "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी" (२/१/१) इति। उच्यते-प्रकृतितो महदादिक्रमेण सृष्टिरिति भगवद्भास्करीयदर्शने ऽप्युपपद्यत इति तद्विदो व्याचक्षते। अव्याकृतमेव प्रकृतिरिष्यते तस्य च सृष्ट्युन्मुखत्वं सृष्ट्याद्यकालयोगरूपं तदेव महत्तत्त्वं, ततो बहु स्यामित्यभिमानात्मकेक्षणकालयोगित्वमव्याकृतस्याहंकारतत्त्वम्। तत आकाशादिपञ्चभूतसूक्ष्माणि

क्रमेणोत्पन्नानि पञ्च तन्मात्राणि ततस्तेभ्य एव स्थूलान्युत्पन्नानि पञ्च महाभूतानि सूक्ष्मस्थूलक्रमेणैव कार्योदयदर्शनादिति न विरोधः। अव्याकृतगुणत्वेऽपि सत्वरजस्तमसां सर्वाणि त्रिगुणानीत्युपपद्यते। भवतु वा सत्त्वरजस्तमःसमतारूपैव मूलप्रकृतिः, भवन्तु च तत्त्वान्तराण्येव महदहंकारतन्मात्राणि, तथापि प्रकृतिर्ब्रह्मणोऽनन्येति मनोः स्वरसः। यतो वक्ष्यति-"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" (अ० १२ श्लो० ९१) इति। तथा "एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्" (अ० १२ श्लो० १२५) इति।। १५।।

(पुनः अहंकार से) अपने स्वरूपकाल महत्तत्त्व, (सत्त्व, रजस्, तमस् आदि) सभी तीन गुण तथा (रूप-रस आदि विषयों को) ग्रहण करने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रिय एवं पाँच कर्मेन्द्रियों आदि इन्द्रियों की सृष्टि की।। १५।।

(विषयों को अलग-अलग करने वाले सामान्य एवं विशेष का भी निर्माण किया।। ६।।)

तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्षण्णामप्यमितौजसाम्।
सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे।। १६।।

तेषां षण्णां पूर्वोक्ताहंकारस्य तन्मात्राणां च ये सूक्ष्मा अवयवास्तान् आत्ममात्रासुषण्णां स्वविकारेषु योजयित्वा मनुष्यतिर्यक्स्थावरादीनि सर्वभूतानि परमात्मा निर्मितवान्। तत्र तन्मात्राणां विकारः पञ्चमहाभूतानि अहंकारस्येन्द्रियाणि पृथिव्यादिभूतेषु शरीररूपतया परिणतेषु तन्मात्राहंकारयोजनां कृत्वा सकलस्य कार्यजातस्य निर्माणम्। अतएवामितौजसामनन्तकार्यनिर्माणेनातिवीर्यशालिनाम्।। १६।।

(इसके बाद) अनन्त शक्तिसम्पन्न उन सूक्ष्म छः तत्त्वों के अवयवों को उनके अपने-अपने विकारों में नियोजित करके, सभी प्राणियों का निर्माण किया।। १६।।

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः।। १७।।

यस्मान्मूर्तिः शरीरं तत्संपादका अवयवाः सूक्ष्मास्तन्मात्राहंकाररूपाः षट् तस्य ब्रह्मणः सप्रकृतिकस्य इमानि वक्ष्यमाणानि भूतानीन्द्रियाणि च पूर्वोक्तानि कार्यत्वेनाश्रयन्ति। तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तेः अहंकाराच्च इन्द्रियोत्पत्तेः। तथाच पठन्ति-"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।।" (सांख्यकारिका २२) तस्मात्तस्य ब्रह्मणो या मूर्तिः स्वभावस्तां

तथा परिणतामिन्द्रियादिशालिनीं लोका शरीरामिति वदन्ति। षडाश्रयणाच्छरीरमिति शरीरनिर्वचनेनानेन पूर्वोक्तोत्पत्तिक्रम एव दृढीकृतः।। १७।।

उस ब्रह्मरूप मूर्ति के सूक्ष्म छहों अवयव (पञ्च तन्मात्रा और अहंकार) इन इन्द्रियादि का आश्रय लेकर रहते हैं। इसीलिए विद्वान् लोग (ब्रह्म) मूर्ति को 'शरीर' ऐसा कहते हैं।। १७।।

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम्।। १८।।

पूर्वश्लोके तस्येति प्रकृतं ब्रह्मात्र तदिति परामृश्यते तद्ब्रह्म शब्दादिपञ्चतन्मात्रा-त्मनावस्थितं महाभूतान्याकाशादीनि आविशन्ति तेभ्य उत्पद्यन्ते। सह कर्मभिः स्वकार्यैस्तत्राकाशस्यावकाशदानं कर्म वायोर्व्यूहनं विन्यासरूपं तेजसः पाकोऽपां ग्रहणं पिण्डीकरणरूपं पृथिव्या धारणं। अहंकारात्मनावस्थितं ब्रह्म मन आविशति। अहंकारादुत्पद्यत इत्यर्थः। अवयवैः स्वकार्यैः शुभाशुभसंकल्पसुखदुःखादिरूपैः सूक्ष्मैर्बहिरिन्द्रियागोचरैः सर्वभूतकृत्सर्वोत्पत्तिनिमित्तं मनोजन्यशुभाशुभकर्म-प्रभवत्वाज्जगतः। अव्ययमविनाशि।। १८।।

(इसप्रकार) सभी भूतों को निर्माण करने वाले, विनाशरहित (उस ब्रह्मा) से अपने-अपने कर्मों से युक्त (आकाशादि) पञ्चमहाभूत तथा सूक्ष्म अवयवों सहित मन की उत्पत्ति हुई।। १८।।

तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यव्ययाद्व्ययम्।। १९।।

तेषां पूर्वप्रकृतीनां महदहंकारतन्मात्राणां सप्तसंख्यानां पुरुषादात्मन उत्पन्नत्वात्तद्वृत्ति-ग्राह्यत्वाच्च पुरुषाणां महौजसां स्वकार्यसंपादनेन वीर्यवतां सूक्ष्मा या मूर्तिमात्राः शरीसंपादकभागास्ताभ्य इदं जगन्नश्वरं संभवत्यनश्वराद्यत्कार्य तद्विनाशि स्वकारणे लीयते। कारणं तु कार्यापेक्षया स्थिरम्। परमकारणं तु ब्रह्म नित्यमुपासनीयमित्येतद्दर्श-यितुमयमनुवादः।। १९।।

(तब) अविनाशी उस ब्रह्म से महान् ओजसम्पन्न, उन सात पुरुषों के सूक्ष्म तन्मात्राओं से यह विनाशशील संसार उत्पन्न होता है।। १९।।

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः।। २०।।

एषामिति पूर्वतरश्लोके "तदाविशन्ति भूतानि" (अ० १ श्लो० १८) इत्यत्र

भूतानां परामर्शः। तेषां चाकाशादिक्रमेणोत्पत्तिक्रमः, शब्दादिगुणवत्ता च वक्ष्यते। तत्राद्याद्यस्याकाशादेर्गुणं शब्दादिकं वाय्वादि परः परः प्राप्नोति। एतदेव स्पष्टयति—यो य इति।। एषां मध्ये यो यो यावतां पूरणो यावतिथः "वतोरिथुक्" (पा० सू० ५/२/५३) स स द्वितीयादिः द्वितीयो द्विगुणः तृतीयस्त्रिगुण इत्येवमादिर्मन्वादिभिः स्मृतः। एतेनैतदुक्तं भवति। आकाशस्य शब्दो गुणः, वायोः शब्दस्पर्शौ, तेजसः शब्दस्पर्शरूपाणि, अपां शब्दस्पर्शरूपरसाः, भूमेः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। अत्र यद्यपि "नित्यवीप्सयोः" (पा० सू० ८/१/४)। इति द्विर्वचनेनाद्यस्याद्यस्येति प्राप्तं तथापि स्मृतीनां छन्दः समानविषयत्वात् "सुपां सुलुक्" (पा० सू० ७/१/३९) इति प्रथमाद्यस्य सुब्लुक् तेनाद्याद्यस्येति रूपसिद्धिः।। २०।।

इन (पञ्च महाभूतों) से पहले पहले के गुणों को बाद-बाद वाला (महाभूत) प्राप्त करता है। इसलिए इनमें जो-जो जितनी संख्या पर स्थित है,वह-वह उतने गुणों वाला कहा गया है।। २०।।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।। २१।।

स परमात्मा हिरण्यगर्भरूपेणावस्थितः सर्वेषां नामानि गोजातेर्गौरिति अश्वजातेरश्व इति। कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनादीनि, क्षत्रियस्य प्रजारक्षादीनि। पृथक् पृथक् यस्य पूर्वकल्पे यान्यभूवन्। आदौ सृष्ट्यादौ वेदशब्देभ्य एवावगम्य निर्मितवान्। भगवता व्यासेनापि वेदमीमांसायां वेदपूर्विकैव जगत्सृष्टिर्व्युत्पादिता। तथा च शारीरकसूत्रम्— "शब्द इति चेन्नातःप्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" (व्या० सू० १/३/२८ अस्यार्थाः। देवतानां विग्रहवत्त्वे वैदिके वस्वादिशब्दे देवतावाचिनि विरोधः स्याद्वेदस्यादिमत्त्व-प्रसङ्गादिति चेन्नास्ति विरोधः। कस्मात् अतःशब्दादेव जगतः प्रभवादुत्पत्तेः प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः स इह कल्पादौ हिरण्यगर्भस्य परमात्मन एव प्रथमदेहिमूर्तेर्मनस्यवस्थान्तरमनापन्नः सुप्तप्रबुद्धस्येव प्रादुर्भवति। तेन प्रदीपस्थानीयेन सुरनरतिर्यगादिप्रविभक्तं जगदभिधेयभूतं निर्मिमीते। कथमिदं गम्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। प्रत्यक्षं श्रुतिरनपेक्षत्वात्। अनुमानं स्मृतिरनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वात्। तथाच श्रुतिः—"एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजता-सृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः"। स्मृतिस्तु "सर्वेषां तु स नामानि" (अ० १ श्लो० २१) इत्यादिका मन्वादिप्रणीतैव। पृथक्संस्थाश्चेति। लौकिकीश्च व्यवस्थाः कुलालस्य घटनिर्माणं कुविन्दस्य पटनिर्माणमित्यादिकविभागेन निर्मितवान्।। २१।।

तत्पश्चात् परमात्मा ने प्रारम्भ में वेदशब्दों के द्वारा ही उन सभी के नाम, कर्म तथा संख्याओं का अलग-अलग निर्माण किया।। २१।।

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभुः।
साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम्।। २२।।

स ब्रह्मा देवानां गणमसृजत्। प्राणिनामिन्द्रादीनां कर्माणि आत्मा स्वभावो येषां तेषामप्राणिनांच ग्रावादीनां देवानां साध्यानां च देवविशेषाणां समूहं यज्ञं च ज्योतिष्टोमादिकं कल्पान्तरेऽप्यनुमीयमानत्वान्नत्यम्। साध्यानां च गणस्य पृथग्वचनं सूक्ष्मत्वात्।। २२।।

(पुनः) उस परमात्मा ने देवताओं, कर्मस्वभाव वाले प्राणियों, साध्यों के सूक्ष्मगण तथा सनातनयज्ञ को उत्पन्न किया।। २२।।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।। २३।।

ब्रह्म ऋग्यजुःसामसंज्ञं वेदत्रयं अग्निवायुरविभ्य आकृष्टवान्। सनातनं नित्यम्। वेदापौरुषेयत्वपक्ष एव मनोरभिमतः। पूर्वकल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढाः। तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष। श्रौतश्चायमर्थो न शङ्कनीयः। तथाच श्रुतिः—"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात्सामवेदः" इति। आकर्षणार्थत्वाद्दुहिधातोर्नाग्निवायुरवीणामकथितकर्मता किंत्वपादानतैव। यज्ञसिद्ध्यर्थं त्रयीसंपाद्यत्वाद्यज्ञानां आपीनस्थक्षीरवद्विद्यमानानामेव वेदानामभिव्यक्ति-प्रदर्शनार्थमाकर्षणवाचको गौणो दुहिः प्रयुक्तः।। २३।।

उस सनातनब्रह्म ने यज्ञों की सिद्धि के लिए अग्नि, वायु तथा सूर्य से (क्रमशः) ऋक्, यजुः एवं साम लक्षणों से युक्त तीन वेदों का दोहन किया।। २३।।

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहांस्तथा।
सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषमाणि च।। २४।।
तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः।। २५।।

अत्र ससर्जेत्युत्तरश्लोकवर्तिनी क्रिया संबध्यते। आदित्यादिक्रियाप्रचयरूपं कालं कालविभक्तीर्मासतर्त्वयनाद्याः नक्षत्राणि कृत्तिकादीनि ग्रहान्सूर्यादीन् सरितो नदीः सागरान्समुद्रान् शैलान्पर्वतान् समानि समस्थानानि विषमाणि उच्चनीचरूपाणि।।

तप: प्राजापत्यादि वाचं वाणीं रतिं चेत:परितोषं काममिच्छां क्रोधं चेतोविकारं इमामेतच्छ्लोकोक्तां पूर्वश्लोकोक्ताञ्च सृष्टिं चकार। सृज्यत इति सृष्टि:। कर्मणि क्तिन्। इमा: प्रजा वक्ष्यमाणा देवादिका: कर्तुमिच्छन्।। २४-२५।।

तत्पश्चात् इन प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा करते हुए ब्रह्मा ने काल, काल-विभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, सागर, पर्वत तथा सम-विषम स्थानों, तप, वाणी, रति, कामना, और क्रोध की भी सृष्टि की।। २४-२५।।

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मौ व्यवेचयत्।
द्वन्द्वैरयोजयच्चेमा: सुखदु:खादिभि: प्रजा:।। २६।।

धर्मो यज्ञादि: स च कर्तव्य: अधर्मो ब्रह्मवधादि: स न कर्तव्य: इति कर्मणां विभागाय धर्माधर्मौ व्यवेचयत्पृथक्त्वेनाभ्यधात्। धर्मस्य फलं सुखं, अधर्मस्य फलं दु:खम्। धर्माधर्मफलभूतैर्द्वन्द्वै: परस्परविरुद्धै: सुखदु:खादिभिरिमा: प्रजा योजितवान्। आदिग्रहणात्कामक्रोधरागद्वेषक्षुत्पिपासाशोकमोहादिभि:।। २६।।

और कर्मों के विवेचन के लिए धर्म एवं अधर्म की विवेचना की तथा इन सभी प्रजाओं को सुख दु:खादि के द्वन्द्वों से संयुक्त कर दिया।। २६।।

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु या: समृता:।
ताभि: सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वश:।। २७।।

दशार्धानां पञ्चानां महाभूतानां या: सूक्ष्मा: पञ्चतन्मात्ररूपा विनाशिन्य: पञ्चमहाभूतरूपतया विपरिणामिन्य: ताभि: सह उक्तं वक्ष्यमाणं चेदं सर्वमुत्पद्यते। अनुपूर्वश: क्रमेण। सूक्ष्मात्स्थूलं स्थूलात्स्थूलतरमित्यनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो मानससृष्टि: कदाचित्तत्त्वनिरपेक्षा स्यादितीमां शङ्कामपनिनीषंसतद्द्वारेणैवेयं सृष्टिरिति मध्ये पुन: पूर्वोक्तं स्मारितवान्।। २७।।

विनाशशील जिन पञ्चमहाभूतों की जो पञ्चतन्मात्राएँ कही गई हैं। यह सम्पूर्ण संसार क्रमश: उनके साथ ही उत्पन्न होता है।। २७।।

यं तु कर्मणि यस्मिन्स् न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभु:।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमान: पुन: पुन:।। २८।।

स प्रजापतिर्यं जातिविशेषं व्याघ्रादिकं यस्यां क्रियायां हरिणमारणादिकायां सृष्ट्यादौ नियुक्तवान् स जातिविशेष: पुन: पुनरपि सृज्यमान: स्वकर्मवशेन तदेवाचरितवान्। एतेन प्राणिकर्मसापेक्षं प्रजापतेरुत्तमाधमजातिनिर्माणं न रागद्वेषाधीनमिति दर्शितम्। अतएव वक्ष्यति "यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्" (अ० १ श्लो० ४१) इति।। २८।।

उस परमात्मा ने सर्वप्रथम जिसको जिस कार्य में नियुक्त किया था, बार-बार उत्पन्न होता हुआ भी वह स्वयं भी उसी कार्य को करने लगा।। २८।।

एतदेव प्रपञ्चयति—

हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्।। २९।।

हिंस्रं कर्म सिंहादेः करिमारणादिकम्। अहिंस्रं हरिणादेः। मृदु दयाप्रधानं विप्रादेः क्रूरं क्षत्रियादेः। धर्मो तथा ब्रह्मचार्यादेः गुरुशुश्रूषादिः। अधर्मो यथा तस्यैव मांसमैथुनसेवनादिः। ऋतं सत्यं, तच्च प्रायेण देवानाम्। अनृतमसत्यं तदपि प्रायेण मनुष्याणाम्। तथाच श्रुतिः—"सत्यवाचो देवा अनृतवाचो मनुष्याः" इति। तेषां मध्ये यत्कर्म स प्रजापतिः सर्गादौ यस्याधारत्सृष्ट्युत्तरकालमपि स तदेव कर्म प्राक्तनादृष्टवशात्स्वयमेव भेजे।। २९।।

सृष्टि के (प्रारम्भ में) हिंसक-अहिंसक, कोमल-क्रूर, धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य में जिस-जिसको लगाया गया। (बाद में) स्वयं ही वह उस कार्य में लग गया।। २९।।

अत्र दृष्टान्तमाह—

यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये।
स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः।। ३०।।

यथा वसन्तादिऋतव ऋतुचिह्नानि चूतमञ्जर्यादीनि ऋतुपर्यये स्वकार्यावसरे स्वयमेवाप्नुवन्ति तथा देहिनोऽपि हिंस्रादीनि कर्माणि।। ३०।।

जिसप्रकार ऋतुओं के बदलने पर ऋतुएँ अपने-अपने चिह्नों को स्वयं ही प्राप्त कर लेती हैं। उसीप्रकार शरीरधारी प्राणी भी अपने-अपने कर्मों को (स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं।)।। ३०।।

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्।। ३१।।

भूरादीनां लोकानां बाहुल्यार्थं मुखबाहूरुपादेभ्यो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्यथाक्रमं निर्मितवान्। ब्राह्मणादिभिः सायंप्रातरग्नावाहुतिः प्रक्षिप्ता सूर्यमुपतिष्ठते सूर्याद्वृष्टि-वृष्टेरन्नमन्नात्प्रजाबाहुल्यम्। वक्ष्यति च—"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यम्" (अ० १ श्लो० ७६) इत्यादि। दैव्या च शक्त्या मुखादिभ्यो ब्राह्मणादिनिर्माणम्। ब्राह्मणो न विशङ्कनीयः श्रुतिसिद्धत्वात्। तथाच श्रुतिः "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि।। ३१।।

साथ ही लोकों की वृद्धि के लिए (उस परमात्मा ने) मुख, बाहु, जँघा तथा पैरों से (क्रमशः) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को उत्पन्न किया।। ३१।।

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः।। ३२।।

स ब्रह्मा निजदेहं द्विखण्डं कृत्वा अर्धेन स्त्री तस्यां, मैथुनधर्मेण विराट्संज्ञं पुरुषं निर्मितवान्। श्रुतिश्च—"ततो विराडजायत" इति।। ३२।।

परमात्मा अपने शरीर को दो भागों में विभाजित करके आधे से पुरुष तथा आधे से स्त्री हो गए और उस (स्त्री) में विराट् (पुरुष) की संरचना की।। ३२।।

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्।
तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः।। ३३।।

स विराट् तपो विधाय यं निर्मितवान् तं मां मनुं जानीत अस्य सर्वस्य जगतः स्रष्टारं भो द्विजसत्तमाः। एतेन स्वजन्मोत्कर्षसामर्थ्यातिशयावभिहितवान् लोकानां प्रत्ययितप्रत्ययार्थम्।। ३३।।

हे द्विजश्रेष्ठ! तपस्या करके उस विराट्पुरुष ने जिसे उत्पन्न किया, इस सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाले वह मुझे (ही) समझो।। ३३।।

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।
पतीन्प्रजानामसृजं महर्षीनादितो दश।। ३४।।

अहं प्रजाः स्रष्टुमिच्छन् सुदुश्चरं तपस्तप्त्वा दश प्रजापतीन्प्रथमं सृष्टवान्। तैरपि प्रजानां सृज्यमानत्वात्।। ३४।।

प्रजाओं की सृष्टि करने के इच्छुक मैंने अत्यधिक कठोर तप का आचरण करके, सर्वप्रथम प्रजाओं के स्वामी दस महर्षियों की सृष्टि की।। ३४।।

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च।। ३५।।

त एते दश प्रजापतयो नामतो निर्दिष्टाः।। ३५।।

मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद (ये ही वे दस ऋषि हैं)।। ३५।।

एते मनूंस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।
देवान्देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः।। ३६।।

एते मरीच्यादयो दश भूरितेजसो बहुतेजसोऽन्यान् सप्तापरिमिततेजस्कान् मनून्देवान् ब्रह्मणाऽसृष्टान् देवनिवासस्थानाति स्वर्गादीन्महर्षींश्च सृष्टवन्तः। मनुशब्दोऽयम-धिकारवाची। चतुर्दशसु मन्वन्तरेषु यस्य यत्र सर्गाद्यधिकारः स तस्मिन्मन्वन्तरे स्वायंभुवस्वारोचिषादिनामभिर्मनुरिति व्यपदिश्यते।। ३६।।

अत्यधिक तेजस्वी इन महर्षियों के साथ अन्य मनुओं, देवताओं, देवों के निवास स्थानों तथा अपरिमित ओज सम्पन्न महर्षियों का निर्माण किया।। ३६।।

यक्षरक्षःपिशाचांश्च गन्धर्वाप्सरसोऽसुरान्।
नागान्सर्पान्सुपर्णांश्च पितृणां च पृथग्गणान्।। ३७।।

एतेऽसृजन्निति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्गःउत्तरत्र श्लोकद्वये च। यक्षो वैश्रवणस्तदनुचराश्च। रक्षांसि रावणादीनि। पिशाचास्तेभ्योऽपकृष्टा अशुचिमरुदेशनिवासिनः। गन्धर्वाश्चित्र-रथादयः। अप्सरस उर्वश्याद्याः। असुरा विरोचनादयः। नागा वासुक्यादयः। सर्पास्ततोऽपकृष्टा अलगर्दादयः। सुपर्णा गरुडादयः। पितृणामाज्यपादीनां गणः समूहः। एषां च भेद इतिहासादिप्रसिद्धो नाध्यक्षादिगोचरः।। ३७।।

(तत्पश्चात्) यक्ष, राक्षस और पिशाचों को, गन्धर्व, अप्सरा तथा असुरों को, नाग, सर्प और गरुड़ों को एवं पितरों के अलग-अलग गणों को (बनाया)।। ३७।।

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च।
उल्कानिर्घातकेतूंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च।। ३८।।

मेघेषु दृश्यं दीर्घाकारं ज्योतिर्विद्युत्। मेघादेव यज्ज्योतिर्वृक्षादिविनाशकं तदशनिः। मेघाः प्रसिद्धाः। रोहितं दण्डाकारम्। नानावर्णं दिवि दृश्यते यज्ज्योतिस्तदेव वक्रमिन्द्रधनुः। उल्का रेखाकारमन्तरिक्षात्पतज्ज्योतिः। निर्घातो भूम्यन्तरिक्षगत उत्पातध्वनिः। केतवः शिखावन्ति ज्योतींषि उत्पातरूपाणि। अन्यानि ज्योतींषि ध्रुवागस्त्यादीनि नानाप्रकाराणि।। ३८।।

(इसके अतिरिक्त) विद्युत्, वज्र, बादल, रोहित, इन्द्रधनुष, उल्का, निर्घात, धूमकेतु तथा अन्य छोटे बड़े तारों का (निर्माण किया)।। ३८।।

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च विहङ्गमान्।
पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः।। ३९।।

किन्नरा अश्वमुखा देवयोनयो नरविग्रहाः। वानराः प्रसिद्धाः। मत्स्या रोहितादयः। विहङ्गमाः पक्षिणः। पशवो गवाद्याः। मृगा हरिणाद्याः। व्यालाः सिंहाद्याः। उभयतोदतः द्वे दन्तपङ्क्ती येषां उत्तराधरे भवतः।। ३९।।

किन्नर, वानर, अनेक तरह की मछलियाँ, पशु, पक्षी, मृग, सर्प तथा ऊपर नीचे के दोनों दाँतों वालों को (बनाया)।। ३९।।

कृमिकीटपतङ्गांश्च यूकामक्षिकमत्कुणम्।
सर्वं च दंशमशकं स्थावरं च पृथग्विधम्।। ४०।।
(यथाकर्म यथाकालं यथाप्रज्ञं यथाश्रुतम्।
यथायुगं यथादेशं यथावृत्तिं यथाक्रमम्।। ७।।)

कीटाः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलाः। पतङ्गाः शलभाः। यूकादयः प्रसिद्धाः। "क्षुद्रजन्तवः" (पा० सू० २/४/८) इत्यनेन एकवद्भावः। स्थावरं वृक्षलतादिभेदेन विविधप्रकारम्।। ४०।।

(इसके अतिरिक्त) बहुत छोटे आकार वाले कीड़े (कृमि), कीट, पतङ्ग, जूँ, मक्खी, खटमल तथा सभीप्रकार के डाँस, मच्छर तथा अनेकप्रकार की स्थावरसृष्टि की (संरचना की)।। ४०।।

(प्राणियों के कर्मों के अनुसार, समय के अनुसार, बुद्धि के अनुसार, शास्त्रज्ञान के अनुसार, युग के अनुसार, देश के अनुसार, आचरण के अनुसार एवं क्रम के अनुसार ही परमात्मा ने यह सम्पूर्ण सृष्टि की।। ७।।)

एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम्।। ४१।।

एवमित्युक्तप्रकारेण एतैर्मरीच्यादिभिरिदं सर्वं स्थावरजङ्गमं सृष्टम्। यथाकर्म यस्य जन्तोर्यादृशं कर्म तदनुरूपम्। तस्य देवमनुष्यतिर्यगादियोनिषूत्पादनं मन्नियो-गान्मदाज्ञया। तपोयोगान्महत्तपः कृत्वा। सर्वमैश्वर्यं तपोधीनमिति दर्शितम्।। ४१।।

इसप्रकार मेरे आदेश से इन महात्माओं द्वारा तपोबल से, उनके कर्मों के अनुसार इन स्थावर एवं जङ्गम प्राणियों की सृष्टि की गई।। ४१।।

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।
तत्तथा वोऽभिधास्यामि क्रमयोगं च जन्मनि।। ४२।।

येषां पुनर्यादृशं कर्म इह संसारे पूर्वाचार्यैः कथितम्। यथा "ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः" (अ० १ श्लो० ४६) ब्राह्मणादीनां चाध्ययनादिकर्म तत्तथैव वो युष्माकं वक्ष्यामि। जन्मादिक्रमयोगं च।। ४२।।

इस संसार में जिन प्राणियों का जिसप्रकार कार्य कहा गया है, उसको तथा उनके जन्म आदि के क्रमयोग को (मैं अब) उसीप्रकार आप सबसे कहूँगा।। ४२।।

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः।
रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः।। ४३।।

जरायुर्गर्भावरणचर्म तत्र मनुष्यादयः प्रादुर्भवन्ति पश्चान्मुक्ता जायन्ते। एषामेव जन्मक्रमः प्रागुक्तो विवृतः। दन्तशब्दसमानार्थो दच्छब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्येदं प्रथमाबहुवचने रूपमुभयतोदत इति।। ४३।।

दोनों ओर दाँतों से युक्त, पशु, मृग तथा व्याल, राक्षस, पिशाच एवं मनुष्य ये सभी शरीर से उत्पन्न होने वाले (अतः जरायुज) प्राणी हैं।। ४३।।

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च।। ४४।।

अण्ड आदौ संभवन्ति ततो जायन्त इति एषां जन्मक्रमः। नक्राः कुम्भीराः। स्थलजानि कृकलासादीनि। औदकानि शङ्खादीनि।। ४४।।

पक्षी, सर्प, मगर, मछली तथा कछुए एवं इसीप्रकार के जो पृथ्वी पर विचरण करने वाले जल में रहने वाले जीव 'अण्डज' हैं।। ४४।।

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्।। ४५।।

स्वेदः पार्थिवद्रव्याणां तापेन क्लेदः ततो दंशमशकादिर्जायते ऊष्मणश्च स्वेदहेतुतापादपि अन्यद्दंशादिसदृशं पुत्तिकापिपीलिकादि जायते।। ४५।।

(इसके अतिरिक्त) डाँस, मच्छर, जूँ, मक्खी, खटमल तथा अन्य जो भी इसीप्रकार के जीव गर्मी से उत्पन्न होते हैं, (वे सब) स्वेदज हैं।। ४५।।

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः।। ४६।।

उद्भेदनमुद्भित्। भावे क्विप्। ततो जायन्ते ऊर्ध्वं बीजं भूमिं च भित्त्वेत्युद्भिज्जा वृक्षाः ते च द्विधां। केचिद्बीजादेव जायन्ते केचित्काण्डात् शाखा एव रोपिता वृक्षतां यान्ति। इदानीं येषां यादृशं कर्म तदुच्यते-ओषध्य इति।। ओषध्यो व्रीहि यवादयः फलपाकेनैव नश्यन्ति बहुपुष्पफलयुक्ताश्च भवन्ति। ओषधिशब्दादेव "कृदिकारादक्तिनः" इति ङीपि दीर्घत्वे ओषध्य इति रूपम्।। ४६।।

बीज तथा डाल (कलम) से उत्पन्न होने वाले, सभी वृक्षादि स्थावरप्राणी 'उद्भिज्ज' हैं। फल के पकने पर नष्ट होने वाले, अत्यन्त पुष्प एवं फलों से सम्पन्न स्थावर प्राणी औषधि (कहलाते हैं)।। ४६।।

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः।। ४७।।

नास्य श्लोकस्याभिधानकोशवत्संज्ञासंज्ञिसंबन्धपरत्वमप्रकृतत्वात् किंतु "क्रमयोगं च जन्मनि" (अ० १ श्लो० ४२) इति प्रकृतं तदर्थमिदमुच्यते। ये वनस्पतयस्तेषां पुष्पमन्तरेणैव फलजन्म, इतरेभ्यस्तु पुष्पाणि जायन्ते तेभ्यः फलानीति। एवं वृक्षा उभयरूपाः। प्रथमान्तात्तसिः।। ४७।।

जो बिना पुष्पों के ही फल युक्त होते हैं, वे वनस्पतियाँ कही गयी हैं तथा पुष्प एवं फल दोनों से युक्त वृक्ष कहलाते हैं।। ४७।।

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च।। ४८।।

मूलत एव यत्र लतासमूहो भवति न च प्रकाण्डानि ते गुच्छा मल्लिकादयः। गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः शरेक्षुप्रभृतयः। तृणजातय उलपाद्याः। प्रतानास्तन्तुयुक्तास्त्रपुषालाबूप्रभृतयः। वल्ल्यो गुडूच्यादयः या भूमेर्वृक्षमारोहन्ति। एतान्यपि बीजकाण्डरुहाणि। "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा० सू० १/२/६९) इति नपुंसकत्वम्।। ४८।।

अनेकप्रकार के गुल्म, गुच्छ, तृण-जातियाँ, लताएँ तथा वल्लरियाँ भी उसी प्रकार बीज तथा शाखाओं से उत्पन्न होने वाली हैं।। ४८।।

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः।। ४९।।

एते वृक्षादयस्तमोगुणेन विचित्रदुःखफलेनाधर्मकर्महेतुकेन व्याप्ता अनतश्चैतन्या भवन्ति। यद्यपि सर्वे चान्तरेव चेतयन्ते तथापि बहिर्व्यापारादिकार्यविरहात्तथा व्यपदिश्यन्ते त्रिगुणारब्धत्वेऽपि चैषां तमोगुणबाहुल्यात्तथा व्यपदेशः। अतएव सुखदुःखसमन्विताः। सत्त्वस्यापि भावात्कदाचित्सुखलेशोऽपि जलधरजनितजलसंपर्कादेषां जायते।। ४९।।

अनेकप्रकार से तमोगुण से ढके हुए, ये सभी (पूर्वजन्म के) कर्मों के कारण सुखदुःखादि से युक्त अन्तश्चेतना सम्पन्न होते हैं।। ४९।।

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।
घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि।। ५०।।

स्थावरपर्यन्ता ब्रह्मोपक्रमा गतय उत्पत्तयः कथिताः। भूतानां क्षेत्रज्ञानां जन्ममरणप्रबन्धे दुःखबहुलतया भीषणे सदा विनश्वरे।। ५०।।

हमेशा निरन्तर चलते रहने वाले, इस भयंकर प्राणी-संसार में ब्रह्मा से लेकर स्थावर सृष्टिपर्यन्त गतियों का मैनें (आपके सामने) वर्णन किया।। ५०।।

इत्थं सर्गमभिधाय प्रलयदशामाह—

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः।
आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्।।५१।।

एवं उक्तप्रकारेण। इदं सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत्सृष्ट्वा स-प्रजापतिरचिन्त्यशक्तिरात्मनि शरीरत्यागरूपमन्तर्धानं कृतवान्। सृष्टिकालं प्रलयकालेन नाशयन्प्राणिनां कर्मवशेन पुनः पुनः सर्गप्रलयान्करोतीत्यर्थः।। ५१।।

इसप्रकार मेरी तथा इस सम्पूर्णसंसार की सृष्टि करके, पुनः सृष्टिकाल को प्रलयकाल द्वारा नष्ट करते हुए, अचिन्त्य पराक्रम वाला वह अपने में ही अन्तर्ध्यान हो गया।। ५१।।

अत्र हेतुमाह—

यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।।५२।।

यदा स प्रजापतिर्जागर्ति सृष्टिस्थिती इच्छति तदेदं जगत् श्वासप्रश्वासाहारादिचेष्टां लभते। यदा स्वपिति निवृत्तेच्छो भवति शान्तात्मा उपसंहारमनास्तदेदं जगत्प्रलीयते।।५२।।

जब वह ब्रह्मा जागता है, तब यह संसार चेष्टा करता है। जब शान्त आत्मा (वह) सोता है, तब सब कुछ नष्ट हो जाता है।। ५२।।

पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति—

तस्मिन्स्वपति सुस्थे तु कर्मात्मानः शरीरिणः।
स्वकर्मभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति।। ५३।।

तस्मिन्प्रजापतौ निवृत्तेच्छे सुस्थे उपसंहृतदेहमनोव्यापारे कर्मलब्धदेहाः क्षेत्रज्ञाः स्वकर्मभ्यो देहग्रहणादिभ्यो निवर्तन्ते। मनः सर्वेन्द्रियसहितं वृत्तिरहितं भवति।।५३।।

स्वस्थ होकर उसके शयन करने पर कर्मों के अनुसार शरीर धारण करने वाले प्राणी, अपने कर्मों से निवृत्त हो जाते हैं तथा (उनका) मन भी ग्लानि को प्राप्त करता है।। ५३।।

इदानीं महाप्रलयमाह—

युगपत्तुप्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः।। ५४।।

एकस्मिन्नेव काले यदा तस्मिन्परमात्मनि सर्वभूतानि प्रलयं यान्ति तदायं सर्वभूतानामात्मा निर्वृतः निवृत्तजाग्रत्स्वप्नव्यापारः सुखं स्वपिति सुषुप्त इव भवति। यद्यपि नित्यज्ञानानन्दस्वरूपे परमात्मनि न सुष्वापस्तथापि जीवधर्मोऽयमुपचर्यते।।५४।।

किन्तु जब सभी प्राणी एक साथ उस परमात्मा में लीन हो जाते हैं, तब निवृत्त हुआ, यह सर्वभूतात्मा सुखपूर्वक सोता है।। ५४।।

इदानीं प्रलयप्रसङ्गेन जीवस्योत्क्रमणमपि श्लोकद्वयेनाह—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः।।५५।।

अयं जीवस्तमो ज्ञाननिवृत्तिं प्राप्य बहुकालमिन्द्रियादिसहितस्तिष्ठति। न चात्मीयं कर्म श्वासप्रश्वासादिकं करोति तदा मूर्तितः पूर्वदेहादुत्क्रामति अन्यत्र गच्छति। लिङ्गशरीरावच्छिन्नस्य जीवस्य उद्गमात्तद्गमनमप्युपपद्यते। तथाचोक्तं बृहदारण्यके— "तमुत्क्रामन्तं प्राणेऽनूत्क्रामति। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" (४/४/२)। प्राणा इन्द्रियाणि।। ५५।।

तमोगुण का आश्रय लेकर जब यह जीव इन्द्रियों के साथ चिरकाल तक रहता है और अपना कर्म नहीं करता है, तब वह शरीर से उत्क्रमण कर जाता है।। ५५।।

कदा देहान्तरं गृह्णातीत्यत आह—

यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति।। ५६।।

अणवो मात्राः पुर्यष्टकरूपा यस्य सोऽणुमात्रिकः। पुर्यष्टकशब्देन भूतादीन्यष्टा-वुच्यन्ते। तदुक्तं सनन्देन—"भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चाष्टकं प्रोक्तं पुर्यष्टमृषिसत्तमैः।।" ब्रह्मपुराणेऽप्युक्तम्—"पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन तु।।" यदाणुमात्रिको भूत्वा संपद्य स्थास्नु वृक्षादिहेतुभूतं, चरिष्णु मानुषादिकारणं बीजं प्रविशत्यधितिष्ठति तदा संसृष्टः पुर्यष्टक युक्तो मूर्तिं स्थूलदेहान्तरं कर्मानुरूपं विमुञ्चति गृह्णाति।। ५६।।

अणु परिणाम वाला होकर जब वह स्थावर या जङ्गम के बीज में प्रवेश करता है। तब सूक्ष्मरूप को प्राप्त हुआ, (वह) स्थूलदेह को धारण करता है।।५६।।

प्रासङ्गिकं जीवस्योत्क्रमणमभिधाय प्रकृतमुपसंहरति—

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम्।
संजीवयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः।। ५७।।

स ब्रह्मा अनेन प्रकारेण स्वीयजाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं स्थावरजङ्गमं संजीवयति मारयति च। अजस्रं सततम्। अव्ययः अविनाशी।। ५७।।

इसप्रकार विनाशरहित वह ब्रह्मा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् को जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाओं द्वारा निरन्तर जीवित करता है और नष्ट करता रहता है।। ५७।।

इदं [1]शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः।
विधिवद्ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्।। ५८।।

असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सृष्ट्यादौ मामेव विधिवच्छास्त्रोक्ताङ्गजातानुष्ठानेनाध्यापितवान्। अहं तु मरीच्यादीनध्यापितवान्।। ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवव्यपदेशः। अत्र मेधातिथिः-शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधिनिषेधसमूह उच्यते। तं ब्रह्मा मनुं ग्राहयामास। मनुस्तु तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं कृतवानिति न विरोधः। अन्ये तु ब्रह्मकृतत्वेऽप्यस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वान्मानवव्यपदेशः वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादिव्यपदेशवत्। इदं तूच्यते। ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत्ततस्तेन च स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः। तथाच नारदः "शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थ" इति स्मरति स्म।। ५८।।

इस शास्त्र का निर्माण करके, उस (ब्रह्मा) ने स्वयं सबसे पहले मुझे ही विधिवत् ग्रहण कराया तथा मैंने मरीचि आदि ऋषियों को (पढ़ाया)।। ५८।।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः।। ५९।।

एतच्छास्त्रमयं भृगुः युष्माकमखिलं कथयिप्यति। यस्मादेषोऽशेषमेतन्मत्तोऽधीतवान्।। ५९।।

अब ये भृगु मुनि यह शास्त्र आपको पूर्णतया सुनाएँगे, क्योंकि इस (भृगु) मुनि ने इस सम्पूर्ण शास्त्र को मुझसे ग्रहण कर लिया है।। ५९।।

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति।। ६०।।

---

१. इह शास्त्रशब्देन स्मार्तोविधिप्रतिषेधसमूह उच्यते न तु ग्रन्थस्तस्य मनुना कृतत्वात्। इति मेधातिथिः।

स भृगुर्मनुना तथोक्तोऽयं श्रावयिष्यतीति यस्मादेषोऽधिजग इत्युक्तस्ततोऽनन्तरमनेकमुनिसंनिधौ गुरुसंभावनया प्रीतमनास्तानृषीन्प्रत्युवाच श्रूयतामिति।। ६०।।

तत्पश्चात् उन मनु द्वारा उसप्रकार कहे गए प्रसन्नचित्त उन महर्षि भृगु ने उन सभी ऋषियों से इसप्रकार कहा—सुनिये।। ६०।।

स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः।। ६१।।

ब्रह्मपुत्रस्यास्य मनोः षड्वंशप्रभवा अन्ये मनवः। एवं कार्यकारिणः स्वस्वकाले सृष्टिपालनादावधिकृताः स्वाः स्वाः प्रजा उत्पादितवन्तः।। ६१।।

इस स्वायंभुव मनु के वंश में अन्य छः मनु उत्पन्न हुए, महान् ओजसम्पन्न उन महात्माओं ने अपनी अपनी प्रजाओं की सृष्टि की।। ६१।।

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च।। ६२।।

एते भेदेन मनवः षट् नामतो निर्दिष्टाः।। ६२।।

स्वारोचिष, उत्तम, तामस तथा रैवत, महान् तेजस्वी विवस्वान् के पुत्र वैवस्वत।। ६२।।

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्।। ६३।।
(कालप्रमाणं वक्ष्यामि यथावत्तन्निबोधत।)

स्वायंभुवमुखाः सप्तामी मनवः स्वीयस्वीयाधिकारकाले इदं स्थावरजङ्गममुत्पाद्य पालितवन्तः।। ६३।।

अत्यन्त तेजस्वी स्वायम्भुव आदि इन सात मनुओं ने अपने-अपने मन्वन्तरकाल में इस सम्पूर्ण चराचरजगत् को उत्पन्न करके (इसका) पालन किया।। ६३।।

इदानीमुक्तमन्वन्तरसृष्टिप्रलयादिकालपरिमाणपरिज्ञानायाह—

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला।
त्रिंशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः।। ६४।।

अक्षिपक्ष्मणोः स्वाभाविकस्य उन्मेषस्य सहकारी निमेषः। तेऽष्टादश काष्ठा नाम कालः। त्रिंशच्च काष्ठाः कलासंज्ञकः। त्रिंशत्कलाः मुहूर्ताख्यः कालः। तावत्त्रिंशन्मुर्हूतान् अहोरात्रं कालं विद्यात्। तावत इति द्वितीयानिर्देशाद्विद्यादित्यध्याहारः।। ६४।।

(अब मैं काल के परिमाण को कहूँगा। अतः आप उसे भलीप्रकार समझिये) अट्ठारह निमेष की एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला, तीस कला का एक मुहूर्त तथा उतने ही (तीस) मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है।। ६४।।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः।। ६५।।

मानुषदैवसंबन्धिनौ दिनरात्रिकालावादित्यः पृथक्करोति। तयोर्मध्ये भूतानां स्वप्नार्थं रात्रिर्भवति, कर्मानुष्ठानार्थं च दिनम्।। ६५।।

मनुष्य और देवताओं के दिन-रात को सूर्य विभाजित करता है, रात्रि प्राणियों के सोने के लिए होती है तथा दिन कार्य करने के लिए होता है।। ६५।।

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।
कर्मचेष्टास्वहः कृष्णः शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी।। ६६।।

मानुषाणां मासः पितृणामहोरात्रे भवतः। तत्र पक्षद्वयेन विभागः। कर्मानुष्ठानाय पूर्वपक्षोऽहः। स्वापार्थं शुक्लपक्षो रात्रिः।। ६६।।

किन्तु दो पक्षों में विभाजित (मनुष्यों का) एक माह पितरों का एक दिन-रात होता है। उनमें कृष्णपक्ष कार्य करने के लिए दिन तथा शुक्लपक्ष (उनके) सोने के लिए रात्रि होती है।। ६६।।

दैवे रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुनः।
अहस्तत्रोदगयनं रात्रिः स्याद्दक्षिणायनम्।। ६७।।

मानुषाणां वर्षं देवानां रात्रिदिने भवतः। तयोरप्ययं विभागः। नराणामुदगयनं देवानामहः। तत्र प्रायेण दैवकर्मणामनुष्ठानं। दक्षिणायनं तु रात्रिः।। ६७।।

इसके अतिरिक्त (मनुष्यों का) एक वर्ष देवों का दिन-रात होता है। वर्ष के उन दो हिस्सों में से उत्तरायण देवों का दिन तथा दक्षिणायन रात्रि होती है।। ६७।।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत।। ६८।।

ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य यत्परिमाणं प्रत्येकयुगानां च कृतादीनां तत्क्रमेण समासतः संक्षेपतः शृणुत। प्रकृतेऽपि कालविभागे यद्ब्रह्मणोऽहोरात्रस्य पृथक् प्रतिज्ञानं तत्तदीयज्ञानस्य पुण्यफलज्ञानार्थम्। वक्ष्यति च "ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः" (अ० १ श्लो० ७३) इति। तद्वेदनात्पुण्यं भवतीत्यर्थः।। ६८।।

(अब) ब्रह्मा जी के दिन-रात तथा (चारों) युगों का जो परिमाण है। उसे आप-लोग एक-एक करके क्रमशः संक्षेप में समझिये।। ६८।।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः।। ६९।।

चत्वारि वर्षसहस्राणि कृतयुगकालं मन्वादयो वदन्ति। तस्य तावद्वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च भवति। युगस्य पूर्वा संध्या उत्तरश्च संध्यांशः। तदुक्तं विष्णुपुराणे-"तत्प्रमाणैः शतैः संध्या पूर्वा तत्राभिधीयते। संध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि यः।। संध्यासंध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम। युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञकः।।" वर्षसंख्या चेयं दिव्यमानेन तस्यैवानन्तरप्रकृतत्वात्। "दिव्यैर्वर्ष सहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्। चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे।।" इति विष्णुपुराणवचनाच्च।। ६९।।

देवताओं के चार सहस्र वर्ष उस सत्युग का काल परिमाण कहा गया है। उतने ही उसके सैकड़े की एक संध्या होती है तथा उसीप्रकार का एक संध्यांश (होता है)।। ६९।।

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च।। ७०।।

अन्येषु त्रेताद्वापरकलियुगेषु संध्यासंध्यांशसहितेषु एकहान्या सहस्राणि शतानि च भवन्ति। तेनैवं संपद्यते। त्रीणि वर्षसहस्राणि त्रेतायुगं, तस्य त्रीणि वर्षशतानि संध्या संध्यांशश्च। एवं द्वे वर्षसहस्रे द्वापरः, तस्य द्वे वर्षशते संध्या संध्यांशश्च। एवं वर्षसहस्रं कलिः, तस्यैकवर्षशतं संख्या संध्यांशश्च।। ७०।।

अन्य तीन युगों के परिमाण संध्या एवं संध्यांश सहित एक-एक हजार एवं एक एक सौ घटाने पर स्थित होते हैं।। ७०।।

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते।। ७१।।

एतस्य श्लोकस्यादौ यदेतन्मानुषं चतुर्युगं परिगणितं एतद्देवानां युगमुच्यते। चतुर्युगशब्देन संध्यासंध्यांशयोरप्राप्तिशङ्कायामाह— एतद्द्वादशसाहस्रमिति। स्वार्थेऽण्। चतुर्युगैरेव द्वादशसंख्यैर्दिव्यं युगमिति तु मेधातिथेर्भ्रमो नादर्तव्यः। मनुनानन्तरं दिव्ययुगसहस्रेण ब्रह्माहस्याप्यभिधानात्। विष्णुपुराणे च मानुषचतुर्युगसहस्रेण ब्रह्माहकीर्तनान्मानुषचतुर्युगेनैव दिव्ययुगानुगमनात्। तथा च विष्णुपुराणम् "कृतं त्रेता द्वापरंच कलिश्चेति चतुर्युगम्। प्रोच्यते तत्सहस्रं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने"।। ७१।।

सबसे पहले ही जो यह चारों युगों का काल-परिमाण बताया गया है। यह (चारों युगों को मिलाकर) बारह हजार वर्षों का देवताओं का एक युग होता है।। ७१।।

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च।। ७२।।

देवयुगानां सहस्रं ब्राह्मं दिनं ज्ञातव्यम्। सहस्रमेव रात्रिः। परिसंख्ययेति श्लोकपूरणोऽर्थानुवादः।। ७२।।

देवताओं के एक हजार युग ब्रह्मा के एक दिन का तथा उतना ही (उनकी) रात्रि का काल परिमाण भी समझना चाहिए।। ७२।।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः।। ७३।।

युगसहस्रेणान्तः समाप्तिर्यस्य तद्ब्राह्ममहस्तत्परिमाणां च रात्रिं ये जानन्ति तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम्। स्तुत्या च ब्राह्ममहोरात्रं ज्ञातव्यमिंति विधिः परिकल्प्यते। अत एतत्पुण्यहेतुत्त्वापुण्यमिति विशेषणं कृतम्।। ७३।।

(देवों के) उन्हीं एक हजार युगों को ब्रह्मा का पुण्यदिवस तथा उतने ही परिमाणवाली पुण्यरात्रि होती है। (इसके ज्ञाता) लोग अहोरात्रविद् जाने जाते हैं।। ७३।।

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।
प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्।। ७४।।

स ब्रह्मा तस्य पूर्वोक्तस्य स्वीयाहोरात्रस्य समाप्तौ प्रतिबुद्धो भवति प्रतिबुद्धश्च स्वीयं मनः सृजति भूर्लोकादित्रयसृष्टये नियुङ्क्ते न तु जनयति। तस्य महाप्रलयानन्तरं जातत्वादनष्टत्वाच्च। अवान्तरप्रलये भूर्लोकादित्रयमात्रनाशात्सृष्ट्यर्थं मनोनियुक्तिरेव मनःसृष्टिः। तथाच पुराणे श्रूयते "मन सिसृक्षया युक्तं सर्गाय निदधे पुनः" इति। अथवा मनः शब्दोऽयं महत्तत्त्वपर एव। यद्यपि तन्महाप्रलयानन्तरमुत्पन्नं, महान्तमेव चेत्यादिना सृष्टिरपि तस्योक्ता तथाप्यनुक्तं भूतानामुत्पत्तिक्रमं तद्गुणांश्च कथयितुं महाप्रलयानन्तरितामेव महदादिसृष्टिं भूतसृष्टिं च हिरण्यगर्भस्यापि परमार्थत्वात्तत्कर्तृतामनुवदति। एतेनेदमुक्तं भवति। ब्रह्मा महाप्रलयानन्तरितसृष्ट्यादौ परमात्मरूपेण महदादितत्त्वानि जगत्सृष्ट्यर्थ सृजति। अतएव शेषं वक्ष्यति" "इत्येषा सृष्टिरादितः" (अ० १७८) इति अवान्तरप्रलयानन्तरं तु मनः प्रभृतिसृष्टावभिधानक्रमेणैव प्राथम्यप्राप्तिरित्येषा सृष्टिरादित इति निष्प्रयोजनोऽनुवादः स्यात्।। ७४।।

वह ब्रह्मा उस दिन-रात्रि के समाप्त होने पर (क्रमशः) सोता जागता है तथा जागा हुआ वह सद्-असदात्मक मन को उत्पन्न करता है।। ७४।।

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः।। ७५।।

मनो महान् सृष्टिं करोति परमात्मनःस्रष्टुमिच्छया प्रेर्यमाणं तस्मादाकाशमुत्पद्यते। पूर्वोक्तानुसारादहंकारतन्मात्रक्रमेणाकाशस्य शब्दं गुणं विदुर्मन्वादयः।। ७५।।

सृष्टि करने की इच्छा द्वारा प्रेरित मन सृष्टि करता है। उससे आकाश उत्पन्न होता है। उसका गुण 'शब्द' माना जाता है।। ७५।।

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः।। ७६।।

आकाशात्तु विकारजनकात्सुरभ्यसुरभिगन्धवहः पवित्रो बलबांश्च वायुरुत्पद्यते। स च स्पर्शाख्यगुणवान्मन्वादीनां संमतः।। ७६।।

विकार को प्राप्त हुए आकाश से, पवित्र एवं सभीप्रकार की गन्धों को वहन करने वाला शक्तिशाली वायु उत्पन्न होता है। वह वस्तुतः 'स्पर्श' गुण वाला माना गया है।। ७६।।

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते।। ७७।।

वायोरपि तेज उत्पद्यते। विरोचिष्णु परप्रकाशकं तमोनाशनं भास्वत्प्रकाशकम्। तच्च गुणरूपमभिधीयते।। ७७।।

विकार को प्राप्त हुए वायु से भी अन्धकार को दूर करने वाली, अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली, देदीप्यमान ज्योति उत्पन्न होती है। वह रूपगुण वाली कही जाती है।। ७७।।

ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः समृताः।
अभ्द्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः।। ७८।।
(परस्परानुप्रवेशाद्धारयन्ति परस्परम्।
गुणं पूर्वस्य पूर्वस्य धारयन्त्युत्तरोत्तरम्।। ८।।)

तेजस आप उत्पद्यन्ते। ताश्च रसगुणयुक्ता अद्भ्यो गन्धगुणयुक्ता भूमिरित्येषा महाप्रलयानन्तरसृष्ट्यादौ भूतसृष्टिः। तैरेव भूतैरवान्तरप्रलयानन्तरमपि भूरादिलोकत्रय-निर्माणम्।। ७८।।

तथा विकार को प्राप्त हुए तेज से जल (उत्पन्न होते हैं, जो) 'रस' गुणयुक्त कहे गए हैं एवं जलों से गन्धगुण वाली भूमि (उत्पन्न होती है), इसप्रकार यह प्रारम्भिक सृष्टि है।। ७८।।

(ये सभी परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध होने के कारण पूर्व-पूर्व के गुणों को आगे-आगे वाले धारण करते हैं।। ८।।)

यत्प्राग्द्वादशसाहस्त्रमुदितं दैविकं युगम्।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते।। ७९।।

यत्पूर्वं द्वादशवर्षसहस्त्रपरिमाणं संध्यासंध्यांशसहितं मनुष्याणां चतुर्युगं देवानामेकं युगमुक्तं तदेकसप्ततिगुणितं मन्वन्तराख्यः काल इह शास्त्रेऽभिधीयते। तत्रैकस्य मनोः सर्गाद्यधिकारः।। ७९।।

जो पहले बारह हजार दिव्यवर्ष वाला 'देवताओं का युग' कहा गया है, इस शास्त्र में उससे इकहत्तर गुना 'मन्वन्तर' कहा जाता है।। ७९।।

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च।
क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः।। ८०।।

यद्यपि चतुर्दशमन्वन्तराणि पुराणेषु परिगण्यन्ते, तथापि सर्गप्रलयानामानन्त्याद-संख्यानि। आवृत्त्या सर्गः संहारश्चासंख्यः। एतत्सर्वं क्रीडन्निव प्रजापतिः पुनः पुनः कुरुते। सुखार्था हि प्रवृत्तिः क्रीडा। तस्य चाप्तकामत्वान्न सुखार्थितेति इवशब्दः प्रयुक्तः। परमे स्थानेऽनावृतलक्षणे तिष्ठतीति परमेष्ठी। प्रयोजनं विना परमात्मनः सृष्ट्यादौ कथं प्रवृत्तिरिति चेल्लीलयैव। एवं स्वभावत्वादित्यर्थः। व्याख्यातुरिव करताडनादौ। तथाच शारीरकसूत्रं—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (२/१/३३)।।८०।।

मन्वन्तर, सृष्टि तथा प्रलय सभी असंख्य हैं। ब्रह्मा खेल के समान ही इस सृष्टि (का निर्माण) बार-बार करता है।। ८०।।

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते।। ८१।।

सत्ययुगे सकलो धर्मश्चतुष्पात्सर्वाङ्गसंपूर्ण आसीत्। धर्मे मुख्यपादासंभवात्। "वृषो हि भगवान्धर्मः" इत्याद्यागमे वृषत्वेन कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन संपूर्णत्वात्सत्ययुगेऽपि धर्माणां सर्वैरङ्गैः समग्रत्वात्संपूर्णत्वपरोऽयं चतुष्पाच्छब्दः। अथवा तपः परमित्यत्र मनुनैव तपोज्ञानयज्ञदानानां चतुर्णां कीर्तनात्तस्य पादचतुष्टयेन संपूर्णत्वात्पादत्वेन निरूपिताः सत्ययुगे समग्रा इत्यर्थः। तथा सत्यं च कृतयुगमासीत्।

सकलधर्मश्रेष्ठत्वात्सत्यस्य पृथग्ग्रहणम्। तथा न शास्त्रातिक्रमेण धनविद्यादेरागम उत्पत्तिर्मनुष्यान्प्रति संपद्यते।। ८१।।

सत्युग में सत्य एवं धर्म पूर्णरूप के चतुष्पाद था तथा (विद्या अथवा धन की) कोई भी अधर्मपूर्वक प्राप्ति लोगों में विद्यमान नहीं थी।। ८१।।

इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः।। ८२।।

सत्ययुगादन्येषु त्रेतादिषु आगमादधर्मेण धनविद्यादेरर्जनात्तस्यैव पूर्वश्लोके प्रकृतत्वात्। आगमाद्वेदादिति तु गोविन्दराजो मेधातिथिश्च। धर्मो यागादिः यथाक्रमं प्रतियुगं पादंपादमवरोपितो हीनः कृतस्तथा धनविद्यार्जितोऽपि यो धर्मः प्रचरति सोऽपि चौर्यासत्यच्छद्मभिः प्रतियुगं पादशो ह्रासान्द्व्यपगच्छति। त्रेतादियुगैः सह चौरिकानृतच्छद्मनां न यथासंख्यम्। सर्वत्र सर्वेषां दर्शनात्।। ८२।।

अन्य (युगों) में (अधर्मपूर्वक) प्राप्ति के कारण धर्म एक पाद से हीन हो जाता है तथा चोरी, झूठ, कपटादि के द्वारा भी धर्म एक पाद से हीन हो जाता है।।८२।।

अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः।
कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्ह्रसति पादशः।। ८३।।

रोगनिमित्ताधर्माभावादरोगाः सर्वसिद्धकाम्यफलाः प्रतिबन्धकाधर्माभावाच्चतु-र्वर्षशतायुष्टं च स्वाभाविकम्। अधिकायुः प्रापकधर्मवशादधिकायुषोऽपि भवन्ति। तेन "दशवर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत्" इत्याद्यविरोधः। "शतायुर्वै पुरुषः" इत्यादिश्रुतौ तु शतशब्दो बहुत्वपरः कलिपरो वा। एवंरूपा मनुष्याः कृते भवन्ति। त्रेतादिषु पुनः पादं पादमायुरल्पं भवतीति।। ८३।।

सतयुग में (लोग) निरोगी, सर्वसिद्धि एवं कामनाओं से सम्पन्न, चार सौ वर्ष की आयु वाले (होते हैं), जबकि त्रेता आदि (युगों) में इनकी आयु एक-एक पाद कम होती जाती है।। ८३।।

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषश्चैव कर्मणाम्।
फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावश्च शरीरिणाम्।। ८४।।

"शतायुर्वै पुरुषः" इत्यादि वेदोक्तमायुः, कर्मणां च काम्यानां फलविषयाः प्रार्थनाः ब्राह्मणादीनां च शापानुग्रहक्षमत्वादिप्रभावा युगानुरूपेण फलन्ति।। ८४।।

वेदों में कही गई लोगों की आयु, कर्मों के फल तथा आशीर्वादादि के प्रभाव, इस संसार के प्राणियों में युग के अनुरूप ही फलीभूत होते हैं।। ८४।।

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां[१] द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।। ८५।।

कृतयुगेऽन्ये धर्मा भवन्ति। त्रेतादिष्वपि युगापचयानुरूपेणाधर्मवैलक्षण्यम्।। ८५।।

सतयुग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता, द्वापर में दूसरे एवं कलियुग में दूसरे। (अतः) लोगों में युग के अनुरूप (धर्म का) ह्रास होता रहता है।। ८५।।

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।। ८६।।
(ब्राह्मं कृतयुगं प्रोक्तं त्रेता तु क्षत्रियं युगम्।
वैश्यो द्वापरमित्याहुः शूद्रः कलियुगः स्मृतः।। ९।।

यद्यपि तपःप्रभृतीनि सर्वाणि सर्वयुगेष्वनुष्ठेयानि तथापि सत्ययुगे तपः प्रधानं महाफलमिति ज्ञाप्यते। एवमात्मज्ञानं त्रेतायुगे, द्वापरे यज्ञः दानं कलौ।। ८६।।

सतयुग में तप, त्रेता में ज्ञान श्रेष्ठ कहा जाता है। द्वापर में यज्ञ तथा कलियुग में एक मात्र दान को ही (उत्तम) कहा गया है।। ८६।।

(सतयुग को ब्राह्मण, तो त्रेता युग को क्षत्रिय, द्वापर को वैश्य, इसप्रकार कहा गया है। (इसीप्रकार) कलियुग को शूद्र माना गया है।। ९।।)

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहुरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत्।। ८७।।

स ब्रह्मा महातेजा अस्य सर्गस्य समग्रस्य "अग्नौ प्रास्ताहुतिः" (अ० ३ श्लो० ७६) इति न्यायेन रक्षार्थं मुखादिजातानां ब्राह्मणादीनां विभागेन कर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि निर्मितवान्।। ८७।।

इस सम्पूर्ण सृष्टि की सुरक्षा के लिए महातेजस्वी उस (ब्रह्मा) ने मुख, बाहू जंघा तथा पैरों से उत्पन्न (लोगों) के अलग-अलग कार्यों की परिकल्पना की।। ८७।।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।। ८८।।

---

१. धर्मशब्दो न यागादिवचन एव किं तार्हि पदार्थगुणमात्रे वर्तते। अन्ये पदार्थानां धर्माः प्रति युगं भवन्ति यथा प्राग्दर्शितमिति मेधातिथिः।।

अध्यापनादीनामिह सृष्टिप्रकरणे सृष्टिविशेषतयाभिधानं विधिस्तेषामुत्तरत्र भविष्यति। अध्यापनादीनि षट् कर्माणि ब्राह्मणानां कल्पितवान्।। ८८।।

पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना कराना, दान देना तथा दान ग्रहण करना ही ब्राह्मणों का कार्य कल्पित किया।। ८८।।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। ८९।।

प्रजारक्षणादीनि क्षत्रियस्य कर्माणि कल्पितवान्। विषयेषु गीतनृत्यवनितोपभोगादिष्वप्रसक्तिस्तेषां पुनरनासेवनम्। समासतः संक्षेपेण।। ८९।।

प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ एवं अध्ययन करना तथा विषयों में आसक्ति न रखना ही संक्षेप में क्षत्रिय के (कार्य बनाए)।। ८९।।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।। ९०।।

पशूनां पालनादीनि वैश्यस्य कल्पितत्वान्। वणिक्पथं स्थलजलादिना वाणिज्यम्। कुसीदं वृद्ध्या धनप्रयोगः।। ९०।।

पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज लेना तथा कृषिकार्य ही वैश्यों के (लिए निर्धारित किए गए)।। ९०।।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया।। ९१।।

प्रभुर्ब्रह्मा शूद्रस्य ब्राह्मणादिवर्णत्रयपरिचर्यात्मकं कर्म निर्मितवान्। एकमेवेति प्राधान्यप्रदर्शनार्थं। दानादेरपि तस्य विहितत्वात्। अनसूयया गुणानिन्दया।। ९१।।

ब्रह्मा ने 'इन्हीं तीनों वर्णों की ईर्ष्यारहित होकर सेवा करना' केवल एक कार्य का ही शूद्र को आदेश दिया।। ९१।।

इदानीं प्राधान्येन सर्गरक्षणार्थत्वाद्ब्राह्मणस्य तदुपक्रमधर्माभिधानत्वाच्चास्य शास्त्रस्य ब्राह्मणस्य स्तुतिमाह—

ऊर्ध्वं नाभेर्मेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।
तस्मान्मेध्यतमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा।। ९२।।

सर्वत एव पुरुषो मेध्यः, नाभेरूर्ध्वमतिशयेन मेध्यः, ततोऽपि सुखमस्य मेध्यतमं ब्रह्मणोक्तम्।। ९२।।

ब्रह्मा द्वारा पुरुष के नाभि के ऊपर के भाग को अपेक्षाकृत अधिक पवित्र कहा गया, किन्तु उससे भी अधिक पवित्र इसके मुख को कहा गया।। ९२।।

ततः किमत आह—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद्ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः।। ९३।।

उत्तमाङ्गं मुखं तदुद्भवत्वात् क्षत्रियादिभ्यः पूर्वोत्पन्नत्वादध्यापनव्याख्यानादिना युक्तस्यातिशयेन वेदधारणात्सर्वस्यास्य जगतो धर्मानुशासनेन ब्राह्मणः प्रभुः। "संस्कारस्य विशेषात्तु वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः"।। ९३।।

उत्तम अङ्ग (अर्थात् मुख) से उत्पन्न होने के कारण, ज्येष्ठ होने से तथा वेद को धारण करने से, धर्म के अनुसार तो इस सम्पूर्णसृष्टि का स्वामी ब्राह्मण ही है।। ९३।।

कस्योत्तमाङ्गादयमुद्भूत इत्यत आह—

तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये।। ९४।।

तं ब्राह्मणं ब्रह्मा आत्मीयमुखाद्दैवपित्र्ये हविःकव्ये वहनाय तपः कृत्वा सर्वस्य जगतो रक्षायै च क्षत्रियादिभ्यः प्रथमं सृष्टवान्।। ९४।।

हव्य एवं कव्य पहुँचाने के लिए तथा इस सम्पूर्णसृष्टि की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने तपस्या करके, अपने मुख से सर्वप्रथम उस (ब्राह्मण) को उत्पन्न किया।। ९४।।

पूर्वोक्तहव्यकव्यवहनं स्पष्टयति—

यास्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः।। ९५।।

यस्य विप्रस्य मुखेन श्राद्धादौ सर्वदा देवा हव्यानि पितरश्च कव्यानि भुञ्जते ततोऽन्यत्प्रकृष्टतमं भूतं किं भवेत्।। ९५।।

जिस (ब्राह्मण) के मुख से देवता लोग हव्यों का तथा पितर लोग सदा ही कव्यों का भक्षण करते हैं, भला उससे अधिक श्रेष्ठ कौन प्राणी हो सकता है?।। ९५।।

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः।। ९६।।

भूतारब्धानां स्थावरजङ्गमानां मध्ये प्राणिनः कीटादयः श्रेष्ठाः। कदाचित्सुखले, शात्। तेषामपि बुद्धिजीविनः सार्थनिरर्थदेशोपसर्पणापसर्पणकारिणः पश्वादयः। तेभ्योऽपि मनुष्याः। प्रकृष्टज्ञानसंबन्धात्। तेभ्योऽपि ब्राह्मणाः सर्वपूज्यत्वादपवर्गाधिकार-योग्यत्वाच्च।। ९६।।

(स्थावर जङ्गम) सभी भूतों में प्राणी श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धिजीवी। बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं, (तथा) मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ कहे गए हैं।। ९६।।

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः।। ९७।।
(तेषां न पूजनीयोऽन्यस्त्रिषु लोकेषु विद्यते।
तपोविद्याविशेषेण पूजयन्ति परस्परम्।।
ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते।। १०।।)

ब्राह्मणेषु तु मध्ये विद्वांसो महाफलज्योतिष्टोमादिकर्माधिकारित्वात्। तेभ्योऽपि कृतबुद्धयः अनागतेऽपि कृतं मयेति बुद्धिर्येषाम्। शास्त्रोक्तानुष्ठानेषूत्पन्नकर्तव्यताबुद्धय इत्यर्थ। तेभ्योऽपि अनुष्ठातारः हिताहितप्राप्तिपरिहारभागित्वात्। तेभ्योऽपि ब्रह्मविदः मोक्षलाभात्।। ९७।।

तथा ब्राह्मणों में विद्वान् (श्रेष्ठ) हैं, विद्वानों में शास्त्र निर्दिष्ट कर्मो में बुद्धि रखने वाले, शास्त्रोक्त कार्यों में बुद्धि रखने वालों में (तदनुसार) आचरण करने वाले (तथा) आचरण करने वालों में (भी) ब्रह्मज्ञानी (श्रेष्ठ होता है)।। ९७।।

(उन (ब्रह्मज्ञानियों) का तीनों लोकों में अन्य (कोई भी) पूजनीय नहीं है। तप एवं विद्या वैशिष्ट्य के कारण (वे) आपस में एक दूसरे को पूजते हैं इसलिए इस संसार में कोई भी प्राणी ब्रह्मज्ञानियों से बढ़कर नहीं है।। १०।।)

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। ९८।।

ब्राह्मणदेहजन्ममात्रमेव धर्मस्य शरीरमविनाशि। यस्मादसौ धर्मार्थं जातः धर्मानुगृहीतात्मज्ञानेन मोक्षाय संपद्यते।। ९८।।

ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म का शाश्वत शरीर है, क्योंकि धर्म के लिए उत्पन्न वही मोक्षप्राप्ति के योग्य होता है।। ९८।।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये।। ९९।।

यस्माद्ब्राह्मणो जायमानः पृथिव्यामधि उपरि भवति श्रेष्ठ इत्यर्थः। सर्वभूतानां धर्मसमूहरक्षायै प्रभुः। ब्राह्मणोपदिष्टत्वात्सर्वधर्माणाम्।। ९९।।

उत्पन्न होता हुआ ही ब्राह्मण पृथिवी पर श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि (वह) सभी प्राणियों के धर्मरूपी खजाने की रक्षा करने में समर्थ होता है।। ९९।।

सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किंचिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति।। १००।।

यत्किंचिज्जगद्वर्ति धनं तद्ब्राह्मणस्य स्वमिति स्तुत्योच्यते। स्वमिव स्वं न तु स्वमेव। ब्राह्मणस्यापि मनुना स्तेयस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तस्माद्ब्रह्ममुखोद्भवत्वेनाभिजनेन श्रेष्ठतया सर्वं ब्राह्मणोऽर्हति सर्वग्रहणयोग्यो भवत्येव। वै अवधारणे।। १००।।

पृथिवी के ऊपर जो कुछ भी (विद्यमान) है, यह सब ब्राह्मण का धन है। श्रेष्ठ होने तथा कुलीन होने के कारण ब्राह्मण वस्तुतः इस सबका अधिकारी होता है।। १००।।

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जनाः।। १०१।।

यत्परस्याप्यन्नं ब्राह्मणो भुङ्क्ते, परस्य च वस्त्रं परिधत्ते, परस्य गृहीत्वान्यस्मै ददाति तदपि ब्राह्मणस्य स्वमिव। पूर्ववत्स्तुतिः। एवं सति ब्राह्मणस्य कारुण्यादन्य भोजनादि कुर्वन्ति।। १०१।।

ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना पहनता है तथा अपना (ही) देता है। अन्य लोग वस्तुतः ब्राह्मण की दया से ही भोग करते हैं।। १०१।।

इदानीं प्रकृष्टब्राह्मणकर्माभिधायकतया शास्त्रप्रशंसां प्रक्रमते—

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः।
स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्।। १०२।।

ब्राह्मणस्य कर्मज्ञानार्थं शेषाणां क्षत्रियादीनां च स्वायंभुवो ब्रह्मपुत्रो धीमान्सर्वविषयज्ञानवान्मनुरिदं शास्त्रं विरचितवान्।। १०२।।

उस (ब्राह्मण) के तथा अन्य शेष वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) के कार्यों को क्रमशः जानने हेतु ब्रह्मा के पुत्र बुद्धिमान् मनु ने इस शास्त्र की परिकल्पना की।। १०२।।

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ्नान्येन केनचित्।। १०३।।

एतच्छास्त्राध्ययनफलज्ञेन ब्राह्मणेन एतस्य शास्त्रस्य व्याख्यानाध्यापनोचितं प्रयत्नतोऽध्ययनं कर्तव्यं शिष्येभ्यश्चेदं व्याख्यातव्यं नान्येन क्षत्रियादिना। अध्ययनमात्रं तु व्याख्यानाध्यापनरहितं क्षत्रियवैश्ययोरपि "निषेकादिश्मशानान्तैः" (अ० २ श्लो० १६) इत्यादिना विधास्यते। अनुवादमात्रमेतदिति मेधातिथिमतम्। तन्न मनोहरम्। द्विजैरध्ययनं ब्राह्मणेनैवाध्यापनव्याख्याने इत्यस्यालाभात्। यत्तु "अधीयीरंस्त्रयो वर्णा" (अ० १० श्लो० १) इत्यादि तद्वेदविषयमिति वक्ष्यति। विप्रेणैवाध्यापनमिति विधानेन संभवत्यप्यनुवादत्वमस्येति वृथा मेधातिथेर्ग्रहः।। १०३।।

विद्वान् ब्राह्मण को इस (शास्त्र) का प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करना चाहिए तथा शिष्यों को ही भलीप्रकार पढ़ाना चाहिए, अन्य किसी को नहीं।। १०३।।

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः।
मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते।। १०४।।

इदं शास्त्रं पठन्नेतदीयमर्थं ज्ञात्वा शंसितव्रतोऽनुष्ठिव्रतः मनोवाक्कायसंभवैः पापैर्न संबध्यते।। १०४।।

इस शास्त्र को पढ़ाता हुआ (तथा इसके अनुसार) प्रशंसनीय आचरण करने वाला, ब्राह्मण मानसिक, वाचिक, कायिक कर्मों के दोषों से कभी-भी लिप्त नहीं होता है।। १०४।।

पुनाति पङ्क्तिं वंश्यांश्च सप्त सप्त परावरान्।
पृथिवीमपि चैवेमां कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति।। १०५।।
(यथा त्रिवेदाध्ययनं धर्मशास्त्रमिदं तथा।
अध्येतव्यं ब्राह्मणेन नियतं स्वर्गमिच्छता।। ११।।)

इदं शास्त्रमधीयान इत्यनुवर्तते। अपाङ्क्योपहतां पंक्तिमानुपूर्व्या निविष्टजनसमूहं पवित्रीकरोति। वंशभवांश्च सप्त परान्पित्रादीन्, अवरांश्च पुत्रादीन्। पृथिवीमपि सर्वां सकलधर्मज्ञतया पात्रत्वेन गृहीतुं योग्यो भवति।। १०५।।

(ऐसा ब्राह्मण) पंक्ति को, कुल में उत्पन्न हुओं को, आगे और पीछे की सात-सात पीढ़ियों को पवित्र करता है। वह अकेला ही इस सम्पूर्ण पृथिवी को भी (ग्रहण करने) योग्य होता है।। १०५।।

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धिविवर्धनम्।
इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम्।। १०६।।

अभिप्रेतार्थस्याविनाशः स्वस्ति तस्यायनं प्रापकं एतच्छास्त्रस्याध्ययनं स्वस्त्ययनं जपहोमादिबोधकत्वाच्च श्रेष्ठं स्वस्त्ययनान्तरात्प्रकृष्टं बुद्धिविवर्धनम्। एतच्छास्त्राभ्यासेना- शेषविधिनिषेधपरिज्ञानात्। यशसे हितं यशस्यं विद्वत्तया ख्यातिलाभात्परं प्रकृष्टम्। निःश्रेयसं निःश्रेयसस्य मोक्षस्योपायोपदेशकत्वात्।। १०६।।

यह (धर्मशास्त्र) श्रेष्ठ कल्याण करने वाला है, यह बुद्धि को बढ़ाने वाला है, यह यश एवं आयु में वृद्धि करने वाला है, (इतना ही नहीं) यह सर्वोत्कृष्ट कल्याण (मोक्ष) को (देने वाला है)।। १०६।।

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।
चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः।। १०७।।

अस्मिन्कार्त्स्न्येन धर्मोऽभिहित इति शास्त्रप्रशंसा। कर्मणां च विहितनि-षिद्धानामिष्टानिष्टफले। वर्णचतुष्टयस्यैव पुरुषधर्मरूप आचारः शाश्वतः पारम्पर्यागतः। धर्मत्वेऽप्याचारस्य प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः।। १०७।।

वस्तुतः इस (धर्मशास्त्र) में सभी धर्मों के गुण एवं दोषों का तथा चारों वर्णों के सनातन आचार का पूर्णरूप से कथन किया गया है।। १०७।।

प्राधान्यमेव स्पष्टयति—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः।। १०८।।

युक्तो यत्नवान् आत्महितेच्छुः। सर्वस्यात्मास्तीति आत्मशब्देन आत्महितेच्छा लक्ष्यते।। १०८।।

वेदों एवं स्मृतियों में कहा गया आचरण ही परमधर्म है। इसलिए आत्म कल्याण के इच्छुक द्विज को हमेशा ही इसमें प्रयत्नवान् होना चाहिए।। १०८।।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत्।। १०९।।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वैदिकं फलं लभेत्। आचारयुक्तः पुनः समग्रफल-भाग्भवति।। १०९।।

आचरण से पतित हुआ (ब्राह्मण) वैदिकफल को प्राप्त नहीं करता है, जबकि आचारयुक्त ब्राह्मण ही सम्पूर्ण फल का भागी होता है।। १०९।।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।। ११०।।

उक्तप्रकारेणाचाराद्धर्मप्राप्तिमृषयो बुध्वा तपसश्चान्द्रायणादेः समग्रस्य कारणमाचार-मनुष्ठेयतया गृहीतवन्तः। उत्तरत्र वक्ष्यमाणस्याचारस्येह स्तुतिः शास्त्रस्तुत्यर्था।। ११०।।

इसप्रकार आचार द्वारा धर्म की प्राप्ति को देखकर (ही) महर्षियों ने सभी प्रकार की तपस्याओं का आधार श्रेष्ठ आचरण को (ही) ग्रहण किया।। ११०।।

इदानीं शिष्यस्य सुखप्रतिपत्तये वक्ष्यमाणार्थानुक्रमणिकामाह—

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।
व्रतचर्योपचारं च स्नानस्य च परं विधिम्।। १११।।

पाषण्डगणधर्मांश्चेत्यन्तं जगदुत्पत्तिर्यथोक्ता। ब्राह्मणस्तुतिश्च सर्गरक्षार्थत्वेन। ब्राह्मणस्य शास्त्रस्तुत्यादिकं च सृष्टावेवान्तर्भवति। एतत्प्रथमाध्यायप्रमेयम्। संस्काराणां जातकर्मादीनां विधिमनुष्ठानं, ब्रह्मचारिणो व्रताचरणमुपचारं च गुर्वादीनामभिवा-दनोपासनादि। "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति" इत्येकवद्भावः। एतद्द्वितीयाध्याय-प्रमेयम्। स्नानं गुरुकुलान्निवर्तमानस्य संस्कारविशेषस्तस्य प्रकृष्टं विधानम्।। १११।।

(इस धर्मशास्त्र में) संसार की उत्पत्ति) तथा संस्कार की विधि, (ब्रह्मचर्य) व्रत का आचरण एवं (गुरुसेवा आदि) उपचार, (विद्यासमाप्ति के अवसर पर किए जाने वाले) स्नान की श्रेष्ठविधि का (कथन किया गया है)।। १११।।

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।
महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम्।। ११२।।

दाराधिगमनं विवाहः तद्विशेषाणां ब्राह्मादीनां च लक्षणम्। महायज्ञाः पञ्च वैश्वदेवादयः। श्राद्धस्य विधिः शाश्वतः प्रतिसर्गमनादिप्रवाहप्रवृत्त्या नित्यः। एष तृतीयाध्यायार्थः।। ११२।।

विवाह की विधि, विवाहों के लक्षण, महायज्ञों के विधिविधान तथा नित्य श्राद्ध की विधि का (कथन किया गया है।)।। ११२।।

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।
भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च।। ११३।।

वृत्तीनां जीवनोपायानां ऋतादीनां लक्षणं। स्नातकस्य गृहस्थस्य व्रतानि नियमाः। एतच्चतुर्थाध्यायप्रमेयम्। भक्ष्यं दध्यादि, अभक्ष्यं लशुनादि, शौचं मरणादौ ब्राह्मणादेर्दशाहादिनां द्रव्याणां शुद्धिमुदकादिना।। ११३।।

आजीविकाओं के लक्षण, स्नातक के नियम तथा भक्ष्य-अभक्ष्य, पवित्रता एवं द्रव्यों की शुद्धि का भी (कथन किया गया है)।। ११३।।

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्।। ११४।।

स्त्रीणां धर्मयोगं धर्मोपायं एतत्पाञ्चमिकम्। तापस्यं तपसे वानप्रस्थाय हितं तस्य धर्मम्। मोक्षहेतुत्वान्मोक्षं यतिधर्मम्। यतिधर्मत्वेऽपि संन्यासस्य पृथगुपदेशः प्राधान्यज्ञापनार्थः। एष षष्ठाध्यायार्थः। राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वो दृष्टादृष्टार्थो धर्मः। एष सप्तमाध्यायार्थः। कार्याणामृणादीनामर्थिप्रत्यर्थिसमर्पितानां विनिर्णयो विचार्य तत्त्वनिर्णयः।। ११४।।

स्त्रियों के धर्म विषयक उपायों का, वानप्रस्थ, यति एवं सन्यास धर्मों का, राजा के सम्पूर्ण धर्म-कर्मों का विशेष निर्णय (भी इसमें किया गया है)।। ११४।।

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्मं स्त्रीपुंसयोरपि।
विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्।। ११५।।

साक्षिणां च प्रश्ने यद्विधानं। व्यवहाराङ्गत्वेऽपि साक्षिप्रश्नस्य विधाननिर्णयोपायत्वात्पृथङ्निर्देशः। एतदाष्टमिकम्। स्त्रीपुंसयोर्भार्यापत्योः सन्निधावसन्निधौ च धर्मानुष्ठानं ऋक्थभागस्य च धर्मम्। यद्यपि ऋक्थभागोऽपि कार्याणां च विनिणर्यमित्यनेनैव प्राप्तस्तथाप्यध्यायभेदात्पृथङ्निर्देशः। द्यूतविषयो विधिर्द्यूतशब्देनोच्यते। कण्टकानां चौरादीनां शोधनं निरसनम्।। ११५।।

गवाहों से प्रश्न करने के तरीकों का, स्त्री-पुरुषों के कर्तव्यों का, बंटवारे एवं द्यूत के नियमों का तथा समाज कण्टकों को दूर करने के उपायों का (भी इसमें वर्णन हुआ है)।। ११५।।

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम्।
आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा।। ११६।।

वैश्यशूद्रोपचारं स्वधर्मानुष्ठानम्। एतन्नवमे। एवं संकीर्णानां अनुलोमप्रतिलोमजानामुत्पत्तिं आपदि च जीविकोपदेशं आपद्धर्मम्। एतद्दशमे। प्रायश्चित्तविधिमैकादशे।। ११६।।

वैश्य एवं शूद्र के कर्तव्यादि का, वर्णसंकर जातियों के उत्पन्न होने का, आपत्ति के समय सभी वर्णों के धर्म तथा प्रायश्चित्त की विधि का (भी इसमें विस्तार से कथन हुआ है)।। ११६।।

संसारगमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम्।
निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम्।। ११७।।

संसारगमनं देहान्तरप्राप्तिरूपं उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिविधं शुभाशुभकर्महेतुकम्। निःश्रेयसमात्मज्ञानं सर्वोत्कृष्टमोक्षलक्षणस्य श्रेयोहेतुत्वात्। कर्मणां च विहितनिषिद्धानां गुणदोषपरीक्षणम्।। ११७।।

संसार से प्रस्थान, तीन प्रकार के (उत्तम, मध्यम, अधम) कर्मों की उत्पत्ति, मोक्षप्राप्ति के उपाय तथा कर्मों के गुण एवं दोषों की परीक्षा (आदि का वर्णन भी इसमें उपलब्ध होता है)।। ११७।।

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः।। ११८।।

प्रतिनियतदेशेऽनुष्ठीयमान देशधर्माः, ब्राह्मणादिजातिनियता जातिधर्माः, कुलविशेषाश्रयाः कुलधर्माः, वेदबाह्यागमसमाश्रया प्रतिषिद्धव्रतचर्या पाषण्डं तद्योगात्पुरुषोऽपि पाषण्डः तन्निमित्ता ये धर्माः "पाषण्डिनो विकर्मस्थान्" (अ० ४ श्लो० ३०) इत्यादयः तेषां पृथग्धर्मानभिधानात्। गणः समूहो वणिगादीनाम्।। ११८।।

(इसके अतिरिक्त) देश-धर्म, जाति-धर्म एवं कुल-धर्मों, पाखण्डियों के समुदायों के धर्मों का मनु ने इस धर्मशास्त्र में (विस्तारपूर्वक) कथन किया है।। ११८।।

यथेदमुक्तवाञ्छास्त्रं पुरा पृष्टो मनुर्मया।
तथेदं यूयमप्यद्य मत्सकाशान्निबोधत।। ११९।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां प्रथमोऽध्यायः।। १।।

पूर्व मया पृष्टो मनुर्यथेदं शास्त्रमभिहितवांस्तथैवान्यूनानतिरिक्तं मत्सकाशाच्छृणुतेति ऋषीणां श्रद्धातिशयार्थं पुनरभिधानम्।। ११९।। क्षे०।। ११।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ प्रथमोऽध्यायः।। १।।

प्राचीनसमय में मेरे द्वारा पूछे जाने पर मनु ने जिसप्रकार इस शास्त्र का कथन किया। ठीक वैसा ही आप सब लोग भी मुझसे आज इस (शास्त्र) को समझ लें।। ११९।।

।। इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र में महर्षि भृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार डा. राकेश शास्त्री द्वारा किया गया मनुस्मृति के प्रथम अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रकृष्टपरमात्मज्ञानरूपधर्मज्ञानाय जगत्कारणं ब्रह्म प्रतिपाद्याधुना ब्रह्मज्ञानाङ्गभूतं संस्कारादिरूपं धर्मं प्रतिपिपादयिषुर्धर्मसामान्यलक्षणं प्रथममाह—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।। १।।

विद्वद्भिर्वेदविद्भिः सद्भिर्धार्मिकैः रागद्वेषशून्यैरनुष्ठितो हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यनेन श्रेयः साधनमभिहितम्। तत्र हि स्वरसान्मनोऽभिमुखीभवति। वेदविद्भिर्ज्ञात इति विशेषणोपादानसामर्थ्याज्ज्ञातस्य वेदस्यैव श्रेयःसाधनज्ञाने कारणत्वं विवक्षितम्। खड्गधारिणा हत इत्युक्ते धृतखड्गस्यैव हनने प्राधान्यम्। अतो वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्युक्तं। एवंविधो यो धर्मस्तं निबोधत। उक्तार्थसंग्रहश्लोकाः— "वेदविद्भिर्ज्ञात इति प्रयुञ्जानो विशेषणम्। वेदादेव परिज्ञातो धर्म इत्युक्तवान्मनुः।। हृदयेनाभिमुख्येन ज्ञात इत्यपि निर्दिशन्। श्रेयःसाधनमित्याह तत्र ह्यभिमुखं मनः।। वेदप्रमाणकः श्रेयःसाधनं धर्म इत्यतः। मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम्"।। अतएव हारीतः—"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुतिप्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च"। भविष्यपुणे "धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्। स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः।। अस्य सम्यगनुष्ठानात्स्वर्गो मोक्षश्च जायते। इह लोक सुखैश्वर्यमतुलं च खगाधिप।। " श्रेयःसाधनमित्यर्थः। जैमिनिरपि इदमपि धर्मलक्षणमसूत्रयत्,—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म" इति। उभयं चोदनया लक्ष्यते, अर्थः श्रेयःसाधनं ज्योतिष्टोमादि। अनर्थः प्रत्यवायसाधनं श्येनादिः। तत्र वेदप्रमाणकं श्रेयः साधनं ज्योतिष्टोमादि धर्म इति सूत्रार्थः। स्मृत्यादयोऽपि वेदमूलत्वेनैव धर्मे प्रमाणमिति दर्शयिष्यामः। गोविन्दराजस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इत्यन्तःकरणवि- चिकित्साशून्य इति व्याख्यातवान्। तन्मते वेदविद्भिरनुष्ठितः संशयरहितश्च धर्म इति धर्मलक्षणं स्यात्। एवं च दृष्टार्थग्रामगमनादिसाधारणं धर्मलक्षणं विचक्षणा न श्रद्दधते। मेधातिथिस्तु हृदयेनाभ्यनुज्ञात इति यत्र चित्तं प्रवर्तयतीति व्याख्याय, अथवा हृदयं वेदः स ह्यधीतो भावनारूपण हृदयस्थितो हृदयमित्युच्यत इत्युक्तवान्।। १।।

विद्वान्, रागद्वेष से रहित सज्जनों द्वारा हमेशा पालन किया गया। हृदय द्वारा भलीप्रकार अनुमोदित जो धर्म है, उसे (आप लोग) पूर्णरूप से समझिए।। १।।

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।। २।।

फलाभिलाषशलित्वं पुरुषस्य कामात्मता। सा न प्रशस्ता बन्धहेतुत्वात्। स्वर्गादिफलाभिलाषेण काम्यानि कर्माण्यनुष्ठीयमानानि पुनर्जन्मने कारणं भवन्ति। नित्यनैमित्तिकानि त्वात्मज्ञानसहकारितया मोक्षाय कल्पन्ते न पुनरिच्छामात्रमनेन निषिध्यते। तदाह "न चैवेहास्त्यकामता" इति। यतो वेदस्वीकरणं वैदिकसकल-धर्मसंबन्धश्चेच्छाविषय एव।। २।।

अपने लिए फल की कामना करना प्रंशसनीय नहीं है और न ही इस संसार में कामना का अभाव है, क्योंकि वेदों का अध्ययन तथा वैदिक कर्मों का अनुष्ठान भी काम्य (कर्म ही हैं)।। २।।

अत्रोपपत्तिमाह—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः समृताः।। ३।।

अनेन कर्मणेदमिष्टं फलं साध्यत इत्येवंविषया बुद्धिः संकल्पः, तदनन्तरमिष्टसाधनतयावगते तस्मिन्निच्छा जायते, तदर्थं प्रयत्नं कुरुते चेत्येवं यज्ञाः संकल्पप्रभवाः व्रतानि, यमरूपाश्च धर्माश्चतुर्थाध्याये वक्ष्यमाणाः। सर्व इत्यनेन पदेन अन्येऽपि शास्त्रार्थाः संकल्पादेव जायन्ते। इच्छामन्तरेण तान्यपि न संभवन्तीत्यर्थः। गोविन्दराजस्तु व्रतान्यनुष्ठेयरूपाणि यमधर्माः प्रतिषेधार्थका इत्याह।। ३।।

कर्मफल की अभिलाषा का मूलकारण संकल्प ही है। (सभी) श्रेष्ठकर्म संकल्प से उत्पन्न होते हैं। व्रत और यम-नियम सभी सङ्कल्प से ही उत्पन्न कहे गए हैं।। ३।।

अत्रैव लौकिकं नियमं दर्शयति—

अकामस्य क्रिया काचिद्दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।। ४।।

लोके या काचिद्भोजनगमनादिक्रिया साप्यनिच्छतो न कदाचिद्दृश्यते। ततश्च सर्वं कर्म लौकिकं वैदिकं च यद्यत्पुरुषः कुरुते तत्तदिच्छाकार्यम्।। ४।।

इस संसार में इच्छारहित व्यक्ति की कभी भी कोई क्रिया दिखायी नहीं देती है, क्योंकि (व्यक्ति) जो स्वयं भी करता है, वह सब कामना की चेष्टा का (ही परिणाम है)।। ४।।

संप्रति पूर्वोक्तं फलाभिलाषनिषेधं नियमयति—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते।। ५।।
(असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः।
नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते।। १।।
तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम्।
काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः।। २।।)

नात्रेच्छा निषिध्यते किंतु शास्त्रोक्तकर्मसु सम्यग्वृत्तिर्विधीयते। बन्धहेतुफलाभिलाषं विना शास्त्रीयकर्मणामनुष्ठानं तेषु सम्यग्वृत्तिः सम्यग्वर्तमानोऽमरलोकताममरधर्मकं ब्रह्मभावं गच्छति। मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः तथाभूतश्च सर्वेश्वरत्वादिहापि लोके सर्वानभिलषितान्प्राप्नोति। तथाच छान्दोग्ये—"स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पापादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (८/२/१) इत्यादि।। ५।।

(शास्त्रों द्वारा अनुमोदित) उन कार्यों में भलीप्रकार लगा हुआ व्यक्ति अमरलोक को प्राप्त कर लेता है, साथ ही इस संसार में विचारे गए सभी मनोरथों को भी प्राप्त कर लेता है।। ५।।

(तृष्णा से नष्ट बुद्धि वाला (व्यक्ति) यदि अभिलषित विषयों के लिए अनुचित आचरण करता है तो उसे नरक की प्राप्ति होती है तथा वह (ईप्सित) फल को भी प्राप्त नहीं करता है।। १।।

इसलिए श्रुति एवं स्मृति में कहा गया काम्यकार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करने पर ही इस संसार में कल्याण की प्राप्ति होती है, विपरीत होने पर नहीं।। २।।)

इदानीं धर्मप्रमाणान्याह—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।। ६।।

वेद ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणः स सर्वो विध्यर्थवादमन्त्रात्मा धर्मे मूलं प्रमाणम्। अर्थवादानामपि विध्येकवाक्यतया स्तावकत्वेन धर्मे प्रामाण्यात्। यदाह जैमिनिः "विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" मन्त्रार्थवादानामपि विधिवाक्यैकवाक्यतयैव धर्मे प्रामाण्यं, प्रयोगकाले चानुष्ठेयस्मारकत्वं, वेदस्य च धर्मे प्रामाण्यं यथानुभवकरणत्वरूपं न्यायसिद्धम्। स्मृत्यादीनामपि तन्मूलत्वेनैव प्रामाण्यप्रतिपादनार्थमनूद्यते। मन्वादीनां च वेदविदां स्मृतिर्धर्मे प्रमाणम्। वेदविदामिति विशेषणो-

पादानाद्वेदमूलत्वेनैव स्मृत्यादीनां प्रामाण्यमभिमतम्। शीलं ब्रह्मण्यतादिरूपम्। तदाह हारीतः—"ब्रह्मण्यता देवपितृभक्तता सौम्यता अपरोपतापिता अनसूयता मृदुता अपारुष्यं मैत्रता प्रियवादित्वं कृतज्ञता शरण्यता कारुण्यं प्रशान्तिश्चेति त्रयोदश-विधं शीलम्"। गोविन्दराजस्तु शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह। आचारः कम्बलवल्कला-द्याचरणरूपः, साधूनां धार्मिकाणां आत्मतुष्टिश्च वैकल्पिकपदार्थविषया धर्मे प्रमाणम्। तदाह गर्गः—"वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्"।। ६।।

सभी वेद, वेदज्ञाताओं के स्मृतिग्रन्थ तथा सद्गुण, सज्जनों का आचरण एवं आत्मा की सन्तुष्टि ही धर्म के आधार हैं।। ६।।

वेदादन्येषां वेदमूलत्वेन प्रामाण्येऽभिहितेऽपि मनुस्मृतेः सर्वोत्कर्षज्ञापनाय विशेषेण वेदमूलतामाह—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।। ७।।

यः कश्चित्कस्यचिद्ब्राह्मणादेर्मनुना धर्म उक्तः स सर्वो वेदे प्रतिपादितः। यस्मात्सर्वज्ञोऽसौ मनुः सर्वज्ञतया चोत्सन्नविप्रकीर्णपठ्यमानवेदार्थं सम्यग्ज्ञात्वा लोकहितायोपनिबद्धवान्। गोविन्दराजस्तु सर्वज्ञानमय इत्यस्य सर्वज्ञानारब्ध इव वेद इति वेदविशेषणतामाह।। ७।।

मनु द्वारा जो कोई भी किसी के लिए भी धर्म कहा गया है, वह सब (पहले ही) वेद में कहा जा चुका है, क्योंकि वह (वेद) सर्वज्ञानसम्पन्न है।।७।।

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै।। ८।।

सर्वं शास्त्रजातं वेदार्थावगमोचितं ज्ञानं मीमांसाव्याकरणादिकं ज्ञानमेव चक्षुस्तेननिखिलं तद्विशेषेण पर्यालोच्य वेदप्रामाण्येनानुष्ठेयमवगम्य स्वधर्मेऽवतिष्ठेत।। ८।।

(मनु द्वारा प्रतिपादित) इन सब धर्मों को तथा सम्पूर्ण जगत्-व्यवहार को नेत्रों से भलीप्रकार देखकर, श्रुति को प्रमाणरूप में स्वीकार करते हुए विद्वान् व्यक्ति को अपने धर्म में ही लगना चाहिए।। ८।।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।। ९।।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्मानव इह लोके धार्मिकत्वेनानुषङ्गिकीं कीर्तिं

परलोके च धर्मफलमुत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखरूपं प्राप्नोति। अनेन वास्तवगुणकथनेन श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठेदिति विधिः कल्प्यते।। ९।।

वेद एवं स्मृतिग्रन्थों में कहे गए धर्म का पालन करते हुए, व्यक्ति निश्चय ही इस संसार में कीर्ति को तथा मरकर (परलोक में) उत्तमोत्तम सुखों को प्राप्त करता है।। ९।।

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।। १०।।

लोकप्रसिद्धिसंज्ञासंज्ञिसंबन्धानुवादोऽयं श्रुतिस्मृत्योः प्रतिकूलतर्केणामीमांस्यत्व-विधानार्थं, स्मृतेः श्रुतितुल्यत्वबोधनेनाचारादिभ्यो बलवत्त्वप्रतिपादनार्थं च। तेन स्मृतिविरुद्धाचारो हेय इत्यस्य फलम्। श्रुतिर्वेदः मन्वादिशास्त्रं स्मृतिः ते उभे प्रतिकूलतर्कैर्न विचारयितव्ये। यतस्ताभ्यां निःशेषेण धर्मो बभौ प्रकाशतां गतः।। १०।।

श्रुति को वेद तथा स्मृति को तो वस्तुतः धर्मशास्त्र ही समझना चाहिए, वे दोनों सभी अर्थों में तर्क से परे हैं, क्योंकि उन दोनों से ही धर्म प्रादुर्भूत हुआ है।। १०।।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।। ११।।

पुनस्ते द्वे श्रुतिस्मृती द्विजोऽवमन्येत स शिष्टैर्द्विजानुष्ठेयाध्ययनादिकर्मणो निःसार्यः। पूर्वश्लोके सामान्येनामीमांस्ये इति मीमांसानिषेधादनुकूलमीमांसापि न प्रवर्तनीयेति भ्रमो माभूदिति विशेषयति—हेतुशास्त्राश्रयात्। वेदवाक्यमप्रमाणं वाक्यत्वात् विप्रलम्भकवाक्यवदित्यादिप्रतिकूलतर्कावष्टम्भेन चार्वाकादिनास्तिक इव नास्तिकः। यतो वेदनिन्दकः।। ११।।

जो द्विज, धर्म के मूलस्रोत इन (श्रुति एवं स्मृतियों) का तर्कशास्त्र द्वारा तिरस्कार करता है। वेद की निन्दा करने वाला, वह नास्तिक सज्जनों द्वारा बहिष्कार के योग्य है।। ११।।

इदानीं शीलस्याचार एवान्तर्भावसंभवाद्वेदमूलतैव तन्त्रं न स्मृतिशीलादिप्रकारनियम इति दर्शयितुं चतुर्धा धर्मप्रमाणमाह—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।। १२।।

वेदो धर्मप्रमाणं स क्वचित्प्रत्यक्षः क्वचित्स्मृत्यानुमित इत्येवं तात्पर्यं न तु

प्रमाणपरिगणने। अतएव "श्रुतिस्मृत्युदितं धर्म" (अ० २ श्लो० ९) इत्यत्र द्वयमेवाभिहितवान्। सदाचारः शिष्टाचारः स्वस्य चात्मनः प्रियमात्मतुष्टिः।। १२।।

वेद, स्मृति, श्रेष्ठ आचरण और अपने अन्तरात्मा की प्रसन्नता ये धर्म के चार प्रकार के साक्षात् लक्षण कहे गए हैं।। १२।।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। १३।।

अर्थकामेष्वसक्तानां अर्थकामलिप्साशून्यानां धर्मोपदेशोऽयम्। ये त्वर्थकामसमीहया लोकप्रतिपत्त्यर्थं धर्ममनुतिष्ठन्ति न तेषां कर्मफलमित्यर्थः। धर्मं च ज्ञातुमिच्छतां प्रकृष्टं प्रमाणं श्रुतिः। प्रकर्षबोधनेन च श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नादरणीय इति भावः। अतएव जाबालः—"श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता।।" भविष्यपुराणेऽप्युक्तम्—"श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना"। जैमिनिरप्याह—"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानकम्"। श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यमप्रमाणमनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमान-मित्यर्थः।। १३।।

अर्थ एवं काम में आसक्तिरहित लोगों के लिए ही धर्म के ज्ञान का विधान किया गया है। धर्म के प्रति जिज्ञासा करने वाले लोगों के लिए श्रुति ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।। १३।।

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः।। १४।।

यत्र पुनः श्रुत्योरेव द्वैधं परस्परविरुद्धार्थप्रतिपादनं तत्र द्वावपि धर्मौ मनुना स्मृतौ। तुल्यबलतया विकल्पानुष्ठानविधानेन च विरोधाभावः। यस्मान्मन्वादिभ्यः पूर्वतरैरपि विद्वद्भिः सम्यक् समीचीनौ द्वावपि तौ धर्मावुक्तौ। समानन्यायतया स्मृत्योरपि विरोधे विकल्प इति प्रकृतोपयोगस्तुल्यबलत्वाविशेषात्। तदाह गौतमः—"तुस्यबलविरोधे विकल्पः"।। १४।।

किन्तु जहाँ श्रुति-वचनों में द्वैधीभाव हो, वहाँ दोनों धर्म कहे गए हैं, क्योंकि विद्वानों ने भी उन दोनों ही धर्मों को ठीक बताया है।। १४।।

अत्र दृष्टान्तमाह—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः।। १५।।

(श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृतिः।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि।। ३।।
धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानाः सीदन्त्यपरधर्मजाः।। ४।।)

सूर्यनक्षत्रवर्जितःकालः समयाध्युषितशब्देनोच्यते। उदयात्पूर्वमरुणकिरणवान्प्रविरलतारकोऽनुदितकालः। परस्परविरुद्धकालश्रवणेऽपि सर्वथा विकल्पेनाग्निहोत्रहोमः प्रवर्तते। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागगुणयोगाद्यज्ञशब्दोऽत्र गौणः। "उदिते होतव्यम्" इत्यादिका वैदिकी श्रुतिः।। १५।।

सूर्य के उदित होने पर तथा (उसके) उदित न होने पर तथा मध्याह्न के समय में ही सर्वथा यज्ञ होता है, यह वेदविषयक श्रुति है।। १५।।

(मुनि श्रुतियों का साक्षात्कार करते हैं, किन्तु दूसरे लोग स्मृति के अनुसार वेद की परिकल्पना कर लेते हैं। इसलिए मुनि (ही वस्तुतः) प्रमाण हैं। वे ही पृथिवी पर प्रमाणरूप में प्रख्यात हैं।। ३।।

धर्मों में व्यतिक्रम देखा गया है, साथ ही श्रेष्ठलोगों में साहस भी (देखा जाता है)। इसलिए इन्हें भलीप्रकार समझकर आचरण करने वाले (कल्याणों को) प्राप्त करते हैं तथा दूसरे अन्य धर्मों का अवलम्बन करके दुःखों को प्राप्त होते हैं।। ४।।)

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्।। १६।।

गर्भाधानादिरन्त्येष्टिपर्यन्तो यस्य वर्णस्य मन्त्रैरनुष्ठानकलाप उक्तो द्विजातेरित्यर्थः। तस्यास्मिन्मानवधर्मशास्त्रेऽध्ययने श्रवणेऽधिकारः न त्वन्यस्य कस्यचिच्छूद्रादेः। एतच्छास्त्रानुष्ठानं च यथाधिकारं सर्वैरेव कर्तव्यं, प्रवचनं त्वस्याध्यापनं व्याख्यानरूपं ब्राह्मणकर्तृकमेवेति विदुषा ब्राह्मणेनेत्यत्र व्याख्यातम्।। १६।।

जिनके गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त सभी संस्कार विधिपूर्वक मन्त्रों द्वारा सम्पादित किए गए हैं। इस धर्मशास्त्र में उनका ही अधिकार समझना चाहिए, अन्य किसी (संस्कारहीन व्यक्ति) का नहीं।। १६।।

धर्मस्य स्वरूपं प्रमाणं परिभाषां चोक्त्वा इदानीं धर्मानुष्ठानयोग्यदेशानाह—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।। १७।।

सरस्वतीदृषद्वत्योर्नद्योरुभयोर्मध्यं ब्रह्मावर्तं देशमाहुः। देवनदीदेवनिर्मितशब्दौ नदीदेशप्राशस्त्यार्थौ।। १७।।

सरस्वती एवं दृषद्वती इन दोनों देवनदियों के बीच में जो अन्तर है, देवताओं द्वारा निर्मित उस देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है।।। १७।।

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते।। १८।।
(विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा संभवश्रुतिः।।५।।)

तस्मिन्देशे प्रायेण शिष्टानां संभवात्तेषां ब्राह्मणादिवर्णानां संकीर्णजातिपर्यन्तानां य आचारः पारंपर्यक्रमागतो न त्विदानींतनः स सदाचारोऽभिधीयते।। १८।।

उस प्रदेश में सभी वर्णों तथा वर्णसङ्कर जातियों का परम्परा से प्राप्त जो आचरण है, वही सदाचार कहा जाता है।। १८।।

(प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले विषयों से इष्ट सम्पादित करने के लिए जो (वेद) विरुद्ध, सज्जनों द्वारा गर्हित स्मृति है, वह वेदमूलक नहीं हो सकती है। (अतः वह त्याज्य है), किन्तु यह जो वेदमूलक स्मृति (मनुस्मृति) है, (वह ग्राह्य है)।।५।।)

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः।। १९।।

मत्स्यादिशब्दाः बहुवचनान्ता एव देशविशेषवाचकाः। पञ्चालाः कान्यकुब्जदेशाः। शूरसेनका मथुरादेशाः। एष ब्रह्मर्षिदेशो ब्रह्मावर्तात्किंचिदूनः।। १९।।

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन प्रदेश, ये ही ब्रह्मावर्त के बाद गिने जाने वाले ब्रह्मर्षि प्रदेशों के (नाम से प्रसिद्ध हैं)।। १९।।

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।। २०।।

कुरुक्षेत्रादिदेशजातस्य ब्राह्मणस्य सकाशात्सर्वमनुष्या आत्मीयमात्मीयमाचारं शिक्षेरन्।। २०।।

इस क्षेत्र में उत्पन्न ब्राह्मण के सान्निध्य से पृथिवी पर सभी मनुष्य अपने-अपने आचरण की शिक्षा प्राप्त करें।। २०।।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः।। २१।।

उत्तरदक्षिणदिगवस्थितौ हिमवद्विन्ध्यौ पर्वतौ तयोर्यन्मध्यं विनशनात्सरस्वत्यन्तर्धान-देशाद्यत्पूर्वं प्रयागाच्च यत्पश्चिमं स मध्यदेशनामा देशः कथितः।। २१।।

हिमालय एवं विन्ध्य पर्वतों के बीच, विनशन नामक स्थान से पूर्व की ओर तथा प्रयाग से पश्चिम की ओर जो स्थान है, वही 'मध्यदेश' कहा गया है।। २१।।

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः।। २२।।

आ पूर्वसमुद्रात् आ पश्चिमसमुद्राद्धिमवद्विन्ध्ययोश्च यन्मध्यं तमार्यावर्तदेशं पण्डिता जानन्ति। मर्यादायामयमाङ्‌ नाभिविधौ। तेन समुद्रमध्यद्वीपानां नार्यावर्तता। आर्या अत्रावर्तन्ते पुनःपुनरुद्भवन्तीत्यार्यावर्तः।। २२।।

जबकि पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्र तक फैला हुआ तथा उन्हीं हिमालय और विन्ध्य पर्वतों के बीच स्थित प्रदेश को विद्वान् लोग वस्तुतः 'आर्यावर्त' के रूप में जानते हैं।। २२।।

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः।। २३।।

कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावतो वसति न तु बलादानीतः स यज्ञार्हो देशो ज्ञातव्य। अन्यो म्लेच्छदेशो न यज्ञार्ह इत्यर्थः।। २३।।

किन्तु जहाँ कृष्णसार मृग अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करता है। वही प्रदेश यज्ञ के योग्य समझना चाहिए। इससे भिन्न (प्रदेश) तो मलेच्छ प्रदेश ही हैं ।। २३।।

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद्वृत्तिकर्शितः।। २४।।

अन्यदेशोद्भवा अपि द्विजातयो यज्ञार्थत्वाददृष्टार्थत्वाच्चैतान्देशान्प्रयत्नादाश्रयेरन्। शूद्रस्तु वृत्तिपीडितो वृत्त्यर्थमन्यदेशमप्याश्रयेत्।। २४।।

द्विज वर्णों में उत्पन्न (लोग) प्रयत्नपूर्वक इन प्रदेशों (ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश, मध्य प्रदेश तथा आर्यावर्त) में आश्रय लेकर निवास करें। जबकि आजीविका से पीडित हुआ शूद्र तो जिस किसी भी प्रदेश में निवास कर सकता है।। २४।।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत।। २५।।

एषा युष्माकं धर्मस्य योनिः संक्षेपेणोक्ता। योनिर्ज्ञप्तिकारणं ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'' (अ० २ श्लो० ६) इत्यादिनोक्तमित्यर्थः। गोविन्दराजस्त्विह धर्मशब्दोऽपूर्वाख्यात्मकधर्मे वर्तत इति ''विद्वद्भिः सेवित'' (अ० २ श्लो० १) इत्यत्र तत्कारणेऽष्टकादौ वाऽपूर्वाख्यस्य धर्मस्य योनिरिति व्याख्यातवान्। संभवश्चोत्पत्तिर्जगतइत्युक्ता। इदानीं वर्णधर्माञ्छृणुत। वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मवर्णाश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणामुपलक्षकः। ते च भविष्यपुराणोक्ताः-''वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्। वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा।। वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप।। यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते। स खल्वाश्रमधर्मस्तु भिक्षादण्डादिको यथा। वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते। स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्जीया मेखला यथा। यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते। यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम्।। निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। नैमित्तिकः सः विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा''।। २५।।

यह इस सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति तथा धर्म का मूल आधार मेरे द्वारा संक्षेप में कहा गया और (अब आप लोग मुझसे) वर्णों के धर्मों को समझो।। २५।।

वैदिकैः कर्मभिः पुण्येर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।। २६।।

वेदमूलत्वाद्वैदिकैः पुण्यैः शुभैर्मन्त्रयोगादिकर्मभिर्द्विजातीनां गर्भाधानादिशरीरसंस्कारः कर्तव्यः। पावनः पापक्षयहेतुः। प्रेत्य परलोके संस्कृतस्य यागादिफलसंबन्धात्, इह लोके च वेदाध्ययनाद्यधिकारात्।। २६।।

पवित्र वेदानुकूल कर्मों द्वारा द्विजातियों के गर्भाधान आदि शरीर-संस्कार करने चाहिएँ। इससे व्यक्ति इस लोक तथा मरकर परलोक में भी पवित्र होता है।। २६।।

कुतः पापसंभवो येनैषां पापक्षयहेतुत्वमत आह-

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते।। २७।।

ये गर्भशुद्धये क्रियन्ते ते गार्भाः। होमग्रहणमुपलक्षणम्। गर्भाधानादेर्होमरूपत्वात् जातस्य यत्कर्म मन्त्रवत्सर्पिःप्राशनादिरूपं तज्जातकर्म। चौडं चूडाकरणकर्म। मौञ्जीनिबन्धनमुपनयनम्। एतैर्बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसंकल्पादिना च पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तद्द्विजातीनामपमृज्यते।। २७।।

गर्भ के समय किए जाने वाले संस्कारों से, यज्ञकर्मों से, जातकर्म, चूड़ाकर्म, तथा मौञ्जीबन्धन संस्कारों द्वारा द्विजवर्णों के गर्भविषयक एवं बीजविषयक दोष नष्ट हो जाते हैं।। २७।।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।। २८।।

वेदाध्ययनेन। व्रतैर्मधुमांसवर्जनादिनियमैः। हौमैः सावित्रचरुहोमादिभिः। सायंप्रातर्होमैश्च। त्रैविद्याख्येन च। व्रतेष्वप्राधान्यादस्य पृथगुपन्यासः। इज्यया ब्रह्मचर्यावस्थायां देवर्षिपितृतर्पणरूपया, गृहस्थावस्थायां पुत्रोत्पादनेन। महायज्ञैः पञ्चभिर्ब्रह्मयज्ञादिभिः। यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिः। ब्राह्मी ब्रह्मप्राप्तियोग्येयं तनुः तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते। कर्मसहकृतब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः।। २८।।

यह शरीर स्वाध्याय से, व्रतों के द्वारा, होमों से, त्रैविद्य नामक व्रत से, दान द्वारा, पुत्रों से, महायज्ञ एवं सामान्ययज्ञों द्वारा मोक्ष के योग्य बनाया जाता है।। २८।।

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।। २९।।

नाभिच्छेदनात्प्राक् पुरुषस्य जातकर्माख्यः संस्कारः क्रियते। तदा चास्य स्वगृह्योक्तमन्त्रैः स्वर्णमधुघृतानां प्राशनम्।। २९।।

नालोच्छेदन से पूर्व पुरुष का जातकर्म संस्कार किया जाता है तथा शहद और घी सोने की शलाका में लगाकर मन्त्रोच्चारणपूर्वक चटाया जाता है।। २९।।

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते।। ३०।।

जातकर्मेति पूर्वश्लोके जन्मनः प्रस्तुतत्वाज्जन्मापेक्षयैव दशमे द्वादशे वाहनि अस्य शिशोर्नामधेयं स्वयमसंभवे कारयेत्। अथवा ''आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते'' इति शङ्खवचनाद्दशमेऽहन्यतीते एकादशाह इति व्याख्येम्। तत्राप्यकरणे प्रशस्ते तिथौ प्रशस्त एव मुहूर्ते नक्षत्रे च गुणवत्येव ज्योतिषावगते कर्तव्यम्। वा शब्दोऽवधारणे।। ३०।।

इस (बालक) का नामकरण संस्कार तो दसवें या बारहवें दिन पुण्य तिथि, मुहूर्त तथा गुणवान् नक्षत्र में ही कराना चाहिए।। ३०।।

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्।। ३१।।

ब्राह्मणादीनां यथाकर्म मङ्गलबलधननिन्दावाचकानि शुभबलवसुदीनादीनि नामानि कर्तव्यानि।। ३१।।

ब्राह्मण का नाम माङ्गलिक, क्षत्रिय का बल से युक्त, वैश्य का धन से युक्त, किन्तु शूद्र का नाम घृणायुक्त रखना चाहिए।। ३१।।

इदानीमुपपदनियमार्थमाह—

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम्।। ३२।।

एषां यथाकर्म शर्मरक्षापुष्टिप्रैष्यवाचकानि कर्तव्यानि, शर्मवर्मभूतिदासादीनि उपपदानि कार्याणि। उदाहरणानि तु शुभशर्मा, बलवर्मा, वसुभूतिः, दीनदास, इति तथा च यमः "शर्म देवश्च विप्रस्य वर्म त्राता च भूभुजः। भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्।। " विष्णुपुराणेऽप्युक्तम्-"शर्मवद्ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः"।। ३२।।

ब्राह्मण का नाम 'शर्म' पद से युक्त, क्षत्रिय का रक्षायुक्त, वैश्य का ऐश्वर्यपद से युक्त तथा शूद्र का दासतासूचक शब्द से युक्त होना चाहिए।। ३२।।

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्।। ३३।।

सुखोच्चार्यमक्रूरार्थवाचि व्यक्ताभिधेयं मनःप्रीतिजननं मङ्गलवाचि दीर्घस्वरान्तं आशीर्वाचकेनाभिधानेन शब्देनोपेतं स्त्रीणां नाम कर्तव्यम्। यथा यशोदादेवीति।। ३३।।

स्त्रियों का नाम सुखपूर्वक उच्चारण करने योग्य, कोमलवर्णों से युक्त, स्पष्ट अर्थ से सम्पन्न, मन को अच्छा लगने वाला, मांगलिकभाव से युक्त, अन्त में दीर्घवर्ण से युक्त तथा आशीर्वाद की अभिव्यक्तिसम्पन्न (होना चाहिए)।। ३३।।

चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले।। ३४।।

चतुर्थे मासे बालस्य जन्मग्रहान्निष्क्रमणमादित्यदर्शनार्थं कार्यम्। अन्नप्राशनं च षष्ठे मासे, अथवा कुलधर्मत्वेन यन्मङ्गलमिष्टं तत्कर्तव्यं तेनोक्तकालादन्यकालेऽपि निष्क्रमणम्। तथाच यमः"ततस्तृतीये कर्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्" सकलसंस्कारशेषश्चायम्। तेन नाम्नां शर्मादिकमप्युपपदं कुलाचारेण कर्तव्यम्।। ३४।।

जन्म से चौथे महिने बालक का निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए तथा छठे महिने अन्नप्राशन संस्कार या जब कुल में मंगलकारी एवं करना अभीष्ट हो (तभी करने चाहिएँ।)।। ३४।।

चूडाकर्मद्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्।। ३५।।

चूडाकरणं प्रथमे वर्षे तृतीये वा द्विजातीनां धर्मतो धर्मार्थं कार्यम्। श्रुतिचोदनात्। ''यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखा इव'' इति मन्त्रलिङ्गात्कुलधर्मानुसारेणायं व्यवस्थितविकल्पः। अत एवाश्वलायनगृह्यम्-''तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा'' (अ० १ खं० १७) ।। ३५।।

सभी द्विजवर्णों का चूड़ाकर्म संस्कार पहले अथवा तीसरे वर्ष वेदोक्त विधिविधान से धर्मपूर्वक करना चाहिए।। ३५।।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।। ३६।।

गर्भवर्षादष्टमे वर्षे ब्राह्मणस्योपनायनं कर्तव्यम्। उपनयनमेवोपनायनम्। ''अन्येषामपि दृश्यते'' (पा० सू० ६/३/१३७) इति दीर्घः। गर्भैकादशे क्षत्रियस्य गर्भद्वादशे वैश्यस्य।। ३६।।

ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार गर्भाधान से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में, जबकि वैश्य का गर्भ से बारहवें वर्ष में करना चाहिए।। ३६।।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे।। ३७।।

वेदाध्ययनतदर्थज्ञानादिप्रकर्षकृतं तेजो ब्रह्मवर्चसं तत्कामस्य ब्राह्मणस्य गर्भपञ्चमे वर्षे उपनयनं कार्यम्। क्षत्रियस्य हस्त्यश्वादिराज्यबलार्थिनो गर्भषष्ठे। वैश्यस्य बहुकृष्यादिचेष्टार्थिनो गर्भाष्टमे गर्भवर्षाणामेव प्रकृतत्त्वात्। यद्यपि बालस्य कामना न संभवति तथापि तत्पितुरेव तद्गतफलकामना तस्मिन्नुपचर्यते।। ३७।।

उत्कृष्ट ब्रह्मतेज की कामना करने वाले ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, बल की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय का छठे वर्ष में तथा इस संसार में धन की अभिलाषा रखने वाले वैश्य (बालक) का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार कराना चाहिए।। ३७।।

आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः।। ३८।।

अभिविधावाङ्। ब्राह्मणक्षत्रियविशामुक्ताष्टमैकादशद्वादशवर्षद्वैगुण्यस्य विवक्षितत्वात्

षोडशवर्षपर्यन्तं ब्राह्मणस्य सावित्र्यर्थे वचनमुपनयनं नातिक्रान्तकालं भवति। क्षत्रियस्य द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तम्। वैश्यस्य चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तम्। अत्र मर्यादायामाङ्। केचिद्व्या-ख्यापयन्ति यमवचनदर्शनात्। तथा च यमः-"पतिता यस्य सावित्री दश वर्षाणि पञ्च च। ब्राह्मणस्य विशेषेण तथा राजन्यवैश्ययोः। प्रायश्चित्तं भवेदेषां प्रोवाच वदतां वरः। विवस्वतः सुतः श्रीमान्यमो धर्मार्थतत्त्ववित्।। सशिखं वपनं कृत्वा व्रतं कुर्यात्समाहितः। हविष्यं भोजयेदन्नं ब्राह्मणान्सप्त पञ्च वा"।। ३८।।

ब्राह्मण (बालक) की सोलह वर्ष तक, क्षत्रिय के पुत्र की बाइस वर्ष तक, तथा वैश्य बालक की चौबीस वर्ष तक सावित्री का अतिक्रमण नहीं होता है।। ३८।।

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः।। ३९।।

एते ब्राह्मणदयो यथाकालं यो यस्यानुकल्पिकोऽप्युपनयनकाल उक्तः षोडशवर्षादिपर्यन्तं तत्रासंस्कृतास्तदूर्ध्वं सावित्रीपतिता उपनयनहीनाः शिष्टगर्हिता व्रात्यसंज्ञा भवन्ति। संज्ञाप्रयोजनं च 'व्रात्यानां याजनं कृत्वा" (अ० ११ श्लो० १९७) इत्यादिना व्यवहारसिद्धिः।। ३९।।

इस आयु के अधिक होने पर ये तीनों वर्ण यथासमय संस्कार न होने से, सावित्री से पतित एवं आर्यों द्वारा निन्दित होकर व्रात्य हो जाते हैं।। ३९।।

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धान्नाचरेद्ब्राह्मणः सह।। ४०।।

एतैरपूतैर्व्रात्यैर्यथाविधिप्रायश्चित्तमकृतवद्भिः सह आपत्कालेऽपि कदाचिदध्यापन-कन्यादानादीन् संबन्धान्ब्राह्मणो नानुतिष्ठेत्।। ४०।।

आपत्तिकाल में भी ब्राह्मण को अपवित्र इन व्रात्यों के साथ विधिवत् अध्ययन, अध्यापन तथा यज्ञविषयक ब्राह्मकर्म और विवाह आदि यौन सम्बन्धों को स्थापित नहीं करना चाहिए।। ४०।।

कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च।। ४१।।

कार्ष्ण इति विशेषानभिधानेऽपि मृगविशेषो रुरुसाहचर्यात्। "हारिणमैणेयं वा कार्ष्णं वा ब्राह्मणस्य" इत्यापस्तम्बवचनाच्च कृष्णमृगो गृह्यते। कृष्णमृगरुरुच्छाग-चर्माणि ब्रह्मचारिण उत्तरीयाणि वसीरन्। "चर्माण्युत्तरीयाणि" इति गृह्यवचनात्। तथा शणक्षुमामेषलोमभवान्यधोवसनानि ब्राह्मणादयः क्रमेण परिदधीरन् ।। ४१।।

(ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्ण के) ब्रह्मचारी क्रमशः कृष्णमृग, रुरुमृग तथा बकरे के चर्म से निर्मित वस्त्र एवं शण, रेशम तथा ऊन से निर्मित अधोवस्त्र धारण करें।। ४१।।

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी।। ४२।।

मुञ्जमयी त्रिगुणा समगुणत्रयनिर्मिता सुखस्पर्शा ब्राह्मणस्य मेखला कर्तव्या। क्षत्रियस्य मूर्वामयी ज्या धनुर्गुणरूपा मेखला। अतो ज्यात्वविनाशापत्तेस्त्रिवृत्त्वं नास्तीति मेधातिथिगोविन्दराजौ। वैश्यस्य शणसूत्रमयी। अत्र वैगुण्यमनुवर्तत एव। "त्रिगुणाः प्रदक्षिणा मेखला" इति सामान्येन प्रचेतसा त्रैगुण्याभिधानात्।। ४२।।

ब्राह्मण की मेखला मूँज से बनी हुई, एक समान तीन लड़ों से युक्त, चिकनी, किन्तु क्षत्रिय की (मेखला) धनुष की प्रत्यञ्चा की तथा वैश्य की मेखला शण के तन्तुओं की बनानी चाहिए।। ४२।।

मुञ्जालाभे तु कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा।। ४३।।

कर्तव्या इति बहुवचननिर्देशाद्ब्रह्मचारित्रयस्य प्रकृतत्वान्मुख्यालाभे त्रिष्वप्यपेक्षायाः समात्वात्कौशादीनां च तिसृणां विधानान्मुञ्जाद्यलाभ इति बोद्धव्यम्। कर्तव्या इति बहुवचनमुपपन्नतरम्। भिन्नजातिसंबन्धितयेति ब्रुवाणस्य मेधातिथेरपि बहुवचनपाठः संमतः। मुञ्जाद्यलाभे ब्राह्मणादीनां त्रयाणां यथाक्रमं कुशादिभिस्तृणविशेषैर्मेखलाः कार्याः। त्रिगुणेनैकग्रन्थिना युक्तास्त्रिभिर्वा पञ्चभिर्वा। अत्र च वा शब्दनिर्देशाद्ग्रन्थीनां न विप्रादिभिः क्रमेण संबन्धः किंतु सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः। ग्रन्थिभेदश्चायं मुख्यामुख्यापेक्षासंभवाद्ग्रहीतव्यः।। ४३।।

किन्तु मूञ्ज आदि के उपलब्ध न होने पर (क्रमशः) कुश, अश्मन्तक तथा बल्वज के द्वारा, तीन लड़ों से निर्मित एक, तीन या पाँच गाँठों से युक्त बनानी चाहिए।। ४३।।

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत्।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम्।। ४४।।

यदीयविन्यासविशेषस्योपवीतसंज्ञा वक्ष्यति तद्धर्मिब्राह्मणस्य कार्पासम्, क्षत्रियस्य शणसूत्रमयम्, वैश्यस्य मेषलोमनिर्मितम्। त्रिवृदिति त्रिगुणं कृत्वा ऊर्ध्ववृतं दक्षिणावर्तितम्। एतच्च सर्वत्र संबध्यते। यद्यपि गुणत्रयमेवोर्ध्ववृतं मनुनोक्तं तथापि

तन्त्रिगुणीकृत्य त्रिगुणं कार्यम्। तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे—"ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्। त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते।। " देवलोऽप्याह— "यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नवतन्तवः"।। ४४।।

कपास द्वारा बना हुआ ब्राह्मण का, शण के तन्तुओं से निर्मित क्षत्रिय का तथा ऊन से बना हुआ वैश्य (ब्रह्मचारी) का यज्ञोपवीत, ऊपर की ओर बँटा हुआ, तीन लड़ों से युक्त होना चाहिए।। ४४।।

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः।। ४५।।

यद्यपि द्वन्द्वनिर्देशेन समुच्चयावगमाद्धारणमपि समुच्चितस्यैव प्राप्तं तथापि 'केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्य" (अ० २ श्लो० ४६) इति, तथा " प्रतिगृह्येप्सितं दण्डम्" (अ० २ श्लो० ४८) इति विधावेकत्वस्य विवक्षितत्वात् "बैल्वः पालाशो वा दण्ड" इति वासिष्ठे विकल्पदर्शनादेकस्यैव दण्डस्य धारण-विकल्पितयोरेवैकब्राह्मणसंबन्धात्समुच्चयो द्वन्द्वेनानूद्यते। ब्राह्मणादयो विकल्पेन द्वौ द्वौ दण्डौ वक्ष्यमाणकार्ये कर्तुमर्हन्ति।। ४५।।

धर्म के अनुसार ब्राह्मण बेल या पलाश वृक्ष की लकड़ी से निर्मित, क्षत्रिय वट अथवा खैर की लकड़ी के और वैश्य पीलू या गूलर के वृक्ष के काष्ठ से निर्मित दण्ड को धारण करने में समर्थ हैं।। ४५।।

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः।। ४६।।

केशललाटनासिकापर्यन्तपरिमाणक्रमेण ब्राह्मणादीनां दण्डाः कर्तव्याः।। ४६।।

ब्राह्मण ब्रह्मचारी का दण्ड केशों तक, क्षत्रिय का मस्तक तक तथा वैश्य का नासिका तक लम्बा होना चाहिए।। ४६।।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः।। ४७।।

ये दण्डाः अव्रणा अक्षताः शोभनदर्शनाः सवल्कला अग्निदाहरहिता भवेयुः।। ४७।।

किन्तु ये सभी दण्ड सीधे, छिद्ररहित, देखने में सुन्दर, लोगों को उद्वेग उत्पन्न न करने वाले, छाल से युक्त तथा अग्नि से जले हुए नहीं होने चाहिएँ।। ४७।।

नच तैः प्राणिजातमुद्वेजनीयमित्याह—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्निं चरेद्भैक्षं यथाविधि।। ४८।।

उक्तलक्षणं प्राप्तुमिष्टं दण्डं गृहीत्वा आदित्याभिमुखं स्थित्वाग्निं प्रदक्षिणीकृत्य यथाविधि भैक्षं याचेत्।। ४८।।

अपने अभीष्ट दण्ड को लेकर, सूर्य का उपस्थान तथा अग्नि की प्रदक्षिणा करके, विधिपूर्वक भिक्षा प्राप्त करने के लिए विचरण करना चाहिए।। ४८।।

भवत्पूर्वं चरेद्भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम्।। ४९।।

ब्राह्मणो भवति भिक्षां देहीति भवच्छब्दपूर्वं भिक्षां याचन्वाक्यमुच्चारयेत्। क्षत्रियो भिक्षां भवति देहीति भवन्मध्यम्। वैश्यो भिक्षां देहि भवतीति भवदुत्तरम्।। ४९।।

उपनयन संस्कार किया हुआ श्रेष्ठ ब्राह्मण (ब्रह्मचारी) 'भवत्' शब्द का पहले, क्षत्रिय 'भवत्' शब्द का मध्य में, जबकि वैश्य 'भवत्' का अन्त में उच्चारण करके भिक्षाटन का आचरण करे।। ४९।।

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत्।। ५०।।

उपनयनाङ्गभूतां भिक्षां प्रथमं मातरं भगिनीं वा मातुर्वा भगिनीं सहोदरां याचेत् या चैनं ब्रह्मचारिणं प्रत्याख्यानेन नावमन्येत। पूर्वासंभव उत्तरापरिग्रहः।। ५०।।

सबसे पहले अपनी माता से अथवा बहन से या माता की बहन से भिक्षा की याचना करे तथा जो इसका तिरस्कार न करें।। ५०।।

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः।। ५१।।

तद्भैक्षं बहुभ्य आहृत्य यावदन्नं तृप्तिमात्रोचितं गुरवे निवेद्य निवेदनं कृत्वा अमायया न कदन्नैन सदन्नं प्रच्छाद्यैवमेतदुरुर्ग्रहीष्यतीत्यादिमायाव्यतिरेकेण तदनुज्ञात आचमनं कृत्वा शुचिः सन् भुञ्जीत प्राङ्मुखः।। ५१।।

किन्तु उस भिक्षा में जितना भी अन्न हो, उसे लाकर शुद्धमन से गुरु को निवेदन करके, आचमन करके पवित्र हुए ब्रह्मचारी को, पूर्व दिशा की ओर मुख करके (स्वयं भी) खाना चाहिए।। ५१।।

इदानीं काम्यभोजनमाह—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः।।५२।।
(सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम्।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः।। ६।।)

आयुषो हितमन्नं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते। आयुःकामः प्राङ्मुखो भुङ्क्त इत्यर्थः। यशसे हितं दक्षिणामुखः। श्रियमिच्छन्प्रत्यङ्मुखः। ऋतं सत्यं तत्फलमिच्छन्नुदङ्मुखो भुञ्जीत।। ५२।।

आयु को चाहने वाला पूर्व को ओर मुख करके भोजन करता है। यश चाहने वाला दक्षिण की ओर मुख करके (खाता है)। लक्ष्मी का इच्छुक पश्चिम की ओर मुख करके भोजन करता है तथा सत्य के फल को प्राप्त करने का इच्छुक उत्तर की ओर मुख करके खाना खाता है।। ५२।।

(द्विजातियों के प्रातःकालिक एवं सायंकालिक भोजन का विधान स्मृतियों में वर्णित है। बीच में भोजन नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह विधि अग्निहोत्र के समान (पुण्य प्रदान करने वाली) है।। ६।।)

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्।। ५३।।

'निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य' (अ० २ श्लो० ५१) इति यद्यपि भोजनात्प्रागाचमनं विहितं तथाप्यद्भिः खानि च संस्पृशेदिति गुणविधानार्थोऽनुवादः। नित्यं ब्रह्मचर्यानन्तरमपि द्विज आचम्यान्नं भुञ्जीत। समाहितोऽनन्यमनाः भुक्त्वा चाचामेदिति। सम्यग्यथाशास्त्रम्। तेन "प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्" इत्यादि दक्षाद्युक्तमपि संगृह्णाति। जलेन खानीन्द्रियाणि षट् छिद्राणि च स्पृशेत्, तानि च शिरःस्थानि घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि ग्रहीतव्यानि। "खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि" इति गोतमवचनात्। उपस्पर्शनं कृत्वा खानि संस्पृशेदिति पृथग्विधानान्त्रिरब्भक्षणमात्रमाचमनम्, खस्पर्शनादिकमितिकर्तव्यतेति दर्शितम्।। ५३।।

द्विज को हमेशा आचमन करके एकाग्रचित्त होकर अन्न का भक्षण करना चाहिए तथा खाकर जल द्वारा (फिर से) भलीप्रकार आचमन करे और इन्द्रियों का स्पर्श करे।। ५३।।

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः।। ५४।।

सर्वदा अन्नं पूजयेत्प्राणार्थत्वेन ध्यायेत्। तदुक्तमादिपुराणे "अन्नं विष्णुः स्वयं प्राह" इत्यनुवृत्तौ "प्राणार्थं मां सदा ध्यायेत्स मां संपूजयेत्सदा। अनिन्दंश्चैतदद्यात्तु दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च।" इति। हेत्वन्तरमपि खेदमन्नदर्शनेन त्यजेत्। प्रतिनन्देत् नित्यमस्माकमेतदस्त्वित्यभिधाय वन्दनं प्रतिनन्दनम्। तदुक्तमादिपुराणे—"अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः। अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत्।। " सर्वशः सर्वमन्नम्।। ५४।।

भोजन की हमेशा पूजा करनी चाहिए तथा बिना बुराई किए ही इसे खाना चाहिए तथा भोजन को देखकर आनन्दित एवं प्रसन्न होना चाहिए। इसप्रकार सभीतरह से इसका अभिनन्दन करना चाहिए।। ५४।।

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद्भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्।। ५५।।

यस्मात्पूजितमन्नं सामर्थ्यं वीर्यं च ददाति। अपूजितं पुनरेतदुभयं नाशयति। तस्मात्सर्वदाऽन्नं पूजयेदिति पूर्वेणैकवाक्यतापन्नमिदं फलश्रवणम्। संध्यावन्दनादावुपात्त-दुरितक्षयवन्नित्यं कामनाविषयत्वेनापि नित्यश्रुतिरविहता नित्यश्रुतिविरोधात्। फलश्रवणं स्तुत्यर्थमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ।। ५५।।

पूजा किया हुआ अन्न हमेशा ही बल एवं ऊर्जा प्रदान करता है, किन्तु निरादर करके खाया हुआ वही, इन दोनों (बल तथा ऊर्जा) को नष्ट कर देता है।। ५५।।

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा।
नचैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्।। ५६।।

भुक्तावशेषं कस्यचिन्न दद्यात्। चतुर्थ्यां प्राप्तायां संबन्धमात्रविवक्षया षष्ठी। अनेनैव सामान्यनिषेधेन शूद्रस्याप्युच्छिष्टदाननिषेधे सिद्धे "नोच्छिष्टं च हविष्कृतम्" इति शूद्रगोचरनिषेधश्चातुर्थः स्नातकव्रतत्वार्थः। दिवासायं भोजनयोश्च मध्ये न भुञ्जीत वारद्वयेऽप्यतिभोजनं न कुर्यान्नातिसौहित्यमाचरेदिति चातुर्थं स्नातकव्रतार्थम्। उच्छिष्टः सन् क्वचिन्न गच्छेत्।। ५६।।

किसी को झूठा भोजन नहीं देना चाहिए, न खाना चाहिए तथा बीच में भी नहीं रखना चाहिए, न ही अत्यधिक मात्रा में भोजन करना चाहिए तथा झूठे मुँह कहीं जाना भी नहीं चाहिए।। ५६।।

अतिभोजने दोषमाह—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्।। ५७।।

अरोगो रोगाभावस्तस्मै हितमारोग्यं आयुषे हितमायुष्यम्। यस्मादतिभोजनमनारोग्यमनायुष्यं च भवति अजीर्णजनकत्वेन रोगमरणहेतुत्वात्। अस्वर्ग्यं च स्वर्गहेतुयागादिविरोधित्वात्। अपुण्यमितरपुण्यप्रतिपक्षत्वात्। लोकविद्विष्टं बहुभोजितया लोकैर्निन्दनात्। तस्मात्तन्न कुर्यात्।। ५७।।

अत्यधिक भोजन आरोग्य का विनाश करने वाला, आयु को कम करने वाला, स्वर्गप्राप्ति में बाधक, पुण्यों का नाशक तथा समाज में निन्दा कराने वाला (होता है)। इसलिए उसका परित्याग कर देना चाहिए।। ५७।।

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन।। ५८।।

ब्राह्मादिसंज्ञेयं शास्त्रे संव्यवहारार्था स्तुत्यर्था च। न तु मुख्यं ब्रह्मदेवताकत्वं संभवति। अयागरूपत्वात्। तीर्थशब्दोऽपि पावनगुणयोगाद्ब्राह्मेण तीर्थेन सर्वदा विप्रादिराचामेत्। कः प्रजापतिस्तदीयः, "तस्येदम्" (पा० सू० ४/३/१२०) इत्यण् इकारश्चान्तादेशः। त्रैदशिको देवस्ताभ्यां वा। पित्र्येण तु तीर्थेन न कदाचिदाचामेत्। अप्रसिद्धत्वात्।। ५८।।

ब्राह्मण को हमेशा ब्राह्मतीर्थ से या प्राजापत्य अथवा देवतीर्थ से आचमन करना चाहिए। उसे कभी भी पित्र्यतीर्थ से आचमन नहीं करना चाहिए।। ५८।।

ब्राह्मादितीर्थान्याह—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः।। ५९।।

अङ्गुष्ठमूलस्याधोभागे ब्राह्मं, कनिष्ठाङ्गुलिमूले कायं, अङ्गुलीनामग्रे दैवं, अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योर्मध्ये पित्र्यं तीर्थं मन्वादय आहुः यद्यपि कायमङ्गुलिमूले, तयोरध इत्यत्र चाङ्गुलिमात्रं श्रुतं तथापि स्मृत्यन्तराद्विशेषपरिग्रहः। तथाच याज्ञवल्क्यः—"कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च। प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात्।।" (अ० १ श्लो० १९)।। ५९।।

अंगूठे के मूल के नीचे ब्राह्मतीर्थ (कनिष्ठिका), अंगुली के नीचे कायतीर्थ, अग्रभाग में देवतीर्थ तथा उन दोनों (अंगूठे और तर्जनी) के नीचे पित्र्यतीर्थ कहा जाता है।। ५९।।

सामान्येनोपदिष्टस्याचमनस्यानुष्ठानक्रममाह—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च।। ६०।।

पूर्वं ब्राह्मादितीर्थेन जलगण्डूषत्रयं पिबेत्। अनन्तरं संवृत्यौष्ठाधरौ वारद्वयमङ्गुष्ठमूलेन संमृज्यात्।" संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्" इति दक्षेण विशेषाभिधानात्। खानि चेन्द्रियाणि जलेन स्पृशेत्। मुखस्य सन्निधानान्मुखखान्येव। गोतमोऽप्याह— "खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि"। "हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" बृह० ४/३/७) इत्युपनिषत्सु हृदयदेशत्वेनात्मनः श्रवणादात्मानं हृदयं शिरश्चाद्भिरेव स्पृशेत्।। ६०।।

जल से पहले तीन बार आचमन करना चाहिए। उसके पश्चात् दो बार मुख को भी धोना चाहिए तथा जलों से इन्द्रियों, हृदय तथा शिर का भी स्पर्श करना चाहिए।। ६०।।

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः।। ६१।।

अनुष्णीकृताभिः फेनवर्जिताभिर्ब्राह्मादितीर्थेन शोचमिच्छन्नेकान्ते जनैरनाकीर्णे शुचिदेश इत्यर्थः। प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा सर्वदाचामेत्। आपस्तम्बेन "तप्ताभिश्च कारणात्" इत्यभिधानाव्द्याध्यादिकारणव्यतिरेकेण नाचामेत्। व्याध्यादौ तु उष्णीकृताभिरप्याचमने दोषाभावः। तीर्थव्यतिरेकेणाचमने शौचाभाव इति दर्शयितुमुक्तस्यापि तीर्थस्य पुनर्वचनम्।। ६१।।

पवित्रता को चाहने वाले धर्मज्ञ व्यक्ति को एकान्त में पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके, (बताए गए) तीर्थ से शीतल तथा झागरहित जलों के द्वारा ही सदा आचमन करना चाहिए।। ६१।।

आचमनजलपरिमाणमाह—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः।। ६२।।

ब्राह्मणो हृदयगामिनीभिः, क्षत्रियः कण्ठगामिनीभिः, वैश्योऽन्तरास्यप्रविष्टाभिः कण्ठमप्राप्ताभिरपि, शूद्रो जिह्वौष्ठान्तेनापि स्पृष्टाभिरद्भिः पूतो भवति। अन्तत इति तृतीयार्थे तसिः।। ६२।।

ब्राह्मण हृदय तक पहुँचे हुए, जबकि क्षत्रिय कण्ठ तक गए हुए, वैश्य मुख तक गए हुए तथा शूद्र अन्त तक स्पर्श किए गए जलों द्वारा ही शुद्ध होता है।। ६२।।

आचमनाङ्गतामुपवीतस्य दर्शयितुमुपवीतलक्षणं ततः प्रसङ्गेन प्राचीनावीतीत्यादि-लक्षणमाह—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।
सव्ये प्राचीनआवीती निवीती कण्ठसज्जने।। ६३।।

दक्षिणे पाणावुद्धृते वामस्कन्धस्थिते दक्षिणस्कन्धावलम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे वोपवीती द्विजः कथ्यते। वामपाणावुद्धृते दक्षिणस्कन्धस्थिते वामस्कन्धावलम्बे प्राचीनावीती भण्यते। सव्ये प्राचीनआवीतीति छन्दोऽनुरोधादुक्तम्। तथाच गोभिलः—"दक्षिण बाहुमृद्धृत्य शिरोऽवधाय सव्येंऽसे प्रतिष्ठापयति दक्षिणस्कन्धम- वलम्बनं भवत्येवं यज्ञोपवीती भवति"। सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणेंऽसे प्रतिष्ठापयति सव्यं कक्षमवलम्बनं भवत्येवं प्राचीनावीती भवति। निवीती कण्ठसज्जन इति शिरोवधाय दक्षिणपाण्यादावप्यनुद्धृते कण्ठादेव सज्जन ऋजुप्रालम्बे यज्ञसूत्रे वस्त्रे च निवीती भवति।। ६३।।

दाहिने हाथ को उठाकर (यज्ञोपवीत) धारण करने पर द्विज 'उपवीती', बाएँ हाथ को उठाकर ग्रहण करने पर 'प्राचीन -आवीती' तथा कण्ठ में लटकाने पर 'निवीती' कहलाता है।। ६३।।

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम्।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीतान्यानि मन्त्रवत्।। ६४।।

मेखलादीनि विनष्टानि भिन्नानि छिन्नानि च जले प्रक्षिप्यान्यानि स्वस्वगृह्योक्त-मन्त्रैर्गृह्णीयात्।। ६४।।

विनष्ट हुए मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत, कमण्डलु, जल में फेंककर दूसरे मन्त्रोच्चारणपूर्वक ग्रहण करने चाहियें।। ६४।।

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः।। ६५।।

केशान्ताख्यो गृह्योक्तसंस्कारो "गर्भादिसंख्या वर्षाणाम्" इति बौधायनवचना-द्गर्भषोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य गर्भद्वाविंशे, वैश्यस्य ततो द्व्यधिके गर्भचतुर्विंशे कर्तव्यः।। ६५।।

ब्राह्मण का केशान्तसंस्कार सोलहवें वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें वर्ष में तथा उससे भी दो वर्ष अधिक (चौबीसवें वर्ष) में वैश्य का केशान्तसंस्कार किया जाता है।। ६५।।

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्।। ६६।।

इयमावृदयं जातकर्मादिक्रियाकलापः समग्र उक्तकालक्रमेण शरीरसंस्कारार्थं स्त्रीणाममन्त्रकः कार्यः।। ६६।।

स्त्रियों की ये सभी संस्कार आदि क्रियाएँ तो शास्त्रोक्त समय में, शास्त्रोक्त क्रम से केवल संस्कार की दृष्टि से वेद मन्त्रोच्चारण के बिना करने चाहिये।। ६६।।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः[1] स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।। ६७।।
(अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनं इति कर्म च वैदिकम्।। ७।।)

अनेनोपनयनेऽपि प्राप्ते विशेषमाह—

विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः। पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययनरूपः। गृहकृत्यमेव सायंप्रातः समिद्धोम-रूपोऽग्निपरिचर्या। तस्माद्विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृतिरिति।। ६७।।

स्त्रियों की विवाह सम्बन्धी विधि ही वैदिकसंस्कार, पति की सेवा ही गुरुकुल में निवास तथा गृहकार्यों का (दक्षतापूर्वक) सम्पादन ही यज्ञ का अनुष्ठान माना गया है।। ६७।।

(पत्नी को प्रतिदिन अग्निहोत्र की सेवा, सायंकाल पति के कार्यों में सहयोग करना चाहिए। यही उनका वैदिककर्म है।। ७।।)

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत।। ६८।।

औपनायनिक इत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः। अयं द्विजातीनामुपनयनसंबन्धी कर्मकलाप उक्तः उत्पत्तेर्द्वितीयजन्मनो व्यञ्जकः।। ६८।।

यह द्विजातियों की उत्पत्ति की व्यञ्जक एवं पवित्र उपनयन संस्कार की विधि का कथन किया गया। अब (आप लोग) कर्मयोग को समझो।। ६८।।

इदानीमुपनीतस्य येन कर्मणा योगस्तं श्रृणुतेत्याह—

उपनीय गुरुःशिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च।। ६९।।

---

१. राघवानन्दस्तु "वैदिकः स्मृतः" इत्यत्र "औपनायनिकस्स्मृतः" इति पठति, उपनयन संस्कार स्थानीय इति निर्वक्ति।

गुरुः शिष्यमुपनीय प्रथमम् "एका लिङ्गे गुदे तिस्रः" (अ० ५ श्लो० १३६) इत्यादि वक्ष्यमाणं शौचं स्नानाचमनाद्याचारमग्नौ सायंप्रातः समिद्धोमानुष्ठानं समन्त्रकसंध्योपासनविधिं च शिक्षयेत्।। ६९।।

शिष्य का उपनयन संस्कार करके गुरु को सबसे पहले उसे पवित्रता, आचार तथा यज्ञविषयक कार्यों एवं सन्ध्योपासना की ही शिक्षा देनी चाहिए।। ६९।।

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः।। ७०।।

अध्ययनं करिष्यमाणः शिष्यो यथाशास्त्रं कृताचमन उत्तराभिमुखः कृताञ्जलिः पवित्रवस्त्रः कृतेन्द्रियसंयमो गुरुणा अध्याप्यः। "प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदयङ्मुखो वा" इति गोतमवचनात्प्राङ्मुखस्याप्यध्ययनम्। ब्रह्माञ्जलिकृत इति " वाहिताग्न्यादिषु" (पा० सू० २/२/३७) इत्यनेन कृतशब्दस्य परनिपातः।। ७०।।

शास्त्रोक्त विधि द्वारा आचमन किया हुआ, उत्तर दिशा की ओर मुख करके बैठा, ब्रह्माञ्जलि किए हुए, हल्के वस्त्र धारण करने वाला, जितेन्द्रिय तथा अध्ययन करने का इच्छुक (शिष्य ही) अध्यापन करने योग्य होता है।। ७०।।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः।। ७१।।

वेदाध्ययनस्यारम्भे कर्तव्ये समापने च कृते गुरोः पादोपसंग्रहणं कर्तव्यम्। हस्तौ संहत्य संश्लिष्टौ कृत्वाध्येतव्यं स एव ब्रह्माञ्जलिः स्मृत इति पूर्वश्लोकोक्तब्रह्माञ्जलिशब्दार्थव्याकारः।। ७१।।

वेद के अध्ययन के आरम्भ और अन्त में सदैव गुरु के दोनों चरणों का स्पर्श करना चाहिए, साथ ही हाथ जोड़कर अध्ययन करना चाहिए, यही ब्रह्माञ्जलि कही गयी है।। ७१।।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः।। ७२।।

पादोसंग्रहणं कार्यमित्यनन्तरमुक्तं तद्व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति विधीयते। कीदृशो व्यत्यासः कार्य इत्यत आह-सव्येन पाणिना सव्यः पादो दक्षिणेन पाणिना दक्षिणः पादो गुरोः स्प्रष्टव्यः। उत्तानहस्ताभ्यां चेदं पादयोः स्पर्शनं कार्यम्। यदाह पैठीनसिः—"उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्। दक्षिणोपरिभावेन व्यत्यासो वायं शिष्टसमाचारात्"।। ७२।।

गुरु का चरण-वन्दन परस्पर विपरीत हाथों द्वारा करना चाहिए अर्थात् बाएँ हाथ से बायाँ पैर तथा दाहिने हाथ से दाहिना पैर स्पर्श करना चाहिए।। ७२।।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत्।। ७३।।

अध्ययनं करिष्यमाणं शिष्यं सर्वदा अनलसो गुरुरधीष्व भो इति प्रथमं वदेत्। शेषे विरामोऽस्त्वित्यभिधाय विरमेन्निवर्तेत।। ७३।।

जबकि आलस्यरहित गुरु को हमेशा अध्ययन करने की इच्छा वाले शिष्य को -'अरे! अध्ययन करो।' इसप्रकार कहना चाहिए तथा अब 'विराम होवे' इस प्रकार कहकर रुक जाना चाहिए।। ७३।।

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति।। ७४।।

ब्रह्मणो वेदस्याध्ययनारम्भे अध्ययनसमाप्तौ चोंकारं कुर्यात् यस्मात्पूर्वं यस्योऽङ्कारो न कृतस्तत्स्रवति शनैः शनैर्नश्यति। यस्य पुरस्तान्न कृतस्तद्विशीर्यति अवस्थितिमेव न लभते।। ७४।।

वेद के अध्ययन के प्रारम्भ में तथा अन्त में हमेशा 'ओ३म्' का उच्चारण करना चाहिए। ओंकार का उच्चारण न करने पर पहले पढ़ा हुआ पाठ नष्ट हो जाता है तथा बाद का याद नहीं रहता है।। ७४।।

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति।। ७५।।

प्राक्कूलान्प्रागग्रान्दर्भानध्यासीनः पवित्रैः कुशैः करद्वयस्थैः पवित्रीकृतः "प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः" इति गोतमस्मरणात्पञ्चदशमात्रैस्त्रिभिः प्राणायामैः प्रयतः। अकारादिलघ्वक्षरकालश्च मात्रा। ततोऽध्ययनार्थमोंकारमर्हति।। ७५।।

पूर्व की ओर निकली हुई नोकों वाले कुशासन पर बैठा हुआ तथा पवित्र कुशाओं से पवित्र किया हुआ, तीन प्राणायामों से पवित्र होने के पश्चात् ही व्यक्ति ओंकार के उच्चारण का अधिकारी होता है।। ७५।।

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च।। ७६।।

"एतदक्षरमेतां च" (अ० २ श्लो० ४४) इति वक्ष्यति तस्यायं शेषः।

अकारमुकारं मकारं च प्रणवावयवभूतं ब्रह्मा वेदत्रयादृग्यजुःसामलक्षणाद्भूर्भुवः स्वरिति व्याहृत्तित्रयं च क्रमेण निरदुहदुद्धृतवान्।। ७६।।

अकार, उकार और मकार को तथा भूः, भुवः, स्वः तीनों व्याहृतियों को प्रजापति ने (क्रमशः ऋक्, यजुः, साम) इन तीन वेदों से दोहन किया है।।७६।।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः।। ७७।।

तथा त्रिभ्य एव वेदेभ्य ऋग्यजुःसामभ्यः तदित्यृच इति प्रतीकेनानूदितायाः सावित्र्याः पादं पादमिति त्रीन्पादान्ब्रह्मा चकर्ष। परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी।।७७।।

परमेष्ठी प्रजापति ने तीनों वेदों से ही 'तत्' इत्यादि इस सावित्री मन्त्र के प्रत्येक पाद का दोहन किया।। ७७।।

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते।। ७८।।

एतदक्षरमोंकाररूपम्, एतां च त्रिपदां सावित्रीं व्याहृतित्रयपूर्विकां संध्याकाले जपन्वेदज्ञो विप्रादिर्वेदत्रयाध्ययनपुण्येन युक्तो भवति। अतः संध्याकाले प्रणवव्याहृतित्रयोपेतां सावित्रीं जपेदिति विधिः कल्प्यते।। ७८।।

वेदों को जानने वाला ब्राह्मण इस ओंकार अक्षर तथा (तीनों) व्याहृतियों का पूर्व में प्रयोग करके, इस सावित्री मन्त्र को दोनों संध्याओं में जपता हुआ वेद-पाठ के पुण्य से युक्त हो जाता है।। ७८।।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते।। ७९।।

संध्यायामन्यत्र काल एतत्प्रकृतं प्रणवव्याहृतित्रयसावित्र्यात्मकं त्रिकं ग्रामाद्बहिर्नदीतीरारण्यादौ सहस्रावृत्तिं जपित्वा महतोऽपि पापात्सर्प इव कंचुकान्मुच्यते। तस्मात्पापक्षयार्थमिदं जपनीयमित्यप्रकरणेऽपि लाघवार्थमुक्तम्। अन्यत्रैतन्त्रयोच्चा-रणमपि पुनः कर्तव्यं स्यात्।। ७९।।

द्विज वर्ण का व्यक्ति इस त्रिक (ऊँ + भूः भुवः स्वः + तत् सवितुः......) को नगर से बाहर एक हजार बार अभ्यास करके, बड़े से बड़े पाप से भी सर्प की केंचुली के समान एक माह में मुक्त हो जाता है।। ७९।।

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविट्योनिर्गर्हणां याति साधुषु।। ८०।।

संध्यायामन्यत्र समय ऋचैतया सावित्र्या विसंयुक्तस्त्यक्तसावित्रीजपः स्वकीयया क्रियया सायंप्रातर्होमादिरूपया स्वकाले त्यक्तो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्योऽपि सज्जनेषु निन्दां गच्छति। तस्मात्स्वकाले सावित्रीजपं स्वक्रियां च न त्यजेत्।। ८०।।

इस सावित्री ऋचा से तथा समय पर की जाने वाली अपनी यज्ञादि नित्य क्रियाओं से वियुक्त हुआ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति सज्जनों में निन्दा को प्राप्त होता है।। ८०।।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।। ८१।।

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो व्याहृतयो भूर्भुवःस्वरित्येता अक्षरब्रह्मावाप्तिफलत्वेनाव्ययाः त्रिपदा च सावित्री ब्रह्मणो वेदस्य मुखमाद्यम्। तत्पूर्वकवेदाध्ययनारम्भात्। अथवा ब्रह्मणः परमात्मनः प्राप्तेर्द्वारमेतत्। अध्ययनजपादिना निष्पापस्य ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण मोक्षावाप्तेः।। ८१।।

जिसके पूर्व में ओंकार का प्रयोग हुआ है ऐसी, कभी नष्ट न होने वाली, तीन महाव्याहृतियों तथा तीन पाद वाली सावित्री को ही, वेद का मुख समझना चाहिए।। ८१।।

अत एवाह—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्।। ८२।।

यः प्रत्यहमनलसः सन्सावित्रीं प्रणवव्याहृतियुक्तां वर्षत्रयमधीते स परं ब्रह्माभिमुखेन गच्छति। स वायुभूतो वायुरिव कामचारी जायते। खं ब्रह्म तदेवास्य मूर्तिरिति खमूर्तिमान् भवति शरीरस्यापि नाशाद्ब्रह्मैव संपद्यते।। ८२।।

आलस्यरहित जो व्यक्ति प्रतिदिन तीन वर्षों तक इन (प्रणव व्याहृति युक्त-सावित्री) का अध्ययन करता है, वह ब्रह्मस्वरूप वायु के समान होकर परमब्रह्म को प्राप्त करता है।। ८२।।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते।। ८३।।

एकाक्षरमोंकारः परं ब्रह्म परब्रह्मावाप्तिहेतुत्वात्। ओंकारस्य जपेन तदर्थस्य च परब्रह्मणो भावनया तदवाप्तेः। प्राणायामाः सप्रणवसव्याहृतिसशिरस्कगायत्री-भिस्त्रिरावृत्तिभिः कृताश्चान्द्रायणादिभ्योऽपि परं तपः। प्राणायाम इति बहुवचन-

निर्देशास्त्रयोऽवश्यं कर्तव्या इत्युक्तम्। सावित्र्याः प्रकृष्टमन्यन्मन्त्रजातं नास्ति। मौनादपि सत्यं वाग्विशिष्यते। एषां चतुर्णां स्तुत्या चत्वार्येतान्युपासनीयानीति विधिः कल्प्यते। धरणीधरेण तु "एकाक्षरपरं ब्रह्म प्राणायामपरं तपः" इति पठितं व्याख्यातं च एकाक्षरं परं यस्य तदेकाक्षरपरं एवं प्राणायामपरमिति। मेधातिथिप्रभृतिभिर्वृद्धैरलिखितं यतः। लिखनात्पाठान्तरं तत्र स्वतन्त्रो धरणीधरः।। ८३।।

एक अक्षर वाला 'ओम्' परमब्रह्म है, प्राणायाम परमतप है तथा सावित्री से बढ़कर तो कुछ भी नहीं है एवं मौन की अपेक्षा सत्य (बोलना) विशिष्ट है।। ८३।।

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजतिक्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः।। ८४।।

सर्वा वेदविहिता होमयागादिरूपाः क्रियाः स्वरूपतः फलतश्च विनश्यन्ति। अक्षरं तु प्रणवरूपमक्षयं ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वात्फलद्वारेणाक्षरं ब्रह्मीभावस्याविनाशात्। कथमस्य ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वमत आह, ब्रह्म चैवेति। चशब्दो हेतौ। यस्मात्प्रजानामधिपतिर्यद्ब्रह्मतदेवायमोंकारः। स्वरूपतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन चास्य ब्रह्मत्वम्। उभयथापि ब्रह्मत्व प्रतिपादकत्वेन वायमुपासितो जपकाले मोक्षहेतुरित्यनेन दर्शितम्।। ८४।।

सभी होम, यज्ञ आदि वैदिकक्रियाएँ क्षीण हो जाती हैं, किन्तु ओंकार को तो अविनाशी ही समझना चाहिए, क्योंकि यही प्रजाओं का अधिपति ब्रह्म है।। ८४।।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः।। ८५।।

विधिविषयो यज्ञो विधियज्ञो दर्शपौर्णमासादिस्तस्मात्प्रकृतानां प्रणवादीनां जपयज्ञो दशगुणाधिकः। सोऽप्युपांशुश्चेदनुष्ठितस्तदा शतगुणाधिकः। यत्समीपस्थोऽपि परो न शृणोति तदुपांशु। मानसस्तु जपः सहस्रगुणाधिकः। यत्र जिह्वौष्ठं मनागपि न चलति स मानसः।। ८५।।

विधियज्ञ की अपेक्षा जपयज्ञ दस गुना श्रेष्ठ होता है, उपांशु जप सौ गुना उत्तम है, (जबकि) मानसजप हजार गुना श्रेष्ठ माना गया है।। ८५।।

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।। ८६।।

ब्रह्मयज्ञादन्ये ये पञ्चमहायज्ञान्तर्गता वैश्वदेवहोमबलिकर्मनित्यश्राद्धातिथि-

भोजनात्मकाश्चत्वारः पाकयज्ञाः विधियज्ञा दर्शपौर्णमासादयस्तैः सहिता जपयज्ञस्य षोडशीमपि कलां न प्राप्नुवन्ति। जपयज्ञस्य षोडशांशेनापि न समा इत्यर्थः।। ८६।।

विधियज्ञ से युक्त जो चार पाकयज्ञ हैं, वे सभी जपयज्ञ के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।। ८६।।

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रौ ब्राह्मण उच्यते।। ८७।।

ब्राह्मणो जप्येनैव निःसंदेहां सिद्धिं लभते मोक्षप्राप्तियोगयो भवति। अन्यद्वैदिकं यागादिकं करोतु न करोतु वा। यस्मान्मैत्रो ब्राह्मणो ब्रह्मणः संबन्धी ब्रह्मणि लीयत इत्यागमेषूच्यते मित्रमेव मैत्रः। स्वार्थेऽण्। यागादिषु पशुबीजादिवधान्न सर्वप्राणिप्रियता संभवति तस्माद्यागादिना विनापि प्रणवादिजपनिष्ठो निस्तरतीति जपप्रशंसा नतु यागादीनां निषेधस्तेषामपि शास्त्रीयत्वात्।। ८७।।

ब्राह्मण अन्य कुछ करे अथवा न करे, उसे तो जप द्वारा ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस विषय में लेशमात्र भी संशय नहीं है। इसीलिए वह मैत्र ब्राह्मण कहलाता है।। ८७।।

इदानीं सर्ववर्णानुष्ठेयं सकलपुरुषार्थोपयुक्तमिन्द्रियसंयममाह—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्।। ८८।।

इन्द्रियाणां विषयेष्वपहरणशीलेषु वर्तमानानां क्षयित्वादिविषयदोषाज्ञानन्संयमे यत्नं कुर्यात्सारथिरिव रथनियुक्तानामश्वानाम्।। ८८।।

विद्वान् व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करने वाले विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को घोड़ों के सारथि के समान नियन्त्रित करने का प्रयत्न करना चाहिए।। ८८।।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः।। ८९।।

पूर्वपण्डिता यान्येकादशेन्द्रियाण्याहुस्तान्यर्वाचां शिक्षार्थं सर्वाणि कर्मतो नामतश्च क्रमाद्वक्ष्यामि।। ८९।।

प्राचीन विद्वानों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों का कथन किया है (अब मैं आपसे) उनके उचित पौर्वापर्यक्रम का ठीकप्रकार से कथन करूँगा।। ८९।।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता।। ९०।।

तेष्वेकादशसु श्रोत्रादीनि दशैतानि बहिरिन्द्रियाणि नामतो निर्दिष्टानि। पायूपस्थं हस्तपादमिति ''द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'' पा० सू० २-४-२ इति प्राण्यङ्गद्वन्द्वत्वादेकवद्भावः।। ९०।।

श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और पाँचवी नासिका ही (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं) तथा गुदा, लिङ्ग, हाथ, पैर आदि तथा दसवीं वाणी ही (पाँच कर्मेन्द्रियाँ) कही गई हैं।। ९०।।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते।। ९१।।

एषां दशानां मध्ये श्रोत्रादीनि पञ्च क्रमोक्तानि बुद्धेः करणत्वाद्बुद्धीन्द्रियाणि पाय्वादीनि चोत्सर्गादिकर्मकरणत्वात्कर्मेन्द्रियाणि तद्विदो वदन्ति।। ९१।।

इनमें से श्रोत्र आदि क्रमशः पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा इनमें वायु आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं।। ९१।।

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ।। ९२।।

एकादशसंख्यापूरकं च मनोरूपमन्तरिन्द्रियं ज्ञातव्यम्। स्वगुणेन संकल्परूपेणोभयरूपेन्द्रियगणप्रवर्तकस्वरूपम्। अतएव यस्मिन्मनसि जिते उभावपि पञ्चकौ बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियगणौ जितौ भवतः। पञ्चकाविति ''तदस्य परिमाणम्'' (पा० सू० ५/१/५७) इत्यनुवृत्तौ ''संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु (पा० सू० ५/१/५८) इति पञ्चसंख्यापरिमितसंङ्घार्थे कः।। ९२।।

अपने गुणों के कारण उभयात्मक मन को ग्यारहवाँ मानना चाहिए । जिसके जीत लेने पर यह पाँच-पाँच का समुदाय जीत लिया जाता है।। ९२।।

मनोधर्मसंकल्पमूलत्वादिन्द्रियाणां प्रायेण प्रवृत्तेः किमर्थमिन्द्रियनिग्रहः कर्तव्य इत्यत आह—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।। ९३।।

यस्मादिन्द्रियाणां विषयेषु प्रसक्त्या दृष्टादृष्टं च दोषं निःसंदेहं प्राप्नोति। तान्येव पुनरिन्द्रियाणि सम्यङ्नियम्य सिद्धिं मोक्षादिपुरुषार्थयोग्यतारूपां लभते। तस्मादिन्द्रियसंयमं कुर्यादिति शेषः।। ९३।।

इन्द्रियों के विषयों के सान्निध्य से व्यक्ति निःसन्देह दोष को प्राप्त करता है, जबकि उन्हीं को भलीप्रकार नियन्त्रित करने के पश्चात् वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।। ९३।।

किमिन्द्रियसंयमेन विषयोपभोगादेरलब्धकामो निवर्त्स्यतीत्याशङ्क्याह—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।। ९४।।

न कदाचित्कामोऽभिलाषः काम्यन्त इति कामा विषयास्तेषामुपभोगेन निवर्तते, किंतु घृतेनाग्निरिवाधिकाधिकतममेव वर्धते। प्राप्तभोगस्यापि प्रतिदिनं तदधिकभोग-वाञ्छादर्शनात्। अतएव विष्णुपुराणे ययातिवाक्यम्—"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत्।। " तथा—"पूर्णं वर्षसहस्रं मे विषयसक्तचेतसः। तथाप्युनुदिनं तृष्णायत्तेष्वेव हि जायते"।। ९४।।

कामनाओं के उपभोग से इच्छा कभी भी शान्त नहीं होती है, किन्तु हवि द्वारा (बढ़ी हुई) अग्नि के समान और अधिक बढ़ती ही है।। ९४।।

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते।। ९५।।

य एतान्सर्वान्विषयान्प्राप्नुयाद्यश्चैतान्कामानुपेक्षते तयोर्विषयोपेक्षकः श्रेयांस्तस्मात्सर्वकामप्राप्तेस्तदुपेक्षा प्रशस्या। तथाहि विषयलोलुपस्य तत्साधनाद्युत्पादने कष्टसंभवो विपत्तौ च क्लेशातिशयो न तु विषयविरसस्य।। ९५।।

जो इन सभी कामनाओं को प्राप्त करता है तथा जो इन सबका केवल परित्याग करता है। सभी कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा, इनका परित्याग ही विशिष्ट होता है।। ९५।।

इदानीमिन्द्रियसंयमापायमाह—

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः।। ९६।।

एतानीन्द्रियाणि विषयेषु प्रसक्तानि तथा नासेवया विषयसन्निधिवर्जनरूपया नियन्तुं न शक्यन्ते दुर्निवारत्वात्। यथा सर्वदा विषयाणां क्षयित्वादिदोषज्ञानेन शरीरस्य चास्थिस्थूलमित्यादिवक्ष्यमाणदोषचिन्तनेन। तस्माद्विषयदोषज्ञानादिना बहिरिन्द्रियाणि मनश्च नियच्छेत्।। ९६।।

विषयों में प्रकृष्टरूप से लगी हुई इन इन्द्रियों का सेवन न करने से इन्हें उस

प्रकार ठीक तरह नहीं रोका जा सकता है, जिसप्रकार नित्य ज्ञान के माध्यम से रोका जा सकता है।। ९६।।

यस्मादनियमितं मनो विकरस्य हेतुः स्यादत आह—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्।। ९७।।

वेदाध्ययनदानयज्ञनियमतपांसि भोगादिविषयसेवासंकल्पशीलिनो न कदाचित्फल-सिद्धये प्रभवन्ति।। ९७।।

दूषित अभिप्राय वाले ब्राह्मण के वेद, त्याग, यज्ञ, नियम तथा तप कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते हैं।। ९७।।

जितेन्द्रियस्य स्वरूपमाह—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।। ९८।।

स्तुतिवाक्यं निन्दावाक्यं च श्रुत्वा, सुखस्पर्शं दुकूलादि दुःखस्पर्श मेषकम्बलादि स्पृष्ट्वा, सुरूपं कुरूपं च दृष्ट्वा, स्वादु अस्वादु च भुक्त्वा, सुरभिमसुरभिं च घ्रात्वा, यस्य न हर्षविषादौ स जितेन्द्रियो ज्ञातव्यः।। ९८।।

जो व्यक्ति सुनकर, स्पर्श करके, देखकर, खाकर तथा सूँघकर, न तो प्रसन्न होता है और न ही दुःखी होता है। उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिए।। ९८।।

एकेन्द्रियासंयमोऽपि निवार्यत इत्याह—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्।। ९९।।

सर्वेषामिन्द्रियाणां मध्ये यद्येकमपीन्द्रियं विषयप्रवणं भवति ततोऽस्य विषयपरस्य इन्द्रियान्तरैरपि तत्वज्ञानं क्षरति न व्यवतिष्ठते। चर्मनिर्मितोदकपात्रादिवैकेनापि छिद्रेण सर्वस्थानस्थमेवोदकं न व्यवतिष्ठते।। ९९।।

किन्तु सभी इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय भी अपने विषय की ओर आकर्षित हो जाती है। उससे इस व्यक्ति की बुद्धि चमड़े के पात्र से जल के समान विनष्ट हो जाती है।। ९९।।

इन्द्रियसंयमस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां दर्शयति—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम्।। १००।।

बहिरिन्द्रियगणमायत्तं कृत्वा मनश्च संयम्य सर्वान् पुरुषार्थान्सम्यक्साधयेत्। योगत उपायेन स्वदेहमपीडयन्यः सहजसुखी संस्कृतान्नादिकं भुङ्क्ते स क्रमेण तं त्यजेत्।। १००।।

(इसलिए) इन्द्रियों के समूह को वश में करके, मन को भलीप्रकार नियन्त्रित करके तथा योग द्वारा शरीर को सुरक्षित रखता हुआ व्यक्ति सभी प्रयोजनों को सिद्ध कर लेता है।। १००।।

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमार्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्।। १०१।।

पूर्वां संध्यां पश्चिमामिति च। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे (२।३।५) इति द्वितीया। प्रथमसंध्यां सूर्यदर्शनपर्यन्तं सावित्रीं जपंस्तिष्ठेत्। आसनादुत्थाय निवृत्तगतिरेकत्र देशे कुर्यात्। पश्चिमां तु संध्यां सावित्रीं जपन्सम्यङ्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तमुपविष्टः स्यात्। अत्र च फलवत्त्वाज्जपः प्रधानं स्थानासने त्वङ्गे। "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्यायात्। "संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते।" (अ० २ श्लो० ७८) "सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य" (अ० २ श्लो० ७९) इति च पूर्वं जपात्फलमुक्तम्। मेधातिथिस्तु स्थानासनयोरेव प्राधान्यमाह। संध्याकालश्च मुहूर्तमात्रम्। तदाह योगियाज्ञवल्क्यः—"ह्रासवृद्धी तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्। संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता"।। १०१।।

प्रातःकालीन सन्ध्या से सूर्यदर्शन पर्यन्त सावित्री का खड़ा होकर जप करे, किन्तु सायंकालीन संध्या में नक्षत्रों के ठीकप्रकार दिखायी देने तक बैठा हुआ ही जप का आचरण करे।। १०१।।

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्।। १०२।।

पूर्वसंध्यायां तिष्ठन् जपं कुर्वाणो निशासंचितं पापं नाशयति। पश्चिमसंध्यायां तूपविष्टो जपं कुर्वन्दिवार्जितं पापं निहन्ति। तत्रापि जपात्फलमुक्तम्। एतच्चाज्ञानादि-कृतपापविषयम्। अतएव याज्ञवल्क्यः—"दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति"।। १०२।।

प्रातःकाल की संध्या में जप करते हुए स्थित रहने पर व्यक्ति रात्रि में किए गए पापों को दूर करता है, जबकि सायंकालीन संध्या में स्थित हुआ वह, दिन में किए गए दोषों को विनष्ट करता है।। १०२।।

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः।। १०३।।

यः पुनः पूर्वसंध्यां नानुतिष्ठति पश्चिमां च नोपास्ते। तत्तत्कालविहितं जपादि न करोतीत्यर्थः। स शूद्र इव सर्वस्माद्द्विजातिकर्मणोऽतिथिसत्कारादेरपि बाह्यः कार्यः। अनेनैव प्रत्यवायेन संध्योपासनस्य नित्यतोक्ता। नित्यत्वेऽपि सर्वदापेक्षितपापक्षयस्य फलत्वमविरुद्धम्।। १०३।।

किन्तु जो व्यक्ति न तो प्रातःकालीन संध्या में जप का अनुष्ठान करता है तथा न ही सायंकालीन संध्या में उपासना करता है। शूद्र के समान वह सभी द्विजवर्णोचित कर्मों से बहिष्कार के योग्य है।। १०३।।

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः।। १०४।।

ब्रह्मयज्ञरूपमिदं बहुवेदाध्ययनाशक्तौ सावित्रीमात्राध्ययनमपि विधीयते। अरण्यादिनिर्जनदेशं गत्वा नद्यादिजलसमीपे नियतेन्द्रियः समाहितोऽनन्यमना नैत्यकं विधिंब्रह्मयज्ञरूपमास्थितोऽनुतिष्ठासुःसावित्रीमपि प्रणवव्याहृतित्रययुतां यथोक्ता-मधीयीत।। १०४।।

जंगल में जाकर, एकाग्रचित्त होकर जल के समीप स्थित होकर, नित्यकर्मों को विधिपूर्वक सम्पादित करता हुआ (व्यक्ति) सावित्री मन्त्र का भी चिन्तनपूर्वक जाप करे।। १०४।।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि।। १०५।।

वेदोपकरणे वेदाङ्गे शिक्षादौ नैत्यके नित्यानुष्ठेये च स्वाध्याये ब्रह्मयज्ञरूपे होममन्त्रेषु चानध्यायादरो नास्ति।। १०५।।

वेदाङ्गों में, नित्य किए जाने वाले स्वाध्याय में, होम के मन्त्रों में अनध्याय का आग्रह नहीं होता है।। १०५।।

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं　पुण्यमनध्यायवषट्कृतम्।। १०६।।

पूर्वोक्तनैत्यकस्वाध्यायस्यायमनुवादः। नैत्यके जपयज्ञेऽनध्यायो नास्ति। यतः सततभवत्वात्। ब्रह्मसत्रं तन्मन्वादिभिः स्मृतम्। ब्रह्मैवाहुतिर्ब्रह्माहुतिर्हविस्तस्यां हुतमनध्यायाध्ययनमध्ययनरूपमनध्यायवष्ट्कृतमपि पुण्यमेव भवति।। १०६।।

क्योंकि नित्यकर्मों में अनध्याय नहीं होता है। वस्तुतः उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है। अग्निहोत्रादि में भी किया गया अनध्याय तथा अनध्याय में भी किया गया वषट्कार पुण्यकारक ही होता है।। १०६।।

य स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु।। १०७।।

अब्दमित्यत्यन्तसंयोगे द्वितीया। यो वर्षमप्येकं स्वाध्यायमहरहर्विहिताङ्गयुक्तं नियतेन्द्रियः प्रयतो जपति तस्यैव स्वाध्यायो जपयज्ञः क्षीरादीनि क्षरति क्षीरादिभिर्देवान्पितृंश्च प्रीणाति। ते च प्रीताः सर्वकामैर्जपयज्ञकारिणस्तर्पयन्तीत्यर्थः। अतएव याज्ञवल्क्यः—"मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेद्द्विजः। पितॄन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम्।। " (अ० १ श्लो० ४१) इत्युपक्रम्य चतुर्णामेव वेदानां पुराणानां जपस्य च देवपितृतृप्तिफलमुक्त्वा शेषे "ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः" (अ० १ श्लो० ४७) इत्युक्तवान्।। १०७।।

जितेन्द्रिय जो व्यक्ति पवित्रतापूर्वक एक वर्ष पर्यन्त विधिपूर्वक वेदाध्ययन एवं जपयज्ञ का अनुष्ठान करता है। यह स्वाध्याय उसके लिए हमेशा ही दूध, दही, घी और मधु की वर्षा करता है।। १०७।।

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम्।
आ समावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः।। १०८।।

सायंप्रातः समिद्धोमं भिक्षासमूहाहरणमखट्वाशयनरूपामधःशय्यां नतु स्थण्डिलशायित्वमेव। गुरोरुदककुम्भाद्याहरणरूपं हितं कृतोपनयनो ब्रह्मचारी समावर्तनपर्यन्तं कुर्यात्।। १०८।।

उपनयन संस्कार किया गया द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) समावर्तन संस्कारपर्यन्त यज्ञ के लिए समिधाओं का लाना, भिक्षाटन, नीचे भूमिशयन तथा गुरु के हितविषयक कार्यों को करे।। १०८।।

कीदृशः शिष्योऽध्याप्य इत्याह—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः।। १०९।।

आचार्यपुत्रः, परिचारकः, ज्ञानान्तरदाता, धर्मवित्, मृद्वार्यादिषु शुचिः, बान्धवः, ग्रहणधारणसमर्थः, धनदाता, हितेच्छुः, ज्ञातिः, दशैतै धर्मेणाध्याप्याः।। १०९।।

गुरु का पुत्र, सेवा करने का इच्छुक, ज्ञानवान्, धर्मनिष्ठ, पवित्र, निश्छल,

विद्याग्रहण करने में समर्थ, धन देने वाला, सज्जन, स्वजातीय ये दस धर्म के अनुसार अध्यापन कराने योग्य होते हैं।। १०९।।

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।। ११०।।

यदन्येनाल्पाक्षरं विस्वरं चाधीतं तस्य तत्त्वं न वदेत्। शिष्यस्य त्वपृच्छतोऽपि वक्तव्यम्। भक्तिश्रद्धादिप्रश्नधर्मोल्लङ्घनमन्यायस्तेन पृच्छतो न ब्रूयात्। जानन्नपि हि प्राज्ञो लोके मूक इव व्यवहरेत्।। ११०।।

इस संसार में बुद्धिमान् व्यक्ति को बिना पूछे किसी से कुछ नहीं कहना चाहिए तथा अन्यायपूर्वक पूछे जाने पर जानते हुए भी मूर्ख के समान ही आचरण करना चाहिए।। ११०।।

उक्तप्रतिषेधद्वयातिक्रमे दोषमाह—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति।। १११।।

अधर्मेण पृष्टोऽपि यो यस्य वदति यश्चान्यायेन यं पृच्छति तयोरन्यतरो व्यतिक्रमकारी म्रियते, विद्वेषं वा तेन सह गच्छति।। १११।।

जो अधर्मपूर्वक पूछता है तथा जो अधर्मपूर्वक कहता है। उन दोनों में से एक मृत्यु अथवा विद्वेष को प्राप्त करता है।। १११।।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।। ११२।।

यस्मिन् शिष्येऽध्यापिते धर्मार्थौ न भवतः परिचर्या वाध्ययनानुरूपा तत्र विद्या नार्पणीया। सुष्ठु व्रीह्यादिबीजमिवोषरे। यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति स ऊषरः। न चार्थग्रहणे भृतकाध्यापकत्वमाशङ्कनीयम्, यद्येतावन्मह्यं दीयते तदैतावदध्यापयामीति नियमाभावात्।। ११२।।

जहाँ न धर्म हो, न अर्थ हो अथवा उसप्रकार की समर्पित सेवा भी न हो, बंजरभूमि में बोए बीज के समान वहाँ विद्या का वपन (उपदेश) नहीं करना चाहिए।। ११२।।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्।। ११३।।

विद्ययैव सह वेदाध्यापकेन वरं मर्तव्यं नतु सर्वथाध्यापनयोग्यशिष्याभावे

चापात्रायैव तां प्रतिपादयेत्। तथा छान्दोग्यब्राह्मणम् ''विद्यया सार्धं म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत्''।। ११३।।

भले ही ब्रह्मवादी विद्या के साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाए, किन्तु भंयकर आपत्ति में भी कुपात्र को वेद प्रदान नहीं करनी चाहिए।। ११३।।

अस्यानुवादमाह—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा।। ११४।।

विद्याधिष्ठात्री देवता कंचिदध्यापकं ब्राह्मणमागत्यैवमवदत्। तवाहं निधिरस्मि। मां रक्ष। असूयकादिदोषवते न मां वदेः। तथा सत्यतिशयेन वीर्यवती भूयासम्। तथाच छान्दोग्यब्राह्मणम्—''विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालयानर्हते मानिने नैव मा दा गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि'' इति।। ११४।।

(एक बार) विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली-'मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूँ, इसलिए मेरी रक्षा करो। मुझे असूया करने वाले व्यक्ति को प्रदान नहीं करना, जिससे मैं वीर्यशालिनी बन सकूँ।। ११४।।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने।। ११५।।

यमेव पुनः शिष्यं शुचिं नियतेन्द्रियं ब्रह्मचारिणं जानासि तस्मै विद्यारूपनिधि-रक्षकाय प्रमादरहिताय मां वद।। ११५।।

किन्तु जिसे भी पवित्र, संयमी, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला समझो, आलस्य-रहित उसी ब्राह्मण को ज्ञान-सम्पदा की रक्षा के लिए मेरा उपदेश कर देना।। ११५।।

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते।। ११६।।

यः पुनरभ्यासार्थमधीयानादन्यं वा कंचिदध्यापयतस्तदनुमतिरहितं वेदं गृह्णाति स वेदस्तेययुक्तो नरकं गच्छति तस्मादेतन्न कर्तव्यम्।। ११६।।

किन्तु जो व्यक्ति गुरु की अनुमति के बिना दूसरे को पढ़ाने से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। वेद की चोरी से संयुक्त हुआ वह नरक को प्राप्त करता है।। ११६।।

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्।। ११७।।

(जन्मप्रभृति यत्किंचिच्चेतसा धर्ममाचरेत्।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात्।। ८।।)

लौकिकमर्थशास्त्रादिज्ञानं, वैदिकं वेदार्थज्ञानं आध्यात्मिकं ब्रह्मज्ञानं' यस्मात्तु गृह्णाति तं बहुमान्यमध्ये स्थितं प्रथममभिवादयेत्। लौकिकादिज्ञानदातृणामेव त्रयाणां समवाये यथोत्तरं मान्यत्वम्।। ११७।।

जिससे (मनुष्य) लौकिक, वैदिक अथवा आध्यात्मिकज्ञान प्राप्त करे, उसको सर्वप्रथम अभिवादन करना चाहिए।। ११७।।

(व्यक्ति जन्म से लेकर, मन से जो कुछ भी धर्म का आचरण करता है, वह सब एक हाथ द्वारा अभिवादन करने पर निष्फल समझना चाहिए।। ८।।)

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी।। ११८।।

सावित्रीमात्रवेत्तापि वरं सुयन्त्रितः शास्त्रनियमितो विप्रादिर्मान्यः। नायन्त्रितो वेदत्रयवेत्तापि निषिद्धभोजनादिशीलः प्रतिषिद्धविक्रेता च। एतच्च प्रदर्शनमात्रम्। सुयन्त्रितशब्देन विधिनिषेधनिष्ठत्वस्य विवक्षितत्वात्।। ११८।।

एकमात्र सावित्री के बल से युक्त जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, किन्तु इन्द्रियों को नियन्त्रण में न रखने वाला, सभी कुछ खाने तथा सभी कुछ बेचने वाला, तीनों वेदों का ज्ञाता होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है।। ११८।।

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्।। ११९।।

शय्या चासनं च शय्यासनं "जातिरप्राणिनाम्" (पा० सू० २।४।६) इति द्वन्द्वैकवद्भावः। तस्मिञ्छ्रेयसा विद्याद्यधिकेन गुरुणा चाध्याचरिते साधारण्येन स्वीकृते च तत्कालमपि नासीत। स्वयं च शय्यासनस्थो गुरावागते उत्थायाभिवादनं कुर्यात्।। ११९।।

गुरु आदि श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली शय्या अथवा आसन पर नहीं बैठना चाहिए और स्वयं भी शय्या या आसन पर स्थित होने पर, उठकर ही इन्हें अभिवादन करना चाहिए।। ११९।।

अस्यार्थवादमाह—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते।। १२०।।

यस्माद्यूनोऽल्पवयसो वयोविद्यादिना स्थविरे आयति आगच्छति सति प्राणा ऊर्ध्वमुत्क्रामन्ति देहाद्बहिर्निर्गन्तुमिच्छन्ति तान्वृद्धस्य प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनः सुस्थान् करोति। तस्माद्वृद्धस्य प्रत्युत्थायाभिवादनं कुर्यात्।। १२०।।

क्योंकि ज्ञान अथवा आयु की दृष्टि से वृद्ध के आने पर युवकों के प्राण ऊपर की ओर उठने लगते हैं। इसलिए उठने तथा अभिवादन करने दोनों द्वारा यह उन्हें फिर से प्रस्थापित करता है।। १२०।।

इतश्च फलमाह—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।। १२१।।

उत्थाय सर्वदा वृद्धाभिवादनशीलस्य वृद्धसेविनश्च आयुःप्रज्ञायशोबलानि चत्वारि सम्यक् प्रकर्षेण वर्धन्ते।। १२१।।

नित्यप्रति अभिवादन करने के स्वभाव वाले, ज्ञान अथवा आयु में बढ़े हुओं की सेवा करने वाले, उस व्यक्ति के आयु, विद्या, यश एवं बल ये चारों वृद्धि को प्राप्त होते हैं।। १२१।।

संप्रत्यभिवादनविधिमाह—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्।। १२२।।

वृद्धमभिवादयन् विप्रादिरभिवादात्परं 'अभिवादय' इति शब्दोच्चारणानन्तरममुकनामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत्। अतो नामशब्दस्य विशेषपरत्त्वात्स्वनामविशेषोच्चारणानन्तरमभिवादनवाक्ये नामशब्दोऽपि प्रयोज्य इति मेधातिथिगोविन्दाराजयोरभिधानमप्रमाणम्। अतएव गोतमः—"स्वनाम प्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्"। साङ्ख्यायनोऽपि "असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्" इत्युक्तवान्। यदि च नामशब्दश्रवणात्तस्य प्रयोगस्तदा " अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते" (अ० २ श्लो० १२५) इत्यभिधानात्प्रत्यभिवादनवाक्ये नामशब्दोच्चारणं स्यान्न च तत्कस्यचित्संमतम्।। १२२।।

अपने से बड़े, पूज्य व्यक्ति को अभिवादन करता हुआ ब्राह्मण अभिवादन के पश्चात् 'मैं इस नाम वाला हूँ', इसप्रकार अपने नाम का उच्चारण करे।। १२२।।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च।। १२३।।

नामधेयस्य उच्चारितस्य सतो ये केचिदभिवाद्याः संस्कृतानभिज्ञतयाभिवादमभिवादार्थं न जानन्ति तान्प्रत्यभिवादनेऽप्यसमर्थत्वात्प्राज्ञ इत्यभिवाद्यशक्तिविज्ञोऽभिवादयिताभिवादयेऽहमित्येवं ब्रूयात्। स्त्रियः सर्वास्तथैव ब्रूयात्।। १२३।।

जो कुछ लोग नाम के उच्चारणपूर्वक अभिवादन (की शैली) को नहीं जानते हैं, उनको तथा सभी स्त्रियों को वैसे ही 'मैं हूँ' इसप्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति से कहना चाहिए।। १२३।।

भोःशब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने।
नाम्नां स्वरूपभावो हि भो भाव ऋषिभिः स्मृतः।। १२४।।

अभिवादने यन्नाम प्रयुक्तं तस्यान्ते भोः शब्दं कीर्तयेदभिवाद्यसंबोधनार्थम्। अतएवाह—नाम्नामिति। भो इत्यस्य यो भावः सत्ता सोऽभिवाद्य नाम्नां स्वरूपभाव ऋषिभिः स्मृतः। तस्मादेवमभिवादनवाक्यम् "अभिवादये शुभशर्माहमस्मि भोः"।। १२४।।

क्योंकि ऋषियों द्वारा भो! शब्द को, सभी नामों के स्वरूप के समान ही स्वीकार किया गया है। इसलिए अभिवादन में अपने नाम के अन्त में भो! शब्द का कथन भी करना चाहिए।। १२४।।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः।। १२५।।

अभिवादने कृते प्रत्यभिवादयित्रा अभिवादको विप्रादिः "आयुष्मान्भव सौम्य" इति वाच्यः। अस्य चाभिवादकस्य यन्नाम तस्यान्ते योऽकारादिः स्वरो नाम्नामकारान्तत्वनियमाभावात्स प्लुतः कार्यः। स्वरापेक्षं चेदकारान्तत्वं व्यञ्जनान्तेऽपि नाम्नि संभवति। पूर्वं नामगतमक्षरं संश्लिष्टं यस्य स पूर्वाक्षरस्तेन नागन्तुरपकृष्य चाकारादिः स्वरः प्लुतः कार्यः। एतच्च " वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः" (पा० सू० ८।२।८२) इत्यस्यानुवृत्तौ "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (पा० सू० ८।२।८३) इति प्लुतं स्मरन्पाणिनिः स्फुटमुक्तवान्। व्याख्यातंच वृत्तिकृता वामनेन—"टेरिति किम्, व्यञ्जनान्तस्यैव टेः प्लुतो यथा स्यात्" इति। तस्मादीदृशं प्रत्यभिवादनवाक्यं "आयुष्मान्भव सौम्य शुभशर्मन्" एवं क्षत्रिशस्य बलवर्मन् एवं वैश्यस्य वसुभूते। "प्लुतो राजन्यविशां वा" इति कात्यायनवचनात्क्षत्रियवैश्ययोः पक्षे प्लुतो न भवति। शूद्रस्य प्लुतो न कार्यः, "अशूद्रे" इति पाणिनिवचनात्। "स्त्रियामपि निषेधः" इति कात्यायनवचनात्स्त्रियामपि प्रत्यभिवादनवाक्ये न प्लुतः। गोविन्दराजस्तु ब्राह्मणस्य नाम्नि शर्मोपपदं नित्यं प्रागभिधाय प्रत्यभिवादनवाक्ये "आयुष्मान् भव

सौम्यभद्र'' इति निरुपपदोदाहरणसोपपदोदाहरणानभिज्ञत्त्वमेव निजं ज्ञापयति। धरणीधरोऽपि आयुष्मान् भव सौम्य, इति संबुद्धिविभक्त्यन्तं मनुवचनं पश्यन्नप्यसंबुद्धिप्रथमैकवचनान्तममुकशर्मेत्युदाहरन्विचक्षणैरप्युपेक्षणीय एव।। १२५।।

अभिवादन किए जाने पर ब्राह्मण को हे सौम्य! आयुष्मान् भव (दीर्घायु बनो), इसप्रकार कहना चाहिए तथा यदि इसके नाम के अन्त में अकार हो तो उसे प्लुतरूप में उच्चारण करना चाहिए।। १२५।।

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः।। १२६।।

यो विप्रोऽभिवादनस्यानुरूपं प्रत्यभिवादनं न जानात्यसावभिवादनविदुषापि स्वनामोच्चारणद्युक्तविधिना शूद्र इव नाभिवाद्यः। अभिवादयेऽहमिति शब्दोच्चारणमात्रं तु चरणग्रहणादिशून्यमनिषिद्धम्। प्रागुक्तत्वात्।। १२६।।

जो ब्राह्मण अभिवादन के प्रत्युत्तरस्वरूप अभिवादन को नहीं जानता है, वह विद्वान् व्यक्ति द्वारा अभिवादन के योग्य नहीं है। जिसप्रकार शूद्र होता है बस, वह भी वैसा ही है।। १२६।।

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।
वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च।। १२७।।

समागम्य समागमे कृते अभिवादकमवरवयस्कं समानवयस्कमनभिवादकमपि ब्राह्मणं कुशलं, क्षत्रियमनामयं, वैश्यं क्षेमं, शूद्रमारोग्यं पृच्छेत्। अतएवापस्तम्बः— ''कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्रं पृच्छेत्। अनामयं क्षत्रियं क्षेमं वैश्यं आरोग्यं शूद्रम्'' अवरवयसमभिवादकं वयस्यमनभिवादकमपीति मन्वर्थंमेवापस्तम्बः स्फुटयतिस्म। गोविन्दराजस्तु प्रकरणात्प्रत्यभिवादकस्यैव कुशलादिप्रश्नमाह। तन्न, अभिवादकेन सह समागमस्यानुप्राप्तत्वात्। समागम्येति निष्प्रयोजनानुवादप्रसङ्गात्। अतः कुशलक्षेमशब्दयोरनामयारोग्यपदयोश्च। समानार्थत्वाच्छब्दविशेषोच्चारणमेव विवक्षितम्।। १२७।।

ब्राह्मण से मिलकर कुशल समाचार पूछने चाहिएँ, क्षत्रिय से आरोग्य, वैश्य से कल्याण तथा शूद्र से स्वास्थ्य के बारे में पूछना चाहिए।। १२७।।

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत धर्मवित्।। १२८।।

प्रत्यभिवादनकाले अन्यदा च दीक्षणीयातःप्रभृत्यावभृथस्नानात्कनिष्ठोऽपि दीक्षितो

नाम्ना न वाच्यः, किंतु भोभवच्छब्दपूर्वकं दीक्षितादिशद्वैरुत्कर्षाभिधायिभिरेव धार्मिकोऽभिभाषेत। भो दीक्षित, इदं कुरु, भवता यजमानेन इदं क्रियतामिति।। १२८।।

जो उपनयन में दीक्षित हो, छोटा होते हुए भी वह नाम लेकर पुकारने योग्य नहीं होता है, अपितु धर्म के ज्ञाता को इससे भी 'भो' अथवा 'भवत्' शब्दों का प्रयोग करके ही बात करनी चाहिए।। १२८।।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसंबन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च।। १२९।।

या स्त्री परपत्नी भवति, असंबन्धा च योनित इति स्वस्त्रादिर्न भवति तामनुपयुक्तसंभाषणकाले भवति, सुभगे, भगिनीति वा वदेत्। परपत्नीग्रहणात्कन्यायां नैष विधिः। स्वसुः कन्यादेस्त्वायुष्मतीत्यादिपदैरभिभाषणम्।। १२९।।

जो स्त्री दूसरे की पत्नी हो तथा जिसके साथ अपना उत्पत्तिविषयक कोई सम्बन्ध न भी हो, तो भी उसे भवति! सुभगे! भगिनी इसप्रकार बोलना चाहिए।। १२९।।

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून्।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः।। १३०।।

मातुलादीनागतान्कनिष्ठानासनादुत्थाय असावहमिति वदेत् नाभिवादयेत्। असाविति स्वनामनिर्देशः। "भूयिष्ठाः खलु गुरवः" इत्युपक्रम्य ज्ञानवृद्धतपोवृद्धयोरपि हारीतेन गुरुत्वकीर्तनात्तयोश्च कनिष्ठयोरपि संभवात्तद्विषयोऽयं गुरुशब्दः।। १३०।।

छोटे मामा, चाचा, श्वसुर, ऋत्विक् और गुरु के प्रति भी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार कहना चाहिए।। १३०।।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।
संपूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया।। १३१।।

मातृष्वस्रादयो गुरुपत्नीवत्प्रत्युत्थानाभिवादनासनदानादिभिः संपूज्याः। अभिवादनप्रकरणादभिवादनमेव संपूजनं विज्ञायत इति समास्ता इत्यवोचत्। गुरुभार्यासमानत्वात्प्रत्युत्थानादिकमपि कार्यमित्यर्थः।। १३१।।

मौसी, मामी, सास और बुआ वे सब गुरु-पत्नी के बराबर होते हैं, इसलिए गुरु की पत्नी के समान ही भलीप्रकार पूजनीय हैं।। १३१।।

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोषितः।। १३२।।

भ्रातुःसजातीया भार्या ज्येष्ठा पूजाप्रकरणादुसंग्राह्या पादयोरभिवाद्या। अहन्यहनि

प्रत्यहमेव। अपिरेवार्थे। ज्ञातयः पितृपक्षाः पितृव्यादयः, संबन्धिनो मातृपक्षाः श्वशुरादयश्च, तेषां पत्न्यः पुनर्विप्रोष्य प्रवासात्प्रत्यागतेनैवाभिवाद्याः न तु प्रत्यहं नियमः।। १३२।।

बड़े भाई की सवर्ण पत्नी प्रतिदिन ही प्रणाम के योग्य है, किन्तु अन्य जाति की तथा सम्बन्धियों की पत्नियाँ केवल प्रवास से लौटने पर ही प्रणाम करने योग्य होती हैं।। १३२।।

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी।। १३३।।

पितुर्मातुश्च भगिन्यां ज्येष्ठायां चात्मनो भगिन्यां मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेत्। माता पुनस्ताभ्यो गुरुतमा। ननु मातृष्वसा मातुलानीत्यनेनैव गुरुपत्नीवत्पूज्यत्वमुक्तं किमधिकमनेन बोध्यते। उच्यते-इदमेव माता ताभ्यो गरीयसीति। तेन पितृष्वस्रानुज्ञायां दत्तायां मात्रा च विरोधे मातुराज्ञा अनुष्ठेयेति अथवा पूर्वं पितृष्वस्रादेर्मातृवत्पूज्यत्वमुक्तम्। अनेन तु स्नेहादिवृत्तिरप्यतिदिश्यत इत्यपुनरुक्तिः।। १३३।।

माता और पिता की बहन में तथा अपनी बड़ी बहन में भी माता के समान ही (शिष्ट) व्यवहार करना चाहिए, किन्तु उन सबसे माता ही श्रेष्ठ होती है।। १३३।।

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु।। १३४।।

दश अब्दा आख्या यस्य तद्दशाब्दाख्यं पौरसख्यम्। अयमर्थः। एकपुरवासिनां वक्ष्यमाणविद्यादिगुणरहितानामेकस्य दशभिरब्दैर्ज्येष्ठत्वेसत्यपि सख्यमाख्यायते। पुरग्रहणं प्रदर्शनार्थं तेनैकग्रामादिनिवासिनामपि स्यात्। गीतादिकलाभिज्ञानां पञ्चवर्षपर्यन्तं सख्यं, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपर्यन्तं, सपिण्डेष्वत्यन्ताल्पेनैव कालेन सह सख्यम्। अपिरेवार्थे। सर्वत्रोक्तकालादूर्ध्वं ज्येष्ठव्यवहारः।। १३४।।

नगर निवासियों के साथ दस वर्ष के अन्तर पर मित्रता कही गई है, कलाविदों में पाँच वर्ष के अन्तर पर, श्रोत्रियों के साथ तीन वर्ष के अन्तर पर तथा सपिण्डों के साथ थोड़ा सा अन्तर होने पर भी मित्रता मानी गई है।। १३४।।

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद्ब्राह्मणस्तु तयोः पिता।। १३५।।

दशवर्षं ब्राह्मणं शतवर्षं पुनः क्षत्रियं पितापुत्रौ जानीयात्। तयोर्मध्ये दशवर्षोऽपि ब्राह्मण एव क्षत्रियस्य शतवर्षस्यापि पिता। तस्मात्पितृवदसौ तस्य मान्यः।। १३५।।

किन्तु दस वर्ष के ब्राह्मण तथा सौ वर्ष के क्षत्रिय को पिता और पुत्र के रूप में समझना चाहिए, जबकि उन दोनों में ब्राह्मण ही पिता होता है।। १३५।।

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।। १३६।।

वित्तं न्यायार्जितं धनं, बन्धुः पितृव्यादिः, वयोऽधिकवयस्कता, कर्म श्रौतं स्मार्तं च, विद्या वेदार्थतत्त्वज्ञानं, एतानि पञ्च मान्यत्वकारणानि। एषां मध्ये यद्यदुत्तरं तत्तत्पूर्वस्माच्छ्रेष्ठमिति बहुमान्यमेलके बलाबलमुक्तम्।। १३६।।

धन, बन्धु, आयु, कार्य और पाँचवी विद्या ये सभी सम्मान के योग्य स्थान होते हैं। इनमें जो-जो बाद में परिभाषित हैं, वह-वह पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठ है।। १३६।।

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हःशूद्रोऽपि दशमीं गतः।। १३७।।

त्रिषु वर्णेषु ब्राह्मणादिषु पञ्चानां वित्तादीनां मध्ये यत्र पुरुषे पूर्वमप्यनेकं भवति स एवोत्तरस्मादपि मान्यः। तेन वित्तबन्धुयुक्तो वयोधिकान्मान्यः। एवं वित्तादित्रययुक्तः कर्मवतो मान्यः। वित्तादिचतुष्टययुक्तो विदुषो मान्यः। गुणवन्ति चेति प्रकर्षवन्ति। तेन द्वयोरेव विद्यादिसत्वे प्रकर्षो मानहेतुः। शूद्रोऽपि दशमीमवस्थां नवत्यधिकां गतो द्विजन्मनामपि मानार्हः। शतवर्षाणां दशधा विभागे दशम्यवस्था नवत्यधिका भवति।। १३७।।

तीन वर्षों तथा पाँच गुणों में से जिसके अधिक गुण हों, वह तथा दसवें दशक को प्राप्त हुआ शूद्र भी सम्मान के योग्य होता है।। १३७।।

अयमपि पूजाप्रकारः प्रसङ्गादुच्यते—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च।। १३८।।

चक्रयुक्तरथादियानारूढस्य, नवत्यधिकवयसः, रोगार्तस्य, भारपीडितस्य, स्त्रियाः, अचिरनिवृत्तसमावर्तनस्य, देशाधिपस्य, विवाहाय प्रस्थितस्य पन्थास्त्यक्तव्यः। त्यागार्थत्वाच्च ददातेर्न चतुर्थी।। १३८।।

रथ आदि पर बैठे हुए को, नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाले को, रोगी को, भार ढोने वाले को, स्त्रियों को, स्नातक को, राजा को तथा दूल्हे को मार्ग देना चाहिए।। १३८।।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक्।। १३९।।

तेषामेकत्र मिलितानां देशाधिपस्नातकौ मान्यौ। राजस्नातकयोरपि स्नातक एव राजापेक्षया मान्यः। अतो राजशब्दोऽत्र पूर्वश्लोके न केवलजातिवचनः। क्षत्रियजात्यपेक्षया "ब्राह्मणं दशवर्षं तु" (अ० २ श्लो० १३५) इत्यनेन ब्राह्मण-मात्रस्य मान्यत्वाभिधानात्स्नातकग्रहणवैयर्थ्यात्।। १३९।।

किन्तु उन सभी के एक साथ एकत्र होने पर स्नातक और राजा सम्मान के योग्य हैं। इसके अतिरिक्त राजा एवं स्नातक दोनों में स्नातक ही राजा द्वारा सम्मान का पात्र होता है।। १३९।।

आचार्यादिशब्दार्थमाह—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। १४०।।

तैः शब्दैरिह शास्त्रे प्रायो व्यवहारात्। यो ब्राह्मणः शिष्यमुपनीय कल्परहस्यसहिता वेदशाखां सर्वामध्यापयति तमाचार्यं पूर्वे मुनयो वदन्ति। कल्पो यज्ञविद्या, रहस्यमुपनिषत्। वेदत्वेऽप्युपनिषदां प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः।। १४०।।

जो द्विज, शिष्य का उपनयन करके, यज्ञविद्या और रहस्य से युक्त वेद का अध्यापन कराता है, उसे आचार्य कहा जाता है।। १४०।।

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।। १४१।।

वेदस्यैकदेशं मन्त्रं ब्राह्मणं च वेदरहितानि व्याकरणादीन्यङ्गानि यो वृत्त्यर्थमध्यापयति स उपाध्याय उच्यते।। १४१।।

किन्तु जो आजीविका के लिए वेद के एक भाग को अथवा उसके बाद वेदाङ्गों का भी अध्यापन कराता है, वह उपाध्याय कहलाता है।। १४१।।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।। १४२।।

निषेको गर्भाधानं तेन पितुरयं गुरुत्वोपदेशः। गर्भाधानादीनि संस्कारकर्माणि पितुरुपदिष्टानि यथाशास्त्रं यः करोति, अन्नेन च संवर्धयति स विप्रो गुरुरुच्यते।। १४२।।

जो शास्त्रोक्त विधि से गर्भाधान आदि संस्कारों को सम्पादित करता है तथा अन्न द्वारा उसका पालन करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहलाता है।। १४२।।

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते।। १४३।।

आहयनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्माग्न्याधेयं, अष्टकादीन्पाकयज्ञान्।, अग्निष्टोमादीन्यज्ञान्कृतवरणो यस्य करोति स तस्यर्त्विगिह शास्त्रेऽभिधीयते। ब्रह्मचारिधर्मेष्वनुपयुक्तमप्यृत्विग्लक्षणमाचार्यादिवदृत्विजोऽपि मान्यत्वं दर्शयितुं प्रसङ्गादुक्तम्।। १४३।।

वरण किया गया जो ब्राह्मण, अग्न्याधान, पाकयज्ञ और अग्निष्टोम आदि यज्ञों को करता है, इस धर्मशास्त्र में वह उसका ऋत्विक् कहलाता है।। १४३।।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन।। १४४।।

य उभौ कर्णौ अवितथमिति वर्णस्वरवैगुण्यरहितेन सत्यरूपेण वेदेनापूरयति स माता पिता च ज्ञेयः। महोपकारकत्वगुणयोगादयमध्यापको मातापितृशब्दवाच्यस्तं नापकुर्यात्। कदाचनेति गृहीते वेदे।। १४४।।

जो सत्यरूप ज्ञान द्वारा दोनों कर्णों को परिपूरित करता है। उसे माता तथा उसे ही पिता समझना चाहिए तथा उसके साथ कभी भी द्रोह नहीं करना चाहिए।। १४४।।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते।। १४५।।

दशोपाध्यायानपेक्ष्य आचार्यः, आचार्यशतमपेक्ष्य पिता, सहस्रं पितृनपेक्ष्य माता गौरवेणातिरिक्ता भवति। अत्रोपनयनपूर्वकसावित्रीमात्राध्यापयिता आचार्योऽभिप्रेतस्तमपेक्ष्य पितुरुत्कर्षः। "उत्पादकब्रह्मदात्रोः" (अ० २ श्लो १४६) इत्यनेन मुख्याचार्यस्य पितरमपेक्ष्योत्कर्षं वक्ष्यतीत्यविरोधः।। १४५।।

(गौरव की दृष्टि से) दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता, जबकि हजार पिताओं की अपेक्षा माता सर्वाधिक बढ़कर होती है।। १४५।।

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।। १४६।।

जनकाचार्यौ द्वावपि पितरौ। जन्मदातृत्वात्। तयोराचार्यः पिता गुरुतरः। यस्माद्विप्रस्य ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनजन्म संस्काररूपं परलोके इहलोके च शाश्वतं नित्यम्। ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात्।। १४६।।

उत्पन्न करने वाले तथा वेदज्ञान प्रदान करने वाले, दोनों जनकों में वेदज्ञान प्रदान करने वाला पिता ही श्रेष्ठ होता है, क्योंकि ब्राह्मण का ब्रह्मजन्म इस लोक तथा परलोक दोनों में हमेशा विद्यमान रहता है।। १४६।।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।
संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते।। १४७।।

मातापितरौ यद्येनं बालकं कामवशेनान्योन्यमुत्पादयतः संभवमात्रं तत्तस्य पश्वादिसाधारणम्। यद्योनौ मातृकुक्षावभिजायतेऽङ्गप्रत्यङ्गानि लभते।। १४७।।

इस शिशु को जो माता-पिता काम के वशीभूत होकर आपस में मिलकर उत्पन्न करते हैं। उसकी वह उत्पत्ति सामान्य ही समझनी चाहिए, क्योंकि वह केवल माता की कुक्षि में उत्पन्न होता है।। १४७।।

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा।। १४८।।

आचार्यः पुनर्वेदज्ञोऽस्य माणकस्य यां जातिं यज्जन्म विधिवत्सावित्र्येति साङ्गोपनयनपूर्वकसावित्र्यनुवचनेनोत्पादयति सा जातिः सत्या अजरामरा च। ब्रह्मप्राप्तिफलत्वात्। उपनयनपूर्वकस्य वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानैर्निष्कामस्य मोक्षलाभात्।। १४८।।

किन्तु वेद में निपुण आचार्य शास्त्रोक्त विधि से किए गए उपनयन संस्कार द्वारा इसके जिस स्वरूप को उत्पन्न करता है, वही सत्य, अजर एवं अमर होता है।। १४८।।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया।। १४९।।

श्रुतस्य श्रुतेनेत्यर्थः। उपाध्यायो यस्य शिष्यस्याल्पं वा बहु वा कृत्वा श्रुतेनोपकरोति तमपीह शास्त्रे तस्य गुरुं जानीयात्। श्रुतमेवोपक्रिया तया श्रुतोपक्रियया।। १४९।।

जिसका जो थोड़ा अथवा बहुत शास्त्र-विषयक उपकार करता है। उस शास्त्रविषयक उपकार के कारण उसे भी इस संसार में गुरु मानना चाहिए।। १४९।।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः।। १५०।।

ब्रह्मश्रवणार्थं जन्म ब्राह्ममुपनयनम्। स्वधर्मस्य शासिता वेदार्थव्याख्याता तादृशोऽपि बालो वृद्धस्य ज्येष्ठस्य पिता भवति। धर्मत इति पितृधर्मास्तस्मिन्ननुष्ठातव्याः।। १५०।।

वेद-ज्ञान का जन्मदाता और अपने कर्तव्यों की शिक्षा प्रदान करने वाला ब्राह्मण, बालक होते हुए भी आयु में बढ़े हुए अन्य व्यक्ति का धर्म से पिता होता है।। १५०।।

प्रकृतानुरूपार्थवादमाह—

अध्यापयामास पितृञ्शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्।। १५१।।

अङ्गिरसः पुत्रो बालः कविर्विद्वान् पितृन्गौणान् पितृव्यतत्पुत्रादीनधिकवयसोऽध्यापितवान्। ताञ्ज्ञानेन परिगृह्य शिष्यान्कृत्वा पुत्रका इति आजुहाव। इतिह इत्यव्ययं पुरावृत्तसूचनार्थम्।। १५१।।

अंगिरा के पुत्र विद्वान् बालक ने अपने पितृजनों को पढ़ाया। इसलिए ज्ञान प्रदान करने के कारण (उसने) उन्हें हे पुत्रों! इसप्रकार सम्बोधित किया।। १५१।।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्।। १५२।।

ते पितृतुल्याः पुत्रका इत्युक्ता अनेन जातक्रोधाः पुत्रकशब्दार्थं देवान्पृष्टवन्तः। देवाश्च पृष्टा मिलित्वा एतानवोचन्। युष्मान्यच्छिशुः पुत्रशब्देनोक्तवांस्तद्युक्तम्।। १५२।।

क्रोधित हुए उन्होंने देवताओं से इसका प्रयोजन पूछा। तब पूछे गए सभी देवता एक स्वर से बोले – 'आपके पुत्र ने (यह सम्बोधन) न्यायोचित ही किया है'।। १५२।।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्।। १५३।।

वै शब्दोऽवधारणे। अज्ञ एव बालो भवति न त्वल्पवयाः। मन्त्रदः पिता भवति। मन्त्रग्रहणं वेदोपलक्षणार्थम्। यो वेदमध्यापयति व्याचष्टे स पिता। अत्रैव हेतुमाह्यस्मात्पूर्वेऽपि मुनयोऽज्ञं बालमित्यूचुः, मन्त्रदं च पितेत्येवाब्रुवन्नित्याह।। १५३।।

वस्तुतः ज्ञान से रहित बालक होता है तथ मन्त्र प्रदान करने वाला पिता होता है, क्योंकि ऋषियों ने भी अज्ञानी को बालक तथा ज्ञान प्रदान करने वाले को पिता ही कहा है।। १५३।।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्।। १५४।।

न बहुभिर्वर्षैः, न केशश्मश्रुलोमभिः शुक्लैः, न बहुना धनेन, न पितृव्यत्वादिभिर्बन्धुभावैः समुदितैरप्येतैर्न महत्त्वं भवति, किंतु ऋषय इमं धर्मं कृतवन्तः। यः साङ्गवेदाध्येता सोऽस्माकं महान् संमतः।। १५४।।

कोई भी व्यक्ति न तो अधिक आयु से, न श्वेत बालों से, न धन से, और न ही अनेक बन्धुओं से महान् होता है, अपितु ऋषियों ने यही नियम बनाया हुआ है कि हमारे बीच में जो वेदों का सर्वोत्कृष्ट विद्वान् है, वही महान् है।। १५४।।

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः।। १५५।।

ब्राह्मणानां विद्यया, क्षत्रियाणां पुनर्वीर्येण, वैश्यानां धान्यवस्त्रादिधनेन, शूद्राणामेव पुनर्जन्मना श्रेष्ठत्वम्। सर्वत्र तृतीयार्थे तसिः।। १५५।।

ब्राह्मणों की ज्ञान से, क्षत्रियों की पराक्रम से, वैश्यों की धन-धान्य से, जबकि शूद्रों की जन्म से ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है।। १५५।।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः।। १५६।।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य शुक्लकेशं शिरः किंतु युवापि सन्विद्वांस्तं देवाःस्थविरं जानन्ति।। १५६।।

जिससे इसका सिर श्वेत हो गया है, उससे व्यक्ति वृद्ध नहीं होता है। जो वास्तव में युवक होते हुए भी ज्ञान में बढ़कर होता है। देवताओं ने भी उसी को 'वृद्ध' कहा है।। १५६।।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति।। १५७।।

यथा काष्ठघटितो हस्ती, यथा चर्मनिर्मितो मृगः, यश्च विप्रो नाधीते त्रय एते नाममात्रं दधति नतु हस्त्यादिकार्यं शत्रुवधादिकं कर्तुं क्षमन्ते।। १५७।।

जिस ब्राह्मण ने वेदों का अध्ययन नहीं किया, लकड़ी से निर्मित हाथी तथा चर्म से बने मृग के समान, वे तीनों ही वस्तुतः केवल नाम ही धारण करते हैं।। १५७।।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः।। १५८।।

यथा नपुंसकः स्त्रीषु निष्फलः, यथा च स्त्रीगवी गव्यामेव निष्फला, यथा चाज्ञे दानमफलं तथा ब्राह्मणोऽप्यनधीयानो निष्फलः श्रोतस्मार्तकर्मानर्हतया तत्फलरहितः।। १५८।।

जिसप्रकार नपुंसक स्त्रियों के प्रति निष्फल होता है। जिसप्रकार बैल, गाय में निष्फल है तथा जिसप्रकार मूर्ख में दान निष्फल है। वैसे ही वेदज्ञान से रहित ब्राह्मण भी निष्फल होता है।। १५८।।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता।। १५९।।

भूताना शिष्याणां प्रकरणाच्छ्रेयोर्थमनुशासनमनतिहिंसया कर्तव्यम्। ''रज्ज्वा वेणुदलेन वा'' (अ० ८ श्लो० ९९) इत्यल्पहिंसाया अभ्यनुज्ञानात्। वाणी मधुरा प्रीतिजननी श्लक्ष्णा या नौच्चैरुच्यते सा शिष्यशिक्षायै धर्मबुद्धिमिच्छता प्रयोक्तव्या।। १५९।।

धर्म की इच्छा करने वाले व्यक्ति को, प्राणियों का कल्याण करने की कामना से, अहिंसा द्वारा ही अनुशासन करना चाहिए। साथ ही मधुर एवं कोमल वाणी का प्रयोग करना चाहिए।। १५९।।

इदानीं पुरुषमात्रस्य फलं धर्मं वाङ्मनःसयममाह—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।। १६०।।

अध्यापयितुरेव यस्य वाङ्मनश्चोभयं शुद्धं भवति। वागनृतादिभिरदुष्टा मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति। एते वाङ्मनसी निषिद्धविषयप्रकरणे सर्वदा यस्य पुंसः सुरक्षिते भवतः स वेदान्तेऽवगतं सर्वं फलं सर्वज्ञत्वं सर्वेशानादिरूपं मोक्षलाभादवाप्नोति।। १६०।।

जिसकी वाणी तथा मन सदैव शुद्ध और विषयों से ठीकप्रकार सुरक्षित रहते हैं। निश्चय ही वह वेदान्त में प्रतिपादित किए गए फल को प्राप्त करता है।। १६०।।

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्।। १६१।।

अयमपि पुरुषमात्रस्यैव धर्मो नाध्यापकस्य। आर्तः पीडितोऽपि नारुंतुदः स्यान्न मर्मपीडाकरं तत्त्वदूषणमुदाहरेत्। तथा परस्य द्रोहोऽपकारस्तदर्थं कर्मबुद्धिश्च न कर्तव्या। तथा यया वाचास्य परो व्यथते तां मर्मस्पृशमथालोक्यां स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिनीं न वेदत्।। १६१।।

स्वयं दुःखी होते हुए भी, दूसरे के मर्मस्थल पर आघात करने वाला नहीं

बनना चाहिए तथा दूसरों के प्रति द्वेषबुद्धि वाला नहीं होना चाहिए। जिस वाणी से लोगों को उद्विग्नता हो तथा लोगों के लिए अहितकर हो, ऐसी उस वाणी का उच्चारण नहीं करना चाहिए।। १६१।।

संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा।। १६२।।

ब्राह्मणः संमानाद्विषादिव सर्वदोद्विजेत संमाने प्रीतिं न कुर्यात्। अमृतस्येव सर्वस्माल्लोकादवमानस्याकाङ्क्षेत्। अवमाने परेण कृतेऽपि क्षमावांस्तत्र खेदं न कुर्यात्। मानावमानद्वन्द्वसहिष्णुत्वमनेन विदीयते।। १६२।।

ब्राह्मण को हमेशा सम्मान से विष के समान उद्विग्न होना चाहिए तथा अपमान की हमेशा अमृत के समान कामना करनी चाहिए।। १६२।।

अवमानसहिष्णुत्वे हेतुमाह—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति।। १६३।।

यस्मादवमाने परेण कृते तत्र खेदमकुर्वाणः सुखं निद्राति। अन्यथावमानदुःखेन दह्यमानः कथं निद्रां लभते। कथं च सुखं प्रतिबुध्यते। प्रतिबुद्धश्च कथं सुखं कार्येषु चरति। अवमानकर्ता तेन पापेन विनश्यति।। १६३।।

क्योंकि अपमान को प्राप्त हुआ व्यक्ति इस संसार में सुखपूर्वक सोता है तथा सुखपूर्वक जागता है, सुखपूर्वक विचरण करता है, जबकि अपमान करने वाला विनष्ट हो जाता है।। १६३।।

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः।
गुरौ वसन्संचिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः।। १६४।।

अनेन क्रमकथितोपायेन जातकर्मादिनोपनयनपर्यन्तेन संस्कृतो द्विजो गुरुकुले वसन् शनैरत्वरया वेदग्रहणार्थं तपोऽभिहिताभिधास्यमाननियमकलापरूपमनुतिष्ठेत्। सिध्यन्तरसिद्धस्याप्ययमर्थवादोऽध्ययनाङ्गत्वबोधनाय।। १६४।।

इस क्रम से युक्त संस्कारों से पवित्र आत्मा वाला द्विज, गुरु के पास रहता हुआ, धीरे-धीरे ब्रह्म आदि को प्राप्त कराने वाले तप का संचयन करे।। १६४।।

अध्ययनाङ्गत्वमेव स्पष्टयति—

तपो विशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।। १६५।।

तपो विशैषैर्नियमकलापैर्विविधैर्बहुप्रकारैश्च "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इत्यादिनोक्तैः, "सेवेतेमांस्तु नियमान्" (अ० २ श्लो० १७५) इत्यादिभि– र्वक्ष्यमाणैरपि, व्रतैश्चोपनिषन्महानाम्निकादिभिर्विधिदेशितैः स्वगृह्यविहितैः समग्रवेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः सोपनिषत्कोऽप्यध्येतव्यः। रहस्यमुपनिषदः। प्राधान्यख्यापनाय पृथङ्निर्देशः।। १६५।।

द्विज वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति द्वारा, धर्मशास्त्रों में निर्दिष्ट विशेषप्रकार के तपों सहित अनेक व्रतों द्वारा गूढ़ अर्थ के साथ, सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए।। १६५।।

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।। १६६।।

यत्र नियमानामङ्गत्वमुक्तं तत्कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनमनेन विधत्ते। तपस्तप्स्यंश्च- रिष्यन्द्विजो वेदमेव ग्रहणार्थमावर्तयेत्। तस्माद्वेदाभ्यास एव विप्रादेरिह लोके प्रकृष्टं तपो मुनिभिरभिधीयते।। १६६।।

इस संसार में ब्राह्मण को तप का आचरण करते हुए, हमेशा वेदों का ही अभ्यास करते रहना चाहिए, क्योंकि वेदों का अभ्यास करना ही ब्राह्मण के लिए सर्वोत्कृष्ट तप कहा जाता है।। १६६।।

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
य स्त्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्।। १६७।।

स्वाध्यायाध्ययनस्तुतिरियम्। ह शब्दः परमशब्दविहितस्यापि प्रकर्षस्य सूचकः। स द्विज आ नखाग्रेभ्य एव चरणनखपर्यन्तं सर्वदेहव्यापकमेव प्रकृष्टतमं तपस्तप्यते। यः स्त्रग्व्यपि कुसुममालाधार्यपि प्रत्यहं यथाशक्ति स्वाध्यायमधीते। स्त्रग्व्यपीत्यनेन वेदाध्ययनाय ब्रह्मचारिनियमत्यागमपि स्तुत्यर्थं दर्शयति। तप्यत इति "तपस्तपः– कर्मकस्यैव" (पा० सू० ३/१/८८) इति यगात्मनेपदे भवतः।। १६७।।

माला को धारण करने वाला भी जो द्विज अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन वेदों का अध्ययन करता है। वह वस्तुतः अपने पैर के नाखून से लेकर सर्वोत्कृष्ट तप का आचरण करता है।। १६७।।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।। १६८।।

यो द्विजो वेदमनधीत्यान्यत्रार्थशास्त्रादौ श्रमं यत्नातिशयं करोति स जीवन्नेव

पुत्रपौत्रादिसहितः शीघ्रं शूद्रत्वं गच्छति। वेदमनधीत्यापि स्मृतिवेदाङ्गाध्ययने विरोधाभावः। अतएव शङ्खलिखितौ—"न वेदमनधीत्यान्यां विद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः"।। १६८।।

द्विज वर्ण का जो व्यक्ति वेद का अध्ययन न करके, अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है। जीवित रहता हुआ भी वह अपने वंशसहित शीघ्र ही शूद्रत्व को प्राप्त कर लेता है।। १६८।।

द्विजानां तत्र तत्राधिकारश्रुतेर्द्विजत्वनिरूपणार्थमाह—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां, द्विजस्य श्रुतिचोदनात्।। १६९।।

मातुः सकाशादादौ पुरुषस्य जन्म। द्वितीयं मौञ्जिबन्धने उपनयने। "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" (पा० सू० ६/३/६३) इति ह्रस्वः। तृतीयं ज्योतिष्टोमादियज्ञदीक्षायां वेदश्रवणात्। तथाच श्रुतिः—"पुनर्वा यदृत्विजो यज्ञियं कुर्वन्ति यद्दीक्षयन्ति" इति। प्रथमद्वितीयतृतीयजन्मकथनं चेदं द्वितीयजन्मस्तुत्यर्थं, द्विजस्यैव यज्ञदीक्षायामप्यधिकारात्।। १६९।।

द्विज का पहला जन्म माता की कोख से, दूसरा मौञ्जीबन्धन (यज्ञोपवीत संस्कार होने) पर तथा वेद के निर्देशानुसार तीसरा जन्म यज्ञ की दीक्षा में होता है।। १६९।।

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते।। १७०।।

तेषु त्रिषु जन्मसु मध्ये यदेतद्ब्रह्मग्रहणार्थं जन्मोपनयनसंस्काररूपं मेखलाबन्धनोपलक्षितं तत्रास्य माणवकस्य सावित्री माता, आचार्यश्च पिता मातृपितृसंपाद्यत्वाज्जन्मनः।। १७०।।

उनमें इसका जो मौञ्जीबन्धन से चिह्नित वेद के अध्ययन के अधिकार का जन्म है। उसमें सावित्री इसकी माता होती है तथा आचार्य पिता कहा जाता है।। १७०।।

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौञ्जिबन्धनात्।। १७१।।

वेदाध्यापनादाचार्यं पितरं मन्वादयो वदन्ति। पितृवन्महोपकारफलाद्गौणं पितृत्वम्।। महोपकारमेव दर्शयति—न ह्यस्मिन्निति। यस्मादस्मिन्माणवके प्रागुपनयनात्किंचित्कर्म श्रौतं स्मार्तं च न संबध्यते। न तत्राधिक्रियत इत्यर्थः।। १७१।।

वस्तुतः वेद का ज्ञान प्रदान करने के कारण आचार्य को पिता कहते हैं, क्योंकि इस बालक में मौञ्जीबन्धन से पहले कोई भी वैदिककर्म करना उचित नहीं होता।। १७१।।

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधा निनयनादृते।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते।। १७२।।

आमौञ्जिबन्धनादित्यनुवर्तते प्रागुपनयनाद्वेदं नोच्चारयेत्। स्वधाशब्देन श्राद्धमुच्यते। निनीयते निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन तद्वर्जयित्वा मृतपितृको नवश्राद्धादौ मन्त्रं नोच्चारयेत्। तद्व्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत्। यस्माद्यावद्वेदे न जायते तावदसौ शूद्रेण तुल्यः।। १७२।।

श्राद्ध के मन्त्रों को छोड़कर, अन्य वेदमन्त्रों का उच्चारण उपनयन संस्कार से पहले नहीं करना चाहिए, क्योंकि जब तक वह वेदरूप उपनयन संस्कार द्वारा उत्पन्न नहीं होता है, तब तक शूद्र के समान ही होता है।। १७२।।

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्।। १७३।।

यस्मादस्य माणवकस्य "समिधमाधेहि" (गृ० सू० १/२२/६) "दिवा मा स्वाप्सीः" (गृ० सू० १/२२/२) इत्यादिव्रतादेशनं वेदस्याध्ययनं मन्त्रब्राह्मणक्रमेण "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इत्यादिविधिपूर्वकमुपनीतस्योपदिश्यते तस्मादुपनयनात्पूर्वं न वेदमुदाहरेत्।। १७३।।

जिसका उपनयन संस्कार किया जा चुका है, उसके लिए ही व्रतों का आदेश तथा क्रमशः धर्मशास्त्र के विधिविधान के अनुसार वेदों का अध्ययन अपेक्षित होता है।। १७३।।

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।
यो दण्डो यच्च वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि।। १७४।।

यस्य ब्रह्मचारिणो यानि चर्मसूत्रमेखलादण्डवस्त्राण्युपनयनकाले गृह्येण विहितानि, गोदानादिव्रतेष्वपि तान्येव नवानि कर्तव्यानि।। १७४।।

जिसका जो चर्म, जो सूत्र निर्धारित किया गया है तथा जो मेखला, दण्ड एवं वस्त्र कहे गए हैं। इसके व्रतों में भी उन उनको ही समझना चाहिए।। १७४।।

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः।। १७५।।

ब्रह्मचारी गुरुसमीपे वसन्निन्द्रियसंयमं कृत्वानुगतादृष्टवृद्ध्यर्थमिमान्नियमाननु-तिष्ठत्।। १७५।।

किन्तु गुरु के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी को अपने तप की वृद्धि के लिए, इन्द्रियों के समूह को भलीप्रकार नियन्त्रित करके, इन नियमों का सेवन करना चाहिए।। १७५।।

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च।। १७६।।

प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्य उदकदानं, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेवपूजनं, सायंप्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात्। यस्तु गौतमीये स्नाननिषेधो ब्रह्मचारिणः स सुखस्नानविषयः। अतएव बौधायनः—"नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्"। विष्णुनात्र 'कालद्वयमभिषेकाग्नि-कार्यकरणमप्सु दण्डवन्मज्जनम्" इति ब्रुवाणेन वारद्वयं स्नानमुपदिष्टम्।। १७६।।

ब्रह्मचारी को प्रतिदिन स्नान करके, पवित्र होकर, देव, ऋषि, पितरों का तर्पण तथा देवताओं का अर्चन एवं अग्निहोत्र आदि करना चाहिए।। १७६।।

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।। १७७।।

क्षौद्रं मांसं च न खादेत्। गन्धं च कर्पूरचन्दनकस्तूरिकादि वर्जयेत्। एषां च गन्धानां यथासंभवं भक्षणमनुलेपनं च निषिद्धम्। माल्यं च न धारयेत्। उद्रिक्तरसांश्च गुडादीन्न खादेत्। स्त्रियश्च नोपेयात्। यानि स्वभावतो मधुरादिरसानि काल-वशेनोदकवासादिना चाम्लयन्ति तानि शुक्तानि न खादेत्। प्राणिनां हिंसां न कुर्यात्।। १७७।।

ब्रह्मचारी को मधु, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्रियाँ तथा जो भी खट्टे पदार्थ हैं, वे सभी और प्राणियों की हिंसा का भी परित्याग करना चाहिए।। १७७।।

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभ च नर्तनं गीतवादनम्।। १७८।।

तैलादिना शिरःसहितदेहमर्दनलक्षणं, कज्जलादिभिश्च चक्षुषोरञ्जनं, पादुकायाश्छत्रस्य च धारणं, कामं मैथुनातिरिक्तविषयाभिलाषातिशयम्। मैथुनस्य स्त्रिय इत्यनेनैव निषिद्धत्वात्। क्रोधलोभनृत्यगीतवीणापणवादि वर्जयेत्।। १७८।।

उसे शरीर पर उबटन लगाना, आँखों में काजल का प्रयोग करना, जूते पहनना, छत्र धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत एवं संगीत आदि का भी परित्याग कर देना चाहिए।। १७८।।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।। १७९।।

अक्षक्रीडां, जनैः सह निरर्थकवाक्कलहं, परस्य दोषवादं, मृषाभिधानं, स्त्रीणां च मैथुनेच्छया सानुरागेण प्रेक्षणालिङ्गनं, परस्य चापकारं वर्जयेत्।। १७९।।

उसको जुआ खेलना, लोगों के साथ झगड़ा करना तथा दूसरों की निन्दा करना, असत्य बोलना, स्त्रियों को देखना, उनका आलिंगन करना एवं दूसरों का अपकार करना, इन सबको भी छोड़ देना चाहिए।। १७९।।

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः।। १८०।।

सर्वत्र नीचशय्यादावेकाकी शयनं कुर्यात्। इच्छया न स्वशुक्रं पातयेत्। यस्मादिच्छया स्वमेहनाच्छुक्रं पातयन्स्वकीयव्रतं नाशयति। व्रतलोपे चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात्।। १८०।।

वह सभी स्थानों पर अकेला शयन करे। उसे कहीं भी वीर्य का स्खलन नहीं करना चाहिए, क्योंकि कामवासना से वीर्यपात करता हुआ, वह अपने व्रत को नष्ट कर डालता है।। १८०।।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्।। १८१।।

ब्रह्मचारी स्वप्नादावनिच्छया रेतः सिक्त्वा कृतस्नानश्चन्दनाद्यनुलेपनपुष्पधूपादिभिः सूर्यमभ्यर्च्य "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इत्येतामृचं वारत्रयं पठेत्। इदमत्र प्रायश्चित्तम्।। १८१।।

द्विज ब्रह्मचारी अनिच्छापूर्वक स्वप्न में वीर्य के गिर जाने पर, स्नान करके सूर्य का पूजन करने के पश्चात्, 'पुनर्माम' इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्र का तीन बार जाप करे।। १८१।।

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।
आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्।। १८२।।

जलकलशपुष्पगोमयमृत्तिकाकुशान्यावदर्थानि यावद्भिः प्रयोजनानि आचार्यस्य तावन्त्याचार्यार्थमाहरेत्। अतएवोदकुम्भमित्यत्रैकत्वमप्यविवक्षितम्। प्रदर्शनं चैतत्। अन्यदप्याचार्योपयुक्तमुपाहरेद्भैक्षं च प्रत्यहमर्जयेत्।। १८२।।

पानी का घड़ा, पुष्प, गाय का गोबर, मिट्टी और कुशा, जितनी आवश्यकता हो उतनी ही लानी चाहिए तथा भिक्षाटन प्रतिदिन करना चाहिए।। १८२।।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्।। १८३।।

वेदयज्ञैश्चात्यक्तानां स्वकर्मसु दक्षाणां गृहेभ्यः प्रत्यहं ब्रह्मचारी सिद्धान्नभिक्षा-समूहमाहरेत्।। १८३।।

ब्रह्मचारी को प्रतिदिन वेद का अध्ययन करने वाले, यज्ञों का सम्पादन करने वाले, अपने कार्यों में प्रशंसनीय, लोगों के घरों से ही प्रयत्नपूर्वक भिक्षा के अन्न को लाना चाहिए।। १८३।।

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत्।। १८४।।

आचार्यस्य सपिण्डेषु, बन्धुषु, मातुलादिषु च न भिक्षेत। तद्गृहव्यतिरिक्त-भिक्षायोग्यगृहाभावे चोक्तेभ्यः पूर्वं पूर्वं वर्जयेत्। ततश्च प्रथमं बन्धून्भिक्षेत। तत्रालाभे ज्ञातीन्। तत्रालाभे गुरोरपि ज्ञातीन्भिक्षेत।। १८४।।

उसे गुरु के कुल में, ज्ञातिकुल तथा बन्धुओं के कुल में भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए एवं अन्य घरों में भिक्षा-प्राप्ति के अभाव में पूर्व-पूर्व का परित्याग करना चाहिए।। १८४।।

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसंभवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत्।। १८५।।

पूर्वं "वेदयज्ञैरहीनानाम्" (अ० २ श्लो० १८३) इत्यनेनोक्तानामसंभवे सर्वं वा ग्राममुक्तगुणरहितमपि शुचिर्मौनी भिक्षेत। महापातकाद्यभिशस्तांस्त्यजेत्।। १८५।।

पूर्व में कहे गए घरों में भी भिक्षा न मिलने पर, अपनी वाणी पर नियन्त्रण करके, प्रयत्नपूर्वक सम्पूर्ण गाँव में भिक्षाटन करना चाहिए किन्तु पापी लोगों को अवश्य छोड़ देना चाहिए।। १८५।।

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि।
सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः।। १८६।।

दूरादिग्भ्यः परिगृहीतवृक्षेभ्यः समिध आनीय आकाशे धारणाशक्तः पटलादौ स्थापयेत्। ताभिश्च समिद्भिः सायंप्रातरनले होमं कुर्यात्।। १८६।।

(ब्रह्मचारी को) दूर से समिधाएँ लाकर उन्हें छप्पर आदि पर रखना चाहिए तथा उन समिधाओं के द्वारा आलस्यरहित होकर प्रातः एवं सायं अग्निहोत्र सम्पादित करना चाहिए।। १८६।।

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्।। १८७।।

भिक्षाहारं, सायंप्रातः समिद्धोमं, अरोगो नैरन्तर्येण सप्तरात्रमकृत्वा लुप्तव्रतो भवति। ततश्चावकीर्णिप्रायश्चित्तं कुर्यात्।। १८७।।

यदि रोगरहित हुआ ब्रह्मचारी सात रात्रियों तक भिक्षावृत्ति न कर सके तथा अग्निहोत्र भी न कर सके तो उसे अवकीर्ण नामक व्रत का आचरण करना चाहिए।। १८७।।

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता।। १८८।।
(न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत्।। ९।।
भैक्षस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः।। १०।।)

ब्रह्मचारी न एकान्नमद्यात्किंतु बहुगृहाहृतभिक्षासमूहेन प्रत्यहं जीवेत्। यस्माद्भिक्षासमूहेन ब्रह्मचारिणो वृत्तिरुपवासतुल्या मुनिभिः स्मृता।। १८८।।

ब्रह्मचारी को प्रतिदिन भिक्षाटन करना चाहिए, उसे एक व्यक्ति द्वारा प्रदत्त अन्न को खाने वाला नहीं होना चाहिए। ब्रह्मचारी का भिक्षा द्वारा जीवनयापन करना, उपवास के समान माना गया है।। १८८।।

(दूसरे के द्वारा पकाया हुआ भिक्षान्न नहीं होता है और न ही अनुग्रहपूर्वक दिया गया दान भिक्षान्न होता है। भिक्षान्न तो सोमपान के समान है। इसलिए ब्रह्मचारी को भिक्षावृत्ति करनी चाहिए।। ९।।

वेदमन्त्रों द्वारा परिशुद्ध किए हुए, जल के द्वारा पवित्र तथा हवन किए गए भिक्षान्न के जिन ग्रासों का ब्रह्मचारी भक्षण करता है, वे ग्रास यज्ञों के समान होते हैं।। १०।।)

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत्।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते।। १८९।।

पूर्वनिषिद्धस्यैकान्नभोजनस्यायं प्रतिप्रसवः। देवदैवत्ये कर्मणि देवतोद्देशेनाभ्यर्थितो ब्रह्मचारी व्रतवदिति व्रतविरुद्धमधुमांसादिवर्जितमेकस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत। अथ पित्रुद्देशेनाभ्यर्थितो भवति तदा ऋषिर्यतिः सम्यग्दर्शनसंपन्नत्वात्स इव मधुमांसवर्जितमे-

कस्याप्यन्नं यथेप्सितं भुञ्जीत इति स एवार्थे वैदग्ध्येनोक्तः, तथापि भैक्षवृत्तिनियमरूपं व्रतमस्य लुप्तं न भवति। याज्ञवल्क्योऽपि श्राद्धेऽभ्यर्थितस्यैकान्नभोजनमाह—"ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि। ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन्।।" (अ० १ श्लो० ३२) इति। विश्वरूपेण तु "व्रतमस्य न लुप्यते" इति पश्यता ब्रह्मचारिणो मांसभक्षणमनेन मनुवचनेन विधीयत इति व्याख्यातम्।। १८९।।

देवताओं के निमित्त आयोजित कार्यों में सादर आमन्त्रित हुए ब्रह्मचारी को व्रत के अनुसार तथा पितृकार्य में ऋषि के समान इच्छानुसार भोजन करना चाहिए। ऐसा करने से इसका व्रत नष्ट नहीं होता है।। १८९।।

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते।। १९०।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रयाणामेव ब्रह्मचारिणां भैक्षाचरणविधानात् "व्रतवत्" (अ० २ श्लो० १८९) इत्यनेन तदपवादरूपमेकान्नभोजनमुपदिष्टं क्षत्रियवैश्ययोरपि पुनरुक्तेन पर्युदस्यते। एतदेकान्नभोजनरूपं कर्म तद्ब्राह्मणस्यैव वेदार्थविद्भिर्विहितं क्षत्रियवैश्ययोः पुनर्न चैतत्कर्मेति ब्रूते।। १९०।।

विद्वानों ने यह कार्य ब्राह्मण ब्रह्मचारी के लिए ही कहा है। वस्तुतः क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारी के लिए इस कर्म का विधान नहीं किया गया है।। १९०।।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।। १९१।।

आचार्येण प्रेरितो न प्रेरितो वा स्वयमेव प्रत्यहमध्ययने गुरुहितेषु चोद्योगं कुर्यात्।। १९१।।

ब्रह्मचारी को गुरु द्वारा प्रेरित होकर अथवा बिना प्रेरित हुए ही अध्ययन में तथा आचार्य के हितों में, हमेशा ही प्रयत्नशील रहना चाहिए।। १९१।।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम्।। १९२।।

देहवाग्बुद्धीन्द्रियमनांसि नियम्य कृताञ्जलिर्गुरुमुखं पश्यंस्तिष्ठेन्नोपविशेत्।। १९२।।

ब्रह्मचारी को अपने शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रिय तथा मन को नियन्त्रित करके हाथ जोड़कर, गुरु के मुख का अवलोकन करते हुए ही उसके समक्ष खड़ा होना चाहिए।। १९२।।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः।। १९३।।

सततमुत्तरीयाद्बहिष्कृतदक्षिणबाहुः, शोभनाचारः, वस्त्रावृतदेहः, आस्यतामिति गुरुणोक्तः सन् गुरोरभिमुखं यथा भवति तथा आसीत।। १९३।।

(ब्रह्मचारी को) हमेशा उत्तरीय से हाथ बाहर निकालकर, सदाचारपरायण तथा पूरी तरह अनुशासित रहना चाहिए। साथ ही गुरु द्वारा 'बैठ जाओ' इस प्रकार कहे जाने पर गुरु के सामने बैठ जाना चाहिए।। १९३।।

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्।। १९४।।

सर्वदा गुरुसमीपे गुर्वपेक्षया त्ववकृष्टान्नवस्त्रप्रसाधनो भवेत्। गुरोश्च प्रथमं रात्रिशेषे शयानादुत्तिष्ठेत्, प्रदोषे च गुरौ सुप्ते पश्चाच्छयीत।। १९४।।

उसे हमेशा गुरु के निकट कम अन्न, वस्त्र तथा वेष वाला ही होना चाहिए। उसे इस (गुरु) से पहले उठना तथा बाद में सोना चाहिए।। १९४।।

प्रतिश्रवणसंभाषे शयनो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः।। १९५।।

प्रतिश्रवणमाज्ञाङ्गीकरणं, संभाषणं च गुरोः शय्यायां सुप्तः, आसनोपविष्टो, भुञ्जानः, तिष्ठन्, विमुखश्च न कुर्यात्।। १९५।।

गुरु की आज्ञा को सुनने या सम्भाषण में, न तो सोते हुए, न बैठे हुए, न खाते हुए और न ही मुँह फेर कर खड़े हुए आचरण करना चाहिए।। १९५।।

कथं तर्हि कुर्यात्तदाह—

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः।। १९६।।

आसनोपविष्टस्य गुरोराज्ञां ददतः स्वयमासनादुत्थितः, तिष्ठतो गुरोरादिशतस्तदभिमुखं कतिचित्पदानि गत्वा, यथा गुरुरागच्छति तथाप्यभिमुखं गत्वा, यदा तु गुरुर्धावन्नादिशति तदा तस्य पश्चाद्धावन्प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात्।। १९६।।

अपितु बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर, खड़े हुए से उसके सामने जाकर, अपनी ओर आते हुए से शीघ्रतापूर्वक उनके पास पहुँचकर, जबकि दौड़ते हुए के पीछे दौड़ते हुए ही वार्तालाप करना चाहिए।। १९६।।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम्।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः।। १९७।।

पराङ्मुखस्य वादिशतः संमुखस्थो, दूरस्थस्य गुरोः समीपमागत्य, शयानस्य गुरोः प्रणम्य प्रह्वो भूत्वा, निदेशे निकटेऽवतिष्ठतो गुरोरादिशतः प्रह्वीभूयैव प्रतिश्रवणसंभाषे कुर्यात्।। १९७।।

इसके अतिरिक्त मुँह फेरे हुए गुरु के सामने पहुँचकर तथा दूर खड़े हुए के समीप जाकर, जबकि सोए हुए तथा बैठे हुए के पास जाकर, प्रणाम करके ही बात करनी चाहिए।। १९७।।

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्।। १९८।।

गुरुसमीपे चास्य गुरुशय्यासनापेक्षया नीचे एव शय्यासने नित्यं स्याताम्। यत्र च देशे समासीनं गुरुः पश्यति न तत्र यथेष्टचेष्टां चरणप्रसारादिकां कुर्यात्।। १९८।।

इसके साथ ही गुरु के सान्निध्य में इस ब्रह्मचारी की शय्या और आसन हमेशा नीचा ही रहना चाहिए। गुरु के नेत्रों के सामने तो कभी भी इच्छानुसार आसन पर नहीं बैठना चाहिए।। १९८।।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम्।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम्।। १९९।।
(परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वामुत्र चैत्यधः।। ११।।)

अस्य गुरोः परोक्षमपि उपाध्यायाचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम नोच्चारयेत्। नतु गुरोर्गमनभाषितचेष्टितान्यनुकुर्वीत गुरुगमनादिसदृशान्यात्मनो गमनादीन्युपहासबुद्ध्या न कुर्वीत।। १९९।।

परोक्ष में भी गुरु के केवल नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए तथा इनकी चालढाल, सम्भाषण और चेष्टाओं की भी (उपहास की दृष्टि से) नकल नहीं करनी चाहिए।। १९९।।

(परोक्ष में भी गुरु के नाम का शिष्टतापूर्वक उच्चारण करना चाहिए, प्रत्यक्ष में किसी भी स्थिति में नामोच्चारण नहीं करना चाहिए। गुरु के विषय में दुराचरण करने वाला, इस लोक तथा परलोक में अधोगति को प्राप्त होता है।। ११।।)

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः।। २००।।

विद्यमानदोषस्याभिधानं परीवादः, अविद्यमानदोषाभिधानं निन्दा। यत्र देशे गुरोः परीवादो निन्दा च वर्तते तत्र स्थितेन शिष्येण कर्णौ हस्तादिना तिरोधातव्यौ। तस्माद्वा देशाद्देशान्तरं गन्तव्यम्।। २००।।

अपितु जहाँ गुरु के दोषों का कथन या निन्दा की जा रही हो, वहाँ अपने दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए या फिर वहाँ से अन्यत्र चले जाना चाहिए।। २००।।

इदानीं शिष्यकर्तृकपरीवादकृतफलमाह—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी।। २०१।।

गुरोः परीवादाच्छिष्यो मृतः खरो भवति। गुरोर्निन्दकः कुक्कुरो भवति। परिभोक्ता अनुचितेन गुरुधनेनोपजीवकः कृमिर्भवति। मत्सरी गुरोरुत्कर्षासहनः कीटो भवति। कीटः कृमिभ्यः किंचित्स्थूलो भवति।। २०१।।

(गुरु का) परिवाद करने से व्यक्ति (अग्रिम जन्म में) गधा बनता है, निन्दा करने वाला वस्तुतः कुत्ता होता है। गुरु के धन का भोग करने वाला कृमि बनता है तथा गुरु से ईर्ष्या करने वाला कीडा बनता है।। २०१।।

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ।। २०२।।

दूरस्थः शिष्योऽन्यं नियुज्य माल्यवस्त्रादिना गुरुं नार्चयेत्। स्वयं गमनाशक्तौत्वदोषः। क्रुद्धः कामिनीसमीपे च स्थितं स्वयमपि नार्चयेत्। यानासनस्थश्च शिष्यो यानासनादवतीर्य गुरुमभिवादयेत्। यानासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायेत्यनेन यानासनादुत्थानं विहितमनेन तु यानासनत्याग इत्यपुनरुक्तिः।। २०२।।

शिष्य को दूर स्थित होकर गुरु की पूजा नहीं करनी चाहिए, न क्रुद्ध होकर, न स्त्रियों के समीप रहते हुए (पूजा करनी चाहिए)। इसके अतिरिक्त सवारी अथवा आसन पर स्थित शिष्य को उससे उतरकर ही गुरु का अभिवादन करना चाहिए।। २०२।।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किंचिदपि कीर्तयेत्।। २०३।।

प्रतिगतोऽभिमुखीभूतः शिष्यस्तदा गुरुदेशाच्छिष्यदेशमागच्छति स प्रतिवातः, यः शिष्यदेशाद्गुरुदेशमागच्छति सोऽनुवातः, तत्र गुरुणा समं नासीत। तथाऽविद्यमानः संश्रवो यत्र तस्मिन्नसंश्रवे। गुरुर्यत्र न श्रृणोतीत्यर्थः। तत्र गुरुगतमन्यगतं वा न किंचित्कथयेत्।। २०३।।

प्रतिकूल एवं अनुकूल वायु चलने पर गुरु के साथ नहीं बैठना चाहिए, साथ ही गुरु को सुनाई न देने की स्थिति में कुछ कहना भी नहीं चाहिए।। २०३।।

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च।। २०४।।

यानशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। बलीवर्दयाने, घोटकप्रयुक्ते याने, उष्ट्रयुक्तयाने, रथकाष्ठादौ, प्रासादोपरि, स्त्रस्तरे, कटे च तृणादिनिर्मिते, शिलायां, फलके च दारुघटितदीर्घासने, नौकायां च गुरुणा सह आसीत।। २०४।।

बैलगाड़ी, घोड़ा गाड़ी, ऊँटगाड़ी, महलों तथा घरों में बिछाए जाने वाले आस्तरणों पर तथा पत्थर, तख्ते एवं नौका पर शिष्य, गुरु के साथ बैठ सकता है।। २०४।।

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत्।। २०५।।

आचार्यस्याचार्ये सन्निहिते आचार्य इव तस्मिन्नप्यभिवादनादिकां वृत्तिमनुतिष्ठेत्। तथा गुरुगृहे वसन् शिष्य आचार्येणानियुक्तो न स्वान्गुरून्मातृपितृव्यादीनभिवादयेत्।। २०५।।

गुरु के भी गुरु के पास होने पर, उनसे गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए तथा गुरु की अनुमति के अभाव में अपने बड़ों को प्रणाम नहीं करना चाहिए।। २०५।।

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु।
प्रतिषेधत्सु चाधर्मान्हितं चोपदिशत्स्वपि।। २०६।।

आचार्यव्यतिरिक्ता उपाध्याया विद्यागुरवः तेष्वेतदेवेति सामान्योपक्रमः। किं तदाचार्य इव नित्या सार्वकालिकी वृत्तिर्विधेया। तथा स्वयोनिष्वपि पितृव्यादिषु तद्वृत्तिः अधर्मान्निषेधत्सु धर्मतत्त्वं चोपदिशत्सु गुरुवद्वर्तितव्यम्।। २०६।।

ज्ञानप्रदान करने वाले गुरुओं में, अपने कुल के श्रेष्ठपुरुषों में तथा अधर्म का निषेध करने वालों में एवं हितकारी उपदेश प्रदान करने वालों में भी सदैव यही व्यवहार करना चाहिए।। २०६।।

श्रेयःसु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु।। २०७।।

श्रेयःसु विद्यातपः समृद्धेषु, आर्येष्विति गुरुपुत्रविशेषणम्। समानजातिगुरुपुत्रेषु गुरोश्च ज्ञातिष्वपि पितृव्यादिषु सर्वदा गुरुवद्वृत्तिमनुतिष्ठेत्। गुरुपुत्रश्चात्र शिष्याधिकवयाश्च बोद्धव्यः। शिष्यबालसमानवयसामनन्तरं शिष्यस्य वक्ष्यमाणत्वात्।। २०७।।

ब्रह्मचारी को श्रेष्ठ पुरुषों में, (अग्रज गुरु) शिष्यों में, गुरु के पुत्रों में, गुरु के तथा अपने बन्धु-बान्धवों में हमेशा ही गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए।। २०७।।

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति।। २०८।।

कनिष्ठः सवया वा ज्येष्टोपि वा शिष्योऽध्यापयन्नध्यापनसमर्थः। गृहीतवेद इत्यर्थः। स यज्ञकर्मणि ऋत्विगनृत्विग्वा यज्ञदर्शनार्थमागतो गुरुवत्पूजामर्हति।। २०८।।

आयु में छोटा या समान आयु वाला अथवा शिष्य भी गुरु का पुत्र अध्यापन करता हुआ तथा यज्ञकार्य सम्पादित करता हुआ, गुरु के समान ही सम्मान के योग्य होता है।। २०८।।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम्।। २०९।।

गात्राणामुत्सादनमुद्वर्तनं, उच्छिष्टस्य भक्षणं, पादयोश्च प्रक्षालने गुरुपुत्रस्य न कुर्यात्।। २०९।।

ब्रह्मचारी को गुरु-पुत्र के शरीर के अङ्गों को दबाना, उसे स्नान कराना और उसका झूठा भोजन करना तथा पाद-प्रक्षालन करना इत्यादि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिएँ।। २०९।।

गृरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः।। २१०।।

सवर्णा गुरुपत्न्यः गुरुवदाज्ञाकरणादिना पूज्या भवेयुः। असवर्णाः पुनः केवल-प्रत्युत्थानाभिवादनैः।। २१०।।

समानवर्ण वाली गुरु-पत्नियाँ गुरु के समान ही सम्मान के योग्य होती हैं, किन्तु भिन्नवर्ण वाली स्त्रियाँ स्वागत के लिए उठकर, अभिवादन द्वारा ही आदर के योग्य होती हैं।। २१०।।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम्।। २११।।

तैलादिना देहाभ्यङ्गः, स्नापनं, गात्राणां चोद्वर्तनं, केशानां च मालादिना प्रसाधनमेतानि गुरुपत्न्या न कर्तव्यानि। केशानामिति प्रदर्शनमात्रार्थं देहस्यापि चन्दनादिना प्रसाधनं न कुर्यात्।। २११।।

ब्रह्मचारी को गुरु-पत्नी के शरीर के अङ्गों की मालिश, स्नान कराना, शरीर के अङ्गों पर उबटन लगाना तथा केशों का सजाना आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिएँ।। २११।।

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता।। २१२।।

युवतिर्गुरुपत्नी पादयोरुपसंगृह्य अभिवादनदोषगुणज्ञेन यूना नाभिवाद्या। पूर्णविंशतिवर्षत्वं यौवनप्रदर्शनार्थम्। बालस्य पादयोरभिवादनमनिषिद्धम्। यूनस्तु भूमावभिवादनं वक्ष्यति।। २१२।।

इस संसार में जिसने बीस वर्ष पूर्ण कर लिए हैं, गुण एवं दोषों का सम्यक् ज्ञान रखने वाले उस ब्रह्मचारी द्वारा, युवावस्था वाली गुरु की पत्नी, वस्तुतः चरणस्पर्श द्वारा अभिवादन करने योग्य नहीं होती है।। २१२।।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः।। २१३।।

स्त्रीणामयं स्वभावः यदिह शृङ्गारचेष्टया व्यामोह्य पुरुषाणां दूषणम्। अतोऽर्थादस्माद्धेतोः पण्डिताः स्त्रीषु न प्रमत्ता भवन्ति।। २१३।।

पुरुषों को दूषित करना इस संसार में स्त्रियों का स्वभाव ही है। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते हैं।। २१३।।

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम्।। २१४।।

विद्वानहं जितेन्द्रिय इति बुद्ध्या न स्त्रीसन्निधिर्विधेयः। यस्मादविद्वांसं विद्वांसमपि वा पुनः पुरुषं देहधर्मात्कामक्रोधवशानुयायिनं स्त्रिय उत्पथं नेतुं समर्थाः।। २१४।।

क्योंकि इस संसार में काम-क्रोध के वशीभूत मूर्ख व्यक्ति को, यहाँ तक कि विद्वान् व्यक्ति को भी स्त्रियाँ, वस्तुतः कुमार्ग पर ले जाने में समर्थ होती हैं।। २१४।।

अत आह-

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।। २१५।।

मात्रा, भगिन्या, दुहित्रा, निर्जनगृहादौ नासीत। यतोऽतिबल इन्द्रियगणः शास्त्रनियमितात्मानमपि पुरुषं परवशं करोति।। २१५।।

माता, बहिन अथवा पुत्री के साथ भी एकान्त सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियों का समुदाय बलवान् है। वह विद्वान् को भी आकृष्ट कर लेता है।। २१५।।

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन्।। २१६।।

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां स्वयमपि युवा यथोक्तविधिना "अभिवादयेऽमुकशर्माहं भोः" इति ब्रुवन्पादग्रहणं विना यथेष्टमभिवादनं कुर्यात्।। २१६।।

उचित तो यही है कि युवा ब्रह्मचारी को युवा गुरुपत्नी का 'वह मै हूँ' इस प्रकार कहते हुए, भूमि पर ही विधिपूर्वक नमन करके अभिवादन करना चाहिए।। २१६।।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन्।। २१७।।

प्रवासादागत्य सव्येन सव्यं दक्षिणेन च दक्षिणमित्युक्तविधिना पादग्रहणं प्रत्यहं भूमावभिवादनं च गुरुपत्नीषु युवा कुर्यात्। शिष्टानामयमाचार इति जानन्तु।। २१७।।

सज्जनों के धर्म का स्मरण करते हुए, प्रवास से लौटकर शिष्य को गुरुपत्नियों के चरणस्पर्श करने चाहिएँ तथा प्रतिदिन केवल अभिवादन ही करना चाहिए।। २१७।।

उक्तस्य शुश्रूषाविधेः फलमाह-

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।। २१८।।

यथा कश्चिन्मनुष्यः खनित्रेण भूमिं खनन् जलं प्राप्नोति, एवं गुरौ स्थितां विद्यां गुरुसेवापरः शिष्यः प्राप्नोति।। २१८।।

जिसप्रकार फावड़े से खोदता हुआ मनुष्य जल प्राप्त कर लेता है, ठीक उसीप्रकार गुरु की सेवा करने वाला शिष्य, गुरु में विद्यमान विद्या को प्राप्त कर लेता है।। २१८।।

ब्रह्मचारिणः प्रकारत्रयमाह-

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित्।। २१९।।

मुण्डितमस्तकः, शिरःकेशा जटावान्वा, शिखैव वा जटा जाता यस्य, एनं ब्रह्मचारिणं क्वचिद्ग्रामे निद्राणं, उत्तरत्र शयानमिति दर्शनात्सूर्यो नाभिनिम्लोचेन्नास्तमियात्।। २१९।।

ब्रह्मचारी मुँडे सिर वाला हो या जटाधारी हो अथवा केवल शिखारूप जटा को धारण करने वाला ही क्यों न हो। इसे गाँव में सूर्य न तों अस्त होना चाहिए और न ही कभी उदय होना चाहिए।। २१९।।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम्।। २२०।।

तं चेत्कामतो निद्राणं निद्रोपवशत्वेन सूर्योऽभ्युदियादस्तमियात्तदा सावित्रीं जपन्नुभयत्रापि दिनमुपवसन् रात्रौ भुञ्जीत। अभिनिर्मुक्तस्योत्तरेऽहनि उपवासजपौ। "अभिरभागे" (पा० सू० १।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा, ततः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। सावित्रीजपं तु गोतमवचनात्। तदाह गोतमः- "सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम्"। ननु गोतमवचनात्सूर्याभ्युदितस्यैव दिनाभोजनजपावुक्तौ, अभ्यस्तमितस्य तु रात्र्यभोजनजपौ, नैतत्। अपेक्षायां व्याख्यासंदेहे वा मुन्यन्तरविवृतमर्थमन्वयं वाश्रयामहे ननु स्फुटं मन्वर्थं स्मृत्यन्तरदर्शनादन्यथा कुर्मः। अतएव जपापेक्षायां गोतमवचनात्सावित्रीजपोऽभ्युपेय एव न तूभयत्र स्फुटं मनूक्तं दिनोपवासजपावपाकुर्मः। तस्मादभ्यस्तमितस्य मानवगोतमीयप्रायश्चित्तविकल्पः।। २२०।।

यदि इच्छानुसार सोते हुए उस ब्रह्मचारी को सूर्योदय हो जाए अथवा अज्ञानवश सूर्यास्त हो जाए तो, उसे पूरे दिन गायत्री का जप करते हुए उपवास करना चाहिए।। २२०।।

अस्य तु प्रायश्चित्तविधेरर्थवादमाह—

सूर्येण ह्यभिनिर्मुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा।। २२१।।

यस्मात्सूर्येणाभिनिर्मुक्तोऽभ्युदितश्च निद्राणः प्रायश्चित्तमकुर्वन्महता पापेन युक्तो नरकं गच्छति। तस्माद्यथोक्तप्रायश्चित्तं कुर्यात्।। २२१।।

क्योंकि जो सोते हुए सूर्यास्त एवं सूर्योदय करता है, प्रायश्चित्त नहीं करता हुआ वह महान् पाप से युक्त हो जाता है।। २२१।।

यस्मादुक्तप्रकारेण संध्यातिक्रमे महत्पापमतः—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे संध्ये समाहितः।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि।। २२२।।

आचम्य पवित्रो नित्यमनन्यमनाः शुचिदेशे सावित्रीं जपन्नुभे संध्ये विधिवदुपासीत।। २२२।।

आचमन करके इन्द्रियों को वश में किए हुए, एकाग्रचित हुआ ब्रह्मचारी प्रतिदिन, पवित्रस्थान पर जप के योग्य गायत्री आदि का जप करता हुआ, दोनों संध्याओं में विधिपूर्वक उपासना करे।। २२२।।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः।। २२३।।

यदि स्त्री शूद्रो वा किंचिच्छ्रेयोऽनुतिष्ठति तत्सर्वं युक्तोऽनुतिष्ठेत्। यत्र च शास्त्रानिषिद्धे मनोऽस्य तुष्यति तदपि कुर्यात्।। २२३।।

स्त्री अथवा शूद्र जहाँ भी इसका मन रमे, इन्हें सभी शास्त्रसम्मत आचरण ही करने चाहिएँ और जो कुछ भी कल्याणकारी है, उसी का आचरण करे।। २२३।।

श्रेय एव हि धर्मार्थौ तद्दर्शयति—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।। २२४।।

धर्मार्थौ श्रेयोऽभिधीयते कामहेतुत्वादिति केचिदाचार्या मन्यन्ते। अन्ये त्वर्थकामौ सुखहेतुत्वाच्छ्रेयोऽभिधीयते। धर्म एवेत्यपरे। अर्थकामयोरप्युपायत्वात्। अर्थ एवेह लोके श्रेय इत्यन्ये। धर्मकामयोरपि साधनत्वात्। संप्रति स्वमतमाह— धर्मार्थकामात्मकः परस्पराविरुद्धस्त्रिवर्ग एव पुरुषार्थतया श्रेय इति विनिश्चयः। एवं च बुभुक्षून्प्रत्युपदेशो न मुमुक्षून्। मुमुक्षूणां तु मोक्ष एव श्रेय इति षष्ठे वक्ष्यते।। २२४।।

इस संसार में कुछ लोग धर्म एवं अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं तो कुछ काम और अर्थ को। जबकि कुछ धर्म को ही श्रेयष्कर कहते हैं, (कुछ की दृष्टि

में) धन ही श्रेष्ठ है। वस्तुतः धर्म, अर्थ और काम यह त्रिवर्ग ही कल्याणकारी है, यह वस्तुस्थिति है।। २२४।।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः।। २२५।।

आचार्यो जनको जननी च भ्राता च सगर्भो ज्येष्ठः पीडितेनाप्यमी नावमाननीयाः। विशेषतो ब्राह्मणेन यस्मात्।। २२५।।

दुःखी व्यक्ति को भी आचार्य माता, पिता और बड़े भाई का अपमान नहीं करना चाहिए, विशेषतया ब्राह्मण को तो बिल्कुल नहीं।। २२५।।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापते।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।। २२६।।

आचार्यो वेदान्तोदितस्य ब्रह्मणः परमात्मनो मूर्तिः शरीरं, पिता हिरण्यगर्भस्य, माता च धारणात्पृथिवीमूर्तिः, भ्राता च स्वः सगर्भः क्षेत्रज्ञस्य। तस्माद्देवतारूपा एता नावमन्तव्याः।। २२६।।

आचार्य ब्रह्म की मूर्ति है, पिता प्रजापति की मूर्ति है, जबकि माता पृथिवी की मूर्ति तथा अपना भाई स्वयं की मूर्ति होती है (इसलिए इनका अपमान नहीं करना चाहिए)।। २२६।।

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।। २२७।।

नृणामपत्यानां संभवे गर्भाधाने सति अनन्तरं यं क्लेशं मातापितरौ सहेते तस्य वर्षशतैरप्यनेकैरपि जन्मभिरानृण्यं कर्तुमशक्यम्। मातुस्तावत्कुक्षौ धारणदुःखं, प्रसववेदनातिशयो, जातस्य रक्षणवर्धनकष्टं च पितुरधिकान्येव। रक्षासंवर्धनदुःखं, उपनयनात्प्रभृति वेदतदङ्गाध्यापनादिक्लेशातिशय इति सर्वसिद्धं तस्मात्।। २२७।।

मनुष्यों की उत्पत्ति में माता-पिता जो कष्ट सहन करते हैं, उसका प्रतिकार सैंकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता है।। २२७।।

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते।। २२८।।

तयोर्मातापित्रोः प्रत्यहमाचार्यस्य च सर्वदा प्रीतिमुत्पादयेत्। यस्मात्तेष्वेव त्रिषु प्रीतेषु सर्वं तपश्चान्द्रायणादिकं फलद्वारेण सम्यक्प्राप्यते मात्रादित्रयतुष्ट्यैव सर्वस्य तपसः फलं प्राप्यत इत्यादि।। २२८।।

उन दोनों माता पिता का प्रतिदिन तथा आचार्य का हमेशा प्रिय करना चाहिए। उन तीनों के सन्तुष्ट होने पर सभी तप पूर्ण हो जाते हैं।। २२८।।

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्।। २२९।।

तेषां मातापित्राचार्याणां परिचर्या सर्व तपोमयं श्रेष्ठमित एव सर्वतपःफलप्राप्तेर्यद्यन्यमपि धर्मं कथंचित्करोति तदप्येतत्रयानुमतिव्यतिरेकेण न कुर्यात्।। २२९।।

उन तीनों की सेवा ही परमतप कहा गया है, उनकी आज्ञा के अभाव में व्यक्ति को अन्य धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए।। २२९।।

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः।। २३०।।

यस्मात्त एव मातापित्राचार्यास्त्रयो लोकाः लोकत्रयप्राप्तिहेतुत्वात्। कारणे कार्योपचारः। त एव ब्रह्मचर्यादिभावत्रयरूपा आश्रमाः। गार्हस्थ्याद्याश्रमत्रयप्रदायकत्वात्। त एव त्रयो वेदाः। वेदत्रयजपफलोपायत्वात्। त एव हि त्रयोऽग्नयोऽभिहितास्त्रेतासंपाद्ययज्ञादिफलदातृत्वात्।। २३०।।

क्योंकि वे ही तीन लोक हैं, वे ही तीन आश्रम हैं, वे ही तीन वेद हैं तथा वे ही तीन अग्नियाँ कही गई हैं।। २३०।।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्मातााग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी।। २३१।।

वैशब्दोऽवधारणे। पितैव गार्हपत्योऽग्निः, माता दक्षिणाग्निः, आचार्य आहवनीयः। सेयमग्नित्रेता श्रेष्ठतरा। स्तुत्यर्थत्वाच्चास्य न वस्तुविरोधोऽत्र भावनीयः।। २३१।।

वस्तुतः पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिण अग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि होता है। वे तीनों अग्नि ही श्रेष्ठ मानी गई हैं।। २३१।।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते।। २३२।।

एतेषु त्रिषु प्रमादमकुर्वन्ब्रह्मचारी तावज्जयत्येव गृहस्थोऽपि त्रींल्लोकान्विजयते। संज्ञापूर्वकस्यात्मनेपदविधेरनित्यत्वान्न "विपराभ्यां जेः" (पा० सू० १/३/१९) इत्यात्मनेपदम्। त्रींल्लोकान्विजयेदिति त्रिष्वाधिपत्यं प्राप्नोति। तथा स्ववपुषा प्रकाशमानः सूर्यादिदेववद्दिवि हृष्टो भवति।। २३२।।

इन तीनों में प्रमाद न करता हुआ गृहस्थ व्यक्ति तीनों लोकों को जीत लेता है तथा अपने शरीर से प्रकाशित होता हुआ वह, देवताओं के समान स्वर्गलोक में आनन्दित होता है।। २३२।।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।। २३३।।

इमं भूर्लोकं मातृभक्त्या। पितृभक्त्या मध्यममन्तरिक्षम्। आचार्यभक्त्या तु हिरण्यगर्भलोकमेव प्राप्नोति।। २३३।।

वह माता की भक्ति से इस लोक को, पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक को तथा गुरु की सेवा द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है।। २३३।।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः।। २३४।।

यस्यैते त्रयो मातृपित्राचार्या आदृताः सत्कृतास्तस्य सर्वे धर्माः फलदा भवन्ति। यस्यैते त्रयोऽनादृतास्तस्य सर्वाणि श्रौतस्मार्तकर्माणि निष्फलानि भवन्ति।। २३४।।

जिसके माता-पिता और गुरु ये तीनों समादृत हैं, उसके सभी धर्म सत्कृत हैं, किन्तु जिसके ये तीनों आदरयुक्त नहीं हैं, उसकी सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।। २३४।।

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः।। २३५।।

ते त्रयो यावज्जीवन्ति तावदन्यं धर्मं स्वातन्त्र्येण नानुतिष्ठेत्। तदनुज्ञया तु धर्मानुष्ठानं प्राग्विहितमेव। किंतु तेष्वेव प्रत्यहं प्रियहितपरः शुश्रूषां तदर्थे प्रीतिसाधनं प्रियम्। भेषजपानादिवदाय त्यामिष्टसाधनं हितम्।। २३५।।

जब तक वे तीनों माता, पिता और आचार्य जीवित रहें, तब तक अन्य कोई कार्य नहीं करना चाहिए, केवल उनकी प्रसन्नता एवं कल्याण में लगे हुए हमेशा उनकी ही सेवा करनी चाहिए।। २३५।।

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत्।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः।। २३६।।

तेषां शुश्रूषाया अविरोधेन तदनुज्ञातो यद्यन्मनोवचनकर्मभिः परलोकफलं कर्मानुष्ठितं तन्मयैतदनुष्ठितमिति पश्चात्तेभ्यो निवेदयेत्।। २३६।।

उनकी अनुमति से मन-वचन और कर्म द्वारा जिस-जिस परलोक विषयक कर्म का आचरण करे, उस-उसका उनके लिए निवेदन कर देना चाहिए।। २३६।।

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते।। २३७।।

इतिशब्दः कात्स्न्र्ये। हिशब्दो हेतौ। यस्मादेतेषु त्रिषु शुश्रूषितेषु पुरुषस्य सर्वं श्रौतस्मार्तं कर्तव्यं संपूर्णमनुष्ठितं भवति। तत्फलावाप्तेः। तस्मादेव श्रेष्ठो धर्मः साक्षात्सर्वपुरुषार्थसाधनः। अन्यस्त्वग्निहोत्रादिप्रतिनियतस्वर्गादिहेतुरूपधर्मो जघन्यधर्म इति शूश्रूषास्तुतिः।। २३७।।

क्योंकि इन तीनों की सेवा में ही पुरुष के सभी कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। इसलिए यही साक्षात् परमधर्म है। अन्यों को तो गौणधर्म ही कहा जाता है।। २३७।।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।। २३८।।

श्रद्धायुक्तः शुभां दृष्टशक्तिं गारुडादिविद्यामवराच्छूद्रादपि गृह्णीयात्। अन्त्यश्चाण्डालस्तस्मादपि जातिस्मरादेर्विहितयोगप्रकर्षात् दुष्कृतशेषोपभोगार्थमवाप्त-चाण्डालजन्मनः परं धर्मं मोक्षोपायमात्मज्ञानमाददीत। तथा अज्ञानमेवोपक्रम्य मोक्षधर्मे "प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात्क्षत्रियाद्वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णं श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यम्।" न श्रद्धिनं प्रति जन्ममृत्युविशेषता। मेधातिथिस्तु "श्रुतिस्मृत्यपेक्षया परो धर्मो लौकिकः। धर्मशब्दो व्यवस्थायामपि युज्यते। यदि चाण्डालोऽपि 'अत्र प्रदेशे मा चिरं स्था मा चास्मिन्नम्भसि स्नासीः' इति वदति तमपि धर्ममनुतिष्ठेत्"। "प्रागल्भ्याल्लौकिकं वस्तुपरं धर्ममिति ब्रुवन्। चित्रं तथापि सर्वत्र श्लाघ्यो मेधातिथिः सताम्।।' स्त्रीरत्नं आत्मापेक्षया निकृष्टकुलादपि परिणेतुं स्वीकुर्यात्।। २३८।।

श्रद्धावान् व्यक्ति कल्याणकारी विद्या को निम्नव्यक्ति से भी, परमधर्म को चाण्डाल से भी तथा स्त्रीरत्न को नीचकुल से भी ग्रहण कर लेवे।। २३८।।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्।। २३९।।

विषं यद्यमृतसंयुक्तं भवति तदा विषमपसार्य तस्मादमृतं ग्राह्यम्। बालादपि हितवचनं ग्राह्यं, शत्रुतोऽपि सज्जनवृत्तं, अमेध्यादपि सुवर्णादिकं ग्रहीतव्यम्।। २३९।।

विष से भी अमृत को, बालक से भी सूक्ति को, शत्रु से भी सदाचार को तथा अपवित्र स्थान से भी सोने को ग्रहण कर लेना चाहिए।। २३९।।

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः।। २४०।।

अत्र स्त्र्यादीनामुक्तानामपि दृष्टान्तत्वेनोपादानम्।। यथा स्त्र्यादयो निकृष्टकुलादिभ्यो गृह्यन्ते तथा अन्यान्यपि हितानि चित्रलेखनादीनि सर्वतः प्रतिग्रहीतव्यानि।। २४०।।

इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, सूक्तिवचन तथा विविध प्रकार के शिल्पों को सभी स्थानों से ग्रहण कर लेना चाहिए।। २४०।।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः।। २४१।।

ब्राह्मणादन्यो यो द्विजः क्षत्रियस्तदभावे वैश्यो वा तस्मादध्ययनमापत्काले ब्राह्मणाध्यापकासंभवे ब्रह्मचारिणो विधीयते। अनुव्रज्यादिरूपा गुरोः शुश्रूषा यावदध्ययनं तावत्कार्या। गुरुपादप्रक्षालनोच्छिष्टप्राशनादिरूपा शुश्रूषा प्रशस्ता सा न कार्या। तदर्थमनुव्रज्या चेति विशेषितम्। गुरुत्वमपि यावदध्ययनमेव क्षत्रियस्याह व्यासः—"मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शूश्रूषानुगमादिना। प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः"।। २४१।।

आपत्ति के समय अब्राह्मण से भी अध्ययन का विधान किया गया है, किन्तु इसप्रकार के गुरु का अनुकरण तथा सेवा केवल अध्ययनपर्यन्त ही करनी चाहिए।। २४१।।

ब्रह्मचारित्वे नैष्ठिकस्याप्यब्राह्मणादध्ययनं प्रसक्तं प्रतिषेधयति—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम्।। २४२।।

आत्यन्तिकं वासं यावज्जीविकं ब्रह्मचर्यं क्षत्रियादिके गुरौ ब्राह्मणे साङ्गवेदानध्येतरि अनुत्तमां गतिं मोक्षलक्षणामिच्छन् शिष्यो नावतिष्ठेत।। २४२।।

सर्वोत्कृष्ट गति को चाहता हुआ शिष्य, वेदज्ञान से रहित गुरु तथा ब्राह्मण से भिन्न गुरु में आत्यन्तिक निवास (जीवनपर्यन्त) न करे।। २४२।।

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्।। २४३।।

यदि तु गुरोः कुले नैष्ठिकब्रह्मचर्यात्मकमात्यन्तिकं वासमिच्छेत्तदा यावज्जीवनमुद्युक्तो गुरुं शुश्रूषयेत्।। २४३।।

यदि किसी शिष्य को गुरुकुल में आत्यन्तिक निवास करना अच्छा लगता है तो गुरु के शरीर परित्यागपर्यन्त उसे इसकी सेवा करनी चाहिए।। २४३।।

अस्य फलमाह—

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्।। २४४।।

समाप्तिः शरीरस्य जीवनत्यागस्तत्पर्यन्तं यो गुरुं परिचरति स तत्त्वतो ब्रह्मणः सद्म रूपमविनाशि प्राप्नोति। ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः।। २४४।।

किन्तु जो ब्राह्मण शरीरपातपर्यन्त गुरु की सेवा करता है, वेदज्ञान से युक्त वह अनायास ही नित्यपद को प्राप्त कर लेता है।। २४४।।

न पूर्वं गुरवे किंचिदुपकुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरुणाज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्।। २४५।।

उपकुर्वाणस्यायं विधिः नैष्ठिकस्य स्नानासंभवात्। गुरुदक्षिणादानं धर्मज्ञो ब्रह्मचारी स्नानात्पूर्वं किंचिद्गोवस्त्रादि धनं गुरवे नावश्यं दद्यात्। यदि तु यदृच्छातो लभते तदा गुरवे दद्यादेव। अतएव स्नानात्पूर्वं गुरवे दानमाहापस्तम्बः—"यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एव ताः स एव ब्रह्मचारिणो यज्ञो नित्यव्रतम्" इति। स्नास्यन्पुनर्गुरुणा दत्ताज्ञो यथाशक्ति धनिनं याचित्वापि प्रतिग्रहादिनापि गुरवेऽर्थमाहृत्यावश्यं दद्यात्।। २४५।।

धर्म को जानने वाला शिष्य, गुरु के लिए पहले कुछ भी निवेदन न करे, किन्तु समावर्तन संस्कार विषयक स्नान की इच्छा करता हुआ, गुरु की आज्ञा से अपनी शक्ति के अनुसार गुरु के लिए दक्षिणा का आहरण करे।। २४५।।

किं तत्तदाह—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम्।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत्।। २४६।।

"शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्" (अ० २ श्लो० २४५) इत्युक्तत्वात्क्षेत्रहिरण्यादिकं यथासामर्थ्यं विकल्पितं समुदितं वा गुरवे दत्वा तत्प्रीतिमर्जयेत्। विकल्पपक्षे चान्ततोऽन्यासंभवे छत्रोपानहमपि दद्यात् द्वन्द्वनिर्देशात्। समुदितदानं प्रदर्शनार्थं चैतत्। संभवेऽन्यदपि दद्यात्। अतएव लघुहारीतः—"एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्।।" असंभवे शाकमपि दद्यात्।। २४६।।

कृषि योग्य भूमि, सोना, गाय, घोड़ा, छाता, जूते, आसन, धान्य और शाक तथा वस्त्र (आदि) गुरु को निवेदन करके उन्हें प्रसन्न करना चाहिए।। २४६।।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।
गुरुद्वारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्।। २४७।।

नैष्ठिकस्यायमुपदेशः। आचार्ये मृते तत्सुते विद्यादिगुणयुक्ते, तदभावे गुरुपत्न्यां, तदभावे गुरोः सपिण्डे पितृव्यादौ गुरुवच्छुश्रूषामनुतिष्ठेत्।। २४७।।

जबकि आचार्य के उपरत होने पर, गुणयुक्त गुरुपुत्र में, गुरुपत्नी में, गुरु के सपिण्ड में ही गुरु के समान व्यवहार का आचरण करना चाहिए।। २४७।।

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्देहमात्मनः।। २४८।।

एतेषु त्रिष्वविद्यमानेषु सततमाचार्यस्यैवाग्नेः समीपे स्नानासनविहारैः सायंप्रातरादौ समिद्धोमादिना चाग्नेः शुश्रूषां कुर्वन्नात्मनो देहमात्मदेहावच्छिन्नं जीवं ब्रह्मप्राप्तियोग्यं साधयेत्।। २४८।।

इन सबके न रहने पर स्नान, आसन और विहार करते हुए, यज्ञ की अग्नि की सेवा करते हुए, उसे अपने शरीर को मोक्ष के योग्य बनाना चाहिए।। २४८।।

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः।। २४९।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां द्वितीयोऽध्यायः।। २।।

"आ समाप्तेः शरीरस्य" (अ० २ श्लो० २४४) इत्यनेन यावज्जीवमाचार्यशुश्रूषाया माक्षलक्षणं फलम्। इदानीमाचार्ये मृतेऽपि एवमित्यनेनानन्तरोक्तविधिना आचार्यपुत्रादीनामप्यग्निपर्यन्तानां शूश्रूषको यो नैष्ठिकब्रह्मचर्यमखण्डितव्रतोऽनुतिष्ठति स उत्तमं स्थानं ब्रह्मण्यात्यन्तिकलक्षणं प्राप्नोति। न चेह संसारे कर्मवशादुत्पत्तिं लभते।। २४९।। क्षे०।। ११।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ द्वितीयोऽध्यायः।। २।।

जो अखण्डित ब्रह्मचर्य वाला ब्राह्मण इसप्रकार आचरण करता है, वह उत्तम स्थान को प्राप्त करता है तथा इस संसार में फिर से उत्पन्न नहीं होता है।। २४९।।

।। इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र मे महर्षि भृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार डॉ. राकेश शास्त्री द्वारा किया गया मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय का हिन्दी अनुवाद सम्पन्न हुआ।।

अथ तृतीयोऽध्याय:

पूर्वत्र "आ समाप्तेः शरीरस्य" (अ० २ श्लो० २४४) इत्यनेन नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यमुक्तं न तत्रावध्यपक्षां आ समावर्तनादित्यनेन चोपकुर्वाणकस्य सावधिब्रह्मचर्य-मुक्तम्। अतस्तस्यैव गार्हस्थ्याधिकारः। तत्र कियदवधिविधौ ब्रह्मचर्ये तस्य गार्हस्थ्य-मित्यपेक्षायामाह—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।। १।।

त्रयो वेदा ऋग्यजुःसामाख्यास्तेषां समाहारस्त्रिवेदी तद्विषयं व्रतं स्वगृह्योक्तनियम-समूहरूपं षट्त्रिंशद्वर्षं यावद्गुरुकुले चरितव्यम्। षट्त्रिंशदाब्दिकमिति षट्त्रिंशदब्दशब्दात् "कालाट्ठञ्" (पा० सू० ४/३/११) अस्मिंश्च पक्षे "समं स्यादश्रुतत्वात्" इति न्यायेन प्रतिवेदशास्त्रं द्वादशवर्षाणि व्रताचरणम्। तदर्धिकमष्टादश वर्षाणि। तत्र प्रतिवेदशाखं षट्। पादिकं नव वर्षाणि। तत्र प्रतिवेदशाखं त्रीणि। यावता कालेनोक्तावधेरूर्ध्वमधो वा वेदान्गृह्णाति तावत्कालं वा व्रताचरणम्। विषमशिष्टत्वेऽपि पक्षाणामेका देयास्तिस्त्रो देयाः षड्देया इतिवन्नियमफले न्यूनापेक्षो विकल्पः तथा च श्रुतिः—"नियमेनाधीतं वीर्यवत्तरं भवति" इति। ग्रहणान्तिकपक्षसंदर्शनात्पूर्वोक्त-पक्षत्रये ग्रहणादूर्ध्वमपि व्रतानुष्ठानमवगम्यते। अथर्ववेदस्यऋग्वेदांशत्वेऽपि "ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणां चतुर्थम्" इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थवेदत्वेन कीर्तनात्। "अङ्गानि वेदाश्चत्वारः" इति विष्णुपुराणादिवाक्येषु च पृथङ्निर्देशाच्चतुर्थ- वेदत्वेऽपि प्रायेणाभिचाराद्यर्थत्वाद्यज्ञविद्यायामनुपयोगाच्चानिर्देशः। तथाहि 'ऋग्वेदेनैव होत्रं कुर्वन्यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनौद्गात्रं यदेव त्रय्यै विद्यायै सूक्तं तेन ब्रह्मत्वम्" इति श्रूतेस्त्रयीसंपाद्यत्वं यज्ञानां ज्ञायते। अयं च मानवस्त्रैवेदिकव्रतचर्याविधिर्नाथर्व-वेदव्रतचर्यां निषेधयति। तत्परत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गाच्छुत्यन्तरे वेदमात्रे व्रतश्रवणाच्च। यदाह योगियाज्ञवल्क्यः—"प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा" (अ० १ श्लो० ३६)।। १।।

ब्रह्मचारी को गुरु के पास में छत्तीस वर्ष तक या उसका आधा अठारह वर्ष अथवा जितने समय में वेदज्ञान ग्रहण किया जा सके, उतने समय तक तीनों वेदों के अध्ययनरूपी व्रत का आचरण करना चाहिए।। १।।

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।। २।।

वेदशब्दोऽयं भिन्नवेदशाखापरः। स्वशाखाध्ययनपूर्वकवेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्रब्राह्मणक्रमेणाधीत्य गृहस्थाश्रमं गृहस्थविहितकर्मकलापरूपमनुतिष्ठेत्। कृतदारपरिग्रहोगृहस्थः। गृहशब्दस्य दारवचनत्वात्। अविप्लुतब्रह्मचर्य इति पूर्वविहितस्त्रीसंयोगमधुमांसभक्षणवर्जनरूपब्रह्मचर्यानुवादोऽयं प्रकृष्टाध्ययनाङ्गत्व-ख्यापनार्थः। पुरुषशक्त्यपेक्षश्चायमेकद्वित्रिशाखाध्ययनविकल्पः। यद्यपि व्रतानि वेदाध्ययनं च नित्यवदुपदिशता मनुनोभयस्नातक एव श्रेष्ठत्वादभिहितस्तथापि स्मृत्यन्तरादन्यस्नातकोऽपि बौद्धव्यः। तदाह हारीतः—''त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च'' इति। यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदं समावर्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य समावर्तते य स विद्याव्रतस्नातकः। याज्ञवल्क्योऽप्याह— ''वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा'' (अ० १ श्लो० ५१) इति।। २।।

अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला ब्रह्मचारी, क्रमशः तीनों वेदों का अथवा दो वेदों का या एक वेद का भी अपनी शक्ति के अनुसार अध्ययन करके ही गृहस्थ आश्रम में निवास करे।। २।।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा।। ३।।

तं ब्रह्मचारिधर्मानुष्ठानेन ख्यातं, दीयत इति दायः ब्रह्मैव दायो ब्रह्मदायः तं हरतीति ब्रह्मदायहरं, पितुः पितृतो गृहीतवेदमित्यर्थः। पितृतोऽध्ययनं मुख्यमुक्तं, पितुरभाव आचार्यादेरप्यधीतवेदं मालयालंकृतं उत्कृष्टशयनोपविष्टं गोसाधनमधुपर्केण पिता आचार्यो वा विवाहात्प्रथमं पूजयेत्।। ३।।

अपने धर्म के अनुकूल आचरण करने वाले, पिता से वेदज्ञान को प्राप्त किए हुए, माला पहने हुए, श्रेष्ठ आसन पर बैठे हुए ब्रह्मचारी को, पिता अथवा आचार्य का गोदुग्ध निर्मित मधुपर्क द्वारा पूजन करना चाहिए।। ३।।

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।। ४।।

गुरुणा दत्तानुज्ञः स्वगृह्योक्तविधिना कृतस्नानसमावर्तनः समानवर्णां शुभलक्षणां कन्यां विवहेत्।। ४।।

गुरु से अनुमति प्राप्त स्नान करके विधिविधानपूर्वक समावर्तन संस्कार किया हुआ द्विज ब्रह्मचारी शुभलक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करे।। ४।।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।। ५।।

मातुर्या सपिण्डा न भवति। सप्तमपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति "सपिण्डता तु पुरुषो सप्तमे विनिवर्तते" (अ० ५ श्लो० ६१) इति। तेन मातामहादिवंशजा जाया न भवतीत्यर्थः। चशब्दान्मातृसगोत्रापि मातृवंशपरंपराजन्मनाम्नोः प्रत्यभिज्ञाने सति न विवाह्या, तदितरा तु मातृसगोत्रा विवाह्येति संगृहीतं तथाच व्यासः—"सगोत्रां मातुरप्येके नेच्छन्त्युयुद्वाहकर्मणि। जन्मनाम्नोरविज्ञान उद्वहेदविशङ्कितः।। " यत्तु मेधातिथिना वसिष्ठनाम्ना मातृसगोत्रानिषेधवचनं लिखितम्—"परिणीय सगोत्रां तु समानप्रवरां तथा। तस्यां कृत्वा समुत्सर्गं द्विजश्चान्द्रायणं चरेत्। मातुलस्य सुतां चैव मातृगोत्रां तथैव च" इति तदपि तृवंशजन्मनामपरिज्ञानविषयमेव। असगोत्रा च या पितुरिति पितुर्या सगोत्रा न भवति। चकारात्पितृसपिण्डापि। पितृव्यादिसंततिभवा या न भवतीत्यर्थः। सा द्विजातीनां दारत्वसंपादके विवाहे प्रशस्ता मैथुनसाध्ये अग्न्याधानकर्मपुत्रोत्पादनादौ चेति।। ५।।

जो माता की सात पीढ़ी तक की न हो तथा जो पिता की सगोत्र न हो, वही कन्या द्विजातियों के लिए विवाह तथा मैथुन में प्रशंसनीय मानी गयी है।।५।।

महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः।
स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्।। ६।।

उत्कृष्टान्यपि गवादिभिः समृद्धान्यपि इमानि दश कुलानि विवाहे त्यजेत्।। ६।।

गाय, बकरी, भेड़ तथा धन-धान्य से अत्यधिक समृद्ध होते हुए भी स्त्री (विवाह) के विषय में इन दस कुलों का परित्याग कर देना चाहिए।। ६।।

तानि कानीत्याह—

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रामशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च।। ७।।

जातकर्मादिक्रियारहितं, स्त्रीजनकं, वेदाध्यापनशून्यं, बहुदीर्घरोमान्वितं, आर्शोनाम-व्याधियुक्तं, क्षयो राजयक्ष्मा मन्दानलापस्मारश्वित्रकुष्ठयुक्तानां च कुलानि वर्जयेदिति पूर्वक्रियासंबन्धः। दृष्टमूलता चास्य प्रतिषेधस्य मातुलवदुत्पन्ना अनुवहन्ते। तेन हीनक्रियादिकुलात्परिणीतायां संततिरपि तादृशी स्यात्। "व्याधयः संचारिणः"

इति वैद्यकाः पठन्ति—''सर्वे संक्रामिणो रोगा वर्जयित्वा प्रवाहिकाम्'' इति। अवेदमूला कथमियं प्रमाणमिति चैन्न। दृष्टार्थतयैव प्रामाण्यसंभवात्। तदुक्तं भविष्यपुराणे—''सर्वा एता वेदमूला दृष्टार्थाः परिहृत्य तु''। मीमांसाभाष्यकारेणापि स्मृत्यधिकरणेऽभिहितम् ''ये दृष्टार्थास्ते तत्प्रमाणं, ये त्वदृष्टार्थास्तेषु वैदिकशब्दानुमानम्'' इति।। ७।।

(संस्कार आदि) क्रियाओं से हीन, पुरुष सन्तान से रहित, वेदों के अध्ययन से शून्य, अत्यधिक रोमयुक्त, अर्श नामक रोगयुक्त, क्षय रोग से सम्पन्न, मन्दाग्नि वाले अपस्मार रोगयुक्त, श्वेतकुष्ठ तथा गलितकुष्ठ वाले कुलों को (विवाह विचार में छोड़ देना चाहिए)।। ७।।

कुलाश्रयं प्रतिषेधमभिधाय कन्यास्वरूपाश्रयप्रतिषेधमाह—

नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकाङ्गीं न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम्।। ८।।

कपिलकेशां नित्यव्याधितामविद्यमानलोमां प्रचुरलोमां बहुपरुषभाषिणीं पिङ्गलाक्षीं कन्यां नोपयच्छेत्।। ८।।

न भूरे वर्ण वाली, न अधिक अङ्गों वाली, न रुग्ण रहने वाली, न रोम रहित, न अधिक रोमों वाली, न अधिक बोलने वाली और न ही पीले नेत्रों वाली कन्या के साथ विवाह करना चाहिए।। ८।।

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नी नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्।। ९।।
(नातिस्थूलां नातिकृशां न दीर्घां नातिवामनाम्।
वयोऽधिकां नाङ्गहीनां न सेवेत्कलहप्रियाम्।। १।।)

ऋक्षं नक्षत्रं तन्नामिकां आद्र्रारेवतीत्यादिकाम्। एवं तरुनदीम्लेच्छपर्वतपक्षिसर्पदास-भयानकनामिकां कन्यां नोद्वहेत्।। ९।।

न ही नक्षत्र, वृक्ष तथा नदी नाम वाली, न म्लेच्छ और पर्वत के नाम वाली, न पक्षी, सर्प और दास नाम वाली और न ही भीषण नाम वाली (कन्या के साथ विवाह करना चाहिए)।। ९।।

(अत्यधिक मोटी, न अत्यधिक दुबली, न अत्यन्त लम्बी, न बहुत छोटी, अवस्था में अधिक, न अङ्गहीन और न कलहप्रिय कन्या के साथ विवाह करना चाहिए।। १।।)

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वङ्गीमुद्वहेत्स्त्रियम्।। १०।।

अविकलाङ्गी मधुरसुखोद्यनाम्नीं हंसगजरुचिरगमनां अनतिस्थूललोमकेशदशनां कोमलाङ्गीं कन्यामुद्वहेत्।। १०।।

अपितु पूर्ण अङ्गों वाली, सौम्य नाम वाली, हंस अथवा हाथी के समान चाल वाली, छोटे रोम, केश तथा दाँतों वाली तथा कोमल अङ्गों वाली कन्या के साथ ही विवाह करना चाहिए।। १०।।

अत्र विधिनिषेधयोरभिधानमनिषिद्धविहितकन्यापरिणयनमभ्युदयार्थामिति दर्शयितुमाह—

यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया।। ११।।

यस्याः पुनर्भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोद्वहेत्। "यदपत्यं भवेदस्यास्तन्मम पितुः स्यात्स्वधाकरम्" (अ० ९ श्लो० १२) इत्यभिसंधानमात्रादपि पुत्रिका भवति। "अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येके" इति गोतमस्मरणात्। यस्या वा विशेषेण पितो न् ज्ञायतेऽनेनेयमुत्पन्नेति तामपि नोद्वहेत्। अत्र च पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति न योजनीयमिति केचित्। गोविन्दराजस्त्वाह—"भिन्नपितृकयोरप्येकमातृकयोर्भ्रातृत्वप्रसिद्धेः सभ्रातृकत्वेऽपि यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते तामपि पुत्रिकाशङ्कयैव नोद्वहेत्" इति। मेधातिथिस्त्वेकमेवेमं पक्षमाह। यस्यास्तु भ्राता नास्ति तां पुत्रिकाशङ्कया नोपयच्छेत्। पिता चेन्न ज्ञायते प्रोषितो मृतो वा। वाशब्दश्चेदर्थे। पितरि तु विद्यमाने तदीयवाक्यादेव पुत्रिकात्वाभावमवगम्याभ्रातृकापि वोढव्येति। अस्माकं तु विकल्पस्व-रसादिदं प्रतिभाति। यस्या विशेषेण पिता न ज्ञायते तामपि जारजत्वेनाधर्मशङ्कया नोद्वहेत्। अत्र च पक्षे पुत्रिकाधर्मशङ्कयेति पुत्रिका चाधर्मश्च तयोः शङ्का पुत्रिकाधर्मशङ्का तयेति यथासंख्यं योजनीयम्। अत्र च प्रकरणे सगोत्रपरिणयने "सगोत्रां चेदमत्योपयच्छेन्मातृवदेनां बिभृयात्" इति परित्याश्रवणात् "परिणीय सगोत्रां च" इति प्रायश्चित्तश्रवणाच्च। तत्र तत्समभिव्याहृते च मातृसपिण्डापरिणयनादौ भार्यात्वमेव न भवति भार्याशब्दस्याहवनीयादिवत्संस्कारवचनत्वात्। येषां पुनर्दृष्टगुणदोषमूलके विधिनिषेधाभिधाने यथा हीनक्रियमिति, न तदतिक्रमे भार्यात्वाभावः। अत एव मनुना "महान्त्यपि समृद्धानि" (अ० ३ श्लो० ६) इत्यादि पृथक्करणं कृतम्। एतन्मध्यपतितश्च "नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीम्" (अ० २ श्लो० ९) इत्यादिप्रतिषेधोऽपि न भार्यात्वाभावफलकः, किंत्वत्र शास्त्रातिक्रमात्प्रायश्चित्तमात्रम्।। ११।।

इसके अतिरिक्त जिसका भाई न हो, पिता का भी कुछ पता न हो, पुत्रिका एवं अधर्म की शङ्का से उस (कन्या) के साथ विद्वान् व्यक्ति को विवाह नहीं करना चाहिए।। ११।।

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः।। १२।।

ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यानां प्रथमे विवाहे कर्तव्ये सवर्णा श्रेष्ठा भवति। कामतः पुनर्विवाहे प्रवृत्तानामेता वक्ष्यमाणा आनुलोम्येन श्रेष्ठा भवेयुः।। १२।।

द्विजातियों के पहले विवाह में समानवर्ण वाली कन्या श्रेष्ठ मानी गई है। किन्तु दूसरे विवाह के इच्छुक लोगों के लिए तो क्रमशः ये स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।। १२।।

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः।। १३।।

शूद्रस्य शूद्रैव भार्या भवति न तूत्कृष्टा वैश्यादयस्तिस्रः। वैश्यस्य च शूद्रा वैश्या च भार्या मन्वादिभिः स्मृता। क्षत्रियस्य वैश्याशूद्रे क्षत्रिया च ब्राह्मणस्य क्षत्रिया वैश्या शूद्रा ब्राह्मणी च। वसिष्ठोऽपि "शूद्रामप्येके मन्त्रवर्जम्" इति द्विजातीनां मन्त्रवर्जितं शूद्राविवाहमाह।। १३।।

शूद्र की पत्नी शूद्रा तथा वैश्य की वह शूद्रा और अपनी वैश्यकुलोत्पन्न, क्षत्रिय की शूद्रा और वैश्या दोनों तथा अपनी एवं ब्राह्मण की वे तीनों तथा अपनी ब्राह्मणकुलोत्पन्न भी कही गई हैं।। १३।।

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते।। १४।।

ब्राह्मणक्षत्रिययोर्गार्हस्थ्यमिच्छतोः सर्वथा सवर्णालाभे कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते इतिहासाख्यानेऽपि शूद्रा भार्या नाभिधीयते। पूर्वसवर्णानुक्रमेणानुलोम्येन विवाहाद्यनुज्ञानादयं निषेधः प्रातिलोम्येन विवाहविषयो बौद्धव्यः। ब्राह्मणक्षत्रियग्रहणं चेदं दोषभूयस्त्वार्थम्। अनन्तरं द्विजातय इति बहुवचनात्, वैश्यगोचरनिषेधस्यापि वक्ष्यमाणत्वात्।। १४।।

वस्तुतः आपत्तिग्रस्त होने पर भी ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के लिए किसी भी आख्यान में शूद्रा भार्या का उपदेश नहीं किया गया है।। १४।।

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम्।। १५।।

सवर्णामपि परिणीय हीनजातिं शूद्रां शास्त्राविवेकात्परिणयन्तो ब्रह्मक्षत्रियवैश्यास्तत्रोत्पन्नपुत्रपौत्रादिक्रमेण कुलान्येव ससंततिकानि शूद्रतां गमयन्ति। अत्र द्विजातय इति बहुवचननिर्देशान्निन्दया वैश्यस्यापि निषेधः कल्प्यते। ब्राह्मणक्षत्रिययोस्तु पूर्वत्रैव निषेधकल्पनात्तन्निन्दामात्रार्थतैव।। १५।।

अज्ञानवश हीनजाति की स्त्री से विवाह करते हुए द्विजवर्ण की जाति के व्यक्ति, सन्तानसहित अपने कुलों को शीघ्र ही शूद्रता को प्राप्त करा देते हैं।। १५।।

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः।। १६।।

शूद्रां विन्दति परिणयतीति शूद्रावेदी सः पतति पतित इव भवति। इदमत्रेर्मतमुतथ्यतनयस्य गौतमस्य च। अत्र्यादिग्रहणमादरार्थम्। एतद्ब्राह्मणविषयम्। "शूद्रायां सुतोत्पत्त्या पतति" इति शौनकस्य मतमेतत्क्षत्रियविषयम्। "शूद्रासुतोत्पत्त्या पतति" इति भृगोर्मतम् एतद्वैश्यविषयम्। एतस्य महर्षिमतत्रयस्य व्यवस्थासंभवे विसदृशपतनविकल्पायोगात्। मेधातिथिगोविन्दराजयोस्तु मतं शूद्रावेदी पततीति पूर्वोक्तशूद्राविवाहनिषेधविशेषः सुतोत्पत्त्या पततीति दैवाज्जातशूद्राविवाहे ऋतौ नोपेयादिति विधानार्थम्। ऋतुकालगमने सुतोत्पत्तेः तदपत्यतयेति तु तान्येव शूद्रोत्पन्नान्यपत्यानि यस्य स तदपत्यस्तस्य भावस्तदपत्यता तया पतति। एतेनेदमुक्तं भवति ऋतावुपयन्नितरासु जातापत्य उपेयात्।। १६।।

अत्रि एवं उक्थ्यपुत्र गौतम का मत है कि शूद्रा को प्राप्त करने वाला (ब्राह्मण) पतित हो जाता है। शौनक के मत में-वह (क्षत्रिय) शूद्रा में सन्तान उत्पन्न करने से पतित होता है। भृगु के विचार में-(वैश्य) उस (शूद्रा) की सन्तति से पतित हो जाता है।। १६।।

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।
जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते।। १७।।

सवर्णामपरिणीय दैवात्स्नेहाद्वा शूद्रापरिणेतुर्ब्राह्मणस्य शयननिषेधोऽयं निन्दया निषेधस्मृत्यनुमानाच्छूद्रां गत्वा ब्राह्मणो नरकं गच्छति। जनयित्वा सुतं तस्यामित्यृतुकालगमननिषेधपरम्। ब्राह्मण्यादेव हीयत इति दोषभूयस्त्वार्थम्।। १७।।

शूद्रा को शय्या पर सुलाकर (आरोपित करके) ब्राह्मण अधोगति को प्राप्त होता है। साथ ही उसमें पुत्र उत्पन्न करके तो वह ब्राह्मणत्व से ही गिर जाता है।। १७।।

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।
नाश्नन्ति पितृदेवास्तन्न च स्वर्गं स गच्छति।। १८।।

यदि कथंचित्सवर्णानुक्रमेणाक्रमेण वा शूद्रापि परिणीयते तदा भार्यात्वेन प्रसक्तानि तत्कर्तृकानि दैवेत्यनेन निषिध्यन्ते। दैवं होमादि, पित्र्यं श्राद्धादि, आतिथेयमतिथिभोजनादि, एतानि यस्य शूद्रासंपाद्यानि तद्धव्यं कव्यं पितृदेवा नाश्नन्ति। नच तेनातिथ्येन स गृही स्वर्गं याति। ''यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया'' (अ० ९ श्लो० ८७) इति सवर्णायां सन्निहितायां निषेधं वक्ष्यति। अयं त्वसन्निहितायामपीत्यपुनरुक्तिः।। १८।।

जिसके घर में देवकार्य, पितृकार्य तथा अतिथिकार्य आदि महत्त्वपूर्ण कार्य शूद्रा स्त्री द्वारा सम्पादित किए जाते हैं। पितृ तथा देवता लोग उनका भक्षण नहीं करते हैं तथा वह भी स्वर्ग नहीं जाता है।। १८।।

वृषलीफेनपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।
तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते।। १९।।

वृषलीफेनोऽधररसः स पीतो येन स वृषलीफेनपीतः। ''वाहिताग्नादिषु'' पा० सू० २२/३७ इत्यनेन समासः। अनेन शूद्राया अधररसपानं निषिध्यते। निःश्वासोपहतस्य चेति तया सहैकशय्यादौ शयननिषेधः। तस्यां जातापत्यस्य शुद्धिर्नोपदिश्यत-इत्यृतुकालगमननिषेधानुवादः।। १९।।

शूद्रा का अधरपान करने तथा उसके निःश्वास से दूषित हुए ब्राह्मण की तथा उसमें उत्पन्न सन्तान की शुद्धि का विधान नहीं है।। १९।।

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत।। २०।।

चतुर्णामपि वर्णानां ब्राह्मणादीनां परलोके इहलोके च कांश्चिद्धितान्कांश्चिदहिता निमानभिधास्यमानानष्टौ संक्षेपेण भार्याप्राप्तिहेतून्विवाहान् शृणुत।। २०।।

(अब आप लोग) चारों ही वर्णों के इस लोक में तथा मरने पर हित एवं अहित को सम्पादित करने वाले, स्त्रियों के आठ प्रकार के विवाहों को संक्षेप में समझिए।। २०।।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।। २१।।

त एते नामतो निर्दिश्यन्ते। ब्राह्मराक्षसादिसंज्ञा चेयं शास्त्रसंव्यवहारार्था स्तुतिनिन्दाप्रदर्शनार्था च। ब्रह्मण इवायं ब्राह्मः। रक्षस इवायं राक्षसः। न तु ब्रह्मादिदेवतात्वं विवाहानां संभवति। पैशाचस्याधमत्वाभिधानं निन्दातिशयार्थम्।। २१।।

ब्राह्म; दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं आठवाँ अत्यन्त निकृष्ट पैशाच (विवाह होता है)।। २१।।

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ।
तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान्।। २२।।

धर्मादनपेतो धर्म्यः। यो विवाहो धर्म्यो यस्य विवाहस्य यौ गुणदोषौ इष्टानिष्टफले तत्तद्विवाहोत्पन्नापत्येषु ये गुणागुणास्तत्सर्वं युष्माकं प्रकर्षेणाभिधास्यामि वक्ष्यमाणानु-कीर्तनमिदं शिष्याणां सुखग्रहणार्थम्।। २२।।

जो जिस वर्ण का धर्म के अनुकूल विवाह होता है तथा जिस विवाह के जो गुण और दोष होते हैं एवं उत्पन्न हुई उसकी सन्तान में जो गुण-दोष हैं, उन सबका मैं आप लोगों से (अब) कथन करूँगा।। २२।।

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान्।। २३।।

ब्राह्मणस्य ब्राह्मादिक्रमेण षट्। क्षत्रियस्यावरानुपरितनानासुरादश्चितुरः। विट्शूद्रयोस्तु तानेव राक्षसवर्जितानासुरगान्धर्वपैशाचान् धर्म्यान्धर्मादनपेताञ्जानीयात्।। २३।।

क्रमशः ब्राह्मण के छः, क्षत्रिय के बाद वाले चार, जबकि वैश्य और शूद्र के राक्षस विवाह को छोड़कर बाकी तीन विवाह ही धर्म के अनुकूल समझने चाहिएँ।। २३।।

चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः।। २४।।

ब्राह्मणस्य प्रथमं पठितान्ब्राह्मादींश्चतुरः। क्षत्रियस्य राक्षसमेकमेव। वैश्यशूद्रयोरासुरम्। एताञ्छ्रेष्ठान् ज्ञातारो जानन्ति। अत एव ब्राह्मणादिष्वासुरादीनां पूर्वविहितानामप्यत्राप्युपादानं जघन्यत्वज्ञापनार्थम्। तेन प्रशस्तविवाहासंभवे जघन्यस्यापि परिग्रह इति दर्शितम्। एवमुत्तरत्रापि विगर्हितपरित्यागो बोद्धव्यः।। २४।।

विद्वानों ने ब्राह्मण के आरम्भिक चार विवाह, क्षत्रिय के लिए एक राक्षस

विवाह तथा वैश्य और शूद्र के लिए एक आसुर विवाह को प्रंशसनीय कहा है।। २४।।

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन।। २५।।

इह पैशाचप्रतिषेधादुपरितनानां पञ्चानां प्राजापत्यादीनां ग्रहणं, तेषु मध्ये प्राजापत्यगान्धर्वराक्षसास्त्रयो धर्मादनपेतास्तत्र प्राजापत्यः क्षत्रियादीनामप्राप्तो विधीयते। ब्राह्मणस्य विहितत्वादनूद्यते। गान्धर्वस्य च चतुर्णामेव प्राप्तत्वादनुवादः। राक्षसोऽपि-वैश्यशूद्रयोर्विधीयते। ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्त्यवस्थितस्याप्यासुरपैशाचौ न कर्तव्यौ। कदाचनेत्यविशेषाच्चतुर्णामेव निषिध्यते। अत्र यं वर्णं प्रति यस्य विवाहस्य विधिनिषेधौ तस्य तं प्रति विकल्पः स च विहितासंभवे बोद्धव्यः।। २५।।

(अन्तिम) पाँच विवाहों में से (प्रथम) तीन धर्मसम्मत एवं अन्तिम दो पैशाच एवं आसुर धर्मविरूद्ध कहे गए हैं। इसलिए कभी भी पैशाच और आसुर ये दोनों विवाह नहीं करने चाहिएँ।। २५।।

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ।। २६।।

पृथक्पृथगिति प्राप्तत्वादनूद्यते। मिश्राविति विधीयते। पृथक्पृथग्विमिश्रौ वा पूर्वविहितौ गान्धर्वराक्षसौ क्षत्रस्य धर्म्यौ मन्वादिभिः स्मृतौ। यदा स्त्रींपुसयो-रन्योन्यानुरागपूर्वकसंवादेन परिणेता युद्धादिना विजित्य तामुद्वहेत्तदा गान्धर्वराक्षसौ मिश्रौ भवतः।। २६।।

पहले कहे गए गान्धर्व और राक्षस ये दोनों विवाह अलग-अलग या मिश्रित रूप में क्षत्रिय के लिए धर्मसम्मत कहे गए हैं।। २६।।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः।। २७।।

आच्छादनमात्रस्यैवौचित्यप्राप्तत्वात्सविशेषवाससा कन्यावरावाच्छाद्यालंकारादिना च पूजयित्वा विद्याचारवन्तमप्रार्थकवरमानीय तस्मै कन्यादानं ब्राह्मो विवाहो मन्वादिभिरुक्तः।। २७।।

वेदज्ञ एवं सदाचारी वर को आमन्त्रित करके, उसे वस्त्रों से अलंकृत करके तथा उसकी पूजा करके स्वयं कन्या का दान करना, धर्मसम्मत ब्राह्मविवाह कहा गया है।। २७।।

यज्ञे तु वितते सम्युगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते।। २८।।

ज्योतिष्टोमादियज्ञे प्रारब्धे यथाविधि ऋत्विजे कर्मकर्त्रे अलंकृत्य कन्यादानं दैवं विवाहं मुनयो ब्रुवते।। २८।।

विशालयज्ञ में विधिविधानपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विज के लिए अलंकृत कन्या का दान करना, धर्मयुक्त दैवविवाह कहा जाता है।। २८।।

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।। २९।।

स्त्रीगवी पुंगौश्च गोमिथुनं। तदेकं द्वे वा वराद्धर्मतो धर्मार्थ यागादिसिद्धये कन्यायै वा दातु नतु शुल्कबुद्ध्या गृहीत्वा यद्यथाशास्त्रं कन्यादानं स आर्षो विवाहो विधीयते।। २९।।

वर से एक अथवा दो गोमिथुन लेकर धर्म के अनुसार विधिपूर्वक कन्यादान करना ही 'आर्षविवाह' कहलाता है।। २९।।

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।। ३०।।

सह युवां धर्मं कुरुतमिति सुताप्रदानकाले वचसा पूर्वं नियम्यार्चयित्वा यत्कन्यादानं स प्राजापत्यो विवाहः स्मृतः।। ३०।।

'तुम दोनों साथ-साथ धर्म का आचरण करो' इसप्रकार वाणी से कहने के बाद, वस्त्र अलंकार आदि द्वारा उनका पूजन करके, कन्या प्रदान करना ही 'प्रजापत्य' विवाह कहा गया है।।३०।।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।। ३१।।

कन्याया ज्ञातिभ्यः पित्रादिभ्यः कन्यायै यद्यथाशक्ति धनं दत्त्वा कन्याया आप्रदानमादानं स्वीकारः स्वाच्छन्द्यात्स्वेच्छया न त्वार्ष इव शास्त्रीयधनजाति-परिमाणनियमेन स आसुरो विवाह उच्यते।। ३१।।

ज्ञातिजनों एवं कन्या के लिए अपनी शक्ति के अनुसार धन प्रदान करके स्वच्छन्दतापूर्वक कन्यादान को स्वीकार करना 'आसुर' विवाह कहलाता है।। ३१।।

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः।। ३२।।

कन्याया वरस्य चान्योन्यानुरागेण यः परस्परसंयोग आलिङ्गनादिरूपः स

गान्धर्वो ज्ञातव्यः। संभवत्यस्मादिति संभवः। यस्मात्कन्यावरयोरभिलाषादसौ संभवति। अत एव मैथुन्यो मैथुनाय हितः। सर्वविवाहानामेव मैथुन्यत्वेन यदस्य मैथुन्यत्वाभिधानं तत्सत्यपि मैथुने न विरोध इति प्रदर्शनार्थम्।। ३२।।

जबकि कन्या एवं वर की इच्छा से कामभावनावश मैथुन के लिए हुआ वह परस्परसंयोग ही गान्धर्वविवाह समझना चाहिए।। ३२।।

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।। ३३।।

प्रसह्य बलात्कारेण कन्याया हरणं राक्षसो विवाह इत्येव लक्षणम्। यदा तु हर्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा पित्रादिभिरुपेक्ष्यते तदा नावश्यकं हननादि। यदि कन्यापक्षः प्रतिपक्षतां याति तदा हननादिकमपि कर्तव्यमित्यर्थप्राप्तमनूद्यते। कन्यापक्षान्विनाश्य तेषामङ्गच्छेदं कृत्वा प्राकारादीन्भित्वा "--हा पितर्भ्रातरनाथाहं ह्रियें" इति वदन्तीम-श्रूणि मुञ्चन्तीं यत्कन्यां गृहादपहरति। अनेन कन्यायामनिच्छोक्ता गान्धर्वाद्विवे-कार्थम्।। ३३।।

कन्या पक्ष को मारकर, उनके अङ्गादि को काटकर, कपाटादि को तोड़कर, चिल्लाती एवं रोती हुई कन्या का बलपूर्वक घर से अपहरण करना 'राक्षस विवाह' कहलाता है।। ३३।।

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।। ३४।।

निद्राभिभूतां मद्यमदविह्वलां शीलसंरक्षणेन रहितां विजनदेशे यत्र विवाहे मैथुनधर्मेण प्रवर्तते स पापहेतुर्विवाहाना मध्येऽधमः पैशाचः ख्यातः।। ३४।।

सोई हुई, मद से मत्त हुई अथवा बेहोश कन्या के साथ जब व्यक्ति एकान्त में संसर्ग करता है, तो वह विवाहों में अत्यधिक पापपूर्ण और अधम आठवाँ 'पैशाचविवाह' होता है।। ३४।।

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया।। ३५।।

उदकदानपूर्वकमेव ब्राह्मणानां कन्यादानं प्रशस्तम्। क्षत्रियादीनां पुनर्विनाप्युदकं परस्परेच्छया वाङ्मात्रेणापि कन्यादानं भवति। उदकपूर्वकमपीत्यनियमः।। ३५।।

द्विजों में अग्रणी ब्राह्मणों में जल के संकल्प के साथ कन्यादान करना ही विशिष्ट माना गया है। जबकि अन्य वर्णों का एक दूसरे की कामना से ही विवाह सम्पन्न हो जाता है।। ३५।।

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः।
सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम।। ३६।।

यद्यपि "गुणदोषौ च यस्य यौ" (अ० ३ श्लो० २२) इति गुणाभिधानमपि प्रतिज्ञातमेव तथापि बहुनामर्थानां तत्र वक्तव्यतया प्रतिज्ञातत्वाद्विशेषज्ञापनार्थः पुनरुपन्यासः। एषां विवाहानामिति निर्धारणे षष्ठी। एषां मध्ये यस्य विवाहस्य यो गुणो मनुना कथितस्तत्सर्वं हेविप्राः मम कथयतः शृणुत।। ३६।।

इन विवाहों में भगवान् मनु ने जिसका जो गुण कहा है। हे विप्रो! उस सबको सब कुछ कथन करने वाले मुझसे आप सुनिये।। ३६।।

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितॄन्।। ३७।।

दश पूर्वान्पित्रादीन्वंश्यान्, परान्पुत्रादीन्दश, आत्मानं चैकविंशकं ब्राह्मविवाहोढापुत्रो यदि सुकृतकृद्भवति तदा पापान्मोचयति पित्रादीन्नरकादुद्धरति, पुत्रादयश्च तस्य कुले निष्पापा जायन्त इति मोचनार्थः। तेषामनुत्पत्तेः पापध्वंसस्याशक्यत्वात्।। ३७।।

ब्राह्मविवाह द्वारा विवाह की गई कन्या से उत्पन्न पुण्यकर्म करने वाला पुत्र दस पीढ़ी पहले के पितरों को तथा दस पीढ़ी बाद के वंशजों को और इक्कीसवें स्वयं अपने आपको पाप से मुक्त कर लेता है।। ३७।।

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्।
आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्षट् षट् कायोढजः सुतः।। ३८।।

दैवविवाहोढायाः पुत्राः सप्त परान्पित्रादीन्सप्तावरान्पुत्रादींश्च। आर्षविवाहोढायाः पुत्रस्त्रीन्पित्रादींस्त्रीश्च पुत्रादीन्। प्राजापत्यविवाहोढायाः पुत्रः षट् पित्रादीन् षट् पुत्रादीन् आत्मानं चैनसो मोचयतीति पूर्वस्यैव सर्वत्रानुषङ्गः। कायोढज इति "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" (पा० सू० ६/३/६३) इति ह्रस्वत्वम्। ब्राह्माद्यष्ट-विवाहोद्देशक्रमानुसारेण मन्दफलस्यार्षस्येह बहुफलप्राजापत्यात्पूर्वाभिधानम्। ब्राह्मादिविवाहोद्देशश्लोक एव कथमयं क्रम इति चेत् "पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः" (अ० ३ श्लो० २५) इत्यत्र प्राजापत्यग्रहणार्थम्। अन्यथा तत्वार्षस्यैव ग्रहणं स्यात्।। ३८।।

इसीप्रकार दैव विवाह द्वारा विवाहित कन्या से उत्पन्न पुत्र सात पहली और सात बाद की पीढ़ियों को तथा आर्षविवाह से विवाह की गई पत्नी से उत्पन्न होने वाला पुत्र, छः पहली और छः बाद की पीढ़ियों को (पापमुक्त) कर देता है।। ३८।।

"प्रसवे च गुणागुणान्" इति यदुक्तं तदुच्यते—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः।। ३९।।

ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रमावस्थितेषु श्रुताध्ययनसंपत्तिकतेजोयुक्ताः पुत्राः शिष्टप्रिया जायन्ते। प्रियार्थत्वाच्च संमतशब्स्य "क्तेन च पूजायाम्" (पा० सू० २/२/१२) इति न षष्ठीसमासप्रतिषेधः। संबन्धसामान्यविषया षष्ठीयं समस्यते।। ३९।।

ब्राह्म आदि पहले चार विवाहों में ही क्रमशः ब्रह्मतेज से युक्त तथा सज्जनों द्वारा सम्मानित पुत्र उत्पन्न होते हैं।। ३९।।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः।। ४०।।

रूपं मनोहराकृतिः, सत्त्वं द्वादशाध्याये वक्ष्यमाणं, गुणा दयादयः तैर्युक्ता धनिनः ख्यातिमन्तो यथेप्सितवस्त्रस्रग्गन्धलेपनादिभोगशालिनो धार्मिकाश्च पुत्रा जायन्त इति पूर्वमनुवर्तते। शतं च वर्षाणि जीवन्ति।। ४०।।

रूप, बल आदि सात्त्विकगुणों से युक्त, यशस्वी, धनवान्, इच्छानुसार पर्याप्त भोग करने वाले, धर्मात्मा वे (पुत्र) सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं।। ४०।।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः।। ४१।।

ब्राह्मादिभ्यश्चतुर्भ्योऽन्येष्वासुरादिषु चतुर्षु विवाहेषु क्रूरकर्माणो मृषावादिनो वेदद्वेषिणो यागादिधर्मद्वेषिणः पुत्रा जायन्ते।। ४१।।

दूसरे बचे हुए निन्दा के योग्य विवाहों से तो क्रूर, असत्य बोलने वाले, वेद तथा धर्म से द्वेष करने वाले पुत्र उत्पन्न होते हैं।। ४१।।

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निद्यान्विवर्जयेत्।। ४२।।

संक्षेपेण विवाहानां फलकथनमिदम्। अगर्हितैर्भार्याप्राप्तिहेतुभिर्विवाहैरगर्हिता मनुष्याणां संततिर्भवति। गर्हितैस्तु गर्हिता। तस्माद्गर्हितविवाहान्न कुर्यात्।। ४२।।

जबकि मनुष्यों में प्रशंसनीय स्त्रीविवाहों के द्वारा प्रशंसनीय तथा निन्दित विवाहों से निन्दित सन्तान उत्पन्न होती है। इसलिए लोगों को निन्दा के योग्य विवाहों का परित्याग कर देना चाहिए।। ४२।।

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।
असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि।। ४३।।

समानजातीयासु गृह्यमाणासु हस्तग्रहणलक्षणः संस्कारो गृह्यादिशास्त्रेण विधीयते। विजातीयासु पुनरुह्यमानासु विवाहकर्मणि पाणिग्रहणस्थानेऽयमनन्तरश्लोके वक्ष्यमाणो विधिर्ज्ञेयः।। ४३।।

इसलिए समानवर्ण वाली स्त्रियों के साथ ही पाणिग्रहण संस्कार का उपदेश दिया जाता है। असवर्ण कन्याओं के साथ विवाहकार्य में यह विधान समझना चाहिए।। ४३।।

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने।। ४४।।

क्षत्रियया पाणिग्रहणस्थाने ब्राह्मणविवाहे ब्राह्मणहस्तपरिगृहीतकाण्डैकदेशो ग्राह्यः। वैश्यया ब्राह्मणक्षत्रियविवाहे ब्राह्मणक्षत्रियावधृतप्रतोदैकदेशो ग्राह्यः। शूद्रया पुनर्द्विजातित्रयविवाहे प्रावृतवसनदशा ग्राह्या।। ४४।।

स्वयं से उत्कृष्टवर्ण के पुरुष के साथ विवाह के अवसर पर क्षत्रिय कन्या द्वारा बाण, वैश्य कन्या द्वारा चाबुक तथा शूद्र कन्या द्वारा वस्त्र का छोर पकड़ना चाहिए।। ४४।।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।। ४५।।

ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्थाविशेषः। तत्कालाभिगामि स्यादित्ययं नियमविधिः[1] नतु परिसंख्या। स्वार्थहानिपरार्थकल्पनाप्राप्त-बाधात्मकदोषत्रयदुष्टत्वात्। ऋतकालेऽपि रागतः पक्षे गमनप्राप्तौ यस्मिन्पक्षेऽप्राप्तिस्तत्र विधिः "समे यजेत" इतिवत्। अतएव ऋतावगमने दोषमाह पराशरः—"ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां पतते नात्र संशयः।। " अनुत्पन्नपुत्रस्य चायं नियमः। "ब्राह्मणो ह वै जायमानस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवा जायते यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेनर्षिभ्यः" इत्येतत्प्रत्यक्षश्रूतिमूलत्वेऽस्य संभवति मूलान्तरकल्पनस्यायुक्तत्वात्। "तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्" (अ० ३ श्लो० ४८) इति च वक्ष्यति। ततोऽप्येतच्छ्रुतिमूलत्वमवगम्यते। पुत्रोत्पादन-शास्त्रस्य चैकपुत्रोत्पादनेनैव चरितार्थत्वात् "कामजानितरान्विदुः" (अ० ९ श्लो० १०७) इति दर्शनादजातपुत्रस्यैव नियमः। "दशास्यां पुत्रानाधेहि" इति मन्त्रस्तु

---

१. विधित्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र वा प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते।

बहुपुत्रप्रशंसापरः। जातपुत्रस्याप्यृतुकालगमननियमो न दशस्वेवावनिष्ठते स्वदारनिरतः सदेति नित्यं स्वदारसंतुष्टः स्यान्नान्यभार्यामुपगच्छेदिति विधानात्परिसंख्यैव। वाक्यानर्थक्यात्स्वदारगमनस्य प्रशस्तत्वात्। ऋतावगमेन दोषाश्रवणाच्च न नियमविधिः। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनामिति। पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते। तानि वर्जयित्वा भार्याप्रीतिव्रतं यस्य स तद्व्रतोऽनृतावप्युपेयात्। अतएव रतिकाम्यया नतु पुत्रोत्पादनशास्त्रबुद्ध्या। तस्माद्विधित्रयमिदं-ऋतावुपेयादेव, अन्यभार्यां नोपगच्छेत्, अनृतावपि भार्याप्रीतये गच्छेदिति। अत्रच गोतमः "ऋतावुपेयादनृतौ च पर्ववर्जम्"। याज्ञवल्क्योऽप्याह- "यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्" (अ० १ श्लो० ८१)। पर्ववर्जमिति ऋतावनृतौ चोभयत्र संबध्यते।। ४५।।

सदैव अपनी पत्नी में चिन्तनशील रहते हुए ऋतुकाल में ही संभोग करने वाला होना चाहिए। पर्व के दिनों को छोड़कर रति की इच्छा से एक पत्नीव्रती को इसके पास गमन करना चाहिए।। ४५।।

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः।। ४६।।

अत्र रात्र्यहःशब्दावहोरात्रपरौ। शोणितदर्शनात्प्रभृति स्त्रीसंपर्कगमनादौ शिष्टनिन्दितैश्चतुर्भिरन्यैरहोरात्रैः सह षोडशाहोरात्राणि मासि मासि स्त्रीणामृतुः। स्वभावे भवः स्वाभाविकः। व्याध्यादिना तु न्यूनाधिककालोऽपि भवति।। ४६।।

सज्जनों द्वारा निन्दित प्रथम (इतर) चारों दिनों के साथ स्त्रियों की सोलह रात्रियाँ स्वाभाविक ऋतुकाल वाली मानी गई हैं।। ४६।।

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः।। ४७।।

तांसां पुनः षोडशानां रात्रीणां शोणितदर्शनात्प्रभृति आद्याश्चतस्रो रात्रय एकादशी त्रयोदशी च रात्रिर्गमने निन्दिता। अवशिष्टा दशः रात्रयः प्रशस्ता भवेयुः।। ४७।।

उन सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ तो निन्दित हैं, जबकि शेष दस रात्रियाँ सम्भोग के लिए प्रशंसनीय हैं।। ४७।।

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्।। ४८।।

पूर्वोक्तास्वपि दशसु षष्ठ्यष्टम्याद्यासु रात्रिषु गमने पुत्रा उत्पद्यन्ते। अयुग्मासु पञ्चमीसप्तम्यादिषु दुहितरः। अतः पुत्रार्थी युग्मासु ऋतुकाले भार्यां गच्छेत्।। ४८।।

युग्म (सम) रात्रियों में पुत्र तथा अयुग्म (विषम) में (संसर्ग से) कन्या

उत्पन्न होती हैं। इसलिए पुत्र सन्तान का इच्छुक व्यक्ति युग्मरात्रियों में ऋतुकाल में स्त्री-संसर्ग करे।। ४८।।

पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।
समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः।। ४९।।

पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते। स्त्रीबीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहितैव। अतो वृष्याहारादिना निजबीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्य युग्मास्वपि पुत्रार्थिना गन्तव्यमिति दर्शितम्। स्त्रीपुंसयोस्तु बीजसाम्येऽपुमान्नपुंसकं जायते। पुंस्त्रियाविति यमौ च। निःसारेऽल्पे चोभयोरेव बीजे गर्भस्यासंभवः।। ४९।।

पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष तथा स्त्री का रज अधिक होने पर स्त्री सन्तान (उत्पन्न) होती है। समान रहने पर पुरुष एवं स्त्री दोनों (जुडवाँ) या नपुंसक तथा क्षीण अथवा थोड़ा होने पर इससे उल्टा अर्थात् गर्भस्राव होता है।। ४९।।

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।। ५०।।

निन्द्यासु पूर्वोक्तासु षट्सु रात्रिषु अन्यासु च निन्द्यास्वपि यासु कासुचिदष्टासु स्त्रियो वर्जयन्द्वे रात्री अवशिष्टे पर्ववर्जिते व्रजन्नखण्डितब्रह्मचार्येव भवति। यत्रतत्राश्रमे वसन्निति वानप्रस्थापेक्षया। तस्य हि भार्यया सह गमनपक्षे ऋतुगमनं प्रसक्तम्। नच वनस्थभार्याया ऋतुर्न भवतीति वाच्यम्। "वनं पञ्चाशतो व्रजेत्' इति, "वर्षैरेकगुणां भार्यामुद्वहेद्द्विगुणः पुमान्" इत्यादिशास्त्रपर्यालोचनया तत्संभवात्। मेधातिथिस्तु "यत्रतत्राश्रमे वसन्नित्यनुवादमात्रम्। गृहस्थेतराश्रमत्रये जितेन्द्रियत्वविधाना-द्रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासंभवात्" इत्याह। गोविन्दराजस्तु "उत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमान्तरस्थ-स्यापीच्छया पुत्रार्थं रात्रिद्वयगमने दोषाभावप्रतिपादनार्थमेतत्। यत्रतत्राश्रमे वसन्निति वचनात्पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात्पुत्रस्य च महोपकारकत्वात्" इत्याह। "हन्त गोविन्दराजेन विशेषमविवृण्वता। व्यक्तमङ्गीकृतमृतौ स्वदारसुरतं यतेः"।। ५०।।

निन्दनीय आठ तथा अन्य रात्रियों में स्त्रियों का परित्याग करता हुआ, जिस किसी भी आश्रम में निवास करता हुआ व्यक्ति ब्रह्मचारी ही होता है।। ५०।।

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णंश्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी।। ५१।।

कन्यायाः पिता धनग्रहणदोषज्ञोऽल्पमपि धनं कन्यादाननिमित्तकं न गृह्णीयात्। यस्माल्लोभेन तद्गृह्णन्नपत्यविक्रयी भवति।। ५१।।

समझदार कन्या के पिता को (कन्या के लिए) थोड़ा भी शुल्क ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि लोभ के कारण शुल्क को ग्रहण करता हुआ व्यक्ति सन्तान को बेचने वाला होता है।।५१।।

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।
नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्।। ५२।।

कन्यादाननिमित्तकशुल्कग्रहणनिषेधप्रसङ्गान्नवमाध्यायाभिधेयस्त्रीधनग्रहणनिषेधोऽयम्। ये बान्धवाः पतिपित्रादयः कलत्रदुहित्रादिधनानि गृह्णन्ति। नारी स्त्री, यानान्यश्वादीनि, वस्त्रं चेति प्रदर्शनार्थम्। सर्वमेव धनं न ग्राह्यम्। ते गृह्णानाः पापकारिणो नरकं गच्छन्ति।। ५२।।

जो बन्धु लोग अज्ञानवश स्त्री के यानादि, वस्त्र तथा स्त्रीधनों को ग्रहण कर लेते हैं। निश्चय ही वे पापी अधोगति को प्राप्त होते हैं।।५२।।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः।। ५३।।

आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कं वराद्ग्राह्यमिति केचिदाचार्या वदन्ति तत्पुनरसत्यम्। यस्मादल्पमूल्यसाध्यत्वादल्पो वा भवतु, बहुमूल्यसाध्यत्वान्महान्वा स तावद्विक्रयो भवत्येव। यत्पुनः "एकं गोमिथुनम्" (अ० ३ श्लो० २९) इति पूर्वमुक्तं तत्परमतमिति गोविन्दराजस्तदयुक्तम्। मनुमते लक्षणमार्षस्य न स्यादेव। वराद्गोमिथुनग्रहणपूर्वककन्यादानस्यैवार्षविवाहलक्षणत्वात्। मन्वभिमतमन्यदेवार्षलक्षणम्, एकं गोमिथुनमिति परमतमिति चेत् "एकं गोमिथुनं द्वे चेत्येतत्परमतं यदि। तदा मनुमतेनार्षलक्षणं किं तदुच्यताम्।। अष्टौ विवाहान्कथयन्नार्षोढासंततेर्गुणान्। मनुः किं स्वमतेनार्षलक्षणं वक्तुमक्षमः।।" मेधातिथिस्तु पूर्वापरविरोधोपन्यासनिरासमेव न कृतवान्। तस्मादस्माभिरित्थं व्याख्यायते-आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचरूप-मिति केचिदाचार्या वदन्ति, मनोस्तु मतं नेदं शास्त्रनियमितजातिसंख्याकं ग्रहणं न शुल्करूपम्। शुल्कत्वे मूल्याल्पत्वमहत्वे अनुपयोगिनी विक्रय एव तदा स्यात्। किंत्वार्षविवाहसंपत्त्यै अवश्यकर्तव्ययागादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते। अतएवार्षलक्षणश्लोके "वरादादाय धर्मतः" (अ० ३ श्लो० २९) इति धर्मतो धर्मार्थमिति तस्यार्थः। भोगलोभेन तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम्। अतएव "गृह्णन् शुल्कं हि लोभेन" (अ० श्लो० ५१) इति निन्दामुक्तावान्। तस्मात्पौर्वापर्यपर्यालोचनादार्षे धर्मार्थं गोमिथुनं ग्राह्यं नतु भोगार्थमिति मनुना स्वमतमनुवर्णितम्।। ५३।।

कुछ विद्वानों ने आर्ष-विवाह में गोयुगल (गाय और बैल) रूप शुल्क को लेने के लिए कहा है। वस्तुतः वह मिथ्या है, क्योंकि इसप्रकार थोड़ा या अधिक ग्रहण करना तो वह बेचना ही है।।५३।।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कमित्युक्तं, इदानीं कन्यार्थमपि धनस्य दानं न शुल्कमित्याह—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्।। ५४।।

यासां कन्यानां प्रीत्या वरेण दीयमानं धनं पित्रादयो न गृह्णन्ति किन्तु कन्यायै समपर्यन्ति सोऽपि न विक्रयः यस्मात्कुमारीणां पूजनं तदानृशंस्यमहिंसकत्वं केवलं तदनुकम्पारूपम्।। ५४।।

कन्या का पिता या बन्धुजन, वर द्वारा दिए गए धन को नहीं लेते हैं तो वह धनग्रहण भी विक्रय नहीं है। वह तो वस्तुतः कन्याओं का पूजन ही है तथा केवल कन्या पर कृपामात्र है।।५४।।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।। ५५।।

न केवलं विवाहकाले वरेण दत्तं धनं समर्पणीयं किन्तु तदुत्तरकालमपि पित्रादिभिरप्येता भोजनादिना पूजयितव्याः वस्त्रालंकारादिना भूषयितव्याश्च। बहुधना दिसंपदं प्राप्तुकामैः।। ५५।।

अत्यधिक कल्याण की इच्छा करने वाले इसके पितृजनों, भाइयों, पति तथा देवरों द्वारा कन्या पूजा करने योग्य तथा वस्त्राभूषणों द्वारा अलंकृत करने योग्य होती है।।५५।।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।५६।।

यत्र कुले पित्रादिभिः स्त्रियः पूज्यन्ते तत्र देवताः प्रसीदन्ति। यत्र पुनरेता न पूज्यन्ते तत्र देवताप्रसादाभावाद्यागादिक्रियाः सर्वा निष्फला भवन्तीति निन्दार्थ-वादः।। ५६।।

जहाँ नारियाँ पूजी जाती हैं, वहाँ देवता रमण करते हैं। जहाँ ये पूजित नहीं होतीं, वहाँ सभी धार्मिकक्रियाएँ निष्फल रहती हैं।।५६।।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।। ५७।।

''जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः'' इत्याभिधानिकाः (अमरेकोशे नानार्थः श्लो० १४२) यस्मिन्कुले भगिनीगृहपतिसंवर्धनीयसन्निहितसपिण्डस्त्रियश्च पत्नीदुहितृस्नुषाद्याः परितापादिना दुःखिन्यो भवन्ति तत्कुलं शीघ्रं निर्धनीभवति दैवराजादिना च पीड्यते। यत्रैता न शोचन्ति तद्धनादिना नित्यं वृद्धिमेति। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु ''नवोढादुहितृस्नुषाद्या जामयः'' इत्याहतुः।। ५७।।

जहाँ जामियाँ-बहन, पुत्री, पुत्रवधु, स्त्री, भानजी आदि-शोकग्रस्त रहती हैं। वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जहाँ ये सभी दुःखी नहीं रहती हैं। निश्चय ही वह कुल सदैव समृद्धि को प्राप्त करता है।।५७।।

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः।। ५८।।

यानि गेहानि भगिनीपत्नीदुहितृस्तुषाद्या अपूजिताः सत्योऽभिशपन्ति ''इदमनिष्टमेषामस्तु'' इति तान्यभिचारहतानि धनपश्वादिसहितानि नश्यन्ति।। ५८।।

अनादर को प्राप्त ये जामियाँ जिन घरों को शाप दे देती हैं। अभिचार से भरे हुए के समान वे घर पूर्णतया विनष्ट हो जाते हैं।।५८।।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च।। ५९।।

यस्मादेवं तस्मात्कारणादेता भूषाणाच्छादनाशनैर्नित्यं सत्कारेषु कौमुद्यादिषु, उत्सवेषूपनयनादिषु समृद्धिकामैर्नृभिः सदा पूजनीयाः।। ५९।।

इसलिए ऐश्वर्य की कामना करने वाले लोगों द्वारा सत्कार एवं उत्सवों के अवसरों पर वस्त्र, आभूषण तथा भोजन से हमेशा इनका आदर-सत्कार करना चाहिए।।५९।।

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। ६०।।

भार्यया भर्त्रा इति हेतौ तृतीया। यत्र कुले भार्यया भर्ता प्रीतो भवति स्त्र्यन्तराभिलाषादिकं न करोति, भार्या च स्वामिना प्रीता भवति तस्मिन्कुले चिरं श्रेयो भवति। कुलग्रहणान्न केवलं भार्यापती एव, पुत्रपौत्रादिसंततिः श्रेयोभागिनी भवति।। ६०।।

जिस कुल में स्त्री से पति एवं पति से स्त्री सन्तुष्ट रहती है। निश्चय ही वहाँ हमेशा कल्याण होता है।।६०।।

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते।। ६१।।
(यदा भर्ता च भार्या च परस्परवशानुगौ
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगतम्।। २।।)

दीप्त्यर्थोऽत्र रुचिः। यदि स्त्री वस्त्राभरणादिना शोभाजनकेन दीप्तिमती न स्यात्तदा स्वामिनं पुनर्न हर्षयेदेव। हिशब्दोऽवधारणे। अप्रहर्षात्पुनः स्वामिनः प्रजनं गर्भधारणं न संपद्यते।। ६१।।

यदि स्त्री रुचिकर न हो तथा पुरुष को आनन्दित न करे। तब प्रसन्नता के अभाव में पुरुष (पति) की गर्भाधानकार्य में प्रवृत्ति नहीं होती है।। ६१।।

(जब पतिपत्नी दोनों परस्पर वशवर्ती और अनुगामी होते हैं। तब धर्म-अर्थ-काम तीनों ही पुरुषार्थों का एकत्रीकरण हो जाता है।। २।।)

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते।। ६२।।

स्त्रियां मण्डनादिना कान्तिमत्यां भर्तृस्नेहविषयतया परपुरुषसंपर्कविरहात्तत्कुलं दीप्तं भवति। तस्यां पुनररोचमानायां भर्तृविद्विष्टतया नरान्तरसंपर्कात्सकलमेव कुलं मलिनं भवति।। ६२।।

स्त्रियों के प्रसन्न रहने पर सम्पूर्ण कुल सुशोभित होता है। जबकि उसके अप्रसन्न होने पर कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।। ६२।।

कुविवाहैः　क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन　च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च।। ६३।।

आसुरादिविवाहैर्यथावर्णनिषिद्धैर्जातकर्मादिक्रियालोपैर्वेदापाठेन ब्राह्मणापूजनेन प्रख्यातकुलान्यपकर्षं गच्छन्ति।। ६३।।

शास्त्रनिन्दित विवाहों के द्वारा, वेदों के अध्ययन तथा धार्मिकक्रियाओं के लुप्त हो जाने से और ब्राह्मणों के अनादर से, उच्चकुल भी निकृष्टता को प्राप्त हो जाते हैं।। ६३।।

शिल्पेन　व्यवहारेण　शूद्रापत्यैश्च　केवलैः।
गोभिरश्वैश्च　यानैश्च　कृष्या　राजोपसेवया।। ६४।।

चित्रकर्मादिशिल्पेन कलया धनप्रयोगात्मकव्यवहारेण केवलशूद्रापत्येन गवाश्वरथ-क्रयविक्रयादिना कृषिराजसेवाभ्यां कुलानि विनश्यन्तीत्युत्तरेण संबन्धः।। ६४।।

शिल्पकला से, ब्याज पर धन देने से, केवल शूद्रवर्ण में उत्पन्न संतान द्वारा, गाय, अश्व तथा सवारियों के क्रय-विक्रय से, कृषि से और राजा के यहाँ नौकरी से .....।।६४।।

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः।।६५।।

अयाज्यव्रात्यादियाजनैः कर्मणां श्रौतस्मार्तादीनां नास्तिक्येन "शास्त्रीयफलवत्कर्मसु फलाभावबुद्धिर्नास्तिक्यम्"। वेदाध्ययनशून्यानि कुलानि क्षिप्रमपकर्षं गच्छन्ति। अत्र च विवाहप्रकरणे विवाहनिन्दाप्रसङ्गेन क्रियालोपादयो निन्दिताः। निन्दया चैतन्न कर्तव्यमिति सर्वत्र निषेधः कल्प्यते।। ६५।।

यज्ञ के अनधिकारियों के यहाँ यज्ञ कराने से, धार्मिककार्यों के प्रति नास्तिकभाव से तथा जो कुल मन्त्र से हीन होते हैं, वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।।६५।।

इदानीं क्रियालोपादिगतप्रासङ्गिककुलनिन्दानुप्रसक्त्या कुलोत्कर्षमाह—

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः।।६६।।

यद्यपि "धनेन कुलं" इति लोके प्रसिद्धं तथाप्यल्पधनान्यपि कुलानि वेदाध्ययन-तदर्थज्ञानानुष्ठानप्रसक्तान्युत्कृष्टकुलगणनायां गण्यन्ते महतीं च ख्यातिमर्जयन्ति।।६६।।

जबकि वेदों के अध्ययन से समृद्धकुल थोड़े धन से युक्त होते हुए भी श्रेष्ठकुलों की गणना को प्राप्त करते हैं तथा महान् यश के भागी होते हैं।।६६।।

विवाहप्रकरणमतिक्रान्तम्। इदानीं वैवाहिकाग्नौ संपाद्यं महायज्ञविधानं चेति वक्तव्यतया प्रतिज्ञातं महायज्ञाद्यनुष्ठानमाह-

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि।
पञ्चयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही।।६७।।

विवाहे भवो वैवाहिकः। अध्यात्मादित्वाट्ठञ्। तस्मिन्नग्नौ गृह्योक्तं कर्म सायंप्रातर्होमाष्टकादि यथाशास्त्रमग्निसंपाद्यं च पञ्चमहायज्ञान्तर्गतवैश्वदेवाद्यनुष्ठानं, प्रतिदिनसंपाद्यं च पाकं गृहस्थः कुर्यात्।। ६७।।

वैवाहिक अग्नि में गृहस्थ व्यक्ति विधिपूर्वक गार्हस्थ्य कर्म, पञ्चमहायज्ञों का विधान तथा प्रतिदिन काम करने वाले भोजन का पकाना भी सम्पादित करे।।६७।।

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ ६८॥

पशुवधस्थानं सूना। सूना इव सूना हिंसास्थानगुणयोगाच्चुल्ल्यादयः पञ्च गृहस्थस्य हिंसाबीजानि हिंसास्थानानि। चुल्ली उद्वाहनी, पेषणी दृषदुपलात्मिका, उपस्करो गृहोपकरणकुण्डसंमार्जन्यादिः, कण्डनी उलूखलमुसले, उदकुम्भो जलाधारकलशः। याः स्वकार्ये योजयन्पापेन संबध्यते॥ ६८॥

गृहस्थ व्यक्ति के चूल्हा, चक्की, झाडू, औखली-मूसल तथा जल का घड़ा, ये पाँच हिंसा के स्थान होते हैं। अतः इनमें व्यवहार करता हुआ वह पाप से सम्बद्ध हो जाता है॥ ६८॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥ ६९॥

तासां चुल्ल्यादिस्थानानां यथाक्रमं निष्कृत्यर्थमुत्पन्नपापनाशार्थं गृहस्थानां पञ्चमहायज्ञाः प्रतिदिनं मन्वादिभिरनुष्ठेयतया स्मृताः। एवंच निष्कृत्यर्थमित्यभिधाना-द्धिंसास्थानत्वेन च कीर्तनात् "सूनादोषैर्न लिप्यते" (अ० ३ श्लो० ७१) इति वक्ष्यमाणत्वात्पञ्चसूनानां पापहेतुकत्वं, पञ्चयज्ञानां च तत्पापनाशकत्वमवगम्यते। प्रत्यहमित्यभिधानात्प्रतिदिनं तत्पापक्षयस्यापेक्षितत्वात्संध्यावन्दनादिवन्नित्यत्वमपि न विरुध्यते॥ ६९॥

इसलिए उन सबकी निष्कृति के लिए महर्षियों, गृहस्थ आश्रमवासियों को प्रतिदिन क्रमशः पञ्चमहायज्ञों को करने का निर्देश दिया गया है॥ ६९॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ ७०॥

अध्यापनशब्देनाध्ययनमपि गृह्यते। जपोऽहुतमिति वक्ष्यमाणत्वात्। अतोऽध्यापन-मध्ययनं च ब्रह्मयज्ञः। "अन्नाद्येनोदकेन वा" (अ० ३ श्लो० ८२) इति तर्पणं वक्ष्यति स पितृयज्ञः। अग्नौ होमो वक्ष्यमाणो देवयज्ञः। भूतबलिर्भूतयज्ञः। अतिथिपूजनं मनुष्ययज्ञः। अध्यापनादिषु यज्ञशब्दो महच्छब्दश्च स्तुत्यर्थं गौणः॥ ७०॥

वेदादिशास्त्रों का अध्यापन 'ब्रह्मयज्ञ' है, तर्पण पितृयज्ञ है, जबकि हवन करना देवयज्ञ तथा बलि प्रदान करना भूतयज्ञ एवं अतिथियों का पूजन करना मनुष्ययज्ञ (कहलाता है)॥७०॥

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते।। ७१।।

शक्तित इत्येतद्विधानार्थोऽयमनुवादः। अनुकल्पेनापि यथासंभवमेते कर्तव्याः। हापयतीति प्रकृत्यर्थ एव छान्दसत्वाण्णिच्। जहातीत्यर्थः।। ७१।।

अपनी शक्ति के अनुसार इन पञ्चमहायज्ञों को जो गृहस्थी नहीं छोड़ता है। घर में रहता हुआ भी वह पाँच प्रकार की हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता है।।७१।।

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति।। ७२।।

देवताशब्देन भूतानामपि ग्रहणम्। तेषामपि बलिहरणे देवतारूपत्वात्। भृत्या वृद्धमातापित्रादयोऽवश्यं संवर्धनीयाः। "सर्वत एवात्मानं गोपायेत्" इति श्रुत्या आत्मपोषणमप्यवश्यं कर्तव्यम्। देवतादीनां पञ्चानां योऽन्नं न ददाति स श्वसन्नपि जीवितकार्याकरणान्न जीवतीति निन्दयावश्यकर्तव्यता बोध्यते।। ७२।।

जो व्यक्ति देवों, अतिथियों, सेवकों, माता-पिता एवं अपना इन पाँचों का अन्नादि से पालन-पोषण नहीं करता है। श्वाँस लेता हुआ भी वह जीता नहीं है।।७२।।

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।
ब्राह्म्यं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते।। ७३।।

नामभेदेऽपि वाक्यभेद इति दर्शयितुं पञ्चमहायज्ञानां मुन्यन्तरकृतान्यहुतादीनि संज्ञान्तराण्यभिधेयानि तानि स्वयं व्याचष्टे।। ७३।।

अहुत, हुत, प्रहुत, ब्राह्महुत एवं प्राशित इन्हें पञ्चयज्ञ कहा जाता है।।७३।।

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।
ब्राह्म्यं हुतं द्विजाग्र्यार्चा प्राशितं पितृतर्पणम्।। ७४।।

अहुतशब्दने ब्रह्मयज्ञाख्यो जप उच्यते। हुतशब्देन देवयज्ञाख्यो होमः। प्रहुतशब्देन भूतयज्ञाख्यो भूतबलिः। ब्राह्मयहुतशब्देन मनुष्ययज्ञाख्यो ब्राह्मणश्रेष्ठस्यार्चा। प्राशितशब्देन पितृयज्ञाख्यं नित्यश्राद्धम्।। ७४।।

जप अहुत, होम हुत, भूतबलि प्रहुत, उत्कृष्ट ब्राह्मणों की पूजा ब्राह्महुत तथा पितरों का तर्पण प्राशित (नामक यज्ञ) कहलाता है।।७४।।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्।। ७५।।

यदि दारिद्र्यादिदोषेणातिथिभोजनादिकं कर्तुं क्षमते तदा ब्रह्मयज्ञे नित्ययुक्तो भवेत्। दैवे कर्मण्यग्नौ होमे च। होमस्य स्तुतिमाह। यतो दैवकर्मपर इदं स्थावरजङ्गमं धारयति।। ७५।।

(निर्धनता आदि के कारण अतिथिसत्कार के अभाव में) व्यक्ति को इस संसार में देवकर्म तथा स्वाध्याय में हमेशा संलग्न रहना चाहिए, क्योंकि देवकर्मों में संयुक्त हुआ व्यक्ति ही इस चराचर संसार को धारण करता है।। ७५।।

कुत एतदित्याह—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।। ७६।।

यजमानेनाग्नावाहुतिः सम्यक् क्षिप्ता रसाहरणकारित्वादादित्यस्यादित्यं प्राप्नोति। स चाहुतिरस आदित्याद्वृष्टिरूपेण जायते। ततोऽन्नम्। तदुपभोगेन जायन्ते प्रजाः।। ७६।।

भलीप्रकार विधिविधानपूर्वक अग्नि में दी गई आहुति सूर्य को प्राप्त हो जाती है। सूर्य से वर्षा उत्पन्न होती है। वर्षा से अन्न तथा उस अन्न से प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं।। ७६।।

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।। ७७।।

यथा प्राणाख्यवाय्वाश्रयेण सर्वप्राणिनो जीवन्ति तथा गृहस्थाश्रमेण सर्वाश्रमिणो निर्वहन्ति।। ७७।।

जिसप्रकार वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं। उसीप्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सभी आश्रम विद्यमान रहते हैं।। ७७।।

गृहस्थः प्राणतुल्यः सर्वाश्रमिणामित्युक्तं तदेवोपपादयति-

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।। ७८।।

यस्माद्गृहस्थव्यतिरिक्तास्त्रयोऽप्याश्रमिणो वेदार्थव्याख्यानान्नदानाभ्यां नित्यं गृहस्थैरेवोपक्रियन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृहस्थः। ज्येष्ठ आश्रमो यस्य स तथेति बहुव्रीहिः।। ७८।।

क्योंकि गृहस्थजन के द्वारा ही शेष तीनों आश्रमों के लोग, ज्ञान एवं अन्न से प्रतिदिन धारण किए जाते हैं। इसलिए गृहस्थ आश्रमी ही श्रेष्ठ हैं।। ७८।।

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः।। ७९।।

यत एवमतः स गृहस्थाश्रमः स्वर्गसुखमिच्छता अनन्तमिव चिरस्थायित्वात्। इह लोके च स्त्रीसंभोगस्वाद्वन्नादिभोजनसुखं संततमिच्छता प्रयत्नेनानुष्ठेयः। योऽसंयतेन्द्रियैर्धारयितुं न शक्यते।। ७९।।

अतः इस संसार में सुख चाहने वाले तथा अक्षय स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा वह गृहस्थाश्रम हमेशा ही प्रयत्नपूर्वक धारण करने योग्य है। जो (आश्रम) दुर्बल इन्द्रिय वाले लोगों द्वारा धारण करने योग्य नहीं है।। ७९।।

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता।। ८०।।

एते गृहस्थेभ्यः सकाशात्प्रार्थयन्ते। अतः शास्त्रज्ञेन तेभ्यः कर्तव्यम्।। ८०।।

ऋषि, पितर, देवता, भूत एवं अतिथि लोग गृहस्थों से आशा लगाए रहते हैं। इसलिए धर्मकार्यों को विशेषरूप से जानने वाले व्यक्ति द्वारा उनके लिए (पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन करना चाहिए)।। ८०।।

किं तत्तदाह—

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन्श्राद्धैश्च नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा।। ८१।।

नानाप्रकारत्वादर्चनस्य स्वाध्यायादेरर्चनार्थत्वमुचितम्। महायज्ञान्तर्गतैः स्वाध्यायादिभिः ऋषिदेवपित्रतिथिभूतानि यथाशास्त्रं पूजयेत्।। ८१।।

स्वाध्याय से ऋषियों की, हवन से देवताओं की, श्राद्धों द्वारा पितरों की अन्न से मनुष्यों की तथा बलिकर्म द्वारा भूतों की विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिए।। ८१।।

तत्र पितृयज्ञं तावदाह—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।। ८२।।

प्रत्यहं यथासंभवं श्राद्धं कुर्यात्। श्राद्धशब्दोऽयं कर्मविधिवाक्यवर्ती कौण्डपायिनामयनीयाग्निहोत्रशब्दवद्वक्ष्यमाणपार्वणश्राद्धधर्मातिदेशार्थः। अन्नाद्येनेति तिलैर्व्रीहिभिर्यवैरित्यादेरुपादानम्। पयः क्षीरम्।। ८२।।

अन्न आदि से, जल से, दूध से, मूल से, अथवा फलों द्वारा पितरों के लिए प्रतिदिन प्रसन्नतापूर्वक श्राद्ध करना चाहिए।। ८२।।

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके।
न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम्।। ८३।।

पितृप्रयोजने पञ्चयज्ञान्तर्गते एकमपि ब्राह्मणं भोजयेत्। अपिशब्दात्संभवे बहूनपि। पार्वणधर्मग्रहणाच्च वैश्वदेवब्राह्मणभोजनप्राप्तावाह-न कंचिद्वैश्वदेवार्थं ब्राह्मणमत्र भोजयेत्।। ८३।।

पितरों के निमित्त पञ्चयज्ञ में कम से कम एक ब्राह्मण को अवश्य भोजन करावे, किन्तु वैश्वदेव के प्रति किसी भी ब्राह्मण को भोजन नहीं कराना चाहिए।। ८३।।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्।। ८४।।

विश्वदेवार्थः सर्वदेवतार्थो वैश्वदेवस्तस्य पक्वस्यान्नस्यावसथ्याग्नौ स्वगृह्यविहित-पर्युक्षणादीतिकर्तव्यतापूर्वकमाभ्यो वक्ष्यमाणदेवताभ्यो ब्राह्मणः प्रत्यहं होमं कुर्यात्। ब्राह्मणग्रहणं द्विजातिप्रदर्शनार्थम्। त्रथाणां प्रकृतत्वात्।। ८४।।

ब्राह्मण, गार्हपत्य अग्नि में वैश्वदेव के लिए पकाए हुए अन्न का प्रतिदिन विधिपूर्वक इन देवताओं के निमित्त हवन करे।। ८४।।

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च।। ८५।।

वचनद्वयम् "स्वाहाकारप्रदानहोमः" इति कात्यायनस्मरणादादावग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेहि निरपेक्षदेवताकं होमद्वयं कृत्वा अग्निषोमाभ्यां स्वाहेति समस्तदेवताकं होमं कुर्यात्। ततो विश्वेभ्यो देवेभ्यो धन्वन्तरये।। ८५।।

सबसे पहले अग्नि और सोम को फिर सम्मिलितरूप से उन दोनों को, पुनः सभी देवताओं के लिए तथा धन्वन्तरि के लिए भी।। ८५।।

कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च।
सह द्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः।। ८६।।

कुह्वा अनुमत्यै प्रजापतये द्यावापृथिवीभ्यामग्नये स्विष्टकृत इत्येवं स्वाहा-कारान्तान्होमान्कुर्यात्। श्रुत्यन्तरेष्वग्निविशेषणत्वेन स्विष्टकृतो विधानात्केवलं

स्विष्टकृन्निर्देशेऽप्यग्निविशेषणत्वेनैव प्रयोगः। पाठादेवान्तत्वे सिद्धे स्विष्टकृतेऽन्तत इत्यभिधानं स्मृत्यन्तरीयहोमसमुच्चयेऽप्यन्तत्वज्ञापनार्थम्।। ८६।।

(तत्पश्चात्) कुहू, अनुमति तथा प्रजापति के लिए, साथ ही द्यावापृथिवी को तथा अन्त में स्विष्टकृत् अग्नि के लिए (आहुति प्रदान करनी चाहिए)।। ८६।।

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम्।
इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत्।। ८७।।

एवमुक्तप्रकारेण सम्यगनन्यचित्तो देवताध्यानपर एव होमान्कृत्वा सर्वासु प्राच्यादिषु दिक्षु प्रदक्षिणमिन्द्रादिभ्यः सपुरुषेभ्यो बलिं हरेत्। तथा प्राच्यामिन्द्राय नमः, इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः। दक्षिणस्यां यमाय नमः, यमपुरुषेभ्यो नमः। पश्चिमायां वरुणाय नमः, वरुणपुरुषेभ्यो नमः। उत्तरस्यां सोमाय नमः, सोमपुरुषेभ्यो नमः। यद्यपि शब्दावगम्यत्वाद्देवतात्वस्यान्तकाप्पतीन्दुशब्दैरेवोद्देशो युक्तस्तथापि बह्वचानुष्ठान-संवादाद्बह्वचगृह्ये च "यमाय यमपुरुषेभ्यो वरुणाय वरुणपुरुषेभ्यः सोमाय सोमपुरुषेभ्यः इति प्रतिदिशम्" (अ० १ खं० २) इति पाठाद्यथोक्त एव प्रयोगः।। ८७।।

इसप्रकार ठीकतरह से हवन करके प्रदक्षिणाक्रम से सभी दिशाओं में अनुचरों सहित इन्द्र, यम, वरुण एवं सोम के लिए बलि प्रदान करे।। ८७।।

मरुद्भ्य इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्।। ८८।।

इतिशब्दःस्वरूपविवक्षार्थः। मरुद्भ्यो नमः इति द्वारे बलिं दद्यात्, जलेऽद्भ्य इति। मुसलोलूखल इति द्वन्द्वनिर्देशात्सहयुक्तयोरन्यतरत्र वनस्पतिभ्य इति बलिं दद्यात्। गुणानुरोधेन प्रधानबलिकर्मावृत्तेरन्याय्यत्वात्।।८८।।

जबकि द्वार पर मरुद्गणों के लिए, जलों में वरुणों के लिए बलि डालनी चाहिए, इसप्रकार ही वनस्पतियों के लिए मूसल एवं ओखली में बलि प्रदान करनी चाहिए।।८८।।

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।
ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्।। ८९।।

वास्तुपुरुषस्य शिरःप्रदेश उत्तरपूर्वस्यां दिशि श्रियै बलिं दद्यात्। तस्यैव पाददेशे दक्षिणपश्चिमायां दिशि भद्रकाल्यै। अन्ये तु उच्छीर्षकं गृहस्थशयनस्य शिरःस्थानभूभागं पादत इति तस्यैव चरणभूप्रदेशमाहुः। ब्रह्मणे वास्तोष्पतय इति

गृहमध्ये। द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम्। यत्र द्वन्द्वे मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति। यथा सह द्यावापृथिव्योश्चेति।।८९।।

श्री के लिए वास्तुपुरुष के मस्तकप्रदेश में स्थित ईशानकोण में, शूद्रकाली के लिए नैर्ऋत्यकोण में स्थित पैरों में, ब्रह्म और वास्तोष्पत्ति के लिए वास्तुपुरुष के मध्यभाग में बलि प्रदान करनी चाहिए।।८९।।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिकामाश उत्क्षिपेत्।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च।। ९०।।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्य इति शब्दादेकेयमाहुतिः। विश्वेभ्यो देवेभ्यो नम इति गृहाकाशे बलिं दद्यात्। दिवाचरेभ्यो भूतेभ्य इति दिवा नक्तंचारिभ्य इति नक्तम्। "दिवाचारिभ्यो दिवा" (अ० १ खं० २) इत्यादि बृह्वचगृह्यदर्शनादियं व्यवस्था।।९०।।

सभी देवताओं के लिए, दिन में विचरण करने वाले प्राणियों के लिए तथा रात्रि में विचरण करने वाले जीवों के लिए आकाश में बलि डालनी चाहिए।।९०।।

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्।। ९१।।

गृहस्योपरि यद्गृहं तत्पृष्ठवास्तु बलिं दातुः पृष्ठदेशे भूभागे वा तत्र सर्वात्मभूतये नम इत्येव बलिं दद्यात्। उक्तबलिदानावशिष्टं सर्वमन्नं दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणामुखः स्वधा पितृभ्य इति बलिं हरेत्। प्राचीनावीतिना चायं बलिर्देयः। "स्वधा पितृभ्य इति प्राचीनावीती शेषं दक्षिणामुखो निनयेत्" (अ. १ खं २) इति बह्वचगृह्य-वचनात्।।९१।।

अपने सभीप्रकार के कल्याण के लिए या सर्वात्मक प्राणियों के लिए वास्तु के पृष्ठभाग में बलि प्रदान करनी चाहिए। जबकि सम्पूर्ण बची हुई बलि को पितरों के लिए दक्षिणदिशा में देना चाहिए।।९१।।

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि।।९२।।

अन्यदन्नं पात्रे समुद्धृत्य श्वपतितादिभ्यः शनकैर्यथा रजसा न संगृह्यते तथा भुवि दद्यात्। पापरोगी कुष्ठी क्षयरोगी वा।।९२।।

कुत्तों को, पतितों को, चाण्डालों को, पाप-रोगियों को, कौओं को और मकोड़ों को पृथिवी पर धीरे से बलि रख देनी चाहिए।।९२।।

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्ति पथर्जुना।। ९३।।

एवमुक्तप्रकारेण सर्वभूतान्यन्नदानादिना नित्यं पूजयति स परं स्थानं ब्रह्मात्मकं तेजोमूर्ति प्रकाशं अवक्रेण वर्त्मनार्चिरादिमार्गेण प्राप्नोति। ब्रह्मणि लीयत इत्यर्थः। ज्ञानकर्मभ्यां मोक्षप्राप्तेः। तेजोमूर्तिरिति सविसर्गपाठे प्रकृष्टब्रह्मबोधस्वभावो भूत्वेति व्याख्या।। ९३।।

जो ब्राह्मण इसप्रकार सभी भूतों की प्रतिदिन पूजा करता है। वह सरल मार्ग द्वारा प्रकाशमय परमपद को प्राप्त करता है।। ९३।।

कृत्वैद्बलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।
भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे।। ९४।।

एवमुक्तप्रकारेणैतद्बलिकर्म कृत्वा गृहभोक्तृभ्यः पूर्वमतिथिं भोजयेत्। भिक्षवे परिव्राजे ब्रह्मचारिणे प्रथमाश्रमिणे च विविधवत्स्वस्तिवाच्य भिक्षादानमप्यूर्ध्वमिति गौतमाद्युक्तविधिना भिक्षां दद्यात्। ग्रासप्रमाणा च भिक्षा भवति। "ग्रासमात्रा भवेद्भिक्षा" इति शातातपवचनात्। संभवे त्वधिकमपि देयम्।। ९४।।

इसप्रकार यह बलि-कर्म करके सर्वप्रथम अतिथि को भोजन कराना चाहिए तथा ब्रह्मचारी, संन्यासी-भिक्षुक को विधिपूर्वक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए।। ९४।।

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः।
तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही।। ९५।।

गुरवे गां दत्त्वा विधिवत्स्वर्णशृङ्गिकादिविधानेन यत्फलं प्राप्नोति तद्गृहस्थो विधिना भिक्षादानात्प्राप्नोति।। ९५।।

गुरु को विधिविधान के साथ गोदान करके व्यक्ति जिस पुण्यफल को प्राप्त करता है। वही पुण्यफल गृहस्थीद्विज भिक्षा प्रदान करके प्राप्त कर लेता है।। ९५।।

भिक्षामप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।
वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।। ९६।।

प्रचुरान्नाभावे ग्रासप्रमाणां भिक्षामपि व्यञ्जनादिना सत्कृत्य तदभावे जलपूर्णं पात्रमपि फलपुष्पादिना सत्कृत्य तत्त्वतो वेदतदर्थज्ञानवते ब्राह्मणाय स्वस्तिवाच्येत्यादि-विधिपूर्वकं दद्यात्।। ९६।।

विधिपूर्वक सत्कार करके भिक्षा अथवा (उसके अभाव में फल पुष्प आदि के साथ) जल का पात्र ही वेद के तत्त्व एवं अभिप्राय को जानने वाले ब्राह्मण के लिए प्रदान करना चाहिए।। ९६।।

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्।
भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद्दत्तानि दातृभिः।। ९७।।

मोहाद्यत्पात्रानभिज्ञतया देवपित्रुद्देशेनान्नानि वेदाध्ययनतदर्थज्ञानानुष्ठानतेजः शून्यतया भस्मरूपेष्विव पात्रेषु दत्तानि दातृभिर्निष्फलानि भवन्ति।। ९७।।

न जानने वाले मनुष्यों के तथा मोह के वशीभूत होकर देवों एवं पितरों को लक्ष्य करके दान दाताओं द्वारा विद्याहीन ब्राह्मणों में दिये गये द्रव्य और कव्य नष्ट हो जाते हैं।। ९७।।

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।
निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्विषात्।। ९८।।
(अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्धनी धर्मान्न हीयते।। ३।।
काले न्यायागतं पात्रे विधिवत्प्रतिपादितम्।
ददाति परमं सौख्यमिह लोके परत्र च ।। ४।।
प्रतिग्रहेण शुद्धेन शस्त्रेण क्रयविक्रयात्।
यथाक्रमं द्विजातीनां धनं न्यायादुपागतम्।। ५।।)

विद्यातपस्तेजःसंपन्नविप्राणां मुखानि होमाधिकरणत्वेनाग्नितया निरूपितानि। हव्यकव्यादि प्रक्षिप्तमिह लोके दुस्तराव्याधिशत्रुराजपीडादिभयान्महतश्च पापादमुत्र नरकात्त्रायते।। ९८।।

जबकि विद्या और तप में बढ़े हुए विप्रों के मुखरूपी अग्नि में आहुत किया गया (द्रव्य और कव्य) व्यक्तियों को दुस्तर एवं महान् पाप से भी बचा देता है।। ९८।।

(योग्य एवं अयोग्य का ज्ञान न होने के कारण यदि धनवान् व्यक्ति अयोग्य के लिए देता है तथा योग्य के लिए प्रदान नहीं करता है तो वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता है।। ३।।

जबकि समय पर न्यायोचित-विधि से आए हुए योग्यपात्र को विधिवत दान किया गया, इसलोक तथा परलोक में परमसुख प्रदान करता है।। ४।।

द्विजातियों में ब्राह्मण का शुद्ध दान से, क्षत्रिय का शास्त्र द्वारा, वैश्य का क्रयविक्रय से क्रमशः आया हुआ धन न्यायोचित माना जाता है।।५।।)

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।। ९९।।

स्वयमागताय त्वतिथये आसनं पादप्रक्षालनाद्युदकं यथासंभवं व्यञ्जनादिभिः सत्कृतं चान्नम् "आसनावसथौ" (अ० ३ श्लोक १०७,) इत्यादिवक्ष्यमाणविधिपूर्वकं दद्यात्।।९९।।

घर पर आए अतिथि के लिए सर्वप्रथम आसन और जल, तत्पश्चात् यथाशक्ति सत्कार करके विधिपूर्वक अन्न प्रदान करे।।९९।।

शिलानप्युञ्छतो नित्यं पञ्चाग्नीनपि जुह्वतः।
सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनर्चितो वसन्।। १००।।

लूनकेदारशेषधान्यानि शिलस्तानप्युच्चिन्वतो वृत्तिसंयमान्वितस्य, त्रेता, आवसथ्यः, सभ्यश्चेति पञ्चाग्नयः। सभ्यो नामाग्निः शीतापनोदाद्यर्थं यस्तत्र प्रणीयते। पञ्चस्वग्निषु होमं कुर्वाणस्यापि सर्वं वृत्तिसंकोचेन पञ्चाग्निहोमार्जितपुण्यमनर्चितोऽतिथिर्वसन्गृह्णाति। अनया च निन्दयातिथ्यर्चनस्य नित्यतावगम्यते।। १००।।

असम्मानित होकर रहते हुए ब्राह्मण अतिथि, शिलों को चुन-चुनकर आजीविका चलाने वाले पञ्चाग्नि में हमेशा हवन करते हुए व्यक्ति के सभी पुण्यों को ग्रहण कर लेता है।।१००।।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन।। १०१।।

अन्नासंभवे पुनस्तृणविश्रामभूमिपादप्रक्षालनाद्यर्थजलप्रियवचनान्यपि धार्मिक-गृहेष्वतिथ्यर्थं न कदाचिदुच्छिद्यन्ते अवश्यदेयानीति विधीयते। तृणग्रहणं शयनीयोप-लक्षणार्थम्।। १०१।।

तृण, भूमि, जल और चौथी मधुरवाणी, सज्जनों के घर में ये चारों कभी भी नष्ट नहीं होते हैं।।१०१।।

अप्रसिद्धत्वादतिथिलक्षणमाह-

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते।। १०२।।

एकरात्रमेव परगृहे निवसन्ब्राह्मणोऽतिथिर्भवति। अनित्यावस्थानान्न विद्यते द्वितीया तिथिरस्येत्यतिथिरुच्यते।। १०२।।

एक रात निवास करता हुआ ब्राह्मण 'अतिथि' कहा गया है। क्योंकि उसकी स्थिति अनिश्चित होती है, इसलिए अतिथि कहा जाता है।। १०२।।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गतिकं तथा।
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा।। १०३।।

एकग्रामनिवासिनं लोकेषु विचित्रपरिहासकथादिभिः संगत्या वृत्त्यर्थिनं भार्याग्नियुक्तो गृहे वैश्वदेवकालोपस्थितमपि नातिथिं विद्यात्। एतेन भार्याग्निरहितस्य प्रवासिनो नातिथित्वमिति बोधितम्।। १०३।।

एक गाँव में निवास करने वाले, विचित्र परिहासकथा आदि से आजीविका चलाने वाले, उपस्थित हुए ब्राह्मण को भी पत्नी तथा अग्नि (होत्र) से युक्त घर में अतिथि नहीं समझना चाहिए।।१०३।।

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्नादिदायिनाम्।। १०४।।
(परपाकान्नपुष्टस्य सततं गृहमेधिनः।
दत्तमिष्टं तपोऽधीतं यस्यान्नं तस्य तद्भवेत्।। ६।।)

अतिथिप्रकरणादातिथ्यलोभेन ये गृहस्थाः ग्रामान्तराणि गत्वा परान्नं सेवन्ते ते निषिद्धपरान्नदोषानभिज्ञाः तेन परान्नभोजनेन जन्मान्तरे अन्नादिदायिनां पशुतां व्रजन्ति। तस्मादिदं न कुर्यादिति निषेधः कल्प्यते।। १०४।।

जो बुद्धिहीन गृहस्थी (लोभवश) दूसरों के अन्न का सेवन करते हैं। उस कारण मरकर वे अन्न प्रदान करने वाले लोगों की पशुता को प्राप्त होते हैं।।१०४।।

(हमेशा दूसरों के अन्न का भक्षण करने से परिपुष्ट हुए, दूसरों के आतिथ्य को ग्रहण करने वाले, गृहस्थी के दान, यज्ञ, तप एवं स्वाध्याय वे सब, जिसका अन्न होता है, उसीके होते हैं।। ६।।)

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना।
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत्।। १०५।।

सूर्येऽस्तमिते गृहस्थेनातिथिर्न प्रत्याख्येयः। सूर्येणोढः प्रापितो रात्रौ स्वगृह-

गमनाशक्तेः। द्वितीयवैश्वदेवकाले प्राप्तः। अकाले वा सायंभोजने निवृत्तेऽपि नास्य गृहेऽतिथिरनश्नन्वसेदवश्यमस्मै भोजनं देयम्। प्रत्याख्याने प्रायश्चित्तगौरवार्थोऽयमारम्भः। अतएव विष्णुपुराणे "दिवाऽतिथौ तु विमुखे गते यत्पातकं नृप। तदेवाष्टगुणं प्रोक्तं सूर्योढे विमुखे गते।।" गोविन्दराजस्तु प्रतिषिद्धातिथिप्रतिप्रसवार्थत्वम-स्याह।। १०५।।

सायंकाल में सूर्यास्त होने पर आया हुआ अतिथि गृहस्थव्यक्ति द्वारा लौटाए जाने योग्य नहीं होता है। समय पर अथवा असमय में आए उसको, इसके घर में बिना भोजन किए नहीं रहना चाहिए।। १०५।।

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनम्।। १०६।।

यद्धतदध्याद्युत्कृष्टमतिथिर्न प्रत्याचष्टे तत्तस्मै अदत्त्वा न स्वयं भोक्तव्यम्। धनाय हितं धनस्य निमित्तं वा धन्यम्। एवं यशस्यादयोऽपि शब्दाः। अतिथिभोजनफलकथनमिदम्। न चानावश्यकतापत्तिः। "सर्वं सुकृतमादत्ते" (अ०३ श्लो, १००) इत्यादिदोषश्रवणात्।। १०६।।

जो भोजन अतिथि को न खिलाया जाए, उसे स्वयं भी नहीं खाना चाहिए। अतिथिपूजन धन प्रदान करने वाला, आयु बढ़ाने वाला, यश देने वाला तथा स्वर्ग प्रदान करने वाला होता है।। १०६।।

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्।
उत्तमेषूत्तमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम्।। १०७।।

आसनं पीठं चर्म वा, आवसथो विश्रामस्थानम्, शय्या खट्वादि, अनुव्रज्या गच्छतोऽनुगमनम्, उपासना परिचर्या। एतत्सर्वं बहुष्वतिथिषु युगपदुस्थितेष्वितरेतरा-पक्षेयोत्कृष्टापकृष्टमध्यमं कुर्यान्न पुनः सर्वेषां समम्।। १०७।।

आसन, विश्रामस्थान, शय्या, अनुगमन एवं सेवा ये सभी कार्य उत्तम लोगों में उत्तम, हीन में हीन तथा मध्यम के प्रति मध्यम करने चाहिएँ।। १०७।।

वैश्वदेवे तु निर्वृते यद्यन्योऽतिथिराव्रजेत्।
तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रदद्यान्न वलिं हरेत्।। १०८।।

अन्यशब्दनिर्देशादतिथिभोजनपर्यन्तं वैश्वदेवे कृते यद्यपरोऽतिथिरागच्छेत्तदा तदर्थं पुनः पाकं कृत्वा तस्यान्नं दद्यात्। बलिहरणं ततो नात्र कुर्यात् बलिनिषेधादन्नसंस्कारा-भावो वैश्वदेवस्यागम्यते। अन्नसंस्कारपक्षे कथमसंस्कृतान्नभोजनमनुजानीयात्।। १०८।।

वैश्वदेव कार्य के सम्पन्न होने पर यदि दूसरा अतिथि भी आ जाता है, तो उसे भी अपनी शक्ति के अनुसार अन्न प्रदान करना चाहिए, (किन्तु फिर से) बलिकर्म नहीं करना चाहिए।। १०८।।

न भोजानार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत्।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः।। १०९।।

भोजनलाभार्थं ब्राह्मणः स्वकुलगोत्रे न निवेदयेत्। यस्माद्भोजनार्थं ते कथयन्नुदीर्णाशीति पण्डितैः। कथ्यते।। १०९।।

ब्राह्मण को अपने कुल तथा गोत्र का भोजन के लिए निवेदन नहीं करना चाहिए, क्योंकि विद्वानों द्वारा भोजन के लिए कहने वाले उन्हें, वमन किए गए पदार्थ को खाने वाला कहा जाता है।। १०९।।

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहे राजन्य उच्यते।
वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुरेव च।। ११०।।

ब्राह्मणस्य क्षत्रियादयोऽतिथयो न भवन्ति क्षत्रियादीनां ब्राह्मणस्योत्कृष्टजातित्वात्। मित्रज्ञातीनामात्मसंबन्धाद्गुरोः प्रभुत्वात्। अनेनैव न्यायेन क्षत्रियस्य उत्कृष्टो ब्राह्मणः सजातीयश्च क्षत्रियोऽतिथिः स्यान्नापकृष्टौ वैश्यशूद्रौ। एवं वैश्यस्यापि द्विजातयोऽतिथयो न शूद्रः।। ११०।।

ब्राह्मण के घर आए हुए क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, सम्बन्धी तथा गुरु को भी अतिथि नहीं कहा जाता है।। ११०।।

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाव्रजेत्।
भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तमपि भोजयेत्।। १११।।

यदि ग्रामान्तरागतत्वादतिथिकालोपस्थितत्वादतिथिधर्मेण क्षत्रियो विप्रगृहमागच्छेत्तदा विप्रगृहोपस्थितविप्रेषु कृतभोजनेषु स्थितेष्विच्छातस्तमपि भोजयेत्।। १११।।

किन्तु यदि अतिथिधर्म से क्षत्रिय, ब्राह्मण के घर पर आ जावे तो ब्राह्मण अतिथियों के भोजन कर लेने पर, उसे भी इच्छानुसार भोजन कराना चाहिए।। १११।।

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन्।। ११२।।

यदि वैश्यशूद्रावपि ब्राह्मणस्य कुटुम्बे गृहे प्राप्तौ ग्रामान्तरादागतत्वाद्यतिथि-धर्मशालिनौ तदा तावपि क्षत्रियभोजनकालात्परतो दम्पतीभोजनात्पूर्वं दासभोजनकाले अनुकम्पामाश्रयन्भोजयेत्।। ११२।।

इसीप्रकार यदि अतिथिधर्म से वैश्य और शूद्र, ब्राह्मण के घर में आ जाएँ तो उन दोनों को अत्यन्त कृपापूर्वक सेवकों के साथ भोजन कराना चाहिए।। ११२।।

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान्।
प्रकृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया।। ११३।।

उक्तभोजनकाले क्षत्रियादिव्यतिरिक्तान्सखिसहाध्यायिप्रभृतीन्संप्रीत्या गृहमागतान् न त्वतिथिभावेन। तस्य प्रतिषेधात्। यथाशक्ति प्रकृष्टमन्नं कृत्वा भार्याया भोजनकाले भोजयेत्। गृहस्थस्यापि स एव भोजनकालः। ''अविशिष्टं तु दम्पती'' (अ० ३ श्लो०११६) इति वक्ष्यमाणत्वात्। आत्मना सहेति वक्तव्ये वचनवैचित्रीयमाचार्यस्य। गुरोस्तु भोजनकालानभिधानं प्रभुत्वेन स्वाधीनकालत्वात्।। ११३।।

दूसरे भी घर आए हुए मित्रादिकों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नी सहित श्रेष्ठ अन्न खिलाना चाहिए।। ११३।।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणो गर्भिणीः स्त्रियः।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन्।। ११४।।

सुवासिन्यो नवोढाः स्त्रियः स्नुषा दुहितरश्च ताः, कुमारीगर्भिणीश्चातिथिभ्योऽग्ने पूर्वमेवातिथिभ्यो भोजयेत्। कथमतिथिष्वभोजितेषु भोजनमेषामिति विचारमकुर्वन्। मेधातिथिस्त्वन्वगेवेति पठित्वानुगतानेवैतान्भोजयेदतिथिसमकालमिति व्याख्याय अन्ये तु अग्र इति पठन्तीत्युक्तवान्।। ११४।।

नव विवाहित वधूओं, कन्याओं, रोगी तथा गर्भिणी स्त्रियों इन सभी को बिना विचार करते हुए, अतिथियों से पहले भोजन कराना चाहिए।। ११४।।

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्ते विचक्षणः।
स भुञ्जानो न जानाति श्वगृध्रैर्जग्धिमात्मनः।। ११५।।

एतेभ्योऽतिथ्यादिभृत्यपर्यन्तेभ्योऽन्नमदत्त्वा व्यतिक्रमभोजनदोषमजानन्यः पूर्वं भुङ्क्ते स मरणानन्तरं श्वगृध्रैरात्मनो भक्षणं न जानाति। व्यतिक्रमस्येदं फलमिति वचनवैदग्ध्ये-नोक्तम्।। ११५।।

जो बुद्धिमान् व्यक्ति इन लोगों को बिना दिए स्वयं पहले खाता है। खाता हुआ वह वस्तुतः स्वयं को कुत्ते एवं गिद्धों द्वारा खाये जाते हुए को नहीं जानता है।। ११५।।

भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि।
भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती।। ११६।।

विप्रेष्वतिथिषु, स्वेषु ज्ञातिषु, भृत्येषु दासादिषु कृतभोजनेषु ततोऽन्नादवशिष्टं भार्यापती पश्चादश्नीयाताम्।। ११६।।

ब्राह्मणों तथा अपने सेवकों के भोजन के बाद ही, बचे हुए भोजन को गृहस्थ दम्पती (पति-पत्नी) को खाना चाहिए।। ११६।।

देवनृषीन्मनुष्यांश्च पितृन्गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत्।। ११७।।

गृह्याश्च देवता इत्यनेन भूतयज्ञ उक्तः। पञ्चयज्ञानुष्ठानस्य "अवशिष्टं तु दम्पती" (अ० ३ श्लो० ११६) इत्यनेन शेषभोजनस्य च विहितत्वात्। वक्ष्यमाणदोषकथनार्थोऽयमनुवादः। अथवा देवानित्यनेनैव भूतयज्ञस्यापि संग्रहः। गृहे भवा गृह्या देवताः पूजयित्वेति वासुदेवादिप्रतिकृतिपूजाविधानार्थत्वमस्य।। ११७।।

देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों, पितरों तथा घर में प्रस्थापित देवों की पूजा करने के बाद ही गृहस्थी को बचा हुआ अन्न खाना चाहिए।। ११७।।

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते।। ११८।।
(यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे।
तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता।। ७।।)

यस्त्वात्मार्थमेवान्नं पक्त्वां भुङ्क्ते देवादिभ्यो न ददाति स पापहेतुत्वात्पापमेव केवलं भुङ्क्ते नान्नम्। तथाच श्रुतिः-"केवलाघो भवति केवलादी"। यस्माद्यदेव पाकयज्ञावशिष्टमशनमन्नमन्यत् एतदेव साधूनामन्नमुपदिश्यते इति।। ११८।।

जो व्यक्ति केवल अपने कारण भोजन पकाता है, वह केवल पाप का भक्षण करता है, क्योंकि यज्ञ से बचा हुआ भोजन ही सज्जनों का अन्न कहा गया है।। ११८।।

(गृहस्थी को इस संसार में जो-जो सर्वाधिक अभिप्रेत हो तथा जो घर में प्रिय हो। उन सबके अक्षय होने की कामना करने वाले व्यक्ति को उन-उनको गुणवान् के लिए अवश्य देना चाहिए।। ७।।)

अतिथिपूजाप्रसङ्गेन राजादीनामपि गृहागतानां पूजाविशेषमाह—

राजर्त्विक्स्नातकगुरून्प्रियश्वशुरमातुलान्।
अर्हयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरात्पुनः।। ११९।।

राज्याभिषिक्तः क्षत्रियो राजा, ऋत्विक् यज्ञे येन यस्यार्त्विज्यं कृतम्, स्नातको विद्याव्रताभ्याम्, प्रियो जामाता। राजादीनेतान्गृहागतान्सप्त गृह्योक्तेन मधुपर्काख्येन कर्मणा पूजयेत्। परिसंवत्सरादिति संवत्सरं वर्जयित्वा तदूर्ध्वं गृहागतान्पुनर्मधुपर्केण पूजयेत्। "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (पा० सू० २।३।१०) इति सूत्रेण वर्जनार्थपरियोगेनेयं पञ्चमी। अतएवैतत्सूत्रव्याख्याने, जायादित्येनोक्तं "अपेन साहचर्यात्परेर्वर्जनार्थस्य ग्रहणम्" इति। मेधातिथिस्तु परिसंवत्सरानिति पठित्वा परिगतो निष्कान्तः संवत्सरो येषां तान्पूजयेदिति व्याख्यातवान्। उभयत्रापि पाठे संवत्सरमध्यागमने न मधुपर्कार्हता।। ११९।।

एक वर्ष के पश्चात् पुनः आए हुए राजा, ऋत्विक्, स्नातक, गुरु, दामाद, श्वसुर और मामाओं का मधुपर्क द्वारा पूजन करना चाहिए।। ११९।।

राजस्नातकयोः पूजासंकोचार्थमाह—

राजा च श्रोत्रियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ।
मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः।। १२०।।

राजस्नातकौ संवत्सरादूर्ध्वमपि यज्ञकर्मण्येव प्राप्तौ मधुपर्केण पूजनीयौ नतु यज्ञव्यतिरेकेण। जामात्रादयस्तु संवत्सरादूर्ध्वं यज्ञं विनापि मधुपर्कार्हाः संवत्सरमध्ये तु सर्वेषां यज्ञविवाहयोरेव मधुपर्कः। तदाह गौतमः—"ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलादीनामुपस्थाने मधुपर्कः। संवत्सरे पुनर्यज्ञविवाहयोरर्वाक् राज्ञः श्रोत्रियस्य च"।। १२०।।

यज्ञकर्म में उपस्थित हुए राजा और श्रोत्रिय ब्राह्मण दोनों ही मधुपर्क से पूजा करने योग्य हैं, किन्तु यज्ञ से भिन्न अवसर पर नहीं, यही व्यवस्था है।। १२०।।

सायं त्वन्नस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्त्रं वलिं हरेत्।
वैश्वदेवं हि नामैतत्सायं प्रातर्विधीयते।। १२१।।

दिनान्ते सिद्धस्यान्नस्य पत्नी अमन्त्रं बलिहरणं कुर्यात्, इन्द्राय नम इति मन्त्रपाठवर्जम्। मानसस्तु देवतोद्देशो न निषिध्यते। यत एतद्वैश्वदेवं नामान्नसाध्यं होमवलिदानातिथिभोजनात्मकं तत्सायंप्रातर्गृहस्थस्योपदिश्यते।। १२१।।

पत्नी सायंकाल में पकाये गए अन्न की मन्त्रोच्चारण के बिना ही बलि प्रदान करे, क्योंकि वैश्वदेव नामक यह कर्म प्रातः एवं सायं दोनों समय करने का विधान किया गया है।। १२१।।

"श्राद्धकल्पं च शाश्वतम्" (अ० १ श्लो० ११२) इत्यनुक्रमणिकायां प्रतिज्ञातं श्राद्धकल्पमुपक्रमते—

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्निमान्।
पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम्।। १२२।।

साग्निरमावास्यायां पिण्डपितृयज्ञाख्यं कर्म कृत्वा श्राद्धं कुर्यात्। पितृयज्ञपिण्डानामनु पश्चादाह्रियत इति पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं मासानुमासिकं मासश्चानुमासश्च तयोर्भवम्। प्रतिमासं कर्तव्यमित्यर्थः। अनेनास्य नित्यत्वमुक्तम्। विप्रग्रहणं द्विजातिपरम्। त्रयाणां प्रकृतत्वात्।। १२२।।

अमावस्या के दिन अग्निहोत्री ब्राह्मण को पितृयज्ञ पूर्ण करके प्रत्येक मास 'पिण्डान्वाहार्यक' नामक श्राद्ध करना चाहिए।। १२२।।

इदानीं नामनिर्वचनेनोक्तमेव पितृयज्ञानन्तर्यं द्रढयति—

पितॄणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं विदुर्बुधाः।
तच्चामिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेन प्रयत्नतः।। १२३।।
(न निर्वपति यः श्राद्धं प्रमीतपितृको द्विजः।
इन्दुक्षये मासि मासि प्रायश्चित्ती भवेत्तु सः।।८।।)

इदं मासिकं प्रतिमासभवं श्राद्धं यस्मात्पितृयज्ञपिण्डानामनु पश्चादाह्रियते तेन पिण्डान्वाहार्यकमिदं पण्डिता जानन्ति। ततो युक्तं पितृयज्ञानन्तर्यमस्य। तच्चामिषेण वक्ष्यमाणमांसेन प्रशस्तेन मनोहरेण पूतिगन्धादिरहितेन प्रयन्ततः कर्तव्यम्। "पिण्डानां मासिकं श्राद्धम्" इति वा पाठः। पिण्डानां पितृयज्ञपिण्डानां। शेषं तुल्यम्।। १२३।।

विद्वान् लोग पितरों के मासिक श्राद्ध को 'अन्वाहार्य' नामक श्राद्ध कहते हैं, उसे प्रयत्नपूर्वक प्रशस्त मांस द्वारा ही करना चाहिए।। १२३।।

(जिसका पिता उपरत हो गया हो ऐसा जो द्विज प्रतिमाह अमावस्या को श्राद्ध नहीं करता है, वह वस्तुतः प्रायश्चित्ती होता है।। ८।।)

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।
यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः।। १२४।।

तस्मिन् श्राद्धे ये भोजनीया ये च त्याज्या यत्संख्याका यैश्चान्नैस्तत्सर्वं प्रवक्ष्यामि।। १२४।।

उस (श्राद्ध) में जो श्रेष्ठब्राह्मण भोजन कराने योग्य हों तथा जो वर्ज्य हों तथा जितने और जिन अन्नों द्वारा भोजन कराने योग्य हों। उन सबको मैं पूर्णरूप से कहता हूँ।। १२४।।

अत्र यद्यप्युद्देशक्रमेण ये भोजनीया इति वक्तुमुचितं तथाप्यल्पवक्तव्यत्वाद्ब्राह्मणसंख्यामाह—

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।
भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि न प्रसज्जेत विस्तरे।। १२५।।

देवश्राद्धे द्वौ ब्राह्मणौ पितृपितामहप्रपितामहानां त्रीन्ब्राह्मणान् अथवा दैवे एकं पित्रादित्रिके चैकं ब्राह्मणं भोजयेत्। उक्तातिरिक्तभोजनसमर्थोऽपि नाधिकभोजनेषु प्रवर्तेत। मेधातिथिस्त्वाह। पितृकृत्ये त्रींनिति पितुस्त्रीन्ब्राह्मणान्, पितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्, प्रपितामहस्य त्रीन्ब्राह्मणान्भोजयेत् ''एकैकमुभयत्र वा'' इति दैव एकं पित्रादित्रयस्य चैकैकं न त्वेकं पित्रादित्रयस्य। ''न त्वेवैकं सर्वेषां काममनाद्ये पिण्डैर्व्याख्यातम्'' (अ० १६ खं ७) इत्याश्वलायनगृह्यविरोधात्। यथैकपिण्डः पित्रादित्रयस्य न निरूप्यते तथैको ब्राह्मणो न भोजयितव्य इत्यर्थः। तस्मान्न पित्रादित्रयस्यैकब्राह्मणभोजनं। तदसत् गृह्यकारेणैव '' न त्वेवैकं सर्वेषां पिण्डैर्व्याख्यातम्'' (अ०१६ खं ७) इति पठित्वा ''काममनाद्ये'' (खं ७) इत्यभिहितम्। अस्यार्थः। बहुपित्रादिदेवताकश्राद्धानामाद्यं सपिण्डीकरणमभिमतं तद्व्यतिरिक्तश्राद्धे काममेकः पित्रादीनां ब्राह्मण इत्यर्थः। अथवा अनाद्ये अदनीयद्रव्याभावे एकोऽपि भोजयितव्यः। उभयत्रापि व्याख्याने पार्वणादौ पित्रादित्रयस्यैकब्राह्मणभोजनं गृह्यकृतैवोक्तम्। वसिष्ठोऽपि—''यद्येकं भोजयेच्छ्राद्धे दैवतन्त्रं कथं भवेत्। अन्नं पात्रे समुद्धृत्य सर्वस्य प्रकृतस्य च।। देवतायतने कृत्वा यथाविधि प्रवर्तयेत्। प्रास्येदन्नं तदग्नौ वा दद्याद्वा ब्रह्मचारिणे।। इति सर्वेभ्य एकब्राह्मणभोजनमाह। तस्माद्यथोक्तैव व्याख्या। ''प्रथने वावशब्दे'' (पा०सू०३।३।३३) इत्यनेन विस्तार इति प्राप्ते छन्दःसमान- त्वात्स्मृतीनां ''सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्पन्ते'' इति विस्तर इति रूपम्।। १२५।।

देवकार्य में दो तथा पितृकार्य में तीन या फिर दोनों में एक-एक (ब्राह्मण को) भोजन कराना चाहिए। अत्यधिक सम्पन्न होने पर भी विस्तार में नहीं जाना चाहिए।। १२५।।

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः।
पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्।। १२६।।

सत्क्रियां ब्राह्मणस्य पूजां, देशं दक्षिणप्रवणत्वादिवक्ष्यमाणं, कालमपराह्णं, शौचं श्राद्धकर्तृभोक्तृब्राह्मणप्रैष्यगतं, गुणवद्ब्राह्मणलाभं च ब्राह्मणविस्तारो नाशयति। तस्माद्ब्राह्मणविस्तरं न कुर्यादिति सत्क्रियादिविरोधतो ब्राह्मणविस्तरनिषेधात्सत्क्रियादिसंभवे पित्रादेरेकैकस्यापि ब्राह्मणत्रयाभ्यनुज्ञानम्। अतएव गौतमः—''नचाव-

रान्भोजयेदयुजो वा यथोत्साहम्''। बह्वृचगृह्यकारोऽपि—''अथातः पार्वणे श्राद्धे काम्य आभ्युदयिक एकोद्दिष्टे वा ब्राह्मणान्'' (अ० १६खं ७) इत्युपक्रम्य ''एकैकमेकैकस्य द्वौ द्वौ त्रींस्त्रीन्वा वृद्धौ फलभूयस्त्वम्'' इत्याह। द्वौद्वावित्या-भ्युदयिकश्राद्धविषयं स्मृत्यन्तरेषु तथा विधानात्, अत्राप्याभ्युदयिक इत्युप-क्रमाच्च।। १२६।।

इनका विस्तार सत्कार, देश, काल, पवित्रता तथा ब्राह्मण की सम्पत्ति पाँचों को नष्ट करता है। इसलिए इसमें विस्तार की कामना नहीं करनी चाहिए।। १२६।।

प्रथिता प्रेतकृत्यैषा पित्र्यं नाम विधुक्षये।
तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी।। १२७।।

यदेतत्पित्र्यं कर्म श्राद्धरूपं प्रथममियं प्रख्याता प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया। प्रकर्षेण इतः प्रेतः पितृलोकस्थ एवोच्यते। विधुक्षयेऽमावास्यायां तस्मिन्पित्र्ये कर्मणि युक्तस्यैतत्परस्य लौकिकी स्मार्तिकी प्रेतकृत्या पित्रुपकारार्था क्रिया गुणवत्पुत्रपौत्रधनादिफलप्रबन्धरूपेण कर्तारमुपतिष्ठते तस्मादिदं कर्तव्यम्। गोविन्दराजेन तु विधिः क्षय इति पठितं, व्याख्यातं च योऽयं नाम विधिः पित्र्यं कर्मेति क्षये चन्द्रक्षये गृहे वा तदसांप्रदायिकम्। मेधातिथिप्रभृतिभिर्गोविन्दराजादपि वृद्धतरैरनभ्यु-पेतत्वात्क्षय इति संबन्धक्लेशाच्च।। १२७।।

अमावस्या के दिन की जाने वाली यह पितृक्रिया 'प्रेतकृत्या' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें लगा हुआ व्यक्ति सदैव 'लौकिक प्रेतकृत्या' को प्राप्त होता है।। १२७।।

श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः।
अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तं महाफलम्।। १२८।।

छन्दोमात्राध्यायी श्रोत्रियस्तस्मै दैवपित्र्यान्नानि यत्नतो देयानि। अर्हत्तमाय श्रुताचाराभिजनादिभिः पूज्यतमाय तस्मै दत्तं महाफलं भवति।। १२८।।

दानी गृहस्थियों द्वारा हव्य और कव्य श्रोत्रिय ब्राह्मण को ही प्रदान किये जाने चाहिएँ। अत्यधिक पूज्य उस ब्राह्मण को दिया गया दान ही महान् फल वाला होता है।। १२८।।

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि।। १२९।।

दैवपित्र्ययोरेकैकमपि वेदतत्त्वविदं ब्राह्मणं भोजयेत्। तदापि विशिष्टं श्राद्धफलं प्राप्नोति नत्वविदुषो वहूनपि। एवं च ''फलश्रवणाद्ब्राह्मणभोजनमेव प्रधानं पिण्ड-

दानादिकं त्वङ्गम्'' इति गोविन्दराजः। वयं तु पित्रुद्देशेन द्रव्यत्यागं ब्राह्मणस्वीकारपर्यन्तं श्राद्धशब्दवाच्यं प्रधानं ब्रूमः तदेव मनुना ''पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यात्'' (अ० ३ श्लो०१२२) इति विहितम्। आपस्तम्बेन तु मन्वर्थस्यैव व्याख्यातत्वात्। तदाहापस्तम्बः ''तथैतन्मनुः श्राद्धशब्दं कर्म प्रोवाच प्रजानिःश्रेयसार्थं तत्र पितरो देवता ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे मासि मास्यपरपक्षस्यापराह्णः श्रेयान्'' इति। श्राद्धशब्दं श्राद्धमिति शब्दो वाचको यस्य तत्तथा। ब्राह्मणस्त्वाहवनीयार्थे आहवनीयवत्त्यक्तद्रव्यप्रतिपत्ति-स्थानत्वात्। पितरो देवतेति नियतपितृदेवताकत्वाच्च श्राद्धस्य। देवताश्राद्धादौ श्राद्धशब्दस्तु तद्धर्मप्राप्त्यर्थो गौणः। कौण्डपायिनामयन इवाग्निहोत्रशब्दः। पुष्कलं फलं प्राप्नोतीति तु पुष्टतरफलार्थिनो गुणफलविधिः। स भोजनस्याङ्गत्वेऽपि तदाश्रयो न विरुद्धः। ''आपस्तम्बोऽभ्यधाच्छ्राद्धं कर्मैतत्पितृदैवतम्। मन्वर्थं कथयंस्तस्मान्नेदं ब्राह्मणभोजनम्''।। १२९।।

देवकार्य एवं पितृकार्य में यदि एक-एक विद्वान् ब्राह्मण को भोजन कराया जाता है तो व्यक्ति अत्यधिक फल प्राप्त करता है। जबकि वेदमन्त्रों को न जानने वाले बहुतों को भी भोजन कराने से उस फल की प्राप्ति नहीं होती है।। १२९।।

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वेदपारगम्।
तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः।। १३०।।

दूरादेव पितृपितामहाद्यभिजनशुद्धिनिरूपणेन कृत्स्नाशाखाध्यायिनं ब्राह्मणं परीक्षेत। यस्मात्तथाविधो ब्राह्मणो हव्यादीनां तीर्थं पात्रम्। प्रदाने सोऽतिथिरेव महाफलप्राप्तेर्हेतुत्वात्।। १३०।।

वेदों में निपुण ब्राह्मण की दूर से ही परीक्षा कर लेनी चाहिए, क्योंकि हव्य एवं कव्य को प्रदान करने का पात्रस्वरूप वही 'अतिथि' कहा गया है।। १३०।।

सहस्रं हि सहस्राणामनृचां यत्र भुञ्जते।
एकस्तान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः।। १३१।।

यत्र श्राद्धे ब्राह्मणानामवेदविदां दशलक्षाणि भुञ्जते तत्रैको वेदविद्भोजनेन परितुष्टो धर्मतो धर्मोत्पादनेन तान् सर्वानर्हति स्वीकर्तुं योग्यो भवति। तद्भोजनजन्यं फलं जनयतीत्यर्थः। छान्दसत्वादेकवचनम्। अथवा बहुवचनानां स्थाने सहस्रमिति मनोरभिमतम्। गोविन्दराजस्त्वाह ''सहस्रं गच्छन्तु भूतानि'' इति वेदे।। १३१।।

जहाँ वेदों को न जानने वाले दस लाख ब्राह्मण भोजन करें। वहीं वेदमन्त्रों का ज्ञाता भोजन करके प्रसन्न हुआ, एक ही ब्राह्मण धार्मिकदृष्टि से उन सभी फलों को प्रदान करने की योग्यता रखता है।। १३१।।

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवींषि च।
न हि हस्तावसृग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः।। १३२।।

विद्यया उत्कृष्टेभ्यो हव्यानि कव्यानि च देयानि न मूर्खेभ्यः। अर्थान्तरन्यासो नामालंकारः। नहि रक्तौ हस्तौ रक्तेनैव विशुद्धौ भवतः किन्तु विमलजलेन, एवं मूर्खभोजनेन जनितं दोषं न मूर्ख एव भोजितोऽपहन्ति किन्तु विद्वान्।। १३२।।

इसलिए ज्ञान में उत्कृष्ट ब्राह्मण को ही हव्य और कव्य प्रदान करने चाहिएँ, क्योंकि रक्त से सने हुए हाथ रक्त के द्वारा ही शुद्ध नहीं होते हैं।। १३२।।

अविद्वन्निन्दया विद्वद्दानमेवोक्तं वक्रोक्त्या स्तौति—

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित्।
तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलर्ष्ट्ययोगुडान्।। १३३।।

यत्संख्याकान्ग्रासान्हव्यकाव्येष्ववेदविद्भुङ्क्ते तत्संख्याकानेव प्रकृतश्राद्धकर्ता ज्वलितशूलर्ष्ट्याख्यायुधलोहपिण्डान्ग्रसते श्राद्धकर्तुरिवेदमविद्वद्दानफलकथनम्। तथाच व्यासः—"ग्रसते यावतः पिण्डान्यस्य वै हविषोऽनृचः। ग्रसते तावतः शूलान्गत्वा वैवस्वतक्षयम्"।। १३३।।

वेदमन्त्रों को न जानने वाला ब्राह्मण हव्य-कव्यों में से जितने ग्रासों को खाता है। (श्राद्ध करने वाला) मरने पर उतने ही तपते हुए शूलष्टि नामक अस्त्र विशेष के लोहपिण्डों का भक्षण करता है।। १३३।।

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे।
तपः स्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे।। १३४।।

केचिदात्मज्ञानपरा ब्राह्मणा भवन्ति, अन्ये प्राजापत्यादितपःप्रधानाः, अपरे तपोऽध्ययननिरताः, इतरे यागादिपराः।। १३४।।

कुछ ब्राह्मण ज्ञाननिष्ठ तथा दूसरे कुछ तपोनिष्ठ तथा कुछ तप एवं स्वाध्यायनिष्ठ होते हैं, जबकि कुछ केवल कर्मनिष्ठ होते हैं।। १३४।।

ततः किमत आह—

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः।
हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि।। १३५।।

ज्ञानप्रधानेभ्यः पित्रर्थान्नानि यत्नाद्दातव्यानि, देवान्नानि पुनर्न्यायावधृतार्थशास्त्रा-नुसारेण चतुर्भ्योऽपि।। १३५।।

इसलिए प्रयत्नपूर्वक ज्ञाननिष्ठ ब्राह्मणों को ही श्राद्धविषयक अन्न (कव्य)

प्रदान करने चाहिएँ। जबकि हव्यदान शास्त्रीयदृष्टि से उक्त सभी चारों ब्राह्मणों में ही देने चाहिएँ।। १३५।।

तयोः कः श्रेष्ठ इत्युपन्यस्य विशेषमाह—

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः।। १३६।।

योऽश्रोत्रियपितृकः स्वयं च श्रोत्रियः, यः श्रोत्रियपितृकः स्वयं वा अश्रोत्रियः।। १३६।।

जिसका पिता श्रेत्रिय न हो तथा पुत्र वेदों में निपुण हो। अथवा पुत्र अश्रोत्रिय तथा पिता वेदों में पारङ्गत हो।। १३६।।

ज्यायांसमनयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता।
मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति।। १३७।।

अनयोः पूर्वश्लोकनिर्दिष्टयोर्मध्ये श्रोत्रियपुत्रं स्वयमश्रोत्रियमपि ज्येष्ठं जानीयात् पितृविद्यादरपरमिदम्। यः पुनरश्रोत्रियस्य पुत्रः स्वयं च श्रोत्रियः स तदधीतवेदपूजनार्थं पूजामर्हति। वेद एव तद्द्वारेण पूज्यत इति पुत्रविद्यादरपरमिदम्। तस्माद्वचनभङ्ग्या श्रोत्रियपुत्रः स्वयं च श्रोत्रियः श्राद्धे भोजयितव्य इत्युक्तम्। नतु श्रोत्रियपुत्रस्य स्वयमश्रोत्रियस्यैवाभ्यनुज्ञानं श्रोत्रियायैव देयानीति विरोधात्, एवं च "दूरादेव परीक्षेत" (अ० ३ श्लो० १३०) इति विद्याव्यतिरिक्ताचारादिपरीक्षार्थत्वेनावतिष्ठते।। १३७।।

इन दोनों में उसी को श्रेष्ठ समझना चाहिए, जिसका पिता श्रोत्रिय होवे, किन्तु दूसरा वेदज्ञाता, वेदों के पूजन के लिए सत्कार करने योग्य होता है।। १३७।।

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः।
नारिं न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजयेद्द्विजम्।। १३८।।

श्राद्धे न मित्रं भोजयेत्। धनान्तरैरस्य मैत्री संपादनीया। न शत्रुं नच मित्रं यं जानीयात्तं ब्राह्मणं श्राद्धे भोजयेत्।। १३८।।

श्राद्ध में मित्र को भोजन नहीं कराना चाहिए। धनों द्वारा ही इसकी मित्रता में वृद्धि करनी चाहिए। जिसको न मित्र और न शत्रु समझे, श्राद्ध में उसी ब्राह्मण को भोजन कराना चाहिए।। १३८।।

यस्य मित्रप्रधानानि श्राद्धानि च हवींषि च।
तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्राद्धेषु च हविःषु च।। १३९।।

मित्रशब्दोऽयं भावप्रधानः। यस्य मैत्रीप्रधानानि हव्यकव्यानि तस्य पारलौकिकं फलं न भवतीति फलाभावकथनपरमिदम्। प्रेत्येति परलोक इत्यर्थे शब्दान्तरमव्ययमिदं नतु क्त्वान्तम्, तेनासमानकर्तृकत्वे कथं क्त्वेति नाशङ्कनीयम्।। १३८।।

जिसके श्राद्धविषयक कार्य तथा हव्यविषयक कार्य मित्रप्रधान होते हैं। उसके श्राद्धकार्य एवं हव्यकार्यों में मरकर भी फल (प्राप्त) नहीं होता है।। १३९।।

स्वर्गफलं श्राद्धस्य दर्शयितुं पूर्वोक्तफलाभावमेव विशेषेण कथयति—

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्राद्धेन मानवः।
स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धमित्रो द्विजाधमः।। १४०।।

यो मनुष्यः संगतानि मित्रभावं शास्त्रानभिज्ञतया श्राद्धेन कुरुते श्राद्धमेव मित्रलाभहेतुत्वान्मित्रं यस्य स श्राद्धमित्रो द्विजापसदः स स्वर्गलोकाच्च्यवते। तं न प्राप्नोतीत्यर्थः। श्राद्धस्यापि स्वर्गफलत्वमाह याज्ञवल्क्यः" आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च। प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः" (अ० १ श्लो० २७०)।। १४०।।

अज्ञानवश जो व्यक्ति श्राद्ध द्वारा मित्रता करता है। श्राद्ध के लिए ही मित्रता करने वाला वह नीच ब्राह्मण स्वर्गलोक से भी पतित हो जाता है।। १४०।।

संभोजनी साभिहिता पैशाची दक्षिणा द्विजैः।
इहैवास्ते तु सा लोके गौरन्धेवैकवेश्मनि।। १४१।।

सा दक्षिणा दानक्रिया संभोजनी सह भुज्यते यया सा संभोजनी गोष्ठी बहुपुरुषभोजनात्मिका पिशाचधर्मत्वात्पैशाची मन्वादिभिरुक्ता। सा च मैत्रीप्रयोजनकत्वान्न परलोकफला इह लोक एवास्ते। यथान्धा गौरेकस्मिन्नेव गृहे तिष्ठति न गृहान्तरगमनक्षमा।। १४१।।

हव्य एवं कव्य के विषय में मित्रादि द्वारा की गई सम्भोजनी (एक साथ भोजन करना) पैशाची दानक्रिया कही गई है। जिसप्रकार अन्धी गाय एक घर में ही रहती है, उसीप्रकार वह दक्षिणा इसी लोक में फलवती होती है।। १४१।।

यथेरिणे बीजमुप्त्वा न वप्ता लभते फलम्।
तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम्।। १४२।।

ईरिणमूषरदेशो यत्र बीजमुप्तं न प्ररोहति तत्र यथा बीजमुप्त्वा कर्षको न फलं प्राप्नोत्येवमविदुषे श्राद्धदानफलं दाता न प्राप्नोतीति।। १४२।।

जिसप्रकार बोने वाला ऊसर भूमि में बीज बोकर फल प्राप्त नहीं करता है, उसीप्रकार वेदज्ञान से हीन व्यक्ति को हवि प्रदान करके दानदाता भी फल प्राप्त नहीं करता है।। १४२।।

दातॄन्प्रतिग्रहितॄंश्च कुरुते फलभागिनः।
विदुषे दक्षिणां दत्त्वा विधिवत्प्रेत्य चेह च ।। १४३।।

वेदतत्त्वविदे यथाशास्त्रं दत्तमैहिकामुष्मिकफलभागिनो दातॄन्करोति। ऐहिकं फलं यथाशास्त्रानुष्ठानेन लोके ख्यातिरूपमानुषङ्गिकमिति मेधातिथिगोविन्दराजौ। वयं त्वायुरादिकमेवैहिकफलं ब्रूमः। "आयुः प्रजां धनं विद्याम्" (याज्ञ० अ०१ लो० २७०)। इत्याद्यैहिकामुष्मिकादिफलत्वेनापि श्राद्धस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात्। प्रतिग्रहीतॄंश्च श्राद्धलब्धधनानुष्ठितयागादिफलेन परलोके सफलान् कुरुते। अन्यायार्जित-धनानुष्ठितयागादेरफलप्रदत्वात्। इह लोके न्यायार्जितधनारब्धकृष्यादिफलातिशय-लाभात्सफलान् कुरुते।। १४३।।

विधिपूर्वक विद्वान् को दी गई दक्षिणा, देने वाले तथा ग्रहण करने वाले, दोनों को ही इस लोक में तथा परलोक में फल का भागी बनाती है।। १४३।।

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमपि त्वरिम्।
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्।। १४४।।

वरं विद्वद्ब्राह्मणाभावे गुणवन्मित्रं भोजयेन्नतु विद्वांसमपि शत्रुम्। यतः शत्रुणा श्राद्धं भुक्तं परलोके निष्फलं भवती। यथोक्तपात्रासंभवे मित्रप्रतिप्रसवार्थमिदम् १४४ "श्रोत्रियायैव देयानि" (अ० ३ श्लो० १२८) इत्यनेन छन्दोमात्राध्यायिनि श्रात्रियशब्दप्रयोगात्तदाश्रयणमावश्यकमुक्तम्, इदानीं त्वधिकफलार्थं मन्त्रब्राह्मणात्मक-कृत्स्नाशाखाध्यायिनि श्रोत्रिये दानमाह—

श्राद्ध में भले ही मित्र की ही भोजनादि से अर्चना करे, किन्तु विद्वान् होते हुए भी शत्रु को भोजन नहीं कराना चाहिए, क्योंकि शत्रु द्वारा खाया गया हविष्य परलोक में निष्फल होता है।। १४४।।

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम्।
शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम्।। १४५।।

ऋग्वेदिनं मन्त्रब्राह्मणात्मकशाखाध्यायिनं यत्नतो भोजयेत्। तथाविधमेव

यजुर्वेदिनम्। वेदस्य पारं गच्छतीति वेदपारगः। शाखाया अन्तं गच्छतीति शाखान्तगः। समाप्तिरस्यास्तीति समाप्तिकः। सर्वैरेव शब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्येताऽभिहितः।। १४५।।

श्राद्ध में यत्नपूर्वक बहुत सी ऋचाओं का अध्ययन करने वाले, वेद में पारङ्गत ब्राह्मण को, सभी शाखाओं के अध्येता यजुर्वेदी ब्राह्मण को या सभी वेदों को पढ़कर समाप्त किए हुए विद्वान् ब्राह्मण को प्रयत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए।। १४५।।

तद्भोजनेऽधिकं फलमाह—

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जीत श्राद्धमर्चितः।
पितॄणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी।। १४६।।

एषां संपूर्णशाखाध्यायिनां बह्वृचादीनां मध्यादन्यतमो यस्य सम्यक् पूजितः सन् श्राद्धे भुङ्क्ते तस्य पुत्रादिसप्तपुरुषाणां शाश्वती अविच्छिन्ना पितॄणां तृप्तिः स्यात्। साप्तपौरुषीत्यनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः तस्य चाकृतिगणत्वात्।। १४६।।

इनमें से पूजित हुआ कोई एक ब्राह्मण जिसके श्राद्ध-अन्न का भक्षण करता है। उसके पितरों की सात पीढ़ीपर्यन्त पितर शाश्वततृप्ति को प्राप्त हो जाते हैं।। १४६।।

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।
अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सद्भिरनुष्ठितः।। १४७।।

हव्यकव्ययोरुभयोरेव प्रदाने यदसंबन्धिश्रोत्रियादिभ्यो दीयत इत्ययं मुखयः कल्प उक्तः। अयं तु मुख्याभावे वक्ष्यमाणोऽनुकल्पो ज्ञातव्यः सर्वदा साधुभिरनुष्ठितः।। १४७।।

यह वस्तुतः हव्य-कव्य प्रदान करने के विषय में मैंने आपसे प्रथम कल्प का कथन किया। सज्जनों द्वारा सदैव अनुष्ठान किया गया यह अनुकल्प (इस प्रकार) समझना चाहिए।। १४७।।

मातामहं मातुलं च स्वस्रीयं श्वशुरं गुरुम्।
दौहित्रं विट्पतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्।। १४८।।

स्वस्रीयो भागिनेयः, गुरुर्विद्यागुरुराचार्यादिः, विट् दुहिता तस्याः पतिर्विट्पतिर्जामाता, बन्धुर्मातृष्वसृपितृस्वसृपुत्रादिः, एतान्मातामहादीन्दश मुख्यश्रोत्रियाद्यसंभवे भोजयेत्।। १४८।।

(वेदज्ञाता ब्राह्मण के अभाव में) नाना, मामा, भाञ्जा, श्वसुर, गुरु, दौहित्र, दामाद, बन्धु, ऋत्विक् तथा यज्ञकर्ता को श्राद्धभोजन करावे।। १४८।।

न ब्राह्मण परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।
पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः।। १४९।।
(तेषामन्ये पङ्क्तिदूष्यास्तथान्ये पङ्क्तिपावनाः।
अपाङ्क्तेयान्प्रवक्ष्यामि कव्यानर्हान्द्विजाधमान्।। ९।।)

धर्मज्ञो दैवश्राद्धे भोजनार्थं न ब्राह्मणं यत्नतः परीक्षेत। लोकप्रसिद्धिमात्रेणासौ साधुतया भोजयितव्यः। पित्र्ये पुनः कर्मण्युपस्थिते पितृपितामहाद्यभिजनपरीक्षा कर्तव्येति प्रयत्नतः शब्दस्यार्थः।। १४९।।

धर्म को जानने वाले व्यक्ति को देवकार्य में ब्राह्मण की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। जबकि पितृकर्म के उपस्थित होने पर ब्राह्मण की प्रयत्नपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए।। १४९।।

(उनमें कुछ पंक्ति को दूषित करने वाले तथा अन्य कुछ पंक्ति को पवित्र करने वाले ब्राह्मण होते हैं। पंक्ति को दूषित करने वाले, कव्य के अयोग्य उन अधमश्रेणी के ब्राह्मणों को मैं अब आपसे कहूँगा।। ९।।)

ये स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकवृत्तयः।
तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननर्हान्मनुरब्रवीत् ।। १५०।।

स्तेनश्चौरः स च सुवर्णचोरादन्यः, तस्य पतितशब्देनैव ग्रहणात्। पतितो महापातकी, क्लीवो नपुंसकः, नास्तिकवृत्तिर्नास्ति परलोक इत्येवं वृत्तिः प्रवर्तनं यस्य एतान्दैवपितृकृत्ययोरुभयोरेवायोग्यान्मनुरब्रवीदिति। मनुग्रहणं निषेधादरार्थम्। सर्वधर्माणामेव मनुनोक्तत्वात्।। १५०।।

जो ब्राह्मण चोर, पतित, नपुंसक है तथा जो नास्तिकवृत्ति वाले हैं। हव्य एवं कव्य के विषय में उन ब्राह्मणों को भगवान् मनु ने अयोग्य कहा है।। १५०।।

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा।
याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्।। १५१।।

जटिलो ब्रह्मचारी। " मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्" (अ० २. श्लो० २१९) इत्युक्तब्रह्मचार्युपलक्षणत्वाज्जटिलत्वस्य मुण्डोऽपि निषिध्यते। अनधीयानं वेदाध्ययनरहितं यस्योपनयनमात्रं कृतं न वेदादेशः तेनास्वीकृतवेदस्यापि ब्रह्मचारिणो

वेदाध्ययनकर्तुरभ्यनुज्ञानार्थोऽयं निषेधः। अतः "श्रोत्रियायैव देयानि" (अ० ३. श्लो० १२८) इति ब्रह्मचारीतरविषयम्। दुर्बलो दुश्चर्मा। मेधातिथिस्तु दुर्बालमिति पठित्वा खलतिलोहितकेशो वा दुश्चर्मा वेत्यर्थत्रयमुक्तवान्। कितवो द्यूतकृत्। पूगयाजका बहु याजकाः। "पूगः कमुकवृन्दयोः" (अमरकोषनानार्थे श्लो० २०) इत्याभिधानिकाः। अतएव— वसिष्ठः-" यश्चापि बहुयाज्यः स्याद्यश्चोपनयते बहून्" इति। तान्श्राद्धे न भोजयेदिति न दैवे निषेधः। यत्रोभयत्र निषेधो मनोरभिमतस्तत्र हव्यकव्यग्रहणमुभयत्रेति वा करोति।। १५१।।

जटाओं को धारण करने वाले, अध्ययन न करने वाले, दुराचरण करने वाले तथा जुआरी को एवं जो बहुतों को यज्ञ कराते हैं, उन सबको श्राद्ध में भोजन नहीं कराना चाहिए।। १५१।।

चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः।। १५२।।

चिकित्सको भिषक्, देवलः प्रतिमापरिचारकः, वर्तनार्थत्वेनैतत्कर्म कुर्वतोऽयं निषेधो नतु धर्मार्थम्। "देवकोशोपभोजी च नाम्ना देवलको भवेत्" इति देवलवचनात्। मांसविक्रयिणः सकृदपि। "सद्यः पतति मांसेन" (अ० १०. श्लो० ९२) इति लिङ्गात्। विपणेनेति विपणो वणिज्या तया जीवन्तः। हव्यकव्ययोरित्यभिधानाद्दैवे पित्र्ये चैते त्याज्याः।। १५२।।

वैद्य, देवालयों में पूजा करने वाले, मांस बेचने वाले तथा व्यापार द्वारा आजीविका चलाने वाले लोग हव्यकव्य के विषय में त्याज्य होते हैं।। १५२।।

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः।
प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा।। १५३।।

भृतिग्रहणपूर्वकं ग्रामाणां राज्ञश्चाज्ञाकारी। कुत्सितनखकृष्णदन्तः। गुरुप्रतिकूला-चरणशीलत्यक्तश्रौतस्मार्ताग्निकलोपजीविनश्च हव्यकव्ययोर्वर्ज्या इति पूर्वस्यैवात्रानुषङ्ग उत्तरत्र एव च।। १५३।।

गाँव का एवं राजा का सेवक, खराब नाखूनों वाला, काले दाँतों वाला, गुरु के विपरीत आचरण करने वाला, अग्निहोत्र का त्याग करने वाला, ब्याज से जीविका चलाने वाला।। १५३।।

यक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः।
ब्रह्मद्विट् परिवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च।। १५४।।

यक्ष्मी क्षयरोगी, पशुपालो वृत्त्यर्थतया छागमेषादिपोषकः, परिवेत्तृपरिवित्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ, निराकृतिः पञ्चमहायज्ञानुष्ठानरहितः। तथाच छन्दोगपरिशिष्टम्—"निराकर्तामरादीनां स विज्ञेयो निराकृतिः" ब्रह्मद्विट् ब्राह्मणादीनां द्वेष्टा, गणाभ्यन्तरो गणार्थोपसृष्टसंबन्धिधनाद्युपजीवी।। १५४।।

क्षयरोगी, पशुपालक, बड़े भाई के विवाह के बिना विवाह करने वाला, पञ्चमहायज्ञों को न करने वाला, ब्राह्मणों से द्वेष करने वाला, छोटे भाई के विवाह होने पर भी स्वयं अविवाहित तथा चन्दे द्वारा अपनी आजीविका चलाने वाला-।। १५४।।

कुशीलवोऽवकीर्णी च वृषलीपतिरेव च।
पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे ।। १५५ ।।

कुशीलवो नर्तनवृत्तिः, अवकीर्णी स्त्रीसंपर्काद्विप्लुतब्रह्मचर्यः प्रथमाश्रमी यतिश्च, वृषलीपतिः सवर्णामपरिणीय कृतशूद्राविवाहः, पौनर्भवः पुनर्भूपुत्रो वक्ष्यमाणः, उपपतिर्यस्य जायाजारो गृहेऽस्ति।। १५५ ।।

नृत्य करने वाला, स्त्री के संसर्ग से व्रतभ्रष्ट ब्रह्मचारी, शूद्रा स्त्री का पति, विधवा विवाह से उत्पन्न व्यक्ति, काणा और जिसके घर में उपपति विद्यमान हो।। १५५।।

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।
शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ।। १५६ ।।

भृतिर्वेतनं तद्ग्राही भृतकः सन् योऽध्यापकः स तथा, एवं भृतकाध्यापितः, शूद्रशिष्यो व्याकरणादौ गुरुश्च तस्यैव, वाग्दुष्टः परुषभाषी। अभिशस्त इत्यन्ये। कुण्डगौलकौ वक्ष्यमाणौ।। १५६ ।।

तथा जो वेतन लेकर अध्यापन करने वाला, वेतन देकर अध्ययन करने वाला, शूद्र का शिष्य तथा शूद्र का गुरु है तथा दूषित वाणी वाला एवं सधवा तथा विधवा स्त्री का जारजपुत्र -।। १५६।।

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा।
ब्राह्मैर्यौनैश्च संबन्धैः संयोगं पतितैर्गतः।। १५७।।

मातुः पितुर्गुरूणां च परित्यागकारणं विना त्यक्ता शुश्रूषादेरकर्ता, पतितैश्चाध्ययनकन्यादानादिभिः संबन्धैः संपर्कं गतः। पतितत्वादेवास्य निषेध इति चेन्न। संवत्सरात्प्रागिदं भविष्यति संवत्सरेण पततीति वक्ष्यमाणत्वात्।। १५७।।

अकारण माता, पिता और गुरु का परित्याग करने वाला, पतित लोगों के साथ अध्ययन (ब्राह्म) तथा विवाहविषयक (यौन) सम्बन्धों को स्थापित करने वाला।। १५७।।

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
समुद्रयायी बन्दी च तैलिकः कूटकारकः।।१५८।।

गृहदाहकः, मरणहेतुद्रव्यस्य दाता, कुण्डस्य वक्ष्यमाणस्य योऽन्नमश्नाति। प्रदर्शनार्थत्वात्कुण्डस्य गोलकस्यापि ग्रहणम्। अतएव देवलः—" अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलकः। यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशीति कथ्यते।।" सोमलताविक्रेता, समुद्रे यो वहित्रादिना द्वीपान्तरं गच्छति, बन्दी स्तुतिपाठकः, तैलार्थं तिलादिबीजानां पेष्टा, साक्षिवादे कूटस्य मृषावादस्य कर्त्ता।। १५८।।

घर को जलाने वाला, जहर देने वाला, सधवा स्त्री की जारज सन्तान का अन्न खाने वाला, मदिरा बेचने वाला, समुद्र की यात्रा करने वाला, बन्दी, (चारण), तेली एवं झूठी गवाही देने वाला -।। १५८।।

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा।
पापरोग्यभिशस्तश्च दाम्भिको रसविक्रयी।। १५९।।

पित्रा सह शास्त्रार्थे लौकिके वा वस्तुनि निरर्थं यो विवदते, कितवो यः स्वयं देवितुमनभिज्ञः स्वार्थं परान्देवयति न स्वयं देविता तस्योक्तत्वात्। न च सभिकः तस्य द्यूतवृत्तिपदेनाभिधास्यमानत्वात्। "केकरः" इति पाठे तिर्यग्दृष्टिः, सुराव्यतिरिक्तमद्यपाता, कुष्ठी, अनिर्णीतेऽपि तस्मिन्महापातकादौ जाताभिशापः, छद्मना धर्मकारी, रसविक्रेता।। १५९।।

पिता के साथ झगड़ा करने वाला, जुआ खेलने वाला तथा मदिरापान करने वाला, कोढ़ी, अभिशप्त, कपटी तथा रस का विक्रय करने वाला।। १५९।।

धनुःशराणां कर्ता च यश्चाग्रेदिधिषूपतिः।
मित्रध्रुग्द्यूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ।।१६०।।

धनूंषि शरांश्च यः करोति, ज्येष्ठायां सोदरभगिन्यामनूढायां या कनिष्ठा विवाहेन दीयते साग्रेदिधिषूस्तस्याः पतिः। तथाच लौगाक्षिः—" ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा। सा चाग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता।।" गोविन्दराजस्तु "भ्रातुर्मृतस्य भार्यायाम्" (अ० ३ श्लो० १७३) इत्यनेनाग्रेदिधिषूपतिरेव वृत्तिवशादग्रेपदलोपेन दिधिषूपतिरिति मनुना वक्ष्यते स इह गृह्यत इत्याह। मित्रध्रुक्

यो मित्रस्यापकारे वर्तते, द्यूतवृत्तिः, सभिकः, पुत्रेणाध्यापितः पिता मुख्येन पुत्राचार्यत्वासंभवात्।। १६०।।

धनुष एवं बाण का निर्माण करने वाला, अविवाहित बड़ी बहन की छोटी बहन से विवाह करने वाला, मित्र के साथ द्रोह करने वाला, द्यूतवृत्ति करने वाला एवं पुत्र द्वारा पढ़ाया गया पिता-।। १६०।।

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशुनस्तथा।
उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ज्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ।।१६१।।

अपस्मारी, गण्डमालाख्यव्याध्युपेतः, श्वेतकुष्ठयुक्तः, दुर्जनः, उन्मादवान् अचक्षुः, वेदनिन्दाकरः।। १६१।।

मूर्च्छा का रोगी, गण्डमाल नाम रोग से ग्रस्त, श्वेतकुष्ठ वाला, चुगलखोर, पागल, अन्धा तथा वेद की निन्दा करने वाला (ये सभी) श्राद्ध में त्याज्य हैं।। १६१।।

हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति।
पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च।। १६२।।

हस्तिगवाश्वोष्ट्राणां विनेता, नक्षत्रशब्देन ज्योतिःशास्त्रमुपलक्ष्यते तेन यो वर्तते, पक्षिणां पञ्जरस्थानां क्रीडाद्यर्थं विक्रयार्थं वा पोषकः, युद्धार्थमायुधविद्योपदेशकः।। १६२।।

इसके अतिरिक्त हाथी, घोड़ा, ऊँट और बैल को शिक्षित करने वाला तथा जो नक्षत्रों से जीविका चलाता हो ऐसा ज्योतिर्विद्, पक्षियों का पालन करने वाला एवं जो युद्ध-विद्या की शिक्षा प्रदान करता है, वह भी (हव्यकव्य में त्याज्य है।)।। १६२।।

स्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः।
गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ।। १६३।।

प्रवहज्जलानां सेतुभेदादिना देशान्तरनेता, तेषामेवावरणकर्ता निजगतिप्रतिबन्धकः, गृहसन्निवेशोपदेशको वास्तुविद्योपजीवी, दूतो राजग्रामप्रेष्यव्यतिरिक्तोऽपि, वृक्षरोपयिता वेतनग्रहणेन न तु धर्मार्थी। "पञ्चाम्ररोपी नरकं न याति" इति विधानात्।। १६३।।

जलों के स्रोतों को तोड़ने वाला तथा जो उन जलस्रोतों के प्रवाह को रोकने में लगा हुआ है वह, घर बनाने वाला मिस्त्री, दूत तथा वृक्षों को लगाने वाला भी (हव्य कव्य में त्याज्य है)।। १६३।।

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च।
हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः।। १६४।।

क्रीडार्थं शुनः पोषयति, श्येनैर्जीवति क्रयविक्रयादिना, कन्याभिगन्ता, हिंसारतः, शूद्रोपक्लृप्तवृत्तिः। "वृषलपुत्रश्च" इति पाठान्तरम्। वृषला एव केवलाः पुत्रा यस्येत्यर्थः। विनायकादिगणयागकृत्।। १६४।।

कुत्तों से खेल करने वाला, बाजपक्षी द्वारा जीविका चलाने वाला, कन्या को संसर्गादि से दूषित करने वाला, हिंसक, शूद्र के समान जीविका चलाने वाला तथा अनेक यज्ञों (गणयज्ञ) को कराने वाला, ये (श्राद्धकर्म में त्याग करने योग्य हैं)।। १६४।।

आचारहीनः क्लीबश्च नित्यं याचनकस्तथा।
कृषिजीवी श्लीपदी च सद्भिर्निन्दित एव च।। १६५।।

गुर्वतिथिप्रत्युत्थानाद्याचारवर्जितः, क्लीबो धर्मकृत्यादौ निरुत्साहः। नपुंसकस्योक्तत्वात्। नित्यं याचनेन परोद्वेजकः, स्वयंकृतया कृष्या यो जीवति, वृत्त्यन्तरेऽपि वा संभवत्यस्वयंकृतयापि, श्लीपदी व्याधिना स्थूलचरणः, केनापि निमित्तेन साधूनां निन्दाविषयः।। १६५।।

इसके अलावा आचारहीन, नपुंसक, हमेशा याचना करने वाला, कृषि द्वारा आजीविका चलाने वाला तथा हाथीपाँव का रोगी, सज्जनों द्वारा निन्दा किए गए भी (श्राद्धकर्म में वर्जित हैं।)।। १६५।।

औरभ्रिको माहिषिकः परपूर्वापतिस्तथा।
प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः।। १६६।।

मेषमहिषजीवनः, परपूर्वा पुनर्भूस्तस्याः पतिः, प्रेतनिर्हारको धनग्रहणेन नतु धर्मार्थम्। "एतद्वै परमं तपो यत्प्रेतमरण्यं हरन्ति" इत्यवश्यश्रुत्या विहितत्वात्।। १६६।।

भेड़ और भैंसों द्वारा जीविका यापन करने वाला, विधवा का पति तथा धन ग्रहण करके शव को बाहर निकालने वाला, ये सभी श्राद्धकर्म में प्रयत्नपूर्वक त्यागने योग्य हैं।। १६६।।

एतान्विगर्हिताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान्।
द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत्।। १६७।।

एतान्स्तेनादीन्निन्दिताचारान्काणादींश्च पूर्वजन्मार्जितनिन्दितकर्मशेषलब्धकाणादि-

भावान्साधुभिः सहैकत्र भोजनाद्यनर्हान्ब्राह्मणापसदान् ब्राह्मणश्रेष्ठः शास्त्रज्ञो दैवे पित्र्ये च त्यजेत्।। १६७।।

श्रेष्ठ द्विजवर्ण में उत्पन्न, विद्वान् व्यक्ति निन्दित आचरण वाले, पंक्ति में न बैठने योग्य, द्विजों में अधम इन ब्राह्मणों को (हव्य और कव्य) दोनों कार्यों में विशेषतया छोड़ देवें।। १६७।।

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति।
तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते।। १६८।।

तृणाग्निर्यथा न हविर्दहनसमर्थो हविषि प्रक्षिप्ते शाम्यति निष्फलस्तत्र होमः, एवं वेदाध्ययनशून्यो ब्राह्मणस्तृणाग्निसमस्तस्मै देवोद्देशेन त्यक्तं हविर्न दातव्यं, यतो भस्मनि न हूयते। श्रोत्रियायैव देयानीत्यनेनैवानधीयानस्यापि प्रतिषेधसिद्धौ स्तेनादिवत्पङ्क्तिदूषकत्वज्ञापनार्थं पुनर्वचनम्। अन्ये तु दैवेऽनधीयान एव वर्जनीयः, अधीयानस्तु काणादिरपि शारीरदोषयुक्तो ग्राह्य इत्येतदर्थं पुनर्वचनम्। अत एव वसिष्ठः-" अथ चेन्मन्त्रविद्युक्तः शारीरैः पङ्क्तिदूषणैः। अदूष्यं तं यमः प्राह पङ्क्तिपावन एव सः" शारीरैः कारणत्वादिभिर्नतु स्वयमुत्पाद्यैः स्तेनत्वादिभिः।। १६८।।

वेद के अध्ययन से हीन ब्राह्मण तृण की अग्नि के समान तेजविहीन (शान्त) हो जाता है। अतः उसके लिए हव्य प्रदान नहीं करना चाहिए, क्योंकि भस्म में हवन नहीं किया जाता है।। १६८।।

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः।
दैवे हविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः।। १६९।।

पङ्क्तिभोजनानर्हब्राह्मणाय दैवे हविषि पित्र्ये वा दत्ते दातुर्यो दानादूर्ध्वं फलोदयस्तमशेषमभिधास्यामि।। १६९।।

देवकार्य में, हवन में या पितृकार्य में पंक्ति को दूषित करने वाले ब्राह्मणों को दान देने के बाद जो फलप्राप्ति होती है। उसे मैं पूर्णरूप से आगे कहूँगा।। १६९।।

अव्रतैर्यद्द्विजैर्भुक्तं परिवेत्रादिभिस्तथा।
अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते।। १७०।।

वेदग्रहणार्थं व्रतरहितैस्तथा परिवेत्रादिभिरन्यैश्चापाङ्क्तेयैः स्तेनादिभिर्यद्धव्यं भुक्तं तद्रक्षांसि भुञ्जते। निष्फलं तच्छ्राद्धं भवतीत्यर्थः।। १७०।।

जो अन्न व्रतहीन, परिवेत्ता तथा पंक्ति में न बैठने योग्य (पंक्तिदूषक)

ब्राह्मणों द्वारा तथा अन्य पतितों द्वारा खाया जाता है, निश्चय ही उस अन्न को राक्षस खाते हैं।। १७०।।

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते।
परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः।। १७१।।

अग्निहोत्रशब्दोऽयमग्निहोत्राद्याधानपरः। यः सहोदरे ज्येष्ठे भ्रातर्यनूढेऽनग्निके च दारपरिग्रहं श्रौतस्मार्ताग्निहरणं च कुरुते स परिवेत्ता ज्येष्ठश्च परिवित्तिर्भवति।। १७१।।

जो बड़े भाई के अविवाहित होने पर अपना विवाह तथा अग्निहोत्र स्वीकार कर लेता है, उसे परिवेत्ता समझना चाहिए। जबकि बड़ा भाई परिवित्ति होता है।। १७१।।

प्रसङ्गात्परिवेदनसंबन्धिनां पञ्चानामप्यनिष्टं फलमाह—

परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते।
सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः।। १७२।।

परिवित्तिः परिवेत्ता च यया च कन्यया परिवेदनं क्रियते कन्याप्रदाता याजकश्च तद्विवाहहोमकर्ता स पञ्चमो येषां ते सर्वे नरकं व्रजन्ति।। १७२।।

परिवित्ति, परिवेत्ता तथा जिस कन्या के विवाह होता है, कन्या का दान करने वाला और पाँचवाँ, विवाह सम्पादित कराने वाला ब्राह्मण, वे सभी नरकगामी होते हैं।। १७२।।

भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः।। १७३।।

मृतस्य भ्रातुर्वक्ष्यमाणनियोगधर्मेणापि नियुक्तायां भार्यायां सकृत्सकृदृतावृता-वित्यादिविधिं हित्वा कामेनानुरागं भावयेदाश्लेषचुम्बनादि कुर्यादसकृद्वा प्रवर्तेत स दिधिषूपतिर्ज्ञातव्यः। अतः श्राद्धनिषिद्धपात्रमध्यपाठादस्यापि हव्यकव्यपात्रयो निषेधः कल्पनीयः।। १७३।।

मरे हुए भाई की पत्नी में धर्म से नियोग होने पर भी जो कामवश अनुरक्त होता है। उसे दिधिषूपति समझना चाहिए।। १७३।।

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः।। १७४।।
(उत्पन्नयोरधर्मेण हव्यकव्ये च नैत्यके।
यस्तयोरन्नमश्नाति स कुण्डाशी द्विजः स्मृतः।। १०।।)

परदारेषु कुण्डगोलकाख्यौ द्वौ सुतावुत्पद्येते। तत्र जीवत्पतिकायामुत्पन्नः कुण्ड मृतपतिकायां च गोलकः।। १७४।।

दूसरे की स्त्रियों में 'कुण्ड' और 'गोलक' ये दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। पति के जीवित रहने पर (जार द्वारा उत्पन्न पुत्र) कुण्ड तथा पति के मरने पर (उपपति से उत्पन्न सन्तति) गोलक कहलाती है।। १७४।।

(अधर्म द्वारा उत्पन्न उन दोनों कुण्ड तथा गोलक के अन्न को हव्य-कव्य तथा नित्यकर्मों में जो खाता है, वह द्विज कुण्डाशी कहा गया है।। १०।।)

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च।
दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम्।। १७५।।

ते परभार्यायां जाताः कुण्डाद्या दृष्टानुपयोगात्प्राणिन इति व्यपदिष्टाः। प्राणिनौ ब्राह्मणत्वेऽपि तत्कार्याभावात्प्रेत्य फलाभावात्परलोके चानुषङ्गिककीर्त्यादिफला-भावाद्दत्तानि हव्यकव्यानि प्रेत्य फलाभावादिह कीर्तेरभावान्नाशयेते नाशयतः, प्रदायिभिर्दत्तानि हव्यकव्यानि निष्फलानि कुर्वन्ति।। १७५।।

दूसरे की स्त्री में उत्पन्न हुए वे दोनों, इसलोक में तथा परलोक में दाताओं द्वारा दिए गए हव्य और कव्य को निष्फल (नष्ट) कर देते हैं।। १७५।।

अपाङ्क्त्यो यावतः पाङ्क्त्यान्भुञ्जानाननुपश्यति।
तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः।। १७६।।

सद्भिः सहैकपङ्क्त्यां भोजनानर्हः स्तेनादिर्यत्संख्यान्भोजनार्हान्पश्यति तावत्संख्यानां भोजनस्य फलं तत्र श्राद्धे दाता न प्राप्नोति, बालिशोऽज्ञः। अतस्तेनादिर्यथा न पश्यति तथा कर्तव्यम्।। १७६।।

पंक्ति को दूषित करने वाला (अपांक्त्य) ब्राह्मण, जितने पंक्ति में बैठने योग्य ब्राह्मणों को खाते हुए देखता है। दान देने वाला मूर्ख उस विषय में उतने (ब्राह्मणों को भोजन कराने) के फल को प्राप्त नहीं करता है।। १७६।।

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्टेः श्वित्री शतस्य तु।
पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम्।। १७७।।

अन्धस्य वीक्षणासंभवाद्वीक्षणयोग्यदेशसंनिहितोऽसौ पाङ्क्त्यानां नवतेर्भोजनफलं नाशयति, एवं काणः षष्टेः, श्वेतकुष्ठी शतस्य, पापरोगी रोगराजोपहतः सहस्रस्येत्यन्धादिसन्निधिनिरासार्थं वचनम्। गुरुलघुसंख्याभिधानं चेह संख्योपचये दोषगौरवं तत्र च प्रायश्चित्तगौरवमिति, दर्शयितुम्।। १७७।।

(पंक्ति में बैठे हुए भोजन करने वाले ब्राह्मणों को) देखकर अन्धा (अत्यल्प दृष्टि) नब्बे के, काणा साठ के, कोढ़ी सौ के, जबकि पापरोगी एक हजार के, (भोजन को कराने से प्राप्त होने वाले) दाता के फल को नष्ट कर देता है।। १७७।।

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः।
तावतां न भवेद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम्।। १७८।।

शूद्रस्य यज्ञादावृत्विग्यावत्संख्यान् ब्राह्मणान्स्पृशति "आसनेषूपक्कृप्तेषु" (अ० ३ श्लो० २०८) इत्यासनभेदस्य वक्ष्यमाणत्वान्मुख्यस्पर्शासंभवे यावतां श्राद्धभोजिनां पङ्क्तावुपविशति तावतां संबन्धि पौर्तिकं फलं श्राद्धीयं दातुर्न भवति। तावतां पौर्तिकं फलं बहिर्वेदिदानाच्च यत्फलं तन्न भवति इति मेधातिथिगोविन्दराजौ। अतस्तयैव निन्दया निषिद्धगणापठिस्यापि शूद्रयाजकस्य भोजननिषेधः कल्प्यते।। १७८।।

शूद्रों के यहाँ यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण, जितने ब्राह्मणों का अपने अङ्गों से स्पर्श कर देता है। उतने ब्राह्मणों का हव्य-कव्यदान फलदाता को प्राप्त नहीं होता है।। १७८।।

प्रसङ्गाच्च शूद्रयाजकप्रतिग्रहं निषेधयति, लाघवार्थमन्यत्र निषेधकरणे शूद्रयाजक-शब्दोच्चारणं कर्तव्यं स्यात्—

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभात्कृत्वा प्रतिग्रहम्।
विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि।। १७९।।

वेदज्ञोऽपि ब्राह्मणः शूद्रयाजकस्य लोभात्प्रतिग्रहं कृत्वा शीघ्रं शरीरादिना विनाशं गच्छति। सुतरामवेदवित्। अपक्वमृन्मयशरावादिकमिवोदके।। १७९।।

वेद को जानने वाला ब्राह्मण भी लोभ के कारण इस शूद्र के यहाँ यज्ञ करने वाले (ब्राह्मण) का दान ग्रहण करके, पानी में डाले गए मिट्टी के कच्चे पात्र के समान शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।। १७९।।

सोमविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम्।
नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वार्धुषौ।। १८०।।

सोमविक्रयिणे यद्दत्तं तद्दातुर्भोजनार्थं विष्ठा संपद्यते। जन्मान्तरे विष्ठाभोजिनां जातौ जायत इत्यर्थः। एवं पूयशोणितेऽपि व्याख्येयम्। नष्टं नाशभागितया निष्फलं विवक्षितम्। अप्रतिष्ठमनाश्रयतया निष्फलमेव।। १८०।।

सोम बेचने वाले के लिए दिया गया श्राद्ध अन्न, विष्ठा, वैद्य के लिए दिया

गया श्राद्ध अन्न, जीव और रक्त के रूप में पितरों को प्राप्त होता है। वेतन, ग्रहण करके पूजा करने वाले (देवलक) पुजारी को दिया गया श्राद्धविषयक अन्न नष्ट हो जाता है, जबकि सूदखोर ब्राह्मण को दिया गया (वही अन्न) अप्रतिष्ठा प्रदान करने वाला है।। १८०।।

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नामुत्र तद्भवेत्।
भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे।। १८१।।

वाणिजकाय यद्दत्तं श्राद्धे तन्नेहानुषङ्गिककीर्त्यादिफलाय, नापि पारलौकिकफलाय भवति। पुनर्भूपुत्राय यद्दत्तं तद्भस्महुतहविःसमम्। निष्फलमित्यर्थः।। १८१।।

किन्तु जो व्यापारीब्राह्मण का दिया हुआ हव्य और कव्य है। वह इस लोक तथा परलोक में कहीं भी फलदायी नहीं होता है तथा विधवापुत्र ब्राह्मण के लिए दिया गया अन्न, भस्म में डाली गई आहुति के समान (व्यर्थ) है।। १८१।।

इतरेषु त्वपांङ्क्त्येषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु।
मेदोसृङ्मांसमज्जास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः।। १८२।।

इतरेभ्यो विशेषेणानुक्तफलेभ्यः पङ्क्तिभोजनानर्हेभ्यः स्तेनादिभ्यो यथाकीर्तितेभ्यो यद्दत्तमन्नं तद्दातुर्भोजनार्थं मेदोरुधिरमांसमज्जास्थि भवतीति पण्डिता वदन्ति। अत्रापि जन्मान्तरे मेदःशोणितादिभुजां जातिषु जायन्त इत्यर्थः।।१८२।।

पहले कहे गए अपांक्तेय तथा अन्य अयोग्य ब्राह्मणों में दिए गए अन्न, हव्यकव्य को विद्वान् लोग मेदस्, रक्त, मांस, मज्जा तथा हड्डी के रूप में कहते हैं।। १८२।।

अपाङ्क्त्योपहता पङ्क्तिः पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः।
तान्निबोधत कार्त्स्न्येन द्विजाग्र्यान्पङ्क्तिपावनान्।। १८३।।

एकपङ्क्त्युपविष्टस्तेनादिदूषिता पक्तियैर्ब्राह्मणैः पवित्रीक्रियते तान्पवित्रीकारका-न्ब्राह्मणानशेषेण शृणुत। निषेधादेकपङ्क्तिभोजनासंभवेऽपि स्तेनादीनां रहस्यकृताज्ञातदोष-विषयत्वेन साधकतास्य वचनस्य।। १८३।।

इसके अतिरिक्त पंक्तिदूषक लोगों द्वारा दूषित पंक्ति, जिन श्रेष्ठब्राह्मणों द्वारा पवित्र की जाती है। सभी द्विजातियों में श्रेष्ठ उन पंक्तिपावनों को आप पूर्णरूप से समझिये।। १८३।।

अग्र्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः।। १८४।।

सर्वेषु वेदेषु चतुर्ष्वप्यग्र्याः श्रेष्ठाः सम्यग्गृहीतवेदा ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः। अतएव यमः पङ्क्तिपावनगणनायां "चतुर्वेदविदे चैव" इति पठितवान्। तथा प्रकर्षेणैवोच्यते वेदार्थ एभिरिति प्रवचनान्यङ्गानि तेष्वप्यग्र्याः षडङ्गविदस्ते च चतुर्वेदिनोऽपि पङ्क्तिपावनाः। न्यायविच्च षडङ्गविदिति पङ्क्तिपावनमध्ये यमेन पृथक्पठितत्वात्। तथा छन्दसां शुद्धदशपुरुष इत्युशनोवचनाद्दशपुरुषपर्यन्तमविच्छिन्नवेदसंप्रदायवंशजाः पङ्क्तिपावनाः।। १८४।।

प्रवचन (छः वेदांग) सहित सभी वेदों के ज्ञान में अग्रणी, श्रोत्रिय वंश में उत्पन्न श्रेष्ठब्राह्मणों को ही 'पंक्तिपावन' समझना चाहिए।। १८४।।

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित्।
ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च।। १८५।।

त्रिणाचिकेतोऽध्वर्युवेदभागस्तद्व्रतं च, तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिणाचिकेतः। पञ्चाग्निरग्निहोत्री। तथाच हारीतः-"पवनः पावनस्त्रेता यस्य पञ्चाग्नयो गृहे। सायंप्रातः प्रदीप्यन्ते स विप्रः पङ्क्तिपावनः।।" पवन आवसथ्याग्निः, पावनः सभ्योऽग्निः शीतापनोदाद्यर्थं बहुषु देशेष्वपि विधीयते। त्रिसुपर्णो बह्वृचां वेदभागस्तद्व्रतं च, तद्योगात्पुरुषोऽपि त्रिसुपर्णः। षडङ्गानि शिक्षादीनि यो व्याचष्टे स षडङ्गवित् सर्वप्रवचनेन षडङ्गाध्येतोक्तः। ब्रह्मदेया ब्राह्मविवाहोढा तस्या आत्मसंतानः पुत्रः। ज्येष्ठसामान्यारण्यके गीयन्ते तेषां गाता। एते षट् विज्ञेयाः पङ्क्तिपावना इत्युत्तरश्लोकेन संबन्धः।। १८५।।

त्रिणाचिकेत व्रत को करने वाला, पञ्च-अग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण का विशेषज्ञ षड्ङ्गों को जानने वाला, ब्राह्मविवाह द्वारा विवाहित कन्या की सन्तान तथा ज्येष्ठ साम को गाने वाला ब्राह्मण ही (पंक्तिपावन होता है।)।। १८५।।

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः।
शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावनाः।। १८६।।

अनधीत्यापि वेदाङ्गानि गुरुपदेशाधिगतवेदार्थः, प्रवक्ता वेदार्थस्यैव, ब्रह्मचारी प्रथमाश्रमी, सहस्रद इति देयविशेषानुपादानेऽपि "गावो वै यज्ञस्य मातरः" इत्यादिविशेषप्रवृत्तश्रुतिदर्शनाद्गोसहस्रदाता बहुप्रदो वा। शतायुः शतवर्षवयाः। श्रोत्रियायैव देयानीति नियमात्सति श्रोत्रियत्वे उक्तगुणयोगात्पङ्क्तिपावनत्वम्।। १८६।।

वेद के अर्थ को जानने वाला तथा उसका व्याख्याता, ब्रह्मचारी, हजार गायों को दान देने वाला तथा सौ वर्ष की आयु वाला, इन सभी को पंक्तिपावन ब्राह्मण समझना चाहिए।। १८६।।

पूर्वेद्युरपरेद्युर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते।
निमन्त्रयेत त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान्।। १८७।।

श्राद्धकर्मणि प्राप्ते श्राद्धाहात्पूर्वदिने तदसंभवे श्राद्धदिन एवोक्तलक्षणान्ब्राह्मणान्सम्यगतिसत्कृत्य निमन्त्रयेत्। त्रयोऽवरा न्यूना येषां ते त्र्यवराः न तु तावत एव। एकैकमपीत्युक्तेः।। १८७।।

श्राद्ध-कर्म के उपस्थित होने पर पहले दिन अथवा दूसरे (उसी) दिन पूर्व में कहे गए गुणों से युक्त तीन श्रेष्ठब्राह्मणों को भलीप्रकार निमन्त्रित करना चाहिए।। १८७।।

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा।
न च छान्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत्।। १८८।।

श्राद्धे निमन्त्रितो ब्राह्मणो निमन्त्रणादारभ्य श्राद्धाहोरात्रं यावन्मैथुननिवृत्तिसंयमनियमवान्स्यात्। अवश्यकर्तव्यजपादिवर्जं वेदाध्ययनं च न कुर्यात्। श्राद्धकर्तापि तथैव स्यात्।। १८८।।

पितृकर्म में निमन्त्रित हुआ ब्राह्मण हमेशा इन्द्रियों को संयमित करने वाला होवे, साथ ही वेदों का अध्ययन न करे, जिसके यहाँ श्राद्ध हो (श्राद्धकर्त्ता) उसे भी वैसा ही होना चाहिए।। १८८।।

निमन्त्रितान्हि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते।। १८९।।

पूर्वनियमविधेरयमनुवादः। यस्मात्तान्ब्राह्मणान्निमन्त्रितानदृश्यरूपेण पितरोऽधितिष्ठन्ति, प्राणवायुवद्गच्छतोऽनुगच्छन्ति, तथोपविष्टेषु तेषु समीप उपविशन्ति, तस्मान्नियता भवेयुः।। १८९।।

क्योंकि पितर लोग निमन्त्रित हुए उन ब्राह्मणों के समीप आते हैं। उनका प्राणवायु के समान अनुगमन करते हैं तथा बैठे हुए उनके समीप ही बैठ जाते हैं।। १८९।।

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः।
कथंचिदप्यतिक्रामन्पापः सूकरतां व्रजेत् ।। १९०।।

हव्यकव्ये यथाशास्त्रं निमन्त्रितो ब्राह्मणः स्वीकृत्य केनापि प्रकारेण भोजनमकुर्वाणस्तेन पापेन जन्मान्तरे सूकरो भवति।। १९०।।

विधिवत शास्त्रोक्त विधि से हव्यकव्य में निमन्त्रित द्विजश्रेष्ठ किसी भी कारणवश अतिक्रमण करता हुआ, पापी (होने से जन्मान्तर में) सूअर बनता है।।१९०।।

"नियतात्मा भवेत्सदा" (अ० ३ श्लो० १८८) इत्यनेन मैथुननिषेधे कृतेपि वृषलीममनस्याधिकदोषज्ञापनायाह-

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते।
दातुर्यद्दुष्कृत किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते।। १९१।।

वृषली शूद्रा तत्र मूढत्वाच्छ्राद्धे निमन्त्रितः सन् यो वृषल्या सार्ध स्त्रीपुंसधर्मेण सुरतादिना रमते स दातुर्यत्पापं तत्प्राप्नोति। पापोत्पत्तिमात्रं विविक्षितम्। अन्यथा दात र्यपापे पापं न जायते। न चेदं दातुः प्रायश्चित्ततया विहितं येनासौ पापान्मुच्यते। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु सामान्येन ब्रह्मचर्यस्य विधानाद्दूषस्यन्ती चलपयति भर्तारमिति योगाश्रयणेन श्राद्धभोक्तुरूढ़ा ब्राह्मण्यपि वृषल्यभिमतात्रेत्याहतुः।। १९१।।

जबकि श्राद्ध में आमन्त्रित हुआ जो ब्राह्मण शूद्रा के साथ रमण करता है। श्राद्धकर्त्ता का जो कुछ भी पापकर्म होता है, उसे वह सब प्राप्त हो जाता है।।१९१।।

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः।
न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः।।१९२।।

क्रोधरहिताः, बहिःशौचं मृद्वारिभ्यामन्तःशौचं रागद्वेषादित्यागस्तद्युक्ताः, सर्वदा स्त्रीसंयोगादिशून्याः, त्यक्तयुद्धाः, दयाद्यष्टगुणयोगो महाभागता तद्वन्तः, अनादिदेवतारूपाः पितरस्तस्मात्क्रोधादिरहितेन भोक्त्रा कर्त्रा च भवितव्यम्।। १९२।।

पितरलोग हमेशा क्रोधरहित, पवित्रभावयुक्त, ब्रह्मचारी, शस्त्ररहित, महा भाग्यवान् तथा आदिदेवता होते हैं। इसलिए यजमान तथा ब्राह्मण को भी वैसा ही होना चाहिए।। १९२।।

यस्मादुत्पत्तिरेतेषां सर्वेषामप्यशेषतः।
ये च यैरुपचर्याः स्युर्नियमैस्तान्निबोधत।।१९३।।

एषां सर्वेषां पितृणां यस्मादुत्पत्तिये च पितरो यैर्ब्राह्मणादिभिर्यैर्नियमैः शास्त्रोक्त-कर्मभिरुपचरणीया भवेयुस्तान्साकल्येन श्रृणुत।। १९३।।

जिनसे इन सब पितरों की उत्पत्ति हुई है तथा जिनकी नियमों द्वारा ये सेवा के योग्य हैं, उन सबको अब पूर्णरूप से सुनिये।। १९३।।

मनोर्हैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।
तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः।। १९४।।

हिरण्यगर्भापत्यस्य मनोर्ये मरीच्यादयः पुत्राः पूर्वमुक्ताः ''मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ'' (अ० १ श्लो० ३५) इत्यादिना तेषामृषीणां सर्वेषां सोमपादयः पितृगणाः पुत्रा मन्वादिभिः स्मृताः।। १९४।।

हिरण्यगर्भ के पुत्र भगवान् मनु के जो मरीचि आदि पुत्र हुए, उन सभी ऋषियों के पुत्र (ही) पितृगण कहे गए हैं।। १९४।।

विराट्सुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।
अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः।। १९५।।

विराट्सुताः सोमसदो नाम साध्यानां पितरः। अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याता देवानां पितरः।। १९५।।

विराट के पुत्र सोमसद, साध्यों के पितर कहे गए हैं। मरीचि के पुत्र लोक प्रसिद्ध अग्निष्वात्त देवताओं के पितर हैं।। १९५।।

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
सुपर्णकिन्नराणां च स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः।। १९६।।

दैत्यादिनां प्रथमाध्यायोदित भेदानामत्रिपुत्रा बर्हिषदो नाम पितरः स्मृताः।। १९६।।

अत्रि के पुत्र बर्हिषद्, दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, उरग, राक्षस, सुपर्ण तथा किन्नरों के पितर कहे गए हैं।। १९६।।

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः।। १९७।।

ब्राह्मणप्रभृतीनां चतुर्णां वर्णानां सोमपाप्रभृतयश्चत्वारः पितरः स्मृताः।। १९७।।

सोमपा नामक ब्राह्मणों के, हविर्भुज क्षत्रियों के, आज्यपा नामक वैश्यों के तथा सुकाली शूद्रों के पितर हैं।। १९७।।

सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः।
पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः।। १९८।।

कवेर्भृगोः सोमपाः पुत्राः। हविर्भुज एव हविष्मन्तोऽङ्गिरसः पुत्राः। आज्यपाः पुलस्त्यसुताः। सुकालिनो वसिष्ठसुताः।। १९८।।

जबकि इनमें सोमपा भृगु (कवि) के पुत्र हैं। हविर्भुज अंगिरा के पुत्र हैं। आज्यपा पुलस्त्य के तथा सुकाली वसिष्ठ के पुत्र हैं।। १९८।।

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्।।१९९।।
(अग्निष्वात्ता हुतैस्तृप्ताः सोमपाः स्तुतिभिस्तथा।
पिण्डैर्बर्हिषदः प्रीताः प्रेतास्तु द्विजभोजने।।११।।)

अग्निदग्धानग्निदग्धकाव्यबर्हिषदग्निष्वात्तसौम्याख्यान्परान्पितृन्विप्राणामेव जानीयात्।।१९९।।

अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त, तथा सौम्य ये सभी ब्राह्मणों के पितर के बताए गए हैं।। १९९।।

(अग्निष्वात्त हवन से, सोमपा स्तुति से, बर्हिषद् पिण्डदान से तथा प्रेत ब्राह्मणों को भोजन कराने पर प्रसन्न होते हैं।। ११।।)

य एते तु गणा मुख्याः पितृणां परिकीर्तिताः।
तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम्।।२००।।

य एते प्रधानभूताः पितृगणा उक्तास्तेषामपीह जगति पितर एव पुत्रपौत्रा अनन्ता विज्ञेयाः। पुत्रपौत्रमिति "गवाश्वप्रभृतीनि च" (पा० सू० २।४।११) इत्येकवद्भावः। एतच्छ्लोकसूचिता एव "वरो वरेण्यः" इत्यादयोऽन्येऽपि पितृगणा मार्कण्डेयादिपुराणादिषु श्रूयन्ते।।२००।।

ये जो पितरों के प्रमुख गण कहे गए हैं। इस संसार में उनके पुत्रपौत्र भी अनन्त समझने चाहिएँ।। २००।।

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवमानवाः।
देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः।।२०१।।

ऋषिभ्यो मरीच्यादिभ्य उक्तक्रमेण पितरो जाताः। पितृभ्यो देवमानवा जातादेवेभ्यश्च जङ्गमस्थावरं जगत्क्रमेण जातम्। तस्मात्सोमपादिप्रभवत्वात्स्वपितृपितामहप्रपितामहानामेषां श्राद्धे पूजनीयाः सोमपादयोऽपि पूजिताः सन्तः श्राद्धफलदानाय कल्पन्त इति। प्रकृतश्च पित्रादिश्राद्धस्तुत्यर्थोऽयं सोमपादिपितृगणोपन्यासः। अथवा आवाहनकाले निजपित्रादयो ब्राह्मणादिभिः सोमपादिरूपेण ध्येयाः। एवं व्यवस्थाज्ञानमनुष्ठानपरता च स्यात्।।२०१।।

ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देवता तथा मानव, जबकि देवों से यह सम्पूर्ण स्थावरजङ्गम जगत् क्रमशः उत्पन्न हुआ।। २०१।।

राजतैर्भाजनैरेषामथो वा राजतान्वितैः।
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते।। २०२।।

एषां पितृणां रूप्यमयपात्रैः रूप्ययुक्तैर्वा ताम्रादिपात्रैर्जलमपि श्रद्धया दत्तमक्षय-सुखहेतुः संपद्यते किं पुनः प्रशस्तपायसादीति।। २०२।।

इसके अलावा इन (पितरों) के लिए चाँदी द्वारा निर्मित अथवा चाँदी मिले हुए पात्रों द्वारा, श्रद्धा के साथ दिया गया जल भी अक्षय फल के लिए होता है।। २०२।।

देवकार्याद्द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम्।। २०३।।

देवानुद्दिश्य यत्क्रियते तद्देवकार्यम्। ततः पितृकार्यं द्विजातीनां विशेषेण कर्तव्यमुपदिश्यते। अनेन पितृश्राद्धस्य प्राधान्यं दैवं तत्राङ्गमित्याह। एतदेव स्पष्टयति। यतो दैवं कर्म पितृकृत्यस्य पूर्वं सदाप्यायनं परिपूरकं स्मृतम्।। २०३।।

द्विजातियों के देवकार्यों से पितृकार्य विशिष्ट माने गए हैं, क्योंकि देवकार्य को पितृकार्य से पहले होने के कारण पितृकार्य का पूरक माना गया है।। २०३।।

तेषामारक्षभूतं पूर्वं दैवं नियोजयेत्।
रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम्।। २०४।।

आरक्षो रक्षा तेषां पितृणां रक्षाभूतं दैवं विश्वेदेवब्राह्मणं पूर्वं निमन्त्रयेत्। यस्माद्रक्षावर्जितं श्राद्धं राक्षसा आच्छिन्दन्ति।। २०४।।

उन पितरों की रक्षा करने वाले देवताओं को तो पहले ही निमन्त्रित करना चाहिए, क्योंकि रक्षा से वर्जित पितृश्राद्ध को राक्षस लोग पूर्णरूप से नष्ट कर डालते हैं।। २०४।।

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तद्भवेत्।
पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः।। २०५।।

यत एवमतः तच्छ्राद्धं दैवाद्यन्तं दैवे कर्मणि आद्यन्तावारम्भावसाने यस्य तत्तथा। एतेनेदमुक्तं निमन्त्रणादि सर्वं दैवपूर्वं, विसर्जनं तु देवानां शेषे। अतएव देवलः-''यत्तत्र क्रियते कर्म पैतृके ब्राह्मणान्प्रति। तत्सर्वं तत्र कर्तव्यं वैश्वदेविक-पूर्वकम्।।'' नतु तच्छ्राद्धं पित्रुपक्रमावसानं पित्राद्यन्तं तदनुतिष्ठन्ससंतानः शीघ्रं विनश्यति।। २०५।।

इसप्रकार देवकार्य पितृकार्य के आदि और अन्त में करने चाहिएँ, पितृकर्म के आदि और अन्त में उन्हें नहीं करना चाहिए। पितृकर्म से प्रारम्भ और अन्त चाहने वाला व्यक्ति शीघ्र ही कुल के साथ नष्ट हो जाता है।। २०५।।

शुचिं देशं विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्।
दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत्।। २०६।।

अस्थ्यङ्गाराद्यनुपहतं देशं निर्जनं च गोमयेनोपलेपयेत्। दक्षिणादिगवनतं च प्रयत्नतः संपादयेत्।। २०६।।

पवित्र एवं एकान्तस्थान को गोबर द्वारा लीपना चाहिए, साथ ही उसमें प्रयत्नपूर्वक दक्षिणदिशा की ओर ढालू बनाना चाहिए।। २०६।।

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।
विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा।। २०७।।

चोक्षाः स्वभावशुचयोऽरण्यादिप्रदेशास्तेषु नद्यादितीरेषु तथा निर्जनप्रदेशेषु दत्तेन श्राद्धादिना सर्वदा पितरस्तुष्यन्ति।। २०७।।

स्वभाव से पवित्र अरण्य प्रदेशों में, नदी के किनारों पर तथा एकान्त स्थानों पर किए श्राद्ध द्वारा पितर हमेशा सन्तुष्ट होते हैं।। २०७।।

आसनेषूपक्लृप्तेषु बर्हिष्मत्सु पृथक्पृथक्।
उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुपवेशयेत्।। २०८।।

तत्र च देशे आसनेषु पृथक्पृथग्विन्यस्तेषु सकुशेषु प्रागामन्त्रितब्राह्मणान्सम्यक्कृत-स्नानाचमनानुपवेशयेत्। अत्र देवब्राह्मणासने कुशद्वयम्, पित्रासनेषु च प्रत्येकं दक्षिणाग्र एकः कुशो देयः। तदाह देवलः-"ये चात्र विश्वेदेवानां विप्राः पूर्वनिमन्त्रिताः। प्राङ्मुखान्यासनान्येषां द्विदर्भोपहितानि च।। दक्षिणामुखयुक्तानि पितृणामासनानि च। दक्षिणाग्रैकदर्भाणि प्रोक्षितानि तिलोदकैः।।" दक्षिणामुखयुक्तानि दक्षिणाग्राणि। अग्रं काण्डमूलापेक्षया।। २०८।।

भलीप्रकार जलों से स्नान एवं आचमन किए हुए उन ब्राह्मणों को अलग-अलग बिछे हुए कुश के आसनों पर बैठना चाहिए।। २०८।।

उपवेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजुगुप्सितान्।
गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वक।। २०९।।

तान्विप्रानामन्त्रितानासनेषूपवेश्य कुङ्कुमादिगन्धमाल्यधूपादिभिः स्पृहणीयगन्धैर्देव-पूर्वकमर्चयेत्।। २०९।।

प्रशंसनीय उन ब्राह्मणों को आसनों पर बैठाकर कुमकुमादि सुगन्धित पदार्थों तथा सुगन्धित पुष्पमालाओं द्वारा देवकर्मपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए।। २०९।।

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि।
अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणैः सह।। २१०।।

तेषां ब्राह्मणानामर्घोदकपवित्रतिलान्संमिश्रान्कृत्वा तैर्ब्राह्मणैः सहानुज्ञातोऽग्नौ वक्ष्यमाणं होमं कुर्यात्। अनुज्ञासामर्थ्याच्च प्रार्थनापि पूर्वं कर्तव्या। सा च स्वगृह्यानुसारेण करवाणि करिष्य इत्यादिका। अनुज्ञापि ओमित्येवंरूपा कुरुष्वेति वा।। २१०।।

उन ब्राह्मणों को पवित्रतिलों से युक्त जल लाकर, आज्ञा प्राप्त करके ब्राह्मणों को, उन ब्राह्मणों के साथ ही अग्नि में हवन करना चाहिए।। २१०।।

अग्नेः सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः।
हविर्दानेन विधिवत्पश्चात्संतर्पयेत्पितॄन्।। २११।।

अग्नेः सोमयमयोश्च विधिवत्पर्युक्षणादिपूर्वं हविर्दानेन प्रीणनमादौ कृत्वा पश्चादन्नादिना पितॄंस्तर्पयेत्। सोमयमयोर्द्वन्द्वनिर्देशेऽपि पृथगेव देवतात्वम्। सहादिशब्द-प्रयोगाभावात्। यत्र साहित्यं विवक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोतीत्युक्तं प्राक्।। २११।।

सबसे पहले अग्नि, सोम तथा यम को विधिवत हविदान द्वारा पूर्णतया प्रसन्न करके, बाद में पितरों को तृप्त करना चाहिए।। २११।।

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।
यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभिरुच्यते।। २१२।।

अग्न्यभावे पुनर्ब्राह्मणहस्त एवोक्ताहुतित्रयं दद्यात्। यस्माद्य एवाग्निः स एव ब्राह्मण इति वेदविद्भिर्ब्राह्मणैरुक्तः। अग्न्यभावश्चानुपनीतस्य संभवति। उपनीतस्य समावृत्तस्य च पाणिग्रहणात्पूर्वं, मृतभार्यस्य वा।। २१२।।

किन्तु अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के हाथों पर ही हवि रखनी चाहिए, क्योंकि 'जो अग्नि है, वही ब्राह्मण है', इसप्रकार मन्त्रदर्शी विद्वानों द्वारा कहा जाता है।। २१२।।

अक्रोधनान्सुप्रसादान्वदन्त्येतान्पुरातनान् ।
लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छ्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान्।। २१३।।

क्रोधशून्यान्सुप्रसादान्प्रसन्नमुखान्प्रवाहानादितया पुरातनान् "अग्नौ प्रास्ताहुतिः

(अ० ३ श्लो० ७६) इति न्यायेन लोकवृद्धय उद्युक्तान्श्राद्धपात्रभूतान्मन्वादयो वदन्ति। तस्माद्देवतुल्यत्वाच्छ्राद्धं ब्राह्मणस्य हस्ते दातव्यमिति पूर्वविध्यनुवादः।। २१३।।

(महर्षिगण) क्रोधरहित, भलीप्रकार प्रसन्न, पुरातन तथा संसार के कल्याण के लिए लगे हुए, श्रेष्ठब्राह्मणों को श्राद्धदेव ही कहते हैं।। २१३।।

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम्।
अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि।। २१४।।

अग्नौ पर्युक्षणाद्यङ्गमुक्तं अग्नौकरणहोमानुष्ठानक्रममपसव्यं दक्षिणसंस्थं कृत्वा ततोऽपसव्येन दक्षिणहस्तेन पिण्डाधारभूतायां भुव्युदकं क्षिपेत्।। २१४।।

अग्नि में पर्युक्षणादि हवन करने के विशेषक्रम को, दाएँ कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण करके, सम्पूर्ण पर्युक्षणहेतु दाएँ हाथ से पृथिवी पर जल छिड़कना चाहिए।। २१४।।

त्रींस्तु तस्माद्धविःशेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः।
औदकेनैव विधिना निर्वपेद्दक्षिणामुखः।। २१५।।

तस्मादग्र्यादिहोमादुद्धृतादन्नादुद्धृतावशिष्टास्त्रीन्पिण्डान्कृत्वा औदकेनैव विधिना दक्षिणहस्तेन समाहितोऽनन्यमना दक्षिणमुखस्तेषु दर्भेष्विति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भेषु दद्यात्।। २१५।।

उस हवन से बचे हुए अन्न द्वारा एकाग्रचित होकर, तीन पिण्डों का निर्माण करके, जलपर्युक्षण विधि से ही दक्षिणदिशा की ओर मुख करके, निर्वपन करना चाहिए।। २१५।।

न्युप्य पिण्डांस्ततस्तांस्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्।
तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम्।। २१६।।

विधिपूर्वकं स्वगृह्योविधिना दर्भेषु तान्पिण्डान्दत्वा ''दर्भमूलेषु करावघर्षणम्'' इति विष्णुवचनाच्च तेषु दर्भेषु मूलदेशे हस्तं निर्लेपं कुर्यात्प्रपितामहपित्रादीनां त्रयाणां लेपभुजां तृप्तये।। २१६।।

तत्पश्चात् लेप का भोजन करने वाले पितरों की तृप्ति के लिए अत्यन्त सावधानीपूर्वक विधिविधान के साथ उन पिण्डों को कुशाओं के ऊपर रखकर उन कुशाओं पर हाथ को पोंछना चाहिए।। २१६।।

आचम्योदक्परावृत्य त्रिरायम्य शनैरसून्।
षड्ऋतूंश्च नमस्कुर्यात्पितॄनेव च मन्त्रवित्।। २१७।।

अनन्तरमुपस्पृश्योदङ्मुखो भूत्वा यथाशक्ति प्राणायामत्रयं कृत्वा "वसन्ताय नमस्तुभ्यम्" इत्यादिना षड्ऋतून्नमस्कुर्यात्। पितृंश्च "नमो वः पितर" इत्यादि-मन्त्रयुक्तम् "अभीपर्यावृत्त्य" (अ०४ खं ८) इति गृह्यदर्शनाद्दक्षिणामुखो नमस्कुर्यात्।। २१७।।

पुनः उत्तर की ओर मुख करके, आचमन करके, तीन बार धीरे-धीरे प्राणायाम करके, मन्त्रोच्चारण के साथ छः ऋतुओं तथा पितरों को भी नमस्कार करना चाहिए।। २१७।।

उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः।। २१८।।

पिण्डदानात्पूर्वं पिण्डाधारदेशदत्तोदकशेषमुदकपात्रस्थं प्रतिपिण्डसमीपदेशे क्रमेण पुनरुत्सृजेत्। तांश्च पिण्डान्यथान्युप्तान्येनैव क्रमेण दत्तांस्तेनैव क्रमेणावजिघ्रेत्। समाहितोऽनन्यमनाः।। २१८।।

उसके बाद एकाग्रचित हुआ बचे हुए जल को धीरे-धीरे पिण्डों के समीप छोड़े तथा उन पिण्डों को जल डाले गए क्रम के अनुसार सूँघना चाहिए।। २१८।।

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः।
तेनैव विप्रानासीनान्विधिवत्पूर्वमाशयेत्।। २१९।।

अल्पिकेत्यन्नाल्पमात्र अवयवभागाः पिण्डेषूत्पन्नानल्पभागान्पिण्डक्रमेणैव गृहीत्वा तेनैव पित्रादिब्राह्मणान्भोजनकाले भोजनात्पूर्वं भोजयेत्। विधिवत्पिण्डानुष्ठानवत्पितर-मुद्दिश्य यः पिण्डो दत्तस्तदवयवं पितृब्राह्मणं भोजयेत्। एवं पितामहप्रपितामह-पिण्डयोरपि।। २१९।।

तब पिण्डों में से क्रमशः अत्यल्प मात्रा लेकर, बैठे हुए ब्राह्मणों को, उसी अन्न को विधिपूर्वक भोजन से पहले खिलाना चाहिए।। २१९।।

ध्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रवद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्।। २२०।।

ध्रियमाणे जीवति पितरि मृतानां पितामहादित्रयाणां श्राद्धं कर्तव्यम्। अथवा पितृविप्रस्थाने तमेव स्वपितरं भोजयेत्। पितामहप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणौ भोजयेत्पिण्डद्वयं च दद्यात्।। २२०।।

किन्तु पिता के जीवित रहने पर पितामह आदि पूर्वपुरुषों का ही श्राद्ध करना चाहिए अथवा ब्राह्मण के समान अपने पिता को ही श्राद्ध में भोजन कराना चाहिए।। २२०।।

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्चापि पितामहः।
पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्।। २२१।।

नामकीर्तनमत्र श्राद्धोपलक्षणार्थम्। पितृजीवनापेक्षोऽयं वाशब्दः। यस्य पुनः पिता मृतः स्यात्पितामहे जीवति स पितृप्रपितामहयोः श्राद्धं कुर्यात्। गोविन्दराजस्तु ''यस्य पितृप्रपितामहौ प्रेतौ स्यातां स पित्रे पिण्डं निधाय पितामहात्परं द्वाभ्यां दद्यादिति विष्णुवचनात्प्रपितामहतत्पितृभ्यां दद्यात्'' इति व्याख्यातवान्।। २२१।।

जिसका पिता मर गया हो तथा पितामह जीवित हो, तो वह पिता का नाम लेकर प्रपितामह के नाम का उच्चारण करे।। २२१।।

पितामहो वा तच्छ्राद्धं भुञ्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्।। २२२।।

यथा जीवत्पिता भोज्यस्तथा पितामहोऽपि पितामहब्राह्मणस्थाने भोज्यः। पितृप्रपितामहयोश्च ब्राह्मणभोजनं पिण्डदानं च कुर्यात्। यथा वा जीवता पितामहेन त्वमेव यथारुचि कुर्विति दत्तानुज्ञः स्वरुच्या पितामहं वा भोजयेत्। पितृप्रपितामह-योर्वा श्राद्धद्वयं कुर्यादिति विष्णुवचनात्पितृप्रपितामहवृद्धप्रपितामहानां श्राद्धत्रयं कुर्यात्।। २२२।।

या फिर जीवित पितामह को उस श्राद्ध का अन्न खिलावे, ऐसा मनु ने कहा है। अथवा उनकी आज्ञा प्राप्त हुआ वह, स्वयं ही इच्छानुसार आचरण करे।। २२२।।

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।
तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत स्वधैषामस्त्विति ब्रुवन्।। २२३।।

''पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्राम्'' (अ० ३ श्लो०२१९) इति यदुक्तं तस्यायं कालविधिः प्रदेयविधिश्च तेषां ब्राह्मणानां हस्तेषु सदर्भतिलोदकं दत्त्वा तदिति पूर्वनिर्दिष्टं पिण्डाग्रं पित्रे स्वधास्त्वित्येवमादि ब्रुवन्पित्रादिब्राह्मणेभ्यस्त्रिभ्यः क्रमेण दद्यात्।। २२३।।

जबकि उन ब्राह्मणों के हाथों में पवित्री के साथ तिल और जल देकर 'एषां स्वधा अस्तु' इसप्रकार कहते हुए, उन पिण्डों का अग्रभाग उन्हें प्रदान करना चाहिए।। २२३।।

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयमन्नस्य वर्धितम्।
विप्रान्तिके पितृन्ध्यायञ्शनकैरुपनिक्षिपेत्।। २२४।।

अन्नस्येति तृतीयार्थे षष्ठी। वर्धितं पूर्णं पिठरादिपात्रं स्वयं पाणिभ्यां गृहीत्वा

पितृंश्च चिन्तयन्नसवन्त्यगारादानीय ब्राह्मणानां समीपे परिवेषणार्थमत्वरया स्थापयेत्।। २२४।।

तत्पश्चात् अन्न से परिपूरित पात्र को दोनों हाथों से भलीप्रकार पकड़कर, पितरों का ध्यान करते हुए उसे धीरे से ब्राह्मणों के पास ही रखना चाहिए।। २२४।।

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं यदन्नमुपनीयते।
तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः।। २२५।।

अधिकरणसप्तमीयम्। उभयोः करयोर्मुक्तमस्थितं यदन्नं ब्राह्मणान्तिकमानीयते तदसुरा दुष्टबुद्धय आच्छिन्दन्ति तस्मान्नैकहस्तेनानीय परिवेष्टव्यम्।। २२५।।

जो अन्न दोनों हाथों से पकड़कर ब्राह्मणों के पास नहीं लाया जाता है। दुष्ट हृदय वाले राक्षस उसे अचानक ही छीन लेते हैं।। २२५।।

गुणांश्च सूपशाकाद्यान्पयो दधि घृतं मधु।
विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमावेव समाहितः।। २२६।।

गुणान्व्यञ्जनानि, अन्नापेक्षयाऽप्राधान्याद्गुणयुक्तान्वा सूपशाकाद्यान्प्रयतः शुचिः समाहितः अनन्यमनाः सम्यक् यथा न विशीर्यन्ति तथा भूमावेव स्वपात्रस्थाने स्थापयेन्न दारुफलकादौ।। २२६।।

इसलिए गुणसम्पन्न सूप, शाक, दूध, दही, घी और शहद आदि के पात्रों को एकाग्रचित्त होकर प्रयत्नपूर्वक सर्वप्रथम भूमि पर ही रखना चाहिए।। २२६।।

भक्ष्यं भोज्यं विविधं मूलानि च फलानि च।
हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च।। २२७।।

भक्ष्यं खरविशदमभ्यवहरणीयं मोदकादि, भोज्यं पायसादि, नानाप्रकारफलमूलानि, हृदयस्य प्रियाणि मांसानि, पानानि सुगन्धीनि भूमावेव विन्यसेदिति पूर्वेण संबन्धः।। २२७।।

भक्ष्य, भोज्य तथा अनेकप्रकार के मूल और फल, मनोहर मांस एवं सुगन्धित पेयपदार्थों को भी (भूमि पर ही रखना चाहिए)।। २२७।।

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः।
परिवेषयेत प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन्।। २२८।।

एतत्सर्वमन्नादिकं ब्राह्मणसमीपमानीय प्रयतः शुचिरनन्यमनाः क्रमेण परिवेषयेत्। इदं मधुरमिदमम्लमित्येवं माधुर्यादिगुणान्कथयन्।। २२८।।

भलीप्रकार एकाग्रचित हुआ वह, उन सब पदार्थों को धीरे-धीरे उन ब्राह्मणों के पास लाकर, उन सभी पदार्थों के गुणों का बखान करता हुआ, प्रयत्नपूर्वक उन सबके सामने परोसे।। २२८।।

नास्रमापातयेज्जातु न कुप्येन्नानृतं वदेत्।
न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतदवधूनयेत्।। २२९।।

रोदनक्रोधमृषाभाषणानि न कुर्यात्। पादेन चान्नं न स्पृशेत्। न चोत्क्षिप्योत्क्षिप्यान्नं पात्रे क्षिपेत्। पुरुषार्थतया प्रतिषिद्धयोरपि क्रोधानृतयोः श्राद्धाङ्गत्वज्ञापनार्थोऽयं निषेधः।। २२९।।

उससमय एक बार भी न तो आँसू गिरावे, न ही क्रोध करे, न झूठ बोले, न अन्न को पैर से स्पर्श करे और न ही अन्न को उछालकर पात्र में फैंके।। २२९।।

अस्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीननृतं शुनः।
पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम्।। २३०।।

अश्रु क्रियमाणं प्रेतान्भूतवेषान्श्राद्धान्नानि प्रापयति न पितृणामुपकारकं भवति, क्रोधः शत्रून्, मृषावादः कुक्कुरान्, पादस्पर्शोऽन्नस्य राक्षसान्, अवधूननं पापकारिणः। तस्मान्न रोदनादि कुर्यात्।। २३०।।

श्राद्धविषयक अन्न को क्रोध शत्रुओं के पास, आँसू प्रेतों के पास, झूठ कुत्तों के पास, जबकि पैरों का स्पर्श राक्षसों के पास तथा उछाल कर दिया हुआ अन्न पापियों के पास पहुँचा देता है।। २३०।।

यद्यद्रोचेत　　विप्रेभ्यस्तत्तद्दद्यादमत्सरः।
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम्।। २३१।।

यद्यद्विप्राणामीप्सितमन्नव्यञ्जनादि तत्तदमत्सरो दद्यात्। परमात्मनिरूपणपराः कथाश्च कुर्यात्। यतः पितृणामेतदपेक्षितम्।। २३१।।

जो-जो वस्तु ब्राह्मणों को रुचिकर हो, उस-उसको ईर्ष्याभावरहित होकर उन्हें प्रदान करना चाहिए तथा परमात्मविषयक कथाओं का कथन करना चाहिए, यही पितरों का ईप्सित होता है।। २३१।।

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च।। २३२।।

स्वाध्यायं वेदं मानवादीनि धर्मशास्त्राणि, आख्यानानि सौपर्णमैत्रावरुणादीनि, इतिहासान्महाभारतादीन्, पुराणानि ब्रह्मपुराणादीनि, खिलानि श्रीसूक्तशिवसंकल्पादीनि श्राद्धे ब्राह्मणान्श्रावयेत्।। २३२।।

वस्तुतः श्राद्ध में पितरों के लिए वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास, पुराण तथा खिलसूक्तों का श्रवण कराना चाहिए।। २३२।।

हर्षयेद्ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः।
अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत्।। २३३।।

स्वयं हृष्टो भूत्वा प्रियवचनादिभिर्ब्राहणान्परितोषयेत्। अन्नं चात्वरया भोजयेत्। मिष्टान्नेन पायसादिभिः "पायसमिदं स्वादु, मोदकोऽयं हृद्यो गृह्यताम्" इत्यादि गुणाभिधानैः पुनर्ब्राह्मणान्प्रेरयेत्।। २३३।।

स्वयं प्रसन्नचित्त हुआ ब्राह्मणों को प्रसन्न करे तथा उन्हें धीरे-धीरे भोजन करावे। साथ ही बार-बार वस्तुओं के गुणों के वर्णन से इन्हें भोज्य अन्न को खाने के लिए प्रेरित करना चाहिए।। २३३।।

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।
कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम्।। २३४।।

ब्रह्मचारिणमपि दौहित्रं श्राद्धे प्रयत्नतो भोजयेत्। अपिशब्दादब्रह्मचारिणमपि। आनुकल्पिकमध्यपठितस्यापि ब्रह्मचारिणो यत्नवचनाच्छ्रेष्ठत्वं कथयति। नेपालकम्बलं चासने दद्यात्। दौहित्रमन्तरेणापि तिलांश्च श्राद्धभूमौ विकिरेत्।। २३४।।

ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित होने पर भी दौहित्र (धेवते) को श्राद्ध में प्रयत्नपूर्वक भोजन कराना चाहिए। साथ ही उसे आसन के रूप में कुतप (नेपाली कम्बल) प्रदान करें तथा श्राद्धभूमि पर तिलों को बिखरे देवें।। २३४।।

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।
त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्।। २३५।।

पूर्वोक्तान्येव त्रीणि दौहित्रादीनि श्राद्धे पवित्राणीति ज्ञाप्यन्ते। त्रीणि च शौचादीनि प्रशंसन्ति।। २३५।।

श्राद्धकर्म में दौहित्र, कुतप तथा तिल ये तीनों (ही) पवित्र होते हैं तथा इस श्राद्ध में पवित्रता, शान्ति और जल्दी बाजी न करना, इन तीनों की (ही) (विद्वान् लोग) प्रशंसा करते हैं।। २३५।।

अत्युष्णं सर्वमन्नं स्याद्भुञ्जीरंस्ते च वाग्यताः।
न च द्विजातयो ब्रूयुर्दात्रा पृष्टा हविर्गुणान्।। २३६।।

उष्णमेवात्युष्णं यस्योष्णस्यान्नादेर्भोजनमुचितं तदुष्णं दद्यान्न तु फलाद्यपि। अतएव शङ्खः-"उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत्। अन्य फलमूलेभ्यः पानकेभ्यश्च पण्डितः।।" संयतवाचश्च ब्राह्मणा अश्नीयुः। किमिदं स्वाद्वस्वादु वेति दात्रान्नादिगुणान् पृष्टा वक्राद्यभिनयेनापि न ब्रूयुः। वाग्यतस्यात्रैव विधानात्।। २३६।।

श्राद्ध के सभी अन्न अत्यन्त गर्म रहें और वे सभी ब्राह्मण वाणी को संयमित किए हुए भोजन करें तथा श्राद्ध करने वाले के पूछने पर भी हवि के गुणों का कथन न करें।। २३६।।

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्यताः।
पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः।। २३७।।

यावदन्ने उष्णता भवति, यावच्च मौनिनो भुञ्जते, यावच्च हविर्गुणा नोच्यन्ते तावत्पितरोऽश्नन्तीति पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य प्रशंसा।। २३७।।

जब तक श्राद्ध-अन्न गर्म रहता है तथा जब तक ब्राह्मण मौन रहकर भोजन खाते हैं एवं जब तक हवि के गुणों को नहीं कहा जाता है, तब तक पितर भोजन करते हैं।। २३७।।

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यद्भुङ्क्ते दक्षिणामुखः।
सोपानत्कश्च यद्भुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते।।२३८।।

वस्त्रादिवेष्टितशिरा यदन्नं भुङ्क्ते, तथा दक्षिणामुखः, सपादुकश्च तद्राक्षसा भुञ्जते न पितरः। तस्मादेवं रूपं न कर्तव्यम्।। २३८।।

जो सिर पर वस्त्र लपेटकर खाया जाता है, जो दक्षिण दिशा की ओर मुख करके खाया जाता है तथा जो जूता पहनकर खाया जाता है। उसे वस्तुतः राक्षस खाते हैं।। २३८।।

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वा तथैव च।
रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेरन्नश्नतो द्विजान्।। २३९।।

चाण्डालग्राम्यसूकरकुक्कुटकुक्कुरोदक्यानपुंसका यथा ब्राह्मणान्भोजनकाले न पश्येयुस्तथा कार्यम्।। २३९।।

भोजन करते हुए ब्राह्मणों को चाण्डाल, वराह, मुर्गा, कुत्ता तथा रजस्वला स्त्री एवं नपुंसक दिखाई न देवें (ऐसा प्रयास किया जाए)।। २३९।।

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते।
दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम्।। २४०।।

यस्माद्धोमेऽग्निहोत्रादौ, प्रदाने गोहिरण्यादौ, भोज्ये स्वाभ्युदयार्थ ब्राह्मणभोजने, दैवे हविषि दर्शपौर्णमासादौ, पित्र्ये श्राद्धादौ, यदेभिर्वीक्ष्यते क्रियमाणं कर्म तद्यदर्थं क्रियते तन्न साधयति।। २४०।।

क्योंकि हवन में, दान में, भोजन में, देवकर्म अथवा पितृकर्म में जो भी इनके द्वारा देख लिया जाता है, वह सब निष्फल हो जाता है।। २४०।।

घ्राणेन सूकरो हन्ति पक्षवातेन कुक्कुटः।
श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शेनावरवर्णजः।। २४१।।

सूकरस्तदन्नादेर्गन्धं घ्रात्वा कर्म निष्फलं करोति तस्मादन्नघ्राणयोग्यदेशान्निरसनीयः। कुक्कुटः पक्षवातेन सोऽपि पक्षपवनयोग्यदेशादपगमनीयः। श्वा दर्शनेन शुनोऽन्नादिदर्शनं निषिद्धमपि दोषभूयस्त्वज्ञापनार्थं पुनरभिहितम्। अथवा दृष्टिनिपातेनेति श्राद्धकर्तृभोक्तृणां दृष्टिनिपातविषयत्वेन। अवरर्णः शूद्रस्तस्माज्जातोऽवरवर्णजः शूद्र एव। असावन्नादिस्पर्शेन द्विजातिश्राद्धं निष्फलयाति।। २४१।।

सूअर (श्राद्ध अन्न को) सूँघने से, मुर्गा पंखों की वायु द्वारा, जबकि कुत्ता दृष्टि डालकर तथा निम्नवर्ण में उत्पन्न शूद्र व्यक्ति स्पर्श करने से, नष्ट कर देता है।। २४१।।

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्।
हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः।। २४२।।

यदि गतिविकलः काणो वा दातुर्दासः शूद्रस्तस्यैव प्रेष्यत्वविधानात्। अपिशब्दादन्योऽपि शूद्रो न्यूनाधिकाङ्गुल्यादिर्वा स्यात्तदा तमपि ततः श्राद्धदेशादपसारयेत्।।२४२।।

श्राद्ध के अवसर पर यदि लँगडा हो या काणा हो, या फिर दाता का सेवक हो। अंगहीन या अतिरिक्त अङ्ग वाला (कोई भी व्यक्ति) हो, उसे भी श्राद्ध स्थल से दूर कर देना चाहिए।। २४२।।

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम्।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत्।। २४३।।

ब्राह्मणमतिथीरूपं अन्यां वा भक्षणशीलं भोजनार्थं तत्कालोपस्थितं श्राद्धपात्र-ब्राह्मणैरनुज्ञातो यथाशक्त्यन्नभोजनेन भिक्षादानेन चार्हयेत्।। २४३।।

भोजन के लिए उपस्थित हुए ब्राह्मण अथवा भिक्षुक का भी ब्राह्मणों से आज्ञा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार (भोजनादि द्वारा) उसका सम्मान करे।। २४३।।

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सन्नीयाप्लाव्य वारिणा।
समुत्सृजेद्भुक्तवतामग्रतो विकिरन्भुवि।। २४४।।

वर्णशब्दः प्रकारवाची। सर्वप्रकारमन्नादिकं व्यञ्जनादिभिरेकीकृत्योदकेनाप्लावयित्वा कृतभोजनानां ब्राह्मणानां पुरतो भूमौ "दर्भेषु विकिरश्च यः" (अ० ३ श्लो० २४५) इति वक्ष्यमाणत्वाद्दर्भोपरि निक्षिपेत्त्यजेत्।। २४४।।

सभीप्रकार के अन्नादि को एकत्र करके, उन्हें जल द्वारा भिगोकर, भोजन किए हुए ब्राह्मणों के सामने कुशाओं पर, पृथिवी पर बिखेरता हुआ छोड़ देवे।। २४४।।

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्।
उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः।। २४५।।

"नास्य कार्योऽग्निसंस्कारः" (अ० ५ श्लो० ६९) इति निषेधात्संकारानर्हबाला-नां तथा कुलस्त्रीणामदृष्टदोषाणां ये त्यक्तारस्तेषां पात्रस्थमुच्छिष्टं दर्भेषु च यो विकिरः स भागः स्यात्। अन्ये तु त्यागिनामिति गुर्वादित्यागिनां, कुलयोषितामिति स्वातन्त्र्येण तु कुलयोषितामनूढकन्यानामिति व्याचक्षते। गोविन्दराजस्तु त्यागिनां कुलयोषितामिति सामान्योपक्रमादिदं विशेषाभिधानं "संस्कृतं भक्षाः" (पा०सू० ४।२।१६) इतिवत् ततः स्वकुलं त्यक्त्वा गतानां कुलस्त्रीणामित्याह।। २४५।।

इसप्रकार कुशाओं पर जो उच्छिष्ट अन्न बिखेरा गया है, वह जिनका अग्निसंस्कार नहीं किया जाता, उन मृतबालकों का तथा दोष के बिना ही कुल स्त्रियों का परित्याग करने वालों का हिस्सा होता है।। २४५।।

उच्छेषणं भूमिगतमजिह्मस्याशठस्य च।
दासवर्गस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते।। २४६।।

उच्छिष्टं यद्भूमिगतं तद्दाससमूहस्यावक्रास्यानलसस्याकुटिलस्य च पित्र्ये श्राद्धकर्मणि भागधेयं मन्वादयो वदन्ति।। २४६।।

पितृश्राद्ध में जो भूमि पर गिरा हुआ जूठा अन्न होता है, वह सरल स्वभाव वाले, शठता से रहित दासवर्ग का हिस्सा कहा जाता है।। २४६।।

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः संस्थितस्य तु।
अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत्।। २४७।।

मार्यादायामाङ् नाभिविधौ। सपिण्डीकरणश्राद्धपर्यन्तमचिरमृतस्य द्विजातेश्च वैश्वदेवब्राह्मणभोजनरहितं श्राद्धार्थमन्नं ब्राह्मणं भोजयेत्, एकं च पिण्डं दद्यात्। अस्य च श्राद्धानुष्ठानम् "एकोद्दिष्टं दैवहीनेकार्घैकपवित्रकम्। आवाहनाग्नौकरणरहितं ह्यपसव्यवत्" (अ० १ श्लो० २५१) इति याज्ञवल्क्यादिस्मृतिष्ववगन्तव्यम्।। २४७।।

सपिण्डीकरण श्राद्ध तक कुछ समय पूर्व मरे हुए द्विजाति का ब्राह्मण भोजन रहित श्राद्ध करना चाहिए तथा एक ब्राह्मण को श्राद्धअन्न का भोजन करावे और एक ही पिण्ड का दान करे।। २४७।।

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः।
अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः।। २४८।।

अस्येति यस्येदमेकोद्दिष्टं विहितं तस्य धर्मतः स्वगृह्यादिविधिना सपिण्डीकरणश्राद्धे कृते अनयैवावृता उक्तामावास्याश्राद्धेतिकर्तव्यतया पिण्डनिर्वपणं पार्वणविधिना श्राद्धं पुत्रैः सर्वत्र मृताहादौ कर्तव्यम्। नन्वनयैवावृतेत्यनेन प्रकृतमेकोद्दिष्टमेव हि किमिति न परामृश्यते। उच्यते-तर्हि सपिण्डीकरणात्पूर्वमेकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणे कृते पुनरनयैवावृतेति भेदनिर्देशो न स्यात्। ततोऽमावास्येतिकर्तव्यतैव प्रतीयते।।२४८।।

धर्म के अनुसार इस सपिण्डीकरण क्रिया को करने के पश्चात्, इसी पार्वण श्राद्धविधि के द्वारा पुत्रों को भी पिण्डदान करना चाहिए।। २४८।।

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छति।
स मूढो नरकं यति कालसूत्रमवाक्शिराः।। २४९।।

आश्रितशूद्रायोच्छिष्टदानप्रसक्तावयं निषेधः। श्राद्धभोजनोच्छिष्टं यः शूद्राय ददाति स मूर्खः कालसूत्रं नाम नरकमधोमुखं गच्छति।। २४९।।

श्राद्धविषयक अन्न को खाकर जो उच्छिष्ट शूद्र के लिए देता है। वह मूर्ख अधोमुख होकर कालसूत्र नामक नरक में जाता है।। २४९।।

श्राद्धभुग्वृषलीतल्पं तदहर्योऽधिगच्छति।
तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्य शेरते।। २५०।।

वृषलीशब्दोऽत्र स्त्रीपर इत्याहः। निरुक्तं च "कुर्वन्ति वृषस्यन्ती चपलयति भर्ता रमिति वृषली ब्राह्मणस्य परिणीता ब्राह्मण्यपि वृषलीति"। श्राद्धं भुक्त्वा तदहोरात्रे यः स्त्रीसंप्रयोगं करोति तस्य पितरस्तस्याः पुरीषे मासं शेरत इति निवृत्त्यर्था निन्दा।। २५०।।

श्राद्ध में भोजन करने वाला जो ब्राह्मण उसी दिन वृषली की शय्या पर

जाता है। उसके पितर उस स्त्री के पुरीष (विष्ठा) में एक माह तक शयन करते हैं।। २५०।।

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः।
आचान्तांश्चानुजानीयादभि भो रम्यतामिति।। २५१।।

तृप्तान्ब्राह्मणान्बुध्वा स्वदितमिति पृष्ट्वा तेषामाचमनं कारयेत्। कृताचमनांश्च भो इति संबोध्याभिरम्यतामिति ब्रूयात्। अभित इति पाठे अभित उभयत इह वा स्वगृहे वास्यतामित्यर्थः।। २५१।।

तृप्त हुए उन ब्राह्मणों से 'भोजन कर लिया' इसप्रकार पूछकर, तत्पश्चात् उन्हें आचमन कराना चाहिए तथा आचमन किये हुए उनसे 'अरे! आप लोग आराम कीजिए', इसप्रकार कहना चाहिए।। २५१।।

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्।
स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु।। २५२।।

अनुज्ञानन्तरं ब्राह्मणाः श्राद्धकर्तारं स्वधास्तु इति ब्रूयुः। यस्मात्सर्वेषु श्राद्धतर्पणादिपितृकर्मसु स्वधाशब्दोच्चारणं प्रकृष्टा आशीः।।२५२।।

तत्पश्चात् वे ब्राह्मण 'स्वधाऽस्तु' इसप्रकार उस श्राद्धकर्ता से कहें, क्योंकि सभी पितृकार्यों में 'स्वधाकार' सर्वोत्कृष्ट आशीर्वाद होता है।। २५२।।

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्।
यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः।। २५३।।

स्वधाशब्दोच्चारणानन्तरं कृतभोजनानां ब्राह्मणानां शेषमन्नमप्यस्तीत्यवशिष्टमन्नं निवेदयेत् तैर्ब्राह्मणैरिदमनेनान्नेन क्रियतामित्यनुज्ञातो यथा ते ब्रूयुस्तथान्नशेषविनियोगं कुर्यात्।। २५३।।

उसके बाद बचे हुए अन्न के विषय में, भोजन किए हुए उन ब्राह्मणों से निवेदन करे। तब ब्राह्मणों से आज्ञा प्राप्त हुआ वह (जैसा ब्राह्मण कहें) वैसा ही करे।। २५३।।

इदानीं प्रसङ्गाच्छ्राद्धान्तरेषु विशेषविधिमाह–

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम्।
संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि।। २५४।।

पित्र्ये निरपेक्षपितृमातृदेवताक एकोद्दिष्टश्राद्धे तृप्तिप्रश्नार्थं स्वदितमिति वाच्यम्। तथाच गोभिलसांख्यायनौ स्वदितमिति तृप्तिप्रश्नः। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु श्राद्धकालागतेनान्नेनापि स्वदितमित्येव कर्तव्यमिति व्याचक्षतुः। "श्राद्धे स्वदितमित्येतद्वाच्यमन्येन

केनचित्। नानुरुद्धमिदं विद्वद्वद्धैर्न श्रद्दधीमहि"। गोष्ठे गोष्ठीश्राद्धे सुश्रुतमिति वाच्यम्। "गोष्ठ्यां शुद्ध्यर्थमष्टमम्" इति द्वादशविधश्राद्धगणनायां गोष्ठीश्राद्धमपि विश्वामित्रेण पठितम्। अभ्युदये वृद्धिश्राद्धे संपन्नमिति वाच्यम्। दैवे देवतोद्देशेन श्राद्धे रुचितमिति वचनीयम्। दैवश्राद्धं तु भविष्यपुराणोक्तम्-"देवानुदिश्य यच्छ्राद्धं तत्तु दैविकमुच्यते। हविष्येण विशिष्टेन सप्तम्यादिषु यत्नतः"।। २५४।।

पितृकार्य में 'स्वदितम्' (भोजन कर लिया), गोष्ठी में 'सुश्रुतम्' (भली प्रकार सुन लिया) तथा अभ्युदयकार्य मे 'सम्पन्नम्' (सम्पन्न हो चुका) और देवकार्य में 'रुचितम्' (अच्छा लगा) इसप्रकार ही कहना चाहिए।। २५४।।

अपराह्णस्तथा दर्भा वास्तुसंपादनं तिलाः।
सृष्टिर्मृष्टिर्द्विजाश्चाग्र्याः श्राद्धकर्मसु संपदः।। २५५।।

अमावस्याश्राद्धस्य प्रकृतत्वात्तद्विषयोऽयमपराह्णकालः "प्रातर्वृद्धिनिमित्तकम्" इत्यादिना वृद्धिश्राद्धादौ स्मृत्यन्तरे प्रातःकालदिविधानात्। विष्टराद्यर्था दर्भाः, गोमयादिना श्राद्धदेशसंशोधनं, तिलाश्च विकिरणाद्यर्थाः, सृष्टिरकार्पण्येनान्नादिविसर्गः, मृष्टिरन्नादेश्च संस्कारविशेषः, पङ्क्तिपावनादयश्च ब्राह्मणाः, एता श्राद्धे संपत्तय इत्यभिधानादङ्गान्तरापेक्षं प्रकृष्टत्वमेषां बोधितम्।। २५५।।

अपराह्ण का समय, कुशा, गोबर आदि से शुद्ध किया गया स्थान, तिल, दान, अन्नादि की शुद्धि तथा श्रेष्ठब्राह्मण, ये सभी श्राद्धकर्म में सम्पत्तियाँ हैं।। २५५।।

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्णो हविष्याणि च सर्वशः।
पवित्रं यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसंपदः।। २५६।।

पवित्रं मन्त्राः पूर्वाह्णः कालः, हविष्याणि मुन्यन्नादीनि सर्वाणि च, यच्च पवित्रं पावनं वास्तुसंपादनादि पूर्वमुक्तं एताश्च देवार्थस्य कर्मणः समृद्धयः। हव्यशब्दो कर्मोपलक्षणार्थः।। २५६।।

कुशा, मन्त्र, दोपहर से पहले का समय, सभीप्रकार के हविष्यान्न तथा जो पहले पवित्र वस्तुएँ कही जा चुकी हैं, उन सबको हविष्य की सम्पत्तियाँ समझना चाहिए।। २५६।।

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्।
अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते।। २५७।।

मुनेर्वानप्रस्थस्यान्नानि नीवारादीनि, पयः क्षीरं, सोमलतारसः, अनुपस्कृतमविकृतं

पूतिगन्धादिरहितं मांसम्, अक्षारलवणमकृत्रिमलवणं सैन्धवादि, एतत्स्वभावतो हविर्मन्वादिभिरभिधीयते।। २५७।।

(नीवार, कोदो, सावाँ इत्यादि) मुनियों के अन्न, दूध, सोमरस तथा दुर्गंध एवं विकाररहित जो मांस, सैन्धा नमक ही स्वभाव से हवि कहे गए हैं।। २५७।।

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचिः।
दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितॄन्।। २५८।।

तान्ब्राह्मणान्विसृज्यानन्यमनाः मौनी पवित्रो दक्षिणां दिशं वीक्षमाण एतान्वक्ष्यमाणानभिलषितानर्थान्पितॄन्प्रार्थयेत्।। २५८।।

श्राद्ध करने वाला व्यक्ति उन ब्राह्मणों को विदा करके, एकाग्रचित होकर, वाणी को नियन्त्रित करके, पवित्र होकर, दक्षिण दिशा की ओर मुख करके, पितरों से इन श्रेष्ठवरों की याचना करे।। २५८।।

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च।
श्रद्धा च नो माव्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्त्विति।। २५९।।
(अन्नं च नो बहुभवेदतिथींश्च लभेमहि।
याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन।। १२।।
श्राद्धभुक् पुनरश्नाति तदहर्यो द्विजाधमः।
प्रयाति शूकरीं योनिं कृमिर्वा नात्र संशयः।। १३।।)

अस्मत्कुले दातारः पुरुषा वर्धन्ताम्। वेदाश्चाध्ययनाध्यापनतदर्थबोधतदर्थयागाद्यनुष्ठानैर्वृद्धिमाप्नुवन्तु। पुत्रपौत्रादिकं च वर्धताम्। वेदार्थश्रद्धा चास्मत्कुले न व्यपैतु। दातव्यं च धनादिकं बहु भवतु।। २५९।।

हमारे वंश में दाताओं की, वेदों की, तथा सन्तानों की अभिवृद्धि हो तथा हमारी श्रद्धा दूर न होवे, साथ ही हमारे पास देने योग्य बहुत सा धन होवे।। २५९।।

(हमारे कुल में हुत अन्न होवे तथा हम (सदैव) अतिथियों को प्राप्त करते रहें। हमसे याचना करने वाले बहुत से होवें, किन्तु हम किसी से याचना न करें।। १२।।

श्राद्ध के अन्न को खाया हुआ जो नीच ब्राह्मण उसी दिन फिर से भोजन करता है। वह सूअर अथवा कृमि की योनि को प्राप्त होता है। इसमें (लेश) मात्र भी संशय नहीं है।। १३।।)

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्।
गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत्।। २६०।।

एवमुक्तप्रकारेण पिण्डानां प्रदानं कृत्वा प्रकृतवरयाचनानन्तरं तान्पिण्डान् गां ब्राह्मणं छागं वा भोजयेत्, अग्नौ जले वा क्षिपेत्।।२६०।।

इसप्रकार पिण्डदान करके, तत्पश्चात् उन पिण्डों को गाय, ब्राह्मण या बकरे को खिला देवे अथवा उन्हें अग्नि या जलों में डाल देना चाहिए।। २६०।।

पिण्डनिर्वपणं केचित्पुरस्तादेव कुर्वते।
वयोभिः खादयन्त्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा।। २६१।।

पिण्डप्रदानं केचिदाचार्या ब्राह्मणभोजनानन्तरं कुर्वते अन्ये पक्षिभिः पिण्डान्खादयन्ति। इयं च पक्षिभोजनरूपा प्रतिपत्तिरग्न्युदकप्रक्षेपयोर्वैकल्पिकीति दर्शयितुमुक्तयोरप्यभिधानम्।। २६१।।

कुछ विद्वान् ब्राह्मणभोजन के बाद ही पिण्डों का निर्वापण करते हैं। दूसरे आचार्य पक्षियों को खिलवाते हैं तथा अन्य अग्नि या जलों में डालते हैं।। २६१।।

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूतजनत्परा।
मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक्सुतार्थिनी।। २६२।।

धर्मार्थकामेषु मनोवाक्कायकर्मभिः पतिरेव मया परिचरणीय इति व्रतं यस्याः सा पतिव्रता, धर्मपत्नी सवर्णा प्रथमोढा श्राद्धक्रियाणां श्रद्धाशालिनी पुत्रार्थिनी तषां पिण्डानां मध्यमं पितामहपिण्डं भक्षयेत्सम्यक् "आधत्त पितरो गर्भम्" इत्यादिगृह्योक्तमन्त्रेण।। २६२।।

तत्पश्चात् पितरों के पूजन में लगी हुई, पुत्रप्राप्ति की इच्छुक, पतिव्रता, धर्मपत्नी उनमें से मध्यम पिण्ड को विधिपूर्वक खा लेवे।। २६२।।

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्।
धनवन्तं प्रजावन्तं सात्विकं धार्मिकं तथा।। २६३।।

तेन पिण्डभक्षणेन दीर्घायुषं कीर्तिधारणात्मकबुद्धियुक्तं धनपुत्रादिसंततिधर्मानुष्ठानसत्त्वाख्यगुणान्वितं पुत्रं जनयति।। २६३।।

वैसा करने पर वह आयुष्मान् , यशस्वी, बुद्धिमान् , धनवान् , पुत्रपौत्रादि सन्तति से सम्पन्न, सात्विक और धर्मात्मा पुत्र को उत्पन्न करती है।। २६३।।

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रायं प्रकल्पयेत्।
ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बान्धवानपि भोजयेत्।। २६४।।

तदनु हस्तौ प्रक्षाल्य ज्ञातिप्रायमन्नं कुर्यात्। ज्ञातीन्प्रैति गच्छतीति ज्ञातिप्रायम्। कर्मण्यण्। ज्ञातीन्भोजयेदित्यर्थः। तेभ्यः पूजापूर्वकमन्नं दत्त्वा मातृपक्षानपि सार्हणं भोजयेत्।। २६४।।

तत्पश्चात् दोनों हाथ धोकर, आचमन करके परिवार वालों को भोजन करावे। परिवारवालों को सत्कृत करके, बन्धुबान्धवों को भी भोजन कराना चाहिए।। २६४।।

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः।
ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः।। २६५।।

तद्ब्राह्मणोच्छिष्टं तावत्कालं तिष्ठेत् यावद्ब्राह्मणानां विसर्जनं ब्राह्मणेषु तु निर्गतेषु मार्ष्टव्यमित्यर्थः। ततः संपन्ने श्राद्धकर्मणि वैश्वदेवबलिहोमकर्मनित्यश्राद्धातिथिभोजनानि कर्तव्यानि। बलिशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्। अतएव मत्स्यपुराणे- "निवृत्त्य प्रतिपत्त्यर्थं पर्युक्ष्याग्निं च मन्त्रवित्। वैश्वदेवं प्रकुर्वीत नैत्यकं विधिमेव च" इति।। २६५।।

जब तक भोजन करने वले ब्राह्मण नहीं चले जावें, तब तक उनका उच्छिष्ट पड़ा रहने दे। तत्पश्चात् गृहबलि करे, यही धर्म की व्यवस्था है।। २६५।।

यैश्चान्नैरिति पूर्वमुक्तमपि व्यवधानादबुद्धिस्थं शिष्यसुखप्रतिपत्तये पुनर्वक्तव्यतया प्रतिजानीते-

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते।
पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः।। २६६।।

चिररात्रायपदमव्ययं चिरकालवाचि। अतएव "चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चि-रार्थकाः" (अमरकोषेऽव्ययवर्गे श्लो० १) इत्याभिधानिकाः। यद्यद्धविः पितृभ्यो यथाविधि दत्तं चिरकालतृप्तयेऽनन्ततृप्तये च संपद्यते तन्निःशेषेणाभिधास्यामि।। २६६।।

पितरों के लिए विधिपूर्वक प्रदान की गई जो हवि चिरकाल तक अनन्त फल के लिए होती है। उसे मैं अब पूर्णरूप से कहूँगा।। २६६।।

तिलैर्व्रीहियवैर्माषैरद्भिर्मूलफलेन वा।
दत्तेन मासं तृप्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम्।। २६७।।

तिलधान्ययवमाषजलमूलफलानामन्यतमेन यथाशास्त्रं श्रद्धया श्रद्धया दत्तेन मनुष्याणां मासं पितरस्तृप्यन्ति। "कृष्णा माषास्तिलाश्चैव श्रेष्ठाः स्युर्यवशालयः" इति वायुपुराणवचनान्माषैरिति कृष्णमाषा बोद्धव्याः।। २६७।।

तिल, धान्य, यव, उडद, जल, मूल, अथवा फल के विधिपूर्वक देने से मनुष्यों के पितर एक माह तक तृप्त होते हैं।। २६७।।

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै।। २६८।।

पाठीनादिमत्स्यानां मांसेन द्वौ मासौ पितरः प्रीयन्त इति पूर्वेण संबन्धः। त्रीन्मासान्हारिणेन मांसेन, चतुरो मेषमांसेन, पञ्च द्विजातिभक्ष्यपक्षिमांसेन।। २६८।।

इसके अतिरिक्त मछली के मांस से दो महीने तक, हरिण के मांस से तीन महीने तक तथा भेड़ के मांस से चार और पक्षियों के मांस से पाँच महीनों तक (तृप्त होते हैं)।। २६८।।

षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु।। २६९।।
(अष्टावैणेयमांसेन पार्षतेनाथ सप्त वै।
अष्टावैणेयमांसेन रौरवण नवैव तु।। १४।।)

षण्मासांश्छागमांसेन प्रीयन्ते, पृषतश्चित्रमृगस्तन्मांसेन सप्त, एणमांसेनाष्टौ, रुरुमांसेन नव। एणरुरू हरिणजातिविशेषौ।। २६९।।

साथ ही बकरे के मांस से छः महीनों तक, चितकबरे हरिण के मांस से सात महीनों तक, एण मृग के मांस से आठ, जबकि रुरु मृग के मांस से नौ माह तक (तृप्त रहते हैं)।। २६९।।

(एण नामक मृग के मांस से आठ, पृषत् (चितकबरे) नामक मृग के मांस से सात, ऐणेय नामक मृग के मांस से आठ, जबकि रुरु मृग के मांस से नौ महीने तक पितर तृप्त रहते हैं।। १४।।)

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु।। २७०।।

दशमासानारण्यसूकरमहिषमांसैस्तृप्यन्ति, एकादश शशकच्छपमांसेन।।२७०।।

सुअर तथा भैसे के मांस से तो दस महीने तक, जबकि खरगोश और कछुए के मांस से ग्यारह महीने तक पितर तृप्त रहते हैं।। २७०।।

संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी।। २७१।।

(त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणमजापूर्वानुगामिनम्।
तं वै वार्ध्रीणसं विद्यात् वृद्धं शुक्लमजापतिम्।। १५।।)

वर्षं पुनर्गोभवक्षीरेण तत्साधितोदनेन च तुष्यन्ति। तत्रैव पायसशब्दप्रसिद्धेः। वार्ध्रीणसस्य मांसेन द्वादशवर्षपर्यन्तं पितृतृप्तिर्भवति। वार्ध्रीणसश्च निगमे व्याख्यातः- "त्रिपिबं त्विन्द्रियक्षीणं श्वेतं वृद्धमजापतिम्। वार्धीणसं तु तं प्राहुर्याज्ञिकाः पितृकर्मणि"। नद्यादौ पयः पिबतो यस्य त्रीणि जलं स्पृशन्ति कर्णौ जिह्वा च, त्रिभिः पिबतीति त्रिपिबः।। २७१।।

जबकि गाय के दूध तथा दूध से बने पदार्थों द्वारा एक वर्ष तक तथा वार्ध्रीणस नाम के बकरे के मांस से बारह वर्ष तक पितरों की तृप्ति होती है।। २७१।।

(जल पीते समय जिसके दोनों कान तथा जीभ जल का स्पर्श करे, इन्द्रियों की क्षीणशक्ति वाले, पूर्वकाल में बकरियों का अनुगमन करने वाले, श्वेत रंग से युक्त बूढ़े को निश्चय ही 'वार्ध्रीणस' समझना चाहिए।। १५।।)

कालशाकं महाशल्काः खड्गलोहामिषं मधु।
आनन्त्यायैव कल्प्यन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः।। २७२।।

कालशाकाख्यं शाकम्। महाशल्काः सशल्का इति मेधातिथिः। मत्स्यविशेषा इति युज्यन्ते। "महाशल्कलिनो मस्त्याः" इति वचनात्। खड्गो गण्डकः। लोहो लोहितवर्णश्छाग एव "छागेन सर्वलोहेनानन्त्यम्" इति पैठीनसिवचनात्तयोरामिषम, मधु माक्षिकम्, मुन्यन्नानि नीवारादीन्यारण्यानि सर्वाणि, एतान्यनन्ततृप्तये संपद्यन्ते।। २७२।।

कालशाक, महाशल्क, गेंडा, लाल रंग के बकरे का मांस, शहद तथा सब प्रकार के सावाँ, कोदो आदि मुनियों के अन्न, पितरों को अनन्तकाल तक तृप्ति प्रदान करने में समर्थ होते हैं।। २७२।।

यत्किंचिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात्तु त्रयोदशीम्।
तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च।। २७३।।

ऋतुनक्षत्रतिथीनामयं समुच्चयः। यत्किंचिदित्यप्रसिद्धं मधुसंयुक्तं वर्षाकाले मघात्रयोदश्यां दीयते तदप्यक्षयमेव भवति। त्रयोदश्या अधिकरणत्वेऽपीप्सि-तत्वविवक्षया प्राप्येत्यध्याहाराद्वा द्वितीया।। २७३।।

इसके अतिरिक्त वर्षाऋतु में मघानक्षत्र तथा त्रयोदशी होने पर, मधु में

मिलाकर जो कुछ भी पितरों को प्रदान किया जाए। वह भी उनकी अक्षयतृप्ति के लिए होता है।। २७३।।

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।
पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च।। २७४।।

वर्षासु मघायुक्तत्रयोदशी पूर्वोक्ता विवक्षिता। तत्रापि "प्रौष्ठपद्यामतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम्। प्राप्य श्राद्धं हि कर्तव्यं मधुना पायसेन च" इति शङ्खवचनाद्भाद्र-कृष्णत्रयोदशी पूर्वत्रेह च गृह्यते। पितरः किलैवमाशासते अपि नाम तथाविधः कश्चिदस्माकं कुले भूयात् योऽस्मभ्यं प्रकृतायां त्रयोदश्यां तथा तिथ्यन्तरेऽपि हस्तिनः पूर्वां दिशं गतायां छायायां मधुघृतसंयुक्तं पायसं दद्यात्। नतु त्रयोदशीहस्तिच्छाययोः समुच्चयः। यथाह विष्णुः—"अपि जायेत सोऽस्माकं कुले कश्चिन्नरोत्तमः। प्रावृट्कालेऽसिते पक्षे त्रयोदश्यां समाहितः। मधुप्लुतेन यः श्राद्धं पायसेन समाचरेत्।। कार्तिकं सकलं वापि प्राक्छाये कुञ्जरस्य च"।। २७४।।

पितरों की इच्छा होती है कि हमारे कुल में कोई भी ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हो, जो त्रयोदशी की तिथि में अथवा हाथी की छाया के पूर्व में होने पर, हमें श्राद्ध में शहद तथा घी के साथ पायस (खीरादि) प्रदान करे।। २७४।।

यद्यद्ददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः।
तत्तत्पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम्।। २७५।।

यद्यदिति विप्सायाम्। सर्वमन्नमप्रतिषिद्धं यथाशास्त्रं सम्यग्रूपं श्रद्धायुक्तः पितृभ्यो ददाति तदनन्तकं सर्वकालमक्षयमनपचितं परलोके पितृतृप्तये भवति। अतस्तत्फलार्थिना श्रद्धया देयमिति विधीयते।। २७५।।

श्रद्धा से युक्त हुआ व्यक्ति विधिपूर्वक ठीकप्रकार से जो-जो भी पितरों को प्रदान करता है। वह-वह पितरों के लिए परलोक में अक्षय-तृप्ति प्रदान करने वाला होता है।। २७५।।

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम्।
श्राद्धे प्रशस्तास्तिथयो यथैता न तथेतराः।। २७६।।

कृष्णपक्षे दशमीमारभ्य चतुर्दशीं त्यक्त्वा श्राद्धे यथा तिथयः श्रेष्ठा महाफला न तथैतदन्याः प्रतिपदादयः।। २७६।।

कृष्णपक्ष में दशमी से लेकर चतुर्दशी तक की तिथियों को छोड़कर, शेष तिथियाँ श्राद्ध में जैसी पवित्र मानी गई हैं, वैसी अन्य तिथियाँ नहीं।। २७६।।

युक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते।
अयुक्षु तु पितॄन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम्।। २७७।।

दिनशब्दोऽत्र तिथिपरः। युक्षु युग्मासु तिथिषु द्वितीयाचतुर्थ्यादिषु युग्मनक्षत्रेषु भरणीरोहिण्यादिषु श्राद्धं कुर्वन्सर्वाभिलषितान्प्राप्नोति। अयुग्मासु तिथिषु प्रतिपत्तृतीयाप्रभृतिषु, अयुग्मेषु च नक्षत्रेष्वश्विनीकृत्तिकादिषु श्राद्धेन पितृन्पूजयन्पुत्रादिसंततिं लभते। पुष्कलां धनविद्यापरिपुष्टाम्।। २७७।।

सम दिन तथा नक्षत्रों में पितृकार्य सम्पादित करने से व्यक्ति सभी कामनाओं को प्राप्त करता है, जबकि विषम दिन और नक्षत्रों में पितरों की पूजा से पुरुष धन एवं विद्या से सम्पन्न सन्तति को प्राप्त करता है।। २७७।।

यथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते।
तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते।। २७८।।

चैत्रसिताद्या मासा इति ज्योतिःशास्त्रविधानाच्छुक्लपक्षोपक्रमत्वान्मासानां अपरः पक्षः कृष्णपक्षः स यथा शुक्लपक्षात् श्राद्धस्य संबन्धी विशिष्टफलदो भवति, एवं पूर्वार्धदिवसादुत्तरार्धदिवसः प्रकृष्टफलो विशिष्यत इति वाचनात्पूर्वाह्णेऽपि श्राद्धकर्तव्यतां बोधयति।। ननु शुक्लपक्षादनुक्तोत्कर्षस्यापरपक्षस्य कथं दृष्टान्तता। प्रसिद्धो हि दृष्टान्तो भवति। उच्यते। ''कृष्णपक्षे दशम्यादौ'' (अ० ३ श्लो० २७६) इत्यत्रैव विशिष्टविधातुत्कर्षाभिधानात्।। २७८।।

जिसप्रकार श्राद्धकर्म में कृष्णपक्ष शुक्लपक्ष की अपेक्षा विशेषमहत्त्व रखता है। उसीप्रकार श्राद्ध के लिए पूर्वाह्ण की अपेक्षा अपराह्ण का समय विशिष्ट होता है।। २७८।।

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा।
पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना।। २७९।।

दक्षिणसंस्थितयज्ञोपवीतेनानलसेन दर्भहस्तेन अपसव्यं पितृतीर्थेन यथाशास्त्रं सर्वं पितृसंबन्धि कर्म आनिधनादासमाप्तेः कर्तव्यम्। आनिधनाद्यावज्जीवमिति मेधातिथिगोविन्दराजौ।। २७९।।

प्राचीन-आवीती आलस्यरहित अपसव्य होकर, हाथ में कुशा लेकर, मृत्यु पर्यन्त विधिपूर्वक पितृकार्य सम्पादित करे।। २७९।।

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा।
संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदिते।। २८०।।

(कुर्वन्प्रतिपदि श्राद्धं स्वरूपां लभते प्रजाम्।
कन्यकाश्च द्वितीयायां तृतीयायां तु वाजिनः।। १६।।
पशून् क्षुद्रांश्चतुर्थ्यां तु पञ्चम्यां शोभनान्सुतान्।
षष्ठ्यां दूतमवाप्नोति सप्तम्यां लभते कृषिम्।। १७।।
अष्टम्यामपि वाणिज्यं लभते श्राद्धदो नरः।
नवम्यां वै चैकशफान् दशम्यां द्विखुरान्बहून्।। १८।।
एकादश्यां तथा रौप्यं ब्रह्मवर्चस्विनः सुतान्।
द्वादश्यां जातरूपं च रजतं कुप्यमेव च।। १९।।
ज्ञातिश्रैष्ठ्यं त्रयोदश्यां चतुर्दश्यां तु कुप्रजाः।
प्रीयन्ते पितरऽश्चास्य ये च शस्त्रहता रणे।। २०।।
पक्षाद्यादिषु निर्दिष्टान् विपुलान् मनसः प्रियान्।
श्राद्धदः पञ्चदश्या च सर्वान्कामान्समश्नुते।। २१।।)

रात्रौ श्राद्धं न कर्तव्यम्। यस्माच्छ्राद्धविनाशनगुणयोगाद्राक्षसी मन्वादिभिरसौ कथिता। संध्ययोश्च न कुर्यात्। आदित्ये चाचिरोदिते अचिरोदितादित्यकालश्चापेक्षायां त्रिमुहूर्तः प्रातःकालो ग्राह्यः। यथोक्तं विष्णुपुराणे-"रेखाप्रभृत्यथादित्ये त्रिमुहूर्तं गते रवौ। प्रातस्ततः स्मृतः कालो भागः सोऽह्नस्तु पञ्चमः।।" अपराह्णस्य श्राद्धाङ्गतया विधानात्कथमयमप्रसक्तप्रतिषेध इति चेत्। नायं प्रतिषेधः। स हि रागप्राप्तस्य वा स्याद्विधिप्राप्तस्य वा। नाद्यः। नात्र रागतो नित्यस्य दर्शश्राद्धस्य प्राप्तत्वाद्विधिप्राप्तस्य निषेधे षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्पः स्यात्। तस्मात्पर्युदासोऽयम्। रात्र्यादि-पर्युदस्तेतरकाले श्राद्धं कुर्यात्। अनुयाजेतरयजतिषु " ये यजामहे" इति मन्त्रवत्। अपराह्णविधिश्च प्राशस्त्यार्थः अत एवोक्तम् "यथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णादपराह्णो विशिष्यते" (अ० ३ श्लो० २७८) इति।। २८०।।

रात्रि में श्राद्ध नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह राक्षसीक्रिया कही गई है। दोनों संध्याओं में तथा सूर्य के शीघ्र उदित होने पर (प्रातःकाल में) भी श्राद्ध नहीं करना चाहिए।। २८०।।

(प्रतिपदा में श्राद्ध करने वाला व्यक्ति सुन्दर सन्तति प्राप्त करता है। द्वितीया में कन्या तथा तृतीया में श्राद्ध करने पर तो घोड़े के समान पुत्र की प्राप्ति होती है।। १६।।

इसके अतिरिक्त चतुर्थी में श्राद्ध करके व्यक्ति छोटे पशुओं को, पञ्चमी में

सुन्दर पुत्रों को तथा षष्ठी में श्राद्ध करने पर दूत को प्राप्त करता है और सप्तमी में वह खेती प्राप्त करता है।। १७।।

अष्टमी में श्राद्ध करके व्यक्ति व्यापार को प्राप्त करता है। नवमी में एक खुर वालों को तथा दशमी में श्राद्धकर्म करके दो खुर वाले बहुत से पशुओं को निश्चय ही प्राप्त करता है।। १८।।

एकादशी में चाँदी तथा ब्रह्मतेजयुक्त पुत्रों को तथा द्वादशी में श्राद्ध करके सोना और सोना-चाँदी मिश्रित पदार्थों को प्राप्त करता है।। १९।।

त्रयोदशी में श्राद्ध करके जातियों में श्रेष्ठता, जबकि चतुर्दशी में निन्दित सन्तति को प्राप्त करता है। साथ ही जो पितर युद्ध में शस्त्र द्वारा मारे गये हों वे चतुर्दशी में श्राद्ध करने पर प्रसन्न होते हैं।। २०।।

पक्ष की प्रारम्भिक तिथि में श्राद्ध करने वाला व्यक्ति, मन को अच्छी लगने वाली, अब तक बताई गई अनेक वस्तुओं को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त पञ्चदशी को श्राद्ध करने वाला व्यक्ति सभी कामनाओं को प्राप्त करता है।। २१।।)

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत्।
हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम्।। २८१।।

"कुर्यान्मासानुमासिकम्" (अ० ३ श्लो० १२२) इति प्रतिमासं श्राद्धं विहितं तदसंभवे विधिरयं चतुर्भिर्मासैर्ऋतुरेकः एकस्तु ऋतुः संवत्सर इतीमं पक्षमाश्रित्योच्यते। अनेनोक्तविधानेन संवत्सरमध्ये त्रीन्वारान्हेमन्तग्रीष्मवर्षासु श्राद्धं कर्तव्यम्। तच्च समयाचारात्कुम्भवृषकन्यास्थेऽर्के पञ्चमहायज्ञान्तर्गतं च "एकमप्याशयेद्विप्रम्" (अ० ३ श्लो० ८३) इत्यनेन विहितं प्रत्यहं तु कुर्यादिति पूर्वोक्तदार्ढ्यार्थम्।। २८१।।

इसप्रकार इसविधि से हेमन्त, ग्रीष्म तथा वर्षा इन तीन ऋतुओं में व्यक्ति वर्ष में तीन बार श्राद्धकर्म करे तथा प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ सम्पादित करे।। २८१।।

न पैतृयज्ञियो होमो लौकिकेऽग्नौ विधीयते।
न दर्शेन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः।। २८२।।

"अग्नेः सोमयमाभ्यां च" (अ० ३ श्लो०२११) इत्यनेन विहितपितृयज्ञाङ्गभूतो होमो न लौकिके श्रौतस्मार्तव्यतिरिक्ताग्नौ शास्त्रेण विधीयते। तस्मान्न लौकिकाग्नावग्नौकरणहोमः कर्तव्यः। निरग्निना तु "अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणौ" (अ० ३ श्लो० २१२) इत्यभिधानाद्विप्रपाण्यादौ करणीयः। आहिताग्नेर्द्विजस्य

नामावस्याव्यतिरेकेण कृष्णपक्षे दशम्यादौ श्राद्धं विधीयते मृताहश्राद्धं तु नियतत्वात्कृष्णपक्षेऽपि तिथ्यन्तरे न निषिध्यते।। २८२।।

लौकिक अग्नि में पितृयज्ञविषयक होम का विधान नहीं किया गया है। अग्निहोत्री ब्राह्मण को अमावस्या के न होने पर श्राद्धकर्म नहीं करना चाहिए।। २८२।।

यदेव तर्पयत्यद्भिः पितृन्स्नात्वा द्विजोत्तमः।
तेनैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम्।। २८३।।

पाञ्चयज्ञिकश्राद्धासंभवे विधिरयम्। यत्र स्नानानन्तरमुदकतर्पणं द्विजः करोति तेनैव सर्वं नित्यश्राद्धफलं प्राप्नोति। द्विजोत्तमपदं द्विजपरम्।। २८३।।

स्नान करके श्रेष्ठब्राह्मण जल द्वारा जो पितरों को तर्पण करता है, उसके द्वारा ही वह सम्पूर्ण पितृयज्ञविषयक क्रियाओं के फलों को प्राप्त कर लेता है।। २८३।।

वसून्वदन्ति तु पितॄन्रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी।। २८४।।

यस्मात्पित्रादयो वस्वादय इत्येषामनादिभूता श्रुतिरस्ति। अतः पितृन्वस्वाख्य-देवान्पितामहान् रुद्रान्प्रपितामहानादित्यान्मन्वादयो वदन्ति। ततश्च सिद्धबोधनेनै-वार्थ्याच्छ्राद्धे पित्रादयो वस्वादिरूपेण ध्येया इति विधिः कल्प्यते। अतएव पैठीनसिः- ''य एवं विद्वान्पितॄन्यजते वसवो रुद्रा आदित्याश्चास्य प्रीता भवन्ति''। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु ''पितृद्वेषान्नास्तिक्याद्वा यः पितृकर्मणि न प्रवर्तते तं प्रत्येतत्प्रवर्तनार्थं देवतात्वाध्यारोपेण पितृणां स्तुतिवचनम्''।। २८४।।

(विद्वान् लोग) पिता को वसु, पितामह को रुद्र तथा प्रपितामह को आदित्य कहते हैं। यही सनातन श्रुति है।। २८४।।

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम्।। २८५।।

सर्वदा विघसभोजनः स्यात्सर्वदा चामृतभोजनो भवेत्। विघसामृतपदयोरप्रसिद्ध-त्वादर्थं व्याकुरुते। विप्रादिभुक्तशेषं विघस उच्यते। दर्शपौर्णमासादियज्ञशिष्टं पुरोडाशाद्यमृतम्। सामान्याभिधानेऽपि प्रकृतत्वाच्छ्राद्धे विप्रभुक्तशेषभोजनार्थोऽयं विधिः। अतएव ''भुञ्जीतातिथिसंयुक्तः सर्वं पितृनिषेवितम्'' इति स्मृत्यन्तरम्। अतिथ्यादि-विशेषभोजनं तु ''अवशिष्टं तु दम्पती'' (अ० ३ श्लो० ११६) इत्यनेनैव

विहितम्। तस्यैव यज्ञशेषतुल्यत्वापादनेन स्तुत्यर्थं पुनर्वचनमिति तु गोविन्दराजव्याख्यान-मनुष्ठानविशेषानर्हमप्राकरणिकं च।। २८५।।

व्यक्ति को हमेशा 'विघस' खाने वाला होना चाहिए अथवा उसे हमेशा 'अमृत' का भोजन करने वाला होना चाहिए। ब्राह्मणों के खाने से बचे हुए अन्न को 'विघस', जबकि यज्ञ से बचा हुआ अन्न (हविष्य) अमृत होता है।। २८५।।

एतद्वोऽभिहितं सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम्।
द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति।। २८६।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां तृतीयोऽध्यायः।। ३।।

इदं पञ्चयज्ञभवमनुष्ठानं सर्वं युष्माकमुक्तम्। पार्वणश्राद्धव्यवहितैरपि पञ्चयज्ञैरुप-संहारस्तेषामभ्यर्हितत्वज्ञापनार्थः। मङ्गलार्थ इति तु मेधातिथिगोविन्दराजौ। इदानीं द्विजानां मुख्यो ब्राह्मणस्तस्य वृत्तीनामृतादीनामनुष्ठानं श्रूयतामिति वक्ष्यमाणाध्यायैक-देशोपन्यासः।। २८६।। क्षे० २१।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ तृतीयोऽध्यायः।। ३।।

इस पञ्चमहायज्ञ विषयक सम्पूर्ण विधान को मैंने आप लोगों से कहा। अब आप मुझसे द्विजातियों की मुख्यवृत्तियों के विधान का श्रवण कीजिए।। २८६।।

।। इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र में महर्षिभृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार डॉ. राकेश शास्त्री द्वारा किया गया मनुस्मृति तृतीय अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्राद्धकल्पानन्तरं "वृत्तीनां रक्षणं चैव" (अ० १ श्लो०११३) इति वृत्तिषु व्यक्ततया प्रतिज्ञातासु वृत्त्यधीनत्वाद्गार्हस्थ्यस्यानन्तरं वक्तव्यासु ब्रह्मचर्यपूर्वकमेव गार्हस्थ्यं तत्रैव वक्ष्यमाणा वृत्तय इति दर्शयितुं ब्रह्मचर्यकालं गार्हस्थ्यकालं चात्र वदति–

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।। १।।

चतुर्थमायुषो भागमाद्यमित्युक्तं ब्रह्मचर्यकालोपलक्षणार्थम्। अनियतपरिमाणत्वा-दायुषश्चतुर्थभागस्य दुर्ज्ञानत्वात्। नच "शतायुर्वै पुरुषः" इति श्रुतेः पञ्चविंशतिवर्षपरत्वम्। षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमित्यादिविरोधात्। आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उक्तब्रह्मचर्यकालं जन्मापेक्षाद्यं यथाशक्ति गुरुकुले स्थित्वा द्वितीयमायुषश्चतुर्थभागं गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत्। "गृहस्थस्तु यदा पश्येत्" (अ० ६ श्लो० २) इत्यनियतत्वाद्-द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्यकालमेव।। १।।

द्विज आयु के प्रथम चौथाई भाग में गुरुकुल में निवास करके, द्वितीय चतुर्थांश भाग में विवाह करके घर में निवास करे।। १।।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृतिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि।। २।।

परस्यापीडा शिलोञ्छायाचितादिरद्रोहः ईषत्पीडा याचितादिरल्पद्रोहः नतु हिंसैव द्रोहः तस्या निषिद्धत्वात्। अद्रोहेण तदसंभवेऽल्पद्रोहेण या वृतिर्जीवनोपायः तदाश्रयणेन भार्यादिभृत्यपञ्चयज्ञानुष्ठानयुक्तो ब्राह्मणो नतु क्षत्रियादिरनापदि जीवेत्। आपदि दशमे विधिर्भविष्यति। अयं च सामान्योपदेशो याजनाध्यापनविशुद्धप्रतिग्रहादिसंग्रहार्थः। वक्ष्यमाणर्तादिविशेषमात्रनिष्ठत्वे संकुचितस्वरसत्वहानिरनधिकारार्थत्वं याजनादेर्वृत्ति-प्रकरणानिवेशश्च स्यात्तयापि जीवेत्।। २।।

ब्राह्मण आपत्तिरहित समय में अद्रोह के द्वारा या फिर अल्पद्रोह के द्वारा, प्राणियों की जो वृत्ति हो, उसी का आश्रय लेकर जीवनयापन करे।। २।।

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम्।। ३।।

यात्रा प्राणस्थितिः शास्त्रीयकुटुम्बसंवर्धननित्यकर्मानुष्ठानपूर्वकप्राणस्थितिमात्रार्थं न तु भोगार्थं स्वसंबन्धितया शास्त्रविहितार्जनरूपैः कर्मभिर्ऋतादिक्ष्यमाणैः कायक्लेशं विनाऽर्थसंग्रहं कुर्यात्॥ ३॥

अपने प्रशंसनीय कार्यों द्वारा, जीवनयात्रामात्र की सिद्धि के लिए, शरीर को अधिक कष्ट न प्रदान करते हुए धनसंचय करे॥ ३॥

कैः कर्मभिरित्यत्राह-

ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन॥ ४॥

अनापदीत्यनुवर्तते। ऋतादिभिरनापदि जीवेत्। सेवया त्वनापदि कदापि न वर्तेत॥ ४॥

ब्राह्मण ऋत, अमृत, मृत अथवा प्रमृत द्वारा, सत्य, असत्य नामक वृत्ति द्वारा भी जीविका निर्वाह करे, किन्तु श्वावृत्ति द्वारा कभी भी (जीवनयापन) न करे॥ ४॥

अप्रसिद्धत्वादृतादीनि व्याचष्टे-

ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम्।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम्॥ ५॥

अबाधितस्थानेषु पथि वा क्षेत्रेषु वाप्रतिहतावकाशेषु यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामेकैकं कणं समुच्चयित्वेति बौधायनदर्शनात् एकैकधान्यादिगुड-कोच्चयनमुञ्छः। मञ्जर्यात्मकानेकधान्योच्चयनं शिलः, उञ्छश्च शिलश्चेत्येकवद्भावः तत्सत्यसमानफलत्वादृतमित्युच्यते। अयाचितोपस्थितममृतमिव सुखहेतुत्वादमृतम्। प्रार्थिते पुनर्भैक्षं भिक्षासमूहरूपं मरणसमपीडाजननान्मृतम्। एतच्च साग्नेर्गृहस्थस्य भैक्षमपक्वतण्डुलादिरूपं नतु सिद्धान्नं परागिनपक्वेन स्वाग्नौ होमाभावात्। कर्षणं च भूमिगतप्रचुरप्राणिमरणनिमित्तत्वाद्बहुदुःखफलकं प्रकर्षेण मृतमिव प्रमृतम्॥ ५॥

शिलोञ्छवृत्ति को 'ऋतु' समझना चाहिए। अयाचितवृत्ति 'अमृत' होती है। जबकि याचना करने की वृत्ति 'मृत' तथा कृषि से प्राप्त वृत्ति को 'प्रमृत' माना गया है॥ ५॥

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।
सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ ६॥

प्रायेण सत्यानृतव्यवहारसाध्यत्वात्सत्यानृतं वाणिज्यम्। नतु वाणिज्ये शास्त्रेण

सत्यानृताभ्यनुज्ञानम्। तेन चैवापि जीव्यत इति च शब्देन वाणिज्यसमशिष्टत्वात्कुसीदमपि गृह्यते। पूर्वश्लोकोक्ता कृषिरेतच्छ्लोके च वाणिज्यकुसीदे। अनापदीत्यनुवृत्तेरस्वयं-कृतान्येतानि बोद्धव्यानि। यथाह गौतमः। कृषिवाणिज्ये स्वयं चाकृते कुसीदं च। सेवा तु दीनदृष्टिसंदर्शनस्वामितर्जननीचक्रियादिधर्मयोगाच्छुन इव वृत्तिरतः श्ववृत्तिरुक्ता तस्मात्तां प्रकृतो ब्राह्मणस्त्यजेत्।। ६।।

जबकि व्यापार को 'सत्य-अनृत' वृत्ति, क्योंकि उसके द्वारा भी जीवन यापन किया जाता है। सेवा 'श्वावृत्ति' कही गई है। इसलिए उसको छोड़ देना चाहिए।। ६।।

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा।। ७।।
(सद्यः प्रक्षालिको वा स्यान्माससंचायिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वापि समानिचय एव वा।। १।।)

"कुसूलो व्रीह्यगारं स्यात्" इत्याभिधानिकाः। इष्टकादिनिर्मितागारधान्यसंचयो भवेत्। अत्र कालविशेषापेक्षायां "यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये। अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति" इति मनूक्त एव कालो ग्राह्यः। तेन नित्यनैमित्तिक-धर्मकृत्यपोष्यवर्गसहितस्य गृहिणो यावता धान्यादिधनेन वर्षत्रयं समधिकं वा निर्वाहो भवति तावद्धनः कुसूलधान्यक उच्यते। वर्षनिर्वाहो चितधान्यादिधनः कुम्भीधान्यः। "प्राक् सौमिकीः क्रियाः कुर्याद्यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्" (अ० १ श्लो० १२४) इति याज्ञवल्क्येन गृहस्थस्य वार्षिकसंचयाभ्यनुज्ञानात्। मनुरपि यदा वानप्रस्थस्यैव "समानिचय एव वा" इत्यनेन समानिचयं वक्ष्यति तदपेक्षया बहुपोष्यवर्गस्य गृहिणः समुचितः संवत्सरं संचयः। मेधातिथिस्तु यावता धन्यादिधनेन बहुभृत्यदारादिमतस्त्रिसंवत्सरस्थितिर्भवती तावत्सुवर्णादिधनवानपि कुसूलधान्य इत्यभिधाय कुम्भी उष्ट्रिका षाण्मासिकधान्यादिनिचयः कुम्भीधान्यक इति व्याख्यातवान् गोविन्दराजस्तु कुसूलधान्यक इत्येतद्व्याचक्ष्य कोष्ठप्रमाणधान्यसंचयो वा स्यात् द्वादशाहमात्रपर्याप्तधनः कुम्भीधान्यक इत्येतद्व्याचष्टे। उष्ट्रिकाप्रमाण- धान्यादिसंचयो वा षडहमात्रपर्याप्तधनः कुम्भीधान्यक इत्येतव्द्याचष्टे। उष्ट्रिकाप्रमाण- धान्यादिसंचयो वा षडहमात्रपर्याप्तधनः। "द्वादशाहं कुसूलेन वृत्तिः कुम्भ्या दिनानि षट्। इमाममूलां गोविन्दराजोक्तिं नानुरुन्ध्महे।। " ईहा चेष्टा तस्यां भवं ऐहिकं त्र्यहपर्याप्तमैहिकं धनं यस्य स त्र्यहैहिकः तथा वा स्यात्। दिनत्रयनिर्वाहोचित- धनमित्यर्थः। श्वो भवं श्वस्तनं भक्तं तदस्यास्तीति मत्वर्थीयमिकं कृत्वा नञ् समासः। तथा वा भवेत्।। ७।।

ब्राह्मण को 'कुसूलधान्यक' अथवा 'कुम्भी धान्यक' होना चाहिए। अथवा फिर वह 'त्र्यहैहिक' या अश्वस्तनिक' होवे।। ७।।

(अथवा ब्राह्मण को 'सद्यः प्रक्षालित' या फिर एक माह तक के अन्न का संचय करने वाला' होना चाहिए। अथवा वह छः महीने तक के लिए या एक वर्ष के लिए अन्न का सञ्चय करने वाला होवे।। १।।)

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।
ज्यायान्परः परो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः।। ८।।

एषां चतुर्णामि कुसूलधान्यकादीनां ब्राह्मणाना गृहस्थानां मध्ये यो यः शेषे पठितः स श्रेष्ठो ज्ञातव्यः। यतोऽसौ वृत्तिसंकोचधर्मेण स्वर्गादिलोकजित्तमो भवति।। ८।।

इन चारों ही गृहस्थी-ब्राह्मणों में, धर्म के अनुसार स्वर्ग आदि लोकों को जीतने वाला, पूर्व की अपेक्षा बाद-बाद वाला श्रेष्ठ समझना चाहिए।। ८।।

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रेण जीवति।। ९।।

एषां गृहस्थानां मध्ये कश्चिद्गृहस्थो यो बहुपोष्यवर्गः स प्रकृतैर्ऋतायाचितभैक्षकृषिवाणिज्यैः पञ्चभिस्तेन चैवेत्यनेनैव चशब्दसमुच्चितेन कुसीदेनेत्येवं षड्भिः कर्मभिः षटकर्मा भवति षड्भिरेतैर्जीवति। कृषिवाणिज्यकुसीदान्येतान्यस्वयं कृतानि गौतमोक्तानीत्युक्तम्। अन्यः पुनस्ततोऽल्पपरिकरः त्रिभिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहैरद्रोहेणेत्येतच्छ्लोकसंगृहीतैः प्रवर्तते। प्रशब्दोऽनर्थको वर्तत इत्यर्थः। अपरः पुनः प्रतिग्रहः प्रत्यवर इति वक्ष्माणत्वात्तत्परित्यागेन द्वाभ्यां याजनाध्यापनाभ्यां प्रवर्तते। उक्तत्रयापेक्षया चतुर्थः पुनर्ब्रह्मसत्रेणाध्यापनेन जीवति। मेधातिथिस्तु एषां कुसूलधान्यकादीनां मध्यादेकः कुसूलधान्यकः प्रकृतैरुञ्छशिलायाचितकृषिवाणिज्यैः षट्कर्मा भवति षड्भिर्जीवति अन्यो द्वितीयः कुम्भीधान्यकः कृषिवाणिज्ययोर्निन्दितत्वात्तत्त्याग उञ्छशिलयाचितायाचितानां मध्यादिच्छातस्त्रिभिर्वर्तेत। एकस्त्र्यहैहिकोऽयाचितलाभं विहायोञ्छशिलायाचितानां मध्यादिच्छया द्वाभ्यां वर्तेत। चतुर्थः पुनरश्वस्तनिको ब्रह्मसत्रेण जीवति। ब्रह्मसत्रशिलोञ्छयोरन्यतरा वृतिः। ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य सततभवत्वात्सत्रमित्याह।। ९।।

इन ब्राह्मणों में कोई तो छहों कार्यों द्वारा जीविका चलाने वाला होता है तो अन्य कोई तीन कर्मों (यज्ञ करना, पढाना, दान लेना) में ही प्रवृत्त होता है। कोई केवल दो से (यज्ञ करना, पढाना), जबकि चतुर्थ गृहस्थी (तो केवल) वेद के अध्ययन से जीवनयापन करता है।। ९।।

वर्तयंश्च शिलोञ्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।
इष्टीः पार्वायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा।। १०।।

शिलोञ्छाभ्यां जीवन्धनसाध्यकर्मान्तरानुष्ठानासामर्थ्यादग्निहोत्रनिष्ठ एव स्यात्। पार्वायनान्तीयाश्च इष्टीः केवला अनुतिष्ठेत्। पर्व च अयनं च पर्वायने तयोरन्तस्तत्र भवा दर्शपौर्णमासाग्रयणात्मिकाः।। १०।।

शिलोञ्छवृत्ति से जीविका चलाता हुआ, अग्निहोत्रपरायण ब्राह्मण हमेशा केवल पर्वो तथा अयन के अन्त में होने वाले यज्ञों को ही सम्पादित करे।। १०।।

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद्ब्राह्मणजीविकाम्।। ११।।

लोकवृत्तमसत्प्रियाख्यानं विचित्रपरिहासकथादिकं जीविकार्थं न कुर्यात्। अजिह्मां मृषात्मगुणार्थाभिधानादिपापरहिताम्। अशठां दम्भादिव्याजशून्याम्। शुद्धां वैश्यादि-वृत्तेरसंकीर्णां ब्राह्मणजीविकामनुतिष्ठेत्। अनेकार्थत्वाद्धातूनामनुष्ठानार्थोऽयं जीवतिरिति सकर्मकता।। ११।।

वृत्ति के लिए ब्राह्मणको किसीप्रकार भी लोकवृत्त का बर्ताव नहीं करना चाहिए। सदैव कुटिलता एवं शठता से रहित, पवित्रब्राह्मण योग्यजीविका से जीवनयापन करे।। ११।।

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।
संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।। १२।।

यथासंभवभृत्यात्मप्राणधारणावश्यकपञ्चयज्ञाद्यनुष्ठानमात्रोचितधनानधिकास्पृहा संतोषः तमतिशयितमालम्ब्य प्रचुरधनार्जने संयमं कुर्यात्। यतः संतोषहेतुकमिति सुखं, परत्र चाव्यग्रस्य विहितानुष्ठानात्स्वर्गादिसुखं, विपर्ययस्त्वसंतोषो दुःखमूलं बहुधनार्जनप्रयासेन प्रचुरदुःखादसंपत्तौ विपत्तौ च क्लेशात्।। १२।।

परमसंतोष का आश्रय लेकर, सुख चाहने वाला, संयमी होवे, क्योंकि संतोष सुख का कारण है तथा असन्तोष दुःख का कारण होता है।। १२।।

अतोऽन्यतमया वृत्त्या जीवंस्तु स्नातको द्विजः।
स्वर्गायुष्ययशस्यानि व्रतानीमानि धारयेत्।। १३।।

अबहुभृत्यस्यैकवृत्त्या निर्वाहसंभवे सत्यन्यतमयेति विधीयते। बहुभृत्यस्यात्र संभवे "षट्कर्मैको भवत्येषाम्" (अ० ४ श्लो० ९) इति विहितत्वात्। अथवैक-वाक्यतावगमाद्व्रतविधायकत्वाच्चान्यतमया वृत्त्येत्यनुवादकत्वादेकत्वमविवक्षितम्।

उक्तवृत्तीनामन्यतमया वृत्त्या जीवन्स्नातको ब्राह्मण इमानि वक्ष्यमाणानि यथासंभवं स्वर्गायुर्यशसां हितानि व्रतानि कुर्यात्। इदं मया कर्तव्यमिदं न कर्तव्यमित्येवं विधिसंकल्पविशेषाद्व्रतम्।। १३।।

इसलिए स्नातक ब्राह्मण इनमें से किसी एक वृत्ति द्वारा जीवित रहता हुआ, स्वर्ग, आयु एवं यश प्रदान करने वाले इन व्रतों को धारण करे।। १३।।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्।। १४।।

वेदोक्तं स्मार्तमपि वेदमूलत्वाद्वेदोक्तमेव। स्वकं स्वाश्रमोक्तं यावज्जीवमतन्द्रितोऽनलसः कुर्यात्। हि हेतौ। यस्मात्तत्कुर्वन्यथासामर्थ्यं परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति। नित्यकर्मानुष्ठानात्पापक्षये सति निष्पापान्तःकरणेन ब्रह्मसाक्षात्कारान्मोक्षावाप्तेः। तदुक्तं मोक्षधर्मे–ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः। तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि।।'' आत्मन्यन्तःकरणे।। १४।।

उसे वेद में कहे गए अपने कर्म को हमेशा आलस्यरहित होकर करना चाहिए, क्योंकि उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार करता हुआ वह परमगति को प्राप्त करता है।। १४।।

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।
न विद्यमानेष्वर्थेषु नार्त्यामपि यतस्ततः।। १५।।

प्रसज्यते यत्र पुरुषः स प्रसङ्गो गीतवादित्रादिस्तेनार्थान्नार्जयेत्। नापि शास्त्रनिषिद्धेन कर्मणायाज्ययाजनादिना च। न च विद्यमानेषु धनेषु। नचाप्यविद्यमानेष्वपि प्रकारान्तरसंभवे यतस्ततः पतितादिभ्योऽपि।। १५।।

ब्राह्मण को धनों के विद्यमान न होने पर, आपत्तिकाल में भी गीतवाद्य आदि (प्रसङ्ग) द्वारा तथा यहाँ वहाँ के विरुद्धकर्मों द्वारा धनों की कामना नहीं करनी चाहिए।। १५।।

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्।। १६।।

इन्द्रियाणामर्था रूपरसगन्धस्पर्शादयस्तेषु निषिद्धेष्वपि स्वदारसुरतादिषु न प्रसज्येत नातिप्रसक्तिमत्यन्तसेवनात्मिकां कुर्यात्। कामत उपभोगार्थम्। अतिप्रसक्तिनिवृत्त्युपायमाह–अतिप्रसक्तिमिति। विषयाणामस्थिरत्वस्वर्गापवर्गात्मकश्रेयोविरोधित्वादिभावनया मनसा सम्यङ् निवर्तयेत्।। १६।।

सभी इन्द्रियों के विषयों में उपभोग की कामना से अत्यधिक आसक्त न होवे तथा इनमें अत्यधिक आसक्ति को मन के द्वारा भलीप्रकार निवृत्त करना चाहिए।। १६।।

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयंस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता।। १७।।

वेदार्थविरोधिनोऽर्थानत्यन्तेश्वरगृहोपसर्पणकृषिलोकयात्रादयस्तान्सर्वान्परित्यजेत्। कथं तर्हि भृत्यात्मपोषणमित्याशङ्क्याह-यथातथा केनाप्युपायेन स्वाध्यायाविरोधिना भृत्यात्मानौ जीवयन् यस्मात्सास्य स्नातकस्य कृतकृत्यता कृतार्थता यन्नित्यं स्वाध्याय-परता।। १७।।

जैसे तैसे वेद का अध्यापन करता हुआ वेद के अध्ययन-विरोधी सभी कार्यों का परित्याग कर दें। इस ब्राह्मण की वस्तुतः वही कृतकृत्यता (सफलता) होती है।। १७।।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह।। १८।।

वयसः, क्रियाया, धनस्य, श्रुतस्य, कुलस्यानुरूपेण वेषवाग्बुद्धीराचरँल्लोके प्रवर्तेत। यथा यौवने स्त्रगन्धलेपनादिधारणं त्रिवर्गानुसारी वाग्बुद्धिश्च एवं कर्मादिष्व-प्युन्नेयम्।। १८।।

वह आयु, कार्य, धन, ज्ञान, वेष, वाणी, बुद्धि तथा कुल के अनुसार आचरण करता हुआ इस संसार में विचरण करे।। १८।।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्।। १९।।

वेदाविरुद्धानि शीघ्रं बुद्धिवृद्धिजनकानि व्याकरणमीमांसास्मृतिपुराणन्यायादीनि शास्त्राणि, तथा धन्यानि धनाय हितान्यर्थशास्त्राणि बार्हस्पत्योशनसादीनि, तथा हितानि दृष्टोपकारकाणि वैद्यकज्योतिषादीनि, तथा पर्यायकथनेन, वेदार्थावबोधका-न्निगमाख्यांश्च ग्रन्थान्नित्यं पर्यालोचयेत्।। १९।।

शीघ्र ही बुद्धि एवं धनों में वृद्धि करने वाले, हितकारी, वैदिकनिगमादि शास्त्रों का हमेशा अनुशीलन करे।। १९।।

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते।। २०।।

(शास्त्रस्य पारं गत्वा तु भूयो भूयस्तदभ्यसेत्।
तच्छास्त्रं शबलं कुर्यान्न चाधीत्य त्यजेत्पुनः।। २।।)

यस्माद्यथा यथा पुरुषः शास्त्रं सम्यगभ्यस्यति तथा तथा विशेषेण जानाति शास्त्रान्तरविषयमपि चास्य विज्ञानं रोचत उज्ज्वलं भवति। दीप्त्यर्थत्वादुचेर-भिलाषार्थत्वाभावात्'' रुच्यर्थानां प्रीयमाणः'' (पा०सू० १/४/३३) इति न संप्रदानसंज्ञा।। २०।।

क्योंकि जैसे-जैसे व्यक्ति शास्त्रों को भलीप्रकार समझता है, वैसे-वैसे वह विशेष ज्ञानसम्पन्न हो जाता है तथा इसका विज्ञान प्रतिभासित होता है।। २०।।

(शास्त्र की गहराई में जाकर ही उसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए क्योंकि वही शास्त्र व्यक्ति को निर्मल बनाता है। अध्ययन के पश्चात् मनुष्य को शास्त्र का परित्याग नहीं करना चाहिए।।2।।)

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत्।। २१।।

स्वाध्यायादीन्पञ्चयज्ञान्यथाशक्ति न त्यजेत्। तृतीयाध्यायविहितानामपि पञ्चयज्ञाना-मिह निर्देश उत्तरत्र विशेषविधानार्थः स्नातकव्रतत्वबोधनार्थश्च।। २१।।

सदैव ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ का यथाशक्ति परित्याग नहीं करना चाहिए।। २१।।

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः।
अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति।। २२।।

एके गृहस्था बाह्यान्तरयज्ञानुष्ठानशास्त्रज्ञा एतान्पञ्चमहायज्ञान् ब्रह्मज्ञान-प्रकर्षाद्बहिरचेष्टमानाः, पञ्चसु बुद्धीन्द्रियेष्वेवं पञ्चरूपज्ञानादिसंयमं कुर्वन्तः संपादयन्ति यज्ञानां होमत्वानुपपत्तेः संपादनार्थो जुहोति।। २२।।

इन महायज्ञों को न करने के इच्छुक कुछ यज्ञशास्त्र के ज्ञाता लोग हमेशा इन्द्रियों में ही (विषयों का) हवन करते रहते हैं।। २२।।

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा।
वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम्।। २३।।

एके गृहस्था ब्रह्मविदो वाचि प्रावणायौ च यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयफलां जानन्तः सततं वाचि प्राणं च जुह्वति। वाचं च प्राणे भाषमाणेन च वाचि प्राणं जुहोतीति। अभाषमाणेनोच्छ्वसता प्राणे वाचं जुहोमीति व्याख्यातव्यमित्यनेन विधीयते। यथा कौषीतकिरहस्यब्राह्मणम्। ''यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति यावद्धि पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति एतेऽनन्ते अमृते आहुती जाग्रत्स्वपंश्च सततं जुहोति। अथवा अन्या

आहुतयोऽनन्तरन्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येवं हि तस्यैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवांचक्रुः" इति।। २३।।

वाणी तथा प्राण में अक्षय-यज्ञफल की प्राप्ति को देखते हुए कुछ लोग हमेशा वाणी में प्राण का तथा प्राण में वाणी का हवन करते हैं।। २३।।

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखैः सदा।
ज्ञानमूलां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा।। २४।।

अपरे विप्रा ब्रह्मनिष्ठाः सर्वथा ब्रह्मज्ञानेनैवैतैर्मखैर्यजन्ति। एतांश्च यज्ञाननुतिष्ठन्ति। कथमेतदित्याह-ज्ञानं ब्रह्म "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" तैत्ति० उ० २।१।१ इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम्। ज्ञानमूलामेषां ज्ञानानां क्रियामुत्पतिं जानन्तः ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चक्षुरिव चक्षुः ज्ञानचक्षुषोपनिषदा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" इत्यादिकया पञ्चयज्ञानपि ब्रह्मोत्पत्तिकाले ब्रह्मात्मकान्ध्यायन्तः संपादयन्ति। पञ्चज्ञफलमश्नुवत इत्यर्थः। श्लोकत्रयेण ब्रह्मनिष्ठानां वेदसंन्यासिनां गृहस्थानाममी विधयः।। २४।।

दूसरे ब्राह्मण ज्ञानरूपी नेत्र द्वारा इन यज्ञों की क्रियाओं को ज्ञानमूलक मानते हुए, हमेशा ज्ञान के द्वारा ही इन पञ्चमहायज्ञों का यजन करते हैं।। २४।।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि।। २५।।

उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ निशायाश्चादौ। अनुदितहोमपक्षे दिनस्यान्ते निशायाश्चान्ते। यद्वा उदितहोमपक्षे दिनस्यादौ दिनान्ते च। अनुदितहोमपक्षे निशादौ निशान्ते च अग्निहोत्रं कुर्यात्। कृष्णपक्षार्धमासान्ते दर्शाख्येन कर्मणा शुक्लपक्षार्धे च पौर्णमासाख्येन यजेत्।। २५।।

(अमावस्या को) दर्शविधि द्वारा तथा हमेशा दिन रात्रि के आरम्भ और अन्त में ही अग्निहोत्र हवन करना चाहिए। पूर्णिमा को पौर्णमास विधि द्वारा (हवन करना चाहिए)।। २५।।

सस्यान्ते नवसस्येष्ट्या तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।
पशुना त्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः।। २६।।

पूर्वार्जितधान्यादिसस्ये समाप्ते "शरदि नवानाम्" इति सूत्रकारवचनादसमाप्तेऽपि पूर्वसस्ये नवसस्योत्पत्तावाग्रयणेन यजेत। सस्यक्षयस्यानियतत्वात्, धनिनां बहुहायन-जीवनोचितधान्यसंभवाच्च। सस्यान्तग्रहणाच्च नवसस्योत्पत्तिरेवाभिप्रेता नियतत्वात्तस्याः प्रत्यब्दं निमित्तत्वोत्पत्तेः। ऋतुसंवत्सर इत्येतन्मताश्रयणेन चत्वारश्चत्वारो मासा ऋतवस्त-दन्तेऽध्वरैश्चातुर्मासाख्यैर्यागैर्यजेत। अयनयोरनयोरुत्तरदक्षिणयोरादौ पशुना यजेत पशुबन्धाख्यं यागमनुतिष्ठेत्। ज्योतिःशास्त्रे चैत्रशुक्लप्रतिपदादिवर्षगणनाच्छिशिरेण समाप्ते वर्षे वसन्ते सोमरससाध्यैरग्निष्टोमादियागैर्यजेत।। २६।।

द्विज को पुराने अन्न की समाप्ति पर नूतन सस्येष्टि द्वारा, ऋतु के अन्त में चातुर्मास्य याग द्वारा, अयन के आरम्भ में पशुयाग द्वारा तथा वर्ष के अन्त में सोमयाग द्वारा (यजन करना चाहिए)।। २६।।

नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान्द्विजः।
नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः।। २७।।

आहिताग्निर्द्विजो दीर्घमायुर्जीवितुमिच्छन्नाग्रयणमकृत्वा नवान्नं न भक्षयेत्। नच पशुयागमकृत्वा मांसमश्नीयात्।। २७।।

दीर्घ आयु तक जीने का इच्छुक अग्निहोत्री ब्राह्मण 'नूतन सस्येष्टि' यज्ञ किये बिना नये अन्न को तथा पशुयज्ञ किए बिना मांस का भक्षण न करे।। २७।।

दोषं कथयन्ननित्यतामनयोराह-

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।
प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवान्नामिषगर्धिनः।। २८।।

यस्मान्नवेन हव्येन पशुवदामेनानर्चिता अकृतयागा अग्नयो नवान्नमांसाभिलाषिणोऽस्याहिताग्नेः प्राणानेवाग्निहोत्रिणः खादितुमिच्छन्ति। गर्धोऽभिलाषातिशयः। गृधेर्घञन्तस्य रूपं सोऽस्यास्तीति गर्धी। मत्वर्थीय इनिः।। २८।।

नये पशुहव्य द्वारा पूजा न की गई अग्नियाँ, नये अन्न और मांस की अत्यधिक अभिलाषायुक्त, इस अग्निहोत्री के प्राणों को ही खाने की इच्छा करती हैं।। २८।।

आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा।
नास्य कश्चिद्वसेद्गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः।। २९।।

यथाशक्त्यासनभोजनादिभिरनर्चितोऽतिथिरस्य गृहस्थस्य गृहे न वसेत्। अनेन शक्तितोऽतिथिं पूजयेदित्युक्तमप्युत्तरार्धमनूद्यते।। २९।।

आसन, भोजन, शय्या, जल, फल अथवा मूल द्वारा शक्ति के अनुसार अनर्चित कोई अतिथि, इसके घर में निवास न करे।। २९।।

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्बैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।। ३०।।

पाषण्डिनो वेदाबाह्यव्रतलिङ्गधारिणः शाक्यभिक्षुकक्षपणकादयः, विकर्मस्थाः प्रतिषिद्धवृत्तिजीविनः, बैडालव्रतिकबकवृत्ती वक्ष्यमाणलक्षणौ, शठा वेदेष्वश्रद्दधानाः,

हैतुका वेदविरोधितर्कव्यवहारिणः, एतानतिथिकालोपस्थितान्वाङ्मात्रेणापि न पूजयेत् पूजारहितेऽन्नदानमात्रं तु "शक्तितोऽपचमानेभ्यः" (अ० ४ श्लो० ३२) इत्यनुज्ञातमेव।। ३०।।

जबकि पाखण्डी,वेद विरुद्ध आचरण करने वाले, बैडालव्रतिक, शठ, हेतुवादी तथा बकवृत्ति वाले अतिथियों का वाणीमात्र से भी पूजन नहीं करना चाहिए।। ३०।।

वेदविद्याव्रतस्नाताञ्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः।
पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत्।। ३१।।

वेदविद्याव्रतस्नातानिति विद्यास्नातकव्रतस्नातकोभयस्नातकास्त्रयोऽपि गृह्यन्ते। यथाह हारीतः-"यः समाप्य वेदानसमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदान्समावर्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः।" यद्यपि स्नातकधर्मत्वेनैव स्नातकमात्रप्राप्तिस्तथापि श्रोत्रियत्वं विवक्षितम्। तान्स्नातकाञ्श्रोत्रियान्हव्यकव्येन पूजयेत्, विपरीतान्पुनर्वर्जयेत् ।। ३१।।

गृहस्थियों को वेदविद्या स्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रत स्नातक श्रोत्रिय ब्राह्मणों की हव्य-कव्य द्वारा पूजा करनी चाहिए तथा विपरीत आचरण वालों का परित्याग कर दे।। ३१।।

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।
संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः।। ३२।।

अपचमाना ब्रह्मचारिपरिव्राजकाः, पाषण्डादयः। ब्रह्मचारिपरिव्राजकानामुक्तमप्यन्नदानं पचमानापेक्षयातिशयार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं च पुनरुच्यते। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु "भिक्षां च भिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणः" इति ब्रह्मचारिपरिव्राजकयोरुक्तत्वात्पाषण्ड्यादिविषयत्वमेवास्य वचनस्येत्यूचतुः" स्वकुटुम्बानुरोधेन वृक्षादिपर्यन्तप्राणिभ्योऽपि जलादिनापि विभागः कर्तव्यः।। ३२।।

गृहस्थी को अपनी सामर्थ्य के अनुसार स्वयं न पकाने वाले (संन्यासी या ब्रह्मचारी) के लिए अन्नप्रदान करना चाहिए। बिना किसी को कष्ट दिए सभी प्राणियों के लिए भी भलीप्रकार अन्नादि का विभाजन करना चाहिए।। ३२।।

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।
याज्यान्तेवासिनोर्वापि न त्वन्यत इति स्थितिः।। ३३।।

"न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः" (अ० ४ श्लो० ८४) इति निषेधाद्राजशब्दोऽत्र क्षत्रिनृपतिपरः, स्नातकः क्षुधावसीदन्द्विजातिप्रतिग्रहस्य संभवेऽपि यथाशास्त्रवर्तिनः क्षत्रियाद्राज्ञो याज्यशिष्याभ्यां वा प्रथमं धनमभिलषेत्। राज्ञो महाधनत्वेन पीडाविरहात्। याज्यशिष्ययोश्च कृतोपकारतया प्रत्युपकारप्रवणत्वात्। तदसंभवे त्वन्यस्मादपि द्विजाद्धनमाददीत। तदभावे तु "सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्" (अ० १० श्लो० १०२) इत्यापद्धर्मं वक्ष्यति। एवं चानापदि प्रथमं क्षत्रियनृपयाज्य-शिष्येभ्यः प्रतिग्रहनियमार्थं वचनम्। अतएवाह न त्वन्यत इति। स्थितिः शास्त्रमर्यादा। नच संसीदन्नित्यभिधानादापद्धर्मविषयत्वमस्य वाच्यम्। अव्यभिचारादनापत्प्रकरणात् संसीदन्नित्यस्य चोपात्तधनाभावपरत्वात्। नच धनाभावमात्रमापत्। किंतु तस्मिन्सति विहितोपायासंभवात्। अन्यथा सद्यःप्रक्षालकोऽप्यापद्वृत्तिः स्यात्। यदि चापद्विषयत्वमस्य भवेत्तदानत्वन्यत इत्यनेन "सर्वतः प्रतिगृह्णीयात्" इति विरुध्येत। यच्चापत्प्रकरणे "सीदद्भिः कुप्यमिच्छद्भिर्धनं वा पृथिवीपतिः। याच्यः स्यात्" (अ० १० श्लो० ११३) इत्युक्तं तच्छूद्रनृपविषयमेवं राजादिप्रतिग्रहासंभवे।। ३३।।

भूख से व्यथित हुए स्नातक को क्षत्रिय, यजमान तथा अन्तेवासी से ही धन लेने की इच्छा करनी चाहिए। अन्य किसी से नहीं, यह शास्त्र की व्यवस्था है।। ३३।।

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन।
न जीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति।। ३४।।

विद्यादियोगात्प्रतिग्रहशक्तोऽपि स्नातको ब्राह्मण उक्तराजप्रतिग्रहादिलाभे सति न क्षुधावसन्नो भवेत्। नच धने संभवति जीर्णे मलिने च वाससी बिभृयात्।। ३४।।

समर्थ स्नातक ब्राह्मण को किसीप्रकार भी भूख से दुःखी नहीं होना चाहिए तथा ऐश्वर्य होने पर फटे-कुटे, मैले-कुचैले वस्त्रों को भी धारण नहीं करना चाहिए।। ३४।।

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचिः।
स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च।। ३५।।

कल्पनं छेदनं लूनकेशनखश्मश्रुः तपःक्लेशसहो दान्तः शुक्लवासा बाह्याभ्यन्तर-शौचसंपन्नो वेदाभ्यासयुक्त आषधोपयोगादिना चात्महितपरः स्यात्।। ३५।।

जितेन्द्रिय, श्वेतवस्त्रों को धारण करने वाला, पवित्रस्नातक अपने केश, नख तथा दाढी को कटवाकर, हमेशा स्वाध्याय में तथा अपने हित के कार्यों में लगा रहे।। ३५।।

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।
यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले।। ३६।।

वेणुदण्डमुदकसहितं कमण्डलुं यज्ञोपवीतं कुशमुष्टिं शोभने च सौवर्णकुण्डले धारयेत्।। ३६।।

उसे बाँस की लाठी, जलयुक्त कमण्डल, वेद तथा यज्ञोपवीत एवं स्वर्णनिर्मित दो सुन्दर कुण्डल धारण करने चाहिएँ।। ३६।।

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्।। ३७।।

उद्यन्तमस्तं यन्तं च सूर्यबिम्बं संपूर्णं नेक्षेत। उपसृष्टं ग्रहोपरक्तं वक्राद्युपसर्गयुक्तं च, वारिस्थं जलप्रतिबिम्बितं, नभोमध्यगतं मध्यंदिनसमये।। ३७।।

कभी भी न तो उदित होते हुए, न अस्ताचल को जाते हुए, न ग्रहण लगे हुए, न जल में प्रतिबिम्बित और न ही आकाश के मध्य में स्थित सूर्य को देखना चाहिए।। ३७।।

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति।
न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा।। ३८।।

वत्सबन्धनरज्जुं न लङ्घयेत्। वर्षति मेघे न धावेत्। नच स्वदेहप्रतिबिम्बं जले निरीक्षेतेति शास्त्रे निश्चयः।। ३८।।

बछड़े की रस्सी का लंघन नहीं करना चाहिए, वर्षा होने पर तेजी से दौड़ना नहीं चाहिए तथा जल में अपने रूप को देखना नहीं चाहिए, ऐसी शास्त्रीय मान्यता है।। ३८।।

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्।। ३९।।

प्रस्थितः सन् संमुखावस्थितानुद्धृतमृत्तिकागोपाषाणादिदेवताब्राह्मणघृतक्षौद्रचतुष्पथ-महाप्रमाणज्ञातवृक्षान्दक्षिणहस्तमार्गेण कुर्यात्। प्रदक्षिणानीति "नपुंसकमनपुंसकेनैक-वच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा० सू० १।२।६९) इति नपुंसकत्वम्।। ३९।।

मिट्टी का ढेर, गाय, देवता, ब्राह्मण, घी, शहद तथा चौराहा एवं भलीप्रकार जाने पहचाने (प्रसिद्ध) वृक्षों की प्रदक्षिणा करनी चाहिए।। ३९।।

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।
समानशयने चैव न शयीत तया सह।। ४०।।

प्रमत्तः कामार्तोऽपि रजोदर्शने निषिद्धस्पर्शदिनत्रये स्त्रियं नोपगच्छेत्। स्पर्शनिषेधेनैव "तासामाद्याश्चतस्त्रः" इति निषेधसिद्धौ प्रायश्चित्तगौरवार्थं स्नातकव्रतत्वार्थं च पुनरारम्भः। न चागच्छन्नपि तया सहैकशय्यायां सुप्यात्।। ४०।।

कामवश प्रमत्त होते हुए भी रजोदर्शन होने पर स्त्री के समीप नहीं जाना चाहिए तथा उसके साथ एक ही चारपाई पर भी न सोवे।। ४०।।

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते।। ४१।।

यस्माद्रजस्वलां स्त्रियं पुरुषस्योपगच्छतः प्रज्ञावीर्यबलचक्षुरायूंषि नश्यन्ति तस्मात्तां नोपगच्छेत्।। ४१।।

रजस्वला नारी के पास (सम्भोगार्थ) जाने वाले व्यक्ति की प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि तथा आयु ये सभी क्षीण हो जाते हैं।। ४१।।

तां विवर्जयतस्तस्य रजसा समभिप्लुताम्।
प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते।। ४२।।

तां तु रजस्वलामगच्छतस्तस्य प्रज्ञादयो वधन्ते। तस्मात्तां नोपेयात्।। ४२।।

जबकि रजोधर्म से युक्त उस स्त्री को छोड़ने वाले उस व्यक्ति की प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि तथा आयु वृद्धि को प्राप्त होती हैं।। ४२।।

नाश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।
क्षुवतीं जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम्।। ४३।।

भार्यया सहैकपात्रे नाश्नीयात्। एनां च भुञ्जानां क्षुतं जृम्भां च कुर्वतीं यथासुखं निर्यन्त्रणप्रदेशावस्थितां च नेक्षेत।। ४३।।

इसीप्रकार पत्नी के साथ भोजन नहीं करना चाहिए और न ही भोजन करती हुई, छींकती हुई, जम्भाई लेती हुई, अथवा सुखपूर्वक बैठी हुई इसे देखना चाहिए।। ४३।।

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्।
न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः।। ४४।।
(उपेत्य स्नातको विद्वान्नेक्षेन्नग्नां परस्त्रियम्।
सरहस्यं च संवादं परस्त्रीषु विवर्जयेत्।। ३।।)

तथा स्वनेत्रयोरञ्जनं कुर्वतीं तैलाद्यभ्यक्तां अनावृतां स्तनावरणरहितां नतु नग्राम्।

"नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्" (अ० ४ श्लो० ५३) इति वक्ष्यमाणत्वात्। अपत्यं च प्रसवन्तीं ब्राह्मणो न निरीक्षेत।। ४४।।

इसके अतिरिक्त तेज की कामना करने वाले द्विजोत्तम को, न तो अपने नेत्र में अञ्जन लगाती हुई, न उबटनादि लगाती हुई, वस्त्रहीन को और न ही प्रसव करती हुई स्त्री को देखना चाहिए।। ४४।।

(विद्वान् स्नातक को नग्न परस्त्री को पास जाकर नहीं देखना चाहिए। यहाँ तक की उसे एकान्त में परस्त्रियों के साथ बातचीत से भी बचना चाहिए।। ३।।)

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्।
न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे।। ४५।।

एकवस्त्रो नान्नं भुञ्जीत। उपस्थाच्छादनवासोरहितो न स्नायात्। मूत्रग्रहणमधः-कायमलविसर्गोपलक्षणार्थम्। तेन मूत्रपुरीषे वर्त्मनि, भस्मनि, गोष्ठे च न कुर्यात्।। ४५।।

एक वस्त्र धारण करके भोजन नहीं करना चाहिए। न नग्न होकर स्नान करना चाहिए। साथ ही न मार्ग में, न राख में और न ही गोशाला में मूत्रत्याग करना चाहिए।। ४५।।

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।
न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन।। ४६।।

तथा फालकृष्टे क्षेत्रादावुदके, अग्न्यर्थकृतेष्टकाचये, पर्वते, चिरन्तनदेवतागारे, कृमिकृतमृत्तिकाचये च विण्मूत्रोत्सर्गं न कदाचन कुर्यात्।। ४६।।

इसके अतिरिक्त कभी भी न तो हल से जोते हुए खेत में, न जल में, न ईटों के भट्टे में, न पर्वत पर, न पुराने देवालय में और न ही बामी में (मूत्रत्याग करना चाहिए)।। ४६।।

न ससत्त्वेषु गर्तेषु न गच्छन्नापि च स्थितः।
न नदीतीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके।। ४७।।

तथा सप्राणिषु बिलेषु न व्रजन्न चोत्थितो न नदीतटमाश्रित्य नापि पर्वतशृङ्गे मूत्रपुरीषे कुर्यात्। पर्वतनिषेधादेव तच्छृङ्गनिषेधे सिद्धे पुनः पर्वतशृङ्गनिषेधस्तदितरपर्वते विकल्पार्थः। तत्रेच्छाविकल्पस्यान्यथापि प्राप्तौ समान्यनिषेधवैयर्थ्याद्व्यवस्थितोऽत्र विकल्पः। अत्यन्तार्तस्य पर्वते न दोषः।। ४७।।

इसके अलावा न जीवों से युक्त गड्ढों में, न चलते हुए, न खड़े होकर, न नदी के किनारे पहुँचकर और न पर्वत की चोटी पर (मूत्रत्याग करना चाहिए)।। ४७।।

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तथैव गाः।
न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम्।। ४८।।

वायुमग्निं, ब्राह्मणं, सूर्यं, जलं, गां च पश्यन्न कदापि मूत्रपुरीषोत्सर्गं कुर्यात्। वायोररूपत्वेन दर्शनासंभवे वात्याप्रेरिततृणकाष्ठादिनिषेधोऽयम्।। ४८।।

इसीप्रकार वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, पानी और गायों को देखते हुए कभी भी मलमूत्र का त्याग नहीं करना चाहिए।। ४८।।

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना।
नियम्य प्रयतो वाचं संवीताङ्गोऽवगुण्ठितः।। ४९।।

अन्तर्धाय काष्ठादिना भूमिमवागनुच्छिष्टः प्रच्छादिताङ्गोऽवगुण्ठितशिरा मूत्रपुरीषोत्सर्गं। कुर्यात्। "शुष्कैस्तृणैर्वा काष्ठैर्वा पर्णैर्वेणुदलेन वा। मृन्मयैर्भाजनैर्वापि अन्तर्धाय वसुंधराम्" इति वायुपुराणवचनात् शुष्कानि काष्ठपत्रतृणानि ज्ञेयानि।। ४९।।

लकड़ी, मिट्टी का ढेला, पत्ते तथा तृण आदि के द्वारा स्थान को ढककर, वाणी को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रित करके, शरीर एवं मस्तक को ढककर, मलमूत्र का त्याग करना चाहिए।। ४९।।

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः।
दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययोश्च तथा दिवा।। ५०।।

मूत्रपुरीषोत्सर्गमहनि संध्यायोश्चोत्तराभिमुखो रात्रौ चेद्दक्षिणामुखः कुर्यात्। धरणीधरस्तु "स्वस्थोऽनाशाय चेतसः" इति चतुर्थपादं पठित्वा चेतसो बुद्धेरनाशायेति व्याख्यातवान्। "परंपरीयमान्नायं हित्वा विद्वद्भिरादृतम्। पाठान्तरं व्यरचयन्मुधेह धरणीधरः"।। ५०।।

दिन में उत्तरदिशा की ओर मुख करके, रात्रि में दक्षिणदिशा की ओर मुख करके तथा दोनों संध्याओं में दिन के ही समान मलमूत्र का त्याग करना चाहिए।। ५०।।

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः।
यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च।। ५१।।

रात्रौ छायायामन्धकारे वा अहनि छायायां नीहाराद्यन्धकारे वा दिग्विशेषाज्ञाने सति चौरव्याघ्रादिकृतप्राणविनाशभयेषु च यथेप्सितमुखो मूत्रपुरीषे कुर्यात्।। ५१।।

(जबकि) छाया में या अन्धकार में, रात्रि में अथवा दिन में प्राणों की बाधा का भय आने पर, ब्राह्मण को जिसप्रकार अच्छा लगे मुख कर लेना चाहिए।। ५१।।

प्रत्यग्निं प्रतिसूर्यं च प्रतिसोमोदकद्विजान्।
प्रतिगां प्रतिवातं च प्रज्ञा नश्यति मेहतः।। ५२।।

वाय्वग्निविप्रमित्यनेन मेहतोऽग्न्यादीनां दर्शनं निषिद्धम्। अनेन त्वपश्यतोऽपि संमुखीनत्वं निषिध्यते। अग्निसूर्यचन्द्रजलब्राह्मणगोवाताभिमुखं मूत्रपुरीषे कुर्वतः प्रज्ञा नश्यति तस्मादेतन्न कर्तव्यम्। प्रतिवातमित्यस्य स्थाने प्रतिसंध्यमित्यन्ये पठन्ति।।५२।।

अग्नि के सामने, सूर्य के सामने, चन्द्रमा, जल एवं ब्राह्मणों के सामने गाय के सामने, वायु के सामने मूत्रत्याग से प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।। ५२।।

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नग्नां नेक्षेत च स्त्रियम्।
नामेध्यं प्रक्षिपेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत्।। ५३।।

नाग्निर्मुखेन ध्मातव्यः किं तर्हि व्यजनादिना। "न नग्नां स्त्रियमीक्षेत मैथुनादन्यत्र" इति सांख्यायनदर्शनान्मैथुनव्यतिरेकेण नग्नां स्त्रियं न पश्येत्। अमेध्यं मूत्रपुरीषादिकं नाग्नौ क्षिपेत्। नच पादौ प्रतापयेत्। प्रशब्दादग्नौ पादावुत्क्षिप्य साक्षान्न प्रतापयेत् वस्त्रादितापस्वेदेऽविरोधः।। ५३।।

अग्नि के पास मुँह लाकर नहीं फूँकना चाहिए और न ही नग्न स्त्री को देखना चाहिए, न अपवित्र वस्तु को अग्नि में डालना चाहिए और न पैरों को तपाना चाहिए।। ५३।।

अधस्तान्नोपदध्याच्च न चैनमभिलङ्घयेत्।
न चैनं पादतः कुर्यान्न प्राणाबाधमाचरेत्।। ५४।।

खट्वादिभ्योऽधस्तादङ्गारशकट्यादिकं न कुर्यात्। न चाग्निमुत्प्लुत्य गच्छेत्। न च सुप्तः पाददेशेऽग्निं स्थापयेत्। न च प्राणपीडाकरं कर्म कुर्यात्।। ५४।।

(इसके अतिरिक्त अग्नि को चारपाई आदि के) नीचे नहीं रखना चाहिए और न इसे लांघना चाहिए। न ही इसे पैरों की ओर करना (रखना) चाहिए और न (अग्नि द्वारा) प्राणों को कष्ट में डालने जैसा आचरण करना चाहिए।। ५४।।

नाश्नीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत्।
न चैव प्रलिखेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्रजम्।। ५५।।

संध्याकाले भोजनं ग्रामान्तरगमनं निद्रां च न कुर्यात्। न च रेखादिना भूमिमुल्लिखेत्। न च मालां धृतां स्वयमेवापनयेत्। अर्थादन्येनापनयेदित्युक्तम्।। ५५।।

सन्ध्या की वेला में न तो भोजन करना चाहिए, न अन्यत्र जाना चाहिए और

न ही शयन करना चाहिए। न ही भूमि पर लिखना चाहिए तथा न अपनी माला को स्वयं उतारना चाहिए।। ५५।।

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वा समुत्सृजेत्।
अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा।। ५६।।

मूत्रं पुरीषं श्लेष्माणं मूत्राद्यमेध्यलिप्तवस्त्रं अन्यद्वा भुक्तोच्छिष्टाद्यमेध्यं रुधिरं विषाणि च कृत्रिमाकृत्रिमभेदभिन्नानि न जले प्रक्षिपेत्।। ५६।।

जलों में मल-मूत्र अथवा थूक या अन्य अपवित्र (जूठन) लगी हुई वस्तु अथवा खून अथवा विष को नहीं डालना चाहिए।। ५६।।

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत्।
नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः।। ५७।।
(एकः स्वादु न भुञ्जीत स्वार्थमेको न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्।। ४।।)

उत्सन्नजनवासगेहे नैकः शयीत। वित्तविद्यादिभिरधिकं च सुप्तं न प्रबोधयेत्। रजस्वलया संभाषणं न कुर्यात्। यज्ञं चाकृतावरणोऽनृत्विक् न गच्छेत्। दर्शनायेच्छया गच्छेत्। "दर्शनार्थं कामम्" इति गौतमवचनात्।। ५७।।

एकाकी घर में अकेले नहीं सोना चाहिए। श्रेष्ठ लोगों को जगाना नहीं चाहिए। रजस्वला से वार्ता नहीं करना चाहिए तथा बिना बुलाए यज्ञ में नहीं जाना चाहिए।। ५७।।

(स्वादिष्ट वस्तु को अकेले नहीं खाना चाहिए। न अकेले स्वार्थचिन्तन करना चाहिए। न मार्ग में अकेले जाना चाहिए और न ही अन्यों के सोने पर अकेले जागना चाहिए।। ४।।)

अग्न्यगारे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ।
स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत्।। ५८।।

अग्निगृहे गवां निवासे ब्राह्मणानां गवां समीपे स्वाध्यायभोजनकालयोश्च दक्षिणपाणिं सबाहुं वासस उद्धरद्बहिष्कुर्यात्।। ५८।।

अग्निशाला में, गायों के निवासस्थान पर, ब्राह्मणों के समीप में, स्वाध्याय में तथा भोजन करते समय दाहिना हाथ (वस्त्र से) बाहर निकाल लेना चाहिए।। ५८।।

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।
न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः।। ५९।।

गां जलं क्षीरं वा पिबन्तीं न निवारयेत्। दोहनार्थवारणादन्यत्र निषेधः। नापि परकीयक्षीरादि पिबन्तीं तस्य कथयेत्। न चेन्द्रधनुराकाशे दृष्ट्वा निषिद्धदर्शनदोशज्ञः कस्यचिद्दर्शयेत्।। ५९।।

(जल अथवा दूध) पीती हुई गाय को न तो रोकना चाहिए और न ही किसी से (इस विषय में) कहना चाहिए। बुद्धिमान् व्यक्ति को आकाश में इन्द्रधनुष देखकर अन्य किसी को इसे दिखाना नहीं चाहिए।। ५९।।

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
नैकः प्रपद्येताध्वानं न चिरं पर्वते वसेत्।। ६०।।

अधार्मिक इत्यनेन यत्राधर्मिका वसन्ति न तत्र वासो युक्तः। यत्र वा निन्दितदुश्चिकित्सितव्याधिपीडिता बहवो जनास्तत्र भृशमत्यर्थं वासो न युक्तः। पन्थानमेकः कदापि न गच्छेत्। पर्वते च दीर्घकालं न वसेत्।। ६०।।

न तो अधार्मिक ग्राम में और न व्याधिबहुल (ग्राम में), बहुत अधिक निवास करना चाहिए। न मार्ग में अकेला चलना चाहिए। न लम्बे समय तक पर्वत पर रहना चाहिए।। ६०।।

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते।
न पाषण्डिगणाक्रान्ते नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः।। ६१।।

यत्र देशे शूद्रो राजा तत्र न वसेत्। अधार्मिकजनैश्च बाह्यतः परिवृते ग्रामादौ न वसेदित्यपुनरुक्तिः पाषण्डिभिश्च वेदाबाह्यलिङ्गधारिभिर्वशीकृते चाण्डालादिभिश्चा-न्त्यजैरुपद्रुते न वसेत्।। ६१।।

(इसके अतिरिक्त) शूद्र के अधार्मिक लोगों से भरे, पाखण्डी समुदाय से व्याप्त तथा नीचजाति के लोगों के उपद्रव से युक्त, राज्य में निवास नहीं करना चाहिए।। ६१।।

न भुञ्जीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत्।
नाति प्रगे नाति सायं न सायं प्रातराशितः।। ६२।।

उद्धृतस्नेहं पिण्याकादि न भुञ्जीत। अतितृप्तिं वारद्वयेऽपि न कुर्यात्। "जठरं पूरयेदर्धमन्नैर्भागं जलेन च। वायोः संचरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्।।" इत्यादि-विष्णुपुराणवचनात्। सूर्योदयकाले सूर्यास्तसमये भोजनं न कुर्यात्। प्रातराशितोऽतितृप्तः सायं न भुञ्जीत।। ६२।।

वस्तुओं की चिकनाई निकालकर न खावे। अत्यधिक तृप्ति का आचरण न करे। अत्यन्त सवेरे तथा बहुत शाम होने पर भोजन न करे। प्रातःकाल में तृप्तिपूर्वक खाने पर पुनः सायंकाल में न खावे।। ६२।।

न कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यञ्जलिना पिबेत्।
नोत्सङ्गे भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्यात्कुतूहली।। ६३।।

दृष्टादृष्टार्थशून्यं व्यापारं न कुर्यात्। अञ्जलिना च जलं न पिबेत्। ऊर्वौरुपरि विन्यस्य मोदकादीन्न भक्षयेत्। असति प्रयोजने किमेतदिति जिज्ञासा कुतूहलं तन्न कदाचित्कुर्यात्।। ६३।।

कभी भी व्यर्थ की चेष्टा न करे। अञ्जलि से जल न पिये। खाने योग्य अन्न को गोद में रखकर न खावे तथा अत्यधिक कुतूहल से युक्त न होवे।। ६३।।

न नृत्येदथवा गायेन्न वादित्राणि वादयेत्।
नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत्।। ६४।।

अशास्त्रीयाणि नृत्यगीतवाद्यानि नाचरेत्। पाणिना बाहौ ध्वनिरूपमास्फोटनं न कुर्यात्। अव्यक्तदन्तशब्दात्मकं क्ष्वेडनं न कुर्यात्। न च सानुरागो रासभादिरावं कुर्यात्।। ६४।।

न नाचे, न गाए और न ही वाद्ययन्त्रों को बजाए। न दाँतों से अव्यक्त शब्द करे और न ही अत्यधिक प्रसन्न होकर विपरीत शब्द करे।। ६४।।

न पादौ धावयेत्कांस्ये कदाचिदपि भाजने।
न भिन्नभाण्डे भुञ्जीत न भावप्रतिदूषिते।। ६५।।

कांस्यपात्रे कदाचित्पादौ न प्रक्षालयेत्। ताम्ररजतसुवर्णानां भिन्नमभिन्नं वेति न दोष इति पैठीनसिवचनादेतद्व्यतिरिक्तभिन्नभाण्डे न भोजनं कुर्यात्। यत्र मनो विचिकित्सति तद्भावदुष्टं तत्र न भुञ्जीत।। ६५।।

कभी भी कांसे के बर्तन में पैरों को न धोवे तथा फूटे हुए अपने को अच्छा न लगने वाले पात्र में भोजन न खाये।। ६५।।

उपानहौ च वासश्च धृतमन्यैर्न धारयेत्।
उपवीतमलंकारं स्रजं करकमेव च।। ६६।।

उपानद्वस्त्रयज्ञोपवीतालंकारपुष्पमालाकमण्डलून्परोपभुक्तान्न धारयेत्।। ६६।।

दूसरों के पहने हुए जूते, कपड़े, यज्ञोपवीत, आभूषण, माला एवं कमण्डल को धारण न करे।। ६६।।

नाविनीतैर्व्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः।
न भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः।। ६७।।

अश्वगजादिभिर्वाहनैरदमितैः क्षुधा व्याधिना च पीडितैर्भिन्नशृङ्गाक्षिखुरैश्छिन्नवालधिभिश्च न यायात्।। ६७।।

न बिगडैल, न भूखे अथवा रोग से पीडित, न टूटे हुए सींग और खुर वाले और फूटी आँख वाले न पूँछ से रहित वाहन द्वारा कहीं जाना चाहिए।। ६७।।

विनीतैस्तु व्रजेन्नित्यमाशुगैर्लक्षणान्वितैः।
वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम्।। ६८।।

दमितैः शीघ्रगामिभिः शुभसूचकलक्षणोपेतैः शोभनवर्णैर्मनोज्ञाकृतिभिः प्रतोदेनात्यर्थमपीडयनाच्छेत्।। ६८।।

जबकि विनम्र, सुन्दर लक्षणों से युक्त, शीघ्र चलने वाले, रंग रूप से सुन्दर (घोड़ों या बैलों वाले वाहन से) चाबुक द्वारा अत्यधिक चोट न मारते हुए ही हमेशा सवारी करे।। ६८।।

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्यं भिन्नं तथासनम्।
(श्रीकामो वर्जयेन्नित्यं मृन्मये चैव भोजनम्।)
न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान्।। ६९।।

प्रथमोदितादित्यतापो बालातपः स च मुहूर्तत्रयं यावदिति मेधातिथिः। कन्यार्कातप इत्यन्ये। प्रेतधूमो दह्यमानशवधूमः। भग्नासनं च एतानि वर्जनीयानि। नखानि च रोमाणि च प्रवृद्धानि न छिन्द्यात्। दन्तैश्च नखान्नौत्पाटयेत्।। ६९।।

प्रातःकालिक धूप, मृतक की चिता का धुँआ तथा छिन्नभिन्न आसन त्यागने योग्य है। (लक्ष्मी की कामना करने वाला व्यक्ति मिट्टी के पात्र में भोजन का भी हमेशा परित्याग करे।) नाखून और रोमों का कर्तन न करे तथा दाँतों द्वारा नाखूनों को न उखाड़े।। ६९।।

न मृल्लोष्टं च मृद्नीयान्न च्छिन्द्यात्करजैस्तृणम्।
न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम्।। ७०।।

"नाकारणं मृल्लोष्टं मृद्नीयात्। तृणानि च न छिन्द्यात्" इत्यापस्तम्बवचनान्निष्प्रयोजनं मृल्लोष्टमर्दनं नखैश्च तृणच्छेदनं न कुर्यात्। ननु "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्" (अ० ४ श्लो० ६३) इत्यनेनैवास्यापि प्रतिषेधसिद्धौ दोषभूयस्त्वं प्रायश्चित्तगौरवं च दर्शयितुं विशेषेण निषेधः। अत एवात्रानन्तरं लोष्ठमर्दीति निन्दिष्यति। दृष्टादृष्टफलशून्यं च कर्म न कुर्यात्। ननु "न कुर्वीत वृथाचेष्टाम्" (अ० ४ श्लो० ६३) इत्यनेन

पुनरुक्तिः। उच्यते। देहव्यापारश्चेष्टा स वृथाचेष्टाशब्देन निषिद्धः, अनेन तु निष्फलं मनोग्राह्यादिसंकल्पात्मकं कर्म मानसं निषिध्यते। यच्च आयत्यामागामिकाले कर्मासुखावहं यथाऽऽजीर्णे भोजनादि तदपि न कुर्यात्।। ७०।।

मिट्टी के लोंदे का मर्दन न करे। नाखूनों द्वारा तिनके को न काटे। भविष्य में दुःख प्रदान करने वाले फालतू के काम न करे।। ७०।।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च।। ७१।।

लोष्ठमर्दयिता तृणच्छेत्ता नखखादिता च यो मनुष्यस्तथा सूचकः खलो यः परस्य दोषानसतः सतो वा ख्यापयति बाह्याभ्यन्तरशौचरहितः शीघ्रमेते देहधनादिना विनश्यन्ति।। ७१।।

जो व्यक्ति मिट्टी के लोंदे को मसलने वाला, तिनके को नाखून से काटने वाला, नाखूनों को खाने वाला, चुगली करने वाला तथा अपवित्र है। वह शीघ्र ही विनाश को प्राप्त हो जाता है।। ७१।।

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्माल्यं न धारयेत्।
गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम्।। ७२।।

न चाभिनिवेशेन कथां शास्त्रीयेष्वर्थेषु लौकिकेषु वा कुर्यात्, केशकलापाद्बहिर्माल्यं न धारयेत्। गवां च पृष्ठेन यानं सर्वथेति प्रवेण्यादिव्यवधानेनाप्यधर्मावहम्। पृष्ठेनत्यभिधानादाकृष्टशकटादिना न दोषः।। ७२।।

अहंकारपूर्वक बातचीत न करे। माला को बाहर धारण न करे। इसके अतिरिक्त बैल की पीठ के ऊपर सवारी करना तो पूर्णतया निन्दित ही है।। ७२।।

अद्वारेण च नातीयाद् ग्रामं वा वेश्म वावृतम्।
रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत्।। ७३।।

प्राकाराद्यावृतं गृहं च द्वारव्यतिरिक्तप्रदेशेन प्राकारादिलङ्घनं कृत्वा न विशेत्। रात्रौ च वृक्षमूलावस्थानं दूरतस्त्यजेत्।। ७३।।

चहारदिवारी आदि से घिरे गाँव या घर में द्वार को छोड़कर अन्य रास्ते से प्रवेश न करे। रात्रि में पेड़ की जड़ों को तो दूर से ही छोड़ दे।। ७३।।

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नोपानहौ हरेत्।
शयनस्थो न भुञ्जीत न पाणिस्थं न चासने।। ७४।।

ग्लहं विना कदाचिदपि परिहासेनापि नाक्षादिभिः क्रीडेत्। स्वयमित्यभिधाना-दात्मोपानहौ पादव्यतिरिक्तेन हस्तादिना देशान्तरं न नयेत्। शय्याद्यवस्थितश्च न

भुञ्जीत। हस्ते च प्रभूतमन्नं कृत्वा क्रमेण न खादेत्। आसने भोजनपात्रं निधाय न भुञ्जीत।। ७४।।

कभी भी पासों द्वारा (जुआ) न खेले। जूता स्वयं (हाथ में) न ले जावे। न शय्या पर बैठकर, न हाथ पर रखकर और न ही आसन पर (थाली रखकर) भोजन करे।। ७४।।

सर्वं च तिलसंबद्धं नाद्यादस्तमिते रवौ।
न च नग्नः शयीतेह न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्।। ७५।।

यत्किंचित्तिलसंमिश्रं कृसरमोदकादि तदस्तमितेऽर्के नाद्यात्। उपस्थाच्छादनवासो-रहितो नेह लोके सुप्यात्। उच्छिष्टस्तु नान्यतो गच्छेत्।। ७५।।

सूर्य के अस्त होने पर तिलों से बने हुए सभी पदार्थ न खावे। इस संसार में नग्न होकर नहीं सोवे तथा जूठे मुँह कहीं भी नहीं जावे।। ७५।।

आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जानो दीर्घमायुरवाप्नुयात्।। ७६।।

जलार्द्रपादो भोजनमाचरेत्। नार्द्रपादः सुप्यात्। यस्मादार्द्रपादो भुञ्जानः शतायुर्भवति।। ७६।।

किन्तु गीले पैर भोजन करे, जबकि गीले पैरों से सोना नहीं चाहिए। गीले पैर भोजन करने वाला व्यक्ति लम्बी आयु को प्राप्त करता है।। ७६।।

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।
न विण्मूत्रमुदीक्षेत् न बाहुभ्यां नदीं तरेत्।। ७७।।

तरुगुल्मलतागहनत्वेनाचक्षुर्गोचरमरण्यादिदेशं दुर्गं नाक्रामेत्। सर्पचौरादेरन्तर्हितस्य संभवात्। पुरीषं मूत्रं च न निरीक्षेत। बाहुभ्यां च नदीं न तरेत्।। ७७।।

आँखों से न दिखायी देने वाले, दुर्गमस्थान पर कभी नहीं जाना चाहिए। मल-मूत्र को न देखे तथा भुजाओं से नदी को पार न करे।। ७७।।

अधितिष्ठेन्न केशांस्तु न भास्मास्थिकपालिकाः।
न कार्पासास्थि न तुषान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः।। ७८।।

दीर्घमायुर्जीवितुमिच्छुः केशादीन्नाधिरोहेत्। भग्नमृन्मयभाजनशकलानि कपालिकाः ।।७८।।

लम्बी आयु को जीने का इच्छुक व्यक्ति बालों पर, राख पर, हड्डी पर तथा फूटे मिट्टी के टुकड़ों पर, बिनौलों पर एवं भूसे पर न बैठे।।७८।।

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालैर्न पुल्कसैः।
न मूर्खैर्नावलिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः।। ७९।।
(न कृतघ्नैरनुद्युक्तैर्न महापातकान्वितैः।
न दस्युभिर्नाशुचिभिर्नामित्रैश्च कदाचन।। ५।।)

पतितादिभिर्ग्रामान्तरवासिभिरपि सह न संवसेत्। एकतरुच्छायादौ न समीपे वसेत्। अतो "नाधार्मिके वसेद्ग्रामे" (अ० ४ श्लो० ६०) इत्यतो भेदः। निषादाच्छूद्रायां जातः पुल्कसः। वक्ष्यति च "जातो निषादाच्छूद्रायां जात्या भवति पुल्कसः" (अ० १० श्लो० १८) इति। अवलिप्ता धनादिमदगर्विताः। अन्त्या अन्त्यजा रजकादयः। अन्त्यावसायिनो निषादस्त्रियां चाण्डालाज्जाताः। वक्ष्यति च "निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम्" (अ० १० श्लो० ३९)।। ७९।।

(मनुष्य) न पतितों, न चाण्डालों तथा न पुल्कसों, न मूर्खों, न अहंकारियों, न शूद्रों, न अन्त्यावसायियों के साथ निवास करे।। ७९।।

(व्यक्ति को न कृतघ्न, न आलसी, न महापातकों से युक्त, न डाकू, न अपवित्र और न शत्रुओं के साथ कभी बैठना चाहिए।। ५।।)

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्।। ८०।।
(अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत।। ६।।)

शूद्राय मतिं दृष्टार्थोपदेशं न दद्यात्। धर्मोपदेशस्य पृथङ्निर्देशात्। अदासशूद्रायोच्छिष्टं न दद्यात्। दासगोचरतया "उच्छिष्टमन्नं दातव्यम्" (अ०१० श्लो० १२५) इति वक्ष्यमाणत्वाददोषः। "द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्" इति भोक्तुर्विधिर्दातुरुच्छिष्टदाननिषेधेऽपि यथासंभवलब्धविषयः। हविष्कृतमिति। यस्यैकदेशो हुतः स हविःशेषो न दातव्यः। धर्मोपदेशो न शूद्रस्य कर्त्तव्यः। व्रतं चास्य प्रायश्चित्तरूपं साक्षान्नोपदिशेत्, किन्तु ब्राह्मणं मध्ये कृत्वा तदुपदेशव्यवधानात्। यथाहाङ्गिराः-"तथा शूद्रं समासाद्य सदा धर्मपुरःसरम्। अन्तरा ब्राह्मणं कृत्वा प्रायश्चित्तं समादिशेत्" प्रायश्चित्तमिति सकलधर्मोपदेशस्योपलक्षणार्थम्।। ८०।।

शूद्र के लिए न बुद्धि, न उच्छिष्ट, और न हवि का शेष भाग प्रदान करना चाहिए। न इसे धर्म का उपदेश देवे और न इसके लिए व्रत का आदेश करे।। ८०।।

(ब्राह्मण को बीच में करके शूद्र को प्रायश्चित्त व्रतों का उपदेश करे।। ६।।)

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम्।
सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव मज्जति।। ८१।।

यस्माद्योऽस्य शूद्रस्य धर्मं ब्रूते यश्च प्रायश्चित्तमुपदिशति स तेन शूद्रेणैव सहासंवृताख्यं तमो गहनं नरकं प्रविशति। पञ्चसु पूर्वोक्तेषु द्वयोर्दोषकथनं प्रायश्चित्तगौरवार्थम्।। ८१।।

वस्तुतः जो इस शूद्र को धर्म का उपदेश देता है तथा जो इसे व्रत का आदेश देता है। वह उसके साथ ही अंधकार से भरे हुए 'असंवृत' नामक नरक में डूब जाता है।। ८१।।

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः।
न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः।। ८२।।

संश्लिष्टाभ्यां पाणिभ्यां न कण्डूयेदात्मनः शिरः। उच्छिष्टः स्वशिरो न स्पृशेत्। शिरसा विनोन्मज्जनव्यतिरेकेण नित्यनैमित्तिकस्नाने न कुर्यात्। दृष्टार्थे शिरोव्यतिरिक्तगात्रप्रक्षालने न दोषः। स्नानशक्तस्य चायं निषेधः। अशक्तस्य तु "अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्" इति जाबालिना विहितमेव।। ८२।।

मिले हुए दोनों हाथों से अपना सिर न खुजलावे। जूठे मुँह होने पर सिर को न छुए तथा बिना सिर (धोए) स्नान न करे।। ८२।।

केशग्रहान्प्रहारांश्च　　शिरस्येतान्विवर्जयेत्।
शिरःस्नातश्च तैलेन नाङ्गं किंचिदपि स्पृशेत्।। ८३।।

कोपेन केशग्रहप्रहारौ शिरसि वर्जयेत्। कोपनिमित्तत्वच्चात्मनः परस्य च प्रतिषेधः। अत एव सुरतसमये कामिनीकेशग्रहस्यानिषेधः। सशिरस्कस्नातस्य तैलेन न किंचिदप्यङ्गं स्पृशेत्। अथवा तैलेनेति काकाक्षिवदुभयत्र संबध्यते। तैलेन शिरःस्नातः तैलेन पुनः किंचिदप्यङ्गं न स्पृशेत्। अतो रात्रौ शिष्टानामतैलशिरःस्नातानां तैलेन पादाभ्यङ्गसमाचरणमविरुद्धम्।। ८३।।

सिर के बालों को पकड़ना तथा सिर पर प्रहार करना, इन बातों का परित्याग कर दे। सिर से स्नान किए हुए के किसी भी अङ्ग का तैल से स्पर्श न करे।। ८३।।

न राज्ञः　प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतितः।
सूनाचक्रध्वजवतां वेशेनैव च जीवताम्।। ८४।।

राजन्यशब्दः क्षत्रियवचनः। अक्षत्रियप्रसूतस्य राज्ञो धनं न प्रतिगृह्णीयात्।

"राजतोधनमन्विच्छेत्" इत्युक्तं तस्यायं विशेष उक्तः सूनाचक्रध्वजवतामिति। सूनावतां चक्रवतां ध्वजवतां च। सूना प्राणिवधस्थानं तद्यस्यास्तीति स सूनावान्पशुमारणपूर्वकमांसविक्रयजीवी। चक्रधान्वीजवधविक्रय जीवी तैलिकः। ध्वजवान्मद्यविक्रयजीवी शौण्डिकः। वेशः पण्यस्त्रिया भृतिः तया तो जीवति स्त्री पुमान्वा स वेशवान्। एतेषां च न प्रतिगृह्णीयात्।। ८४।।

क्षत्रिय से उत्पन्न न होने वाले, कसाई, तेली, शौण्डिक तथा वेश द्वारा आजीविका चलाने वाली (वैश्या) से दान स्वीकार न करे।। ८४।।

दशसूनासमं चक्रं दशचक्रसमो ध्वजः।
दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः।। ८५।।

गोविन्दराजस्तु "दशवेश्यासमो नृपः" इति पठति। मेधातिथिप्रभृतयः प्राञ्चो "दशवेशसमो नृपः" इति पठन्ति। सूनादिशब्दैस्तद्वानुपलक्ष्यते। दशसूनावत्सु यावान्दोषस्तावानेकस्मिन् चक्रवति तैलिके, यावान्दशसु तैलिकेषु दोषस्तावानेकध्वजवति शौण्डिके, यावान्दशसु ध्वजवत्सु दोषस्तावानेकत्र वेशवति, यावान्दशसु वेशवत्सु दोषस्तावानेकत्र राजनि। उत्तरोत्तरनिन्दा चेयं पूर्वदातृसंभवे सत्युत्तरवर्जनार्थमपेक्षया योज्यते।। ८५।।

क्योंकि दस कसाइयों के समान एक तेली, दस तेलियों के समान एक शौण्डिक तथा दस शौण्डिक के समान एक वेश्या और दस वेश्याओं के समान एक अक्षत्रिय राजा होता है।। ८५।।

दश सूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः।
तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः।। ८६।।

सूनया चरतीति सौनिकः। एवं संकलनया यत्सौनिको दशसहस्राणि स्वार्थे व्यापादयति तेन तुल्यो राजा मन्वादिभिः स्मृतः। तस्मात्तस्य प्रतिग्रहो नरकहेतुत्वाद्भयानकः क्षत्रियस्यापि च।। ८६।।

जो सैनिक दस हजार प्राणियों को स्वार्थ के लिए मारता है (अक्षत्रिय) राजा उसी के समान कहा गया है। इसलिए उसका दान स्वीकार करना अत्यन्त भयंकर है।। ८६।।

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम्।। ८७।।

यो राज्ञः कृपणस्य शास्त्रोल्लङ्घनेन प्रवर्तमानस्य प्रतिग्रहं करोति स क्रमेणैतान्वक्ष्यमाणैकविंशतिं नरकान्गच्छति।। ८७।।

शास्त्रों के विपरीत आचरण करने वाले लोभी राजा से जो दान स्वीकार करता है। वह क्रमशः इन इक्कीस नरकों में जाता है।। ८७।।

पूर्वश्लोके सामान्यतो नरकानिमानेकविंशतिमित्युक्तमिदानीं तानेव नामतो निर्दिशति-तामिस्रमिति त्रिभिः।।

तामिस्रमन्धतामिस्रं महारौरवरौरवौ।
नरकं कालसूत्रं च महानरकमेव च।। ८८।।
संजीवनं महावीचिं तपनं संप्रतापनम्।
संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम्।। ८९।।
लोहशङ्कुमृजीषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम्।
असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च।। ९०।।

एतेषां नरकाणां स्वरूपं मार्कण्डेयपुराणादिषु विस्तरेणोक्तं तत्रैवावगन्तव्यम्।। ८८।। ।। ८९।। ९०।।

तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्र नरक तथा महानरक।। ८८।।

संजीवन, महावीचि, तपन, संप्रतापन, संघात, कालोल, कुड्मल तथा प्रतिमूर्तिक।। ८९।।

लोहशंकु, ऋजीष, पन्था, शाल्मली, नदी, असिपत्रवन तथा लोहदारक (ये ही वे इक्कीस नरक हैं)।। ९०।।

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः।
न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकाङ्क्षिणः।। ९१।।

प्रतिग्रहो विविधनरकहेतुरिति जानन्तो ब्राह्मणा धर्मशास्त्रपुराणादिविदो वेदाध्यायिनो जन्मान्तरे श्रेयःकामवन्तो न राज्ञः प्रतिगृह्णीयुः। विदुषो हि प्रतिग्रहे नातीव दोषः। यतो वक्ष्यति "तस्मादविद्वान्बिभीयात्" (अ० ४ श्लो० १९१) इति। तेषामपि निषिद्धो राजप्रतिग्रहः प्रचुरप्रत्यवायफलक इति दर्शयितुं विद्वद्ग्रहणं ब्रह्मवादिग्रहणं च।। ९१।।

इस बात को जानते हुए, परलोक में कल्याण की कामना करने वाले ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण (दोषी और शास्त्रविरूद्ध आचरण करने वाले) राजा का दान स्वीकार नहीं करते हैं।। ९१।।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च।। ९२।।

ब्राह्मो मुहूर्तो रात्रेः पश्चिमो यामः। ब्राह्मी भारती तत्प्रबोधहेतुत्वात्। मुहूर्तशब्दोऽत्र कालमात्रवचनः। तत्र बुध्येत। दक्षेणामि "प्रदोषपश्चिमौ यामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्। प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते" इति ब्रुवता तत्र प्रबोधोऽभ्यनुज्ञातः। गोविन्दराजस्तु "रात्रेः पश्चिमे मुहूर्ते बुध्येत" इत्याह। धर्मार्थौ च परस्पराविरोधेनानुष्ठानार्थमवधारयेत्। तथा धर्मार्थार्जनहेतून्कायक्लेशान्निरूपयेत्। यदि महान्कायक्लेशोऽल्पौ च धर्मार्थौ वा तदा तं परिहरेत्। वेदस्य तत्त्वार्थं ब्रह्मकर्मात्मकं निश्चिनुयात्। तस्मिन्समये बुद्धिप्रकाशात्।। ९२।।

ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना चाहिए। धर्म एवं अर्थ का, शरीर के क्लेशों एवं उनके कारणों का तथा वेद के तत्त्व एवं अर्थ का चिन्तन करना चाहिए।। ९२।।

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम्।। ९३।।

तत उषःकाले शय्याया उत्थाय सति वेगे मूत्रपुरीषोत्सर्गं कृत्वात्र कृतवक्ष्यमाणशौचोऽनन्यमनाः पूर्वां संध्यां चिरं गायत्रीजपं कुर्वन्वर्तेतार्कदर्शनात्। अयं विधिः प्रातःसंध्यायामुक्तः। उदयादूर्ध्वमपि जपेदायुरादिकाम इति विधानार्थोऽयमारम्भः। अपरामपि सँध्याँ स्वकाले प्रारभ्य तारकोदयादूर्ध्वमपि जपन्नासीत।। ९३।।

उठकर आवश्यक कार्य करके, स्नानादि से पवित्र होकर, एकाग्रचित हुआ, प्रातःकालिक संध्या तथा सायंकालिक संध्या में अपने समय पर देर तक जप करता हुआ रहे।। ९३।।

आयुरादिकामाधिकारोऽयमिति दर्शयन्नाह-

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च।। ९४।।

संध्याशब्दोऽत्र संध्यानुष्ठेयजपादिपरः। यस्मादृषयो दीर्घसंध्यानुष्ठानाद्दीर्घमायुः जीवन्तः प्रज्ञां यशोऽमृतां च कीर्तिमध्ययनादिसंपन्नं यशश्च प्राप्नुयुः। तस्मादायुरादिकामश्चिरं संध्यामुपासीत।। ९४।।

देर तक संध्या करने से ऋषियों ने लम्बी आयु, प्रज्ञा, यश, कीर्ति एवं ब्रह्मतेज को प्राप्त किया।। ९४।।

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपञ्चमान्।। ९५।।

श्रावणस्य पौर्णमास्यां भाद्रपदस्य वा स्वगृह्यानुसारेणोपाकर्माख्यं कर्म कृत्वा सार्धांश्चतुरो मासान्ब्राह्मणत्युक्तो वेदानधीयीत।। ९५।।

श्रावण अथवा भाद्रपद मास की पूर्णिमा को विधिपूर्वक उपाकर्म करके एकाग्रचित्त हुआ ब्राह्मण साढ़े चार महीने तक वेदों का अध्ययन करे।। ९५।।

पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्णे प्रथमेऽहनि।। ९६।।

ततः पक्षाधिकेषु चतुर्षु मासेषु यः पुष्यस्तत्र ग्रामाद्बहिर्गत्वा स्वगृह्यानुसारेणोत्सर्गाख्यं कर्म कुर्यात्। अथवा माघशुक्लस्य प्रथमेऽहनि पूर्वाह्णे कुर्यात्। माघशुक्ले च विधिः प्रौष्टपद्यां येनोपाकर्म न कृतं तद्विषयः।। ९६।।

ब्राह्मण, गाँव से बाहर जाकर पुण्यनक्षत्र में या फिर माघ शुक्ला प्रतिपदा के आने पर, पूर्वाह्ण में वेदों का उत्सर्गकर्म करे।। ९६।।

यथाशास्त्रं तु कृत्वैवमुत्सर्गं छन्दसां बहिः।
विरमेत्पक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम्।। ९७।।

एवमुक्तशास्त्रानुसारेण ग्रामाद्बहिश्छन्दसामुत्सर्गाख्यं कर्म कृत्वा पक्षिणीं रात्रिं विरमेन्नाधीयीत। द्वे दिने पूर्वापरे पक्षाविव यस्या मध्यवर्तिन्या रात्रेः सा पक्षिणी रात्रिः। अस्मिन्पक्षे तूत्सर्गाहोरात्रे द्वितीयदिने चाह्नि नाध्येतव्यं द्वितीयरात्रौ त्वध्येतव्यम्। अथवा तमेवैकमुत्सर्गाहोरात्रमनध्यायं कुर्यात्। विद्यानैपुण्यकामं प्रत्ययमहोरात्रा-नध्यायविधिः।। ९७।।

इसप्रकार शास्त्रोक्तविधि के अनुसार गाँव से बाहर वेदों का उत्सर्गकर्म करके, पक्षिणी रात्रि में या उसी एक रात और दिन अनध्याय (विराम) रखे।। ९७।।

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत्।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत्।। ९८।।

उत्सर्गानध्ययनादूर्ध्वं मन्त्रब्राह्मणात्मकं वेदं शुक्लपक्षेषु संयतः पठेत्। सर्वाणि तु वेदाङ्गानि शिक्षाव्याकरणादीनि कृष्णपक्षेषु पठेत्।। ९८।।

इसके पश्चात् संयमपूर्वक शुक्लपक्ष में सभी वेदों को पढ़े तथा कृष्णपक्ष में सभी वेदाङ्गों का भलीप्रकार अध्ययन करे।। ९८।।

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंनिधौ।
न निशान्ते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्।। ९९।।

स्वरर्णाद्यभिव्यक्तिशून्यं शूद्रसंनिधौ च नाधीयीत। तथा रात्रेः पश्चिमे यामे सुप्तोत्थितो वेदमधीत्य श्रान्तो न पुनः सुप्यात्।। ९९।।

न अस्पष्ट रूप से, न शूद्रजनों के पास में होने पर अध्ययन करे तथा रात्रि के अन्तिमप्रहर में सोकर उठा हुआ, वेदों का अध्ययन करके थका हुआ भी, फिर शयन न करे।। ९९।।

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्।
ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्तो ह्यनापदि।। १००।।

यथोक्तविधिना नित्यं छन्दस्कृतं गायत्र्यादिछन्दोयुक्तं मन्त्रमात्रं पठेत्। मन्त्राणामेव कर्मान्तरङ्गत्वात्। अनापदि सम्यक्करणादौ सति ब्रह्म ब्राह्मणं मन्त्रजातं च यथोक्तविधिना युक्तः सन्द्विजः पठेत्।। १००।।

ब्राह्मण पहले कही गई विधि के अनुसार छन्दोंसहित मन्त्रभाग को पढ़े तथा आपत्तिरहित समय में एकाग्रचित हुआ ब्राह्मण एवं वेदमन्त्र दोनों का ही अध्ययन करे।। १००।।

इमान्नित्यमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।
अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम्।। १०१।।

इमान्वक्ष्यमाणाननध्यायान्सर्वथा यथोक्तविधिनाधीयानः शिष्याध्यापनं च कुर्वाणो गुरुर्वर्जयेत्।। १०१।।

वेदों का अध्ययन करने वाला तथा शिष्यों को विधिपूर्वक वेदों का अध्यापन करने वाला ब्राह्मण, इन अनध्यायों का हमेशा परित्याग करे।। १०१।।

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने।
एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते।। १०२।।

रात्रौ कर्णश्रवणयोग्यशब्दजनके वायौ वाति। गोविन्दराजस्तु "कर्णाभ्यामेव श्रवणोपपत्तेरतिशयविवक्षया कर्णश्रव इत्युक्तं, तेनातिशब्दवति वायौ वाति" इत्य भिहितवान्। दिवा च धूलिपटलोत्सारणसमर्थे वायौ वहति एतौ वर्षाकालेऽनध्यायौ तात्कालिकावध्यापनविधिज्ञा मुनयः कथयन्ति।। १०२।।

रात्रि में कान में सुनाई देने वाली, दिन में धूलि के समूह को उड़ाने वाली वायु के चलने पर तथा इन दोनों की अध्यापनविधि को जानने वाले विद्वानों द्वारा वर्षाकाल में अनध्याय कहा जाता है।। १०२।।

विद्युत्स्तनितवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे।
आकालिकमनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत्।। १०३।।

विद्युद्गर्जितवर्षेषु द्वन्द्वनिर्देशाद्युगपदुपस्थितेषु महतीनां चोल्कानां संप्लव इतस्तत: पाते सति। आकालिकमिति तु निमित्तकालादारभ्यापरेद्युर्यावत्स एव कालस्तावत्पर्यन्तमनध्यायमेतेषु मनुरवोचत्।। १०३।।

विद्युत और गर्जना के साथ वर्षा होने पर, महान् उल्काओं के गिरने पर, इनमें आकालिक अनध्याय होता है, ऐसा मनु ने कहा है।। १०३।।

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्निषु।
तदा विद्यादनध्यायमनृतौ चाभ्रदर्शने।। १०४।।

एतान्विद्युदादीन्यदा होमार्थं प्रकटीकृताग्निकालेषु संध्याक्षणेषु युगपदुत्पन्नाञ्जानीयात्तदानध्यायं वर्षासु कुर्यान्न सर्वदा। तथानृतौ प्रादुष्कृताग्निकालेषु मेघदर्शनमात्रे सत्यनध्यायो न वर्षासु।। १०४।।

होम के लिए अग्नि को प्रज्वलित करने पर जब बिजली, गर्जन एवं वर्षा उल्कापात आदि इन सबको प्रकट हुआ समझे तब तथा बिना वर्षाऋतु के बादल दिखायी देने पर भी अनध्याय समझना चाहिए।। १०४।।

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने।
एतानाकालिकान्विद्यादनध्यायानृतावपि।। १०५।।

अन्तरिक्षभवोत्पातध्वनौ भूकम्पे सूर्यचन्द्रतारागणानां चोपसर्गे सत्यनध्यायानिमानाकालिकाञ्जानीयात्। आकालिकशब्दार्थो व्याकृत एव। ऋतावपि वर्षासु किल भूकम्पादयो न दोषावहा इत्यभिप्रायेणर्तावपीत्युक्तं, अपिशब्दादन्यत्रापि।। १०५।।

इसके अतिरिक्त आकाश में उत्पातसूचक ध्वनि होने पर, भूकम्प आने पर तथा ग्रहों के आपस में टकराने पर वर्षाऋतु के न होने पर भी, इन सबको आकालिक अनध्याय समझना चाहिए।। १०५।।

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनि:स्वने।
सज्योति: स्यादनध्याय: शेषे रात्रौ यथा दिवा।। १०६।।

होमार्थं प्रकाशितेष्वग्निषु संध्यायां यदा विद्युद्गर्जितशब्दावेव भवतो नतु वर्षं तदा सज्योतिरनध्याय: स्यात् नाकालिक:। तत्र यदि प्रात:संध्यायां विद्युद्गर्जितशब्दौ तदा यावत्सूर्यज्योतिस्तावदनध्यायो दिनमात्रमेव यदि सायंसंध्यायां तौ स्यातां तदा यावन्नक्षत्रज्योतिस्तावदनध्यायो रात्रिमात्रमिति रात्रौ स्तनितविद्युद्वर्षेष्विति त्रयाणां पूर्वोक्तानां शेषे वर्षाख्ये त्रितये जाते यथा दिवानध्यायस्तथा रात्रावपि। अहोरात्र एवेत्यर्थ:।। १०६।।

अग्नि के प्रदीप्त होने पर, विद्युत के चमकने तथा गर्जन का शब्द होने पर 'सज्योति' नामक अनध्याय होता है। यह शेष रात्रि में भी दिन के समान ही होता है।। १०६।।

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च।
धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा।। १०७।।

नैपुण्यविषयो धर्मातिशयार्थिनो ग्रामनगरयोः सर्वदानध्यायः स्यात्। कुत्सितगन्धे च सर्वस्मिन्नपि गम्यमाने धर्मनैपुण्यकामं प्रत्ययं विद्यानध्यायोपदेशो विद्यानैपुण्यकामस्य कदाचिदध्ययनमनुजानाति। ये शिष्याः केचिद्गृहीतवेदाध्ययनजन्मादृष्टेच्छवस्ते धर्मनैपुण्यकामाः। केचित्प्रथमाध्येतारो विद्यातिशयमात्रार्थिनस्ते विद्यानैपुण्य-कामाः।। १०७।।

धर्म में कुशलता की अभिलाषा रखने वाले व्यक्तियों का दुर्गन्धयुक्त गाँवों तथा नगरों में हमेशा 'नित्य अनध्याय' होवे।। १०७।।

अन्तर्गतशवे ग्रामे वृषलस्य च संनिधौ।
अनध्यायो रुद्यमाने समवाये जनस्य च।। १०८।।

अन्तर्गतः शवो यम्मिन्ग्रामे ज्ञायते तत्र। वृषलोऽधार्मिकस्तस्य संनिधौ नतु शूद्रः। तस्य "न शूद्रजनसंनिधौ" इति निषेधात्। रुद्यमाने रोदनध्वनौ। भावे लकारः। कार्यान्तरार्थं बहुजनमेलके सत्यनध्यायः।। १०८।।

गाँव के अन्दर शव के रहने पर तथा धार्मिक के समीप में स्थित होने पर, लोगों के रुदन करने पर और लोगों की भीड़ होने पर भी अनध्याय होता है।। १०८।।

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।
उच्छिष्टः श्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत्।। १०९।।

उदकमध्ये मध्यरात्रे च मुहूर्तचतुष्टये च निशायां च चतुर्मुहूर्तमिति गौतमस्मरणात्। गोविन्दराजस्तु रात्रिमध्यप्रहरद्वय इत्युक्तवान्। तथा मूत्रपुरीषोत्सर्गकालेऽन्नभोजनादिना चोच्छिष्टो निमन्त्रणसमयादारभ्य श्राद्धभोजनाहोरात्रं यावन्मनसापि वेदं न चिन्तयेत्।। १०९।।

जलमें, रात्रि के मध्य में, मल-मूत्र विसर्जन करने पर तथा श्राद्ध में भोजन करने के पश्चात् जूठे मुँह से युक्त, मन के द्वारा भी वेद का चिन्तन न करे।। १०९।।

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्।
त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके।। ११०।।

एक एवोद्दिश्यते यत्र श्राद्धे तदेकोद्दिष्टं नवश्राद्धं तत्केतनं निमन्त्रणं गृहीत्वा निमन्त्रणादारभ्य क्षत्रियस्य जनपदेश्वरस्य पुत्रजन्मादिसूतके राहोश्चसूतकं चन्द्रसूर्योपरागः तत्र त्रिरात्रं वेदं नाधीयीत।। ११०।।

विद्वान् ब्राह्मण को एकोद्दिष्ट नामक श्राद्ध के निमन्त्रण को स्वीकार करके तथा राहु और राजा के अशौच में तीन दिन तक वेद नहीं पढ़ना चाहिए।। ११०।।

यावदेकानुदिष्टस्य गन्धो लेपश्च तिष्ठति।
विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत्।। १११।।

यावदेकस्यानुद्दिष्टस्योच्छिष्टस्य सकुङ्कुमादेर्गन्धो लेपश्च ब्राह्मणस्य शास्त्रविदो देहे तिष्ठति तावन्त्यहोरात्राण्यूर्ध्वमपि वेदं नाधीयीत।। १११।।

इतना ही नहीं अपितु विद्वान् ब्राह्मण के शरीर में जब तक एकोद्दिष्ट श्राद्ध की गन्ध तथा लेप विद्यमान रहे, तब तक वह वेदों का अध्ययन न करे।। १११।।

शयानः प्रौढपादश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्।
नाधीयीतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च।। ११२।।

शय्यायां पतिताङ्ग आसनारूढपादः कृतावसक्थिको वा मांसं भुक्त्वा जननमरणाशौचिनां चान्नं भुक्त्वा नाधीयीत।। ११२।।

सोते हुए, पैरों के ऊपर पैर रखकर तथा घुटनों के बल बैठकर, मांस को तथा अशौच के अन्न को खाकर भी (वेद का अध्ययन न करे)।। ११२।।

नीहारे बाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः।
अमावास्याचतुर्दश्योः पौर्णमास्यष्टकासु च।। ११३।।

नीहारे धूलिकायां बाणशब्दे शरध्वनौ। "बाणो वीणाविशेषः" इत्यन्ये। प्रातः सायंसंध्ययोरमावास्याचतुर्दशीपौर्णमास्यष्टमीषु नाधीयीत। अष्टकासूत्तरत्र निषेधात्पौर्णमास्यादिसाहचर्यादष्टकाशब्दोऽष्टमीतिथिपरः।। ११३।।

कोहरा होने पर, बाण का शब्द होने पर, प्रातः एवं सायंकालिक दोनों संध्याओं में, अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा एवं अष्टमी तिथियों में (वेद का अध्ययन न करे)।। ११३।।

विशेषदोषमाह—

अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।
ब्रह्माष्टकापौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्।। ११४।।

यस्मादमावास्या गुरुं हन्ति, शिष्यं हन्ति चतुर्दशी, वेदं चाष्टमीपौर्णमास्यौ विस्मारयतः तस्मात्ता अध्ययनाध्यापनयोः परित्यजेत्।। ११४।।

अमावस्या गुरु को मार डालती है, चतुर्दशी शिष्य को विनष्ट कर देती है। अष्टमी एवं पूर्णिमा वेदज्ञान को भुला देती हैं। इसलिए उन तिथियों का (अध्ययन के विषय में) परित्याग कर देना चाहिए।। ११४।।

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा।
श्वखरोष्ट्रे च रुवति पङ्क्तौ च न पठेद्द्विजः।। ११५।।

धूलिवर्षे दिशां दाहे सृगालकुक्कुरगर्दभोष्ट्रेषु च रुवत्सु पङ्क्तौ चोपविश्य प्रकृतत्वात्सृगालश्वखरादीनामेव ब्राह्मणो न पठेत्।। ११५।।

धूल की वृष्टि होने पर, दिशाओं के तपने पर, गीदड़ के शब्द करने पर कुत्ते, गधे तथा ऊँट के रोने पर तथा पंक्ति में ब्राह्मण (वेद का अध्ययन न करे)।। ११५।।

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामन्ते गोव्रजेऽपि वा।
वसित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च।। ११६।।

श्मशानसमीपे, ग्रामसमीपे, गोष्टे च, मैथुनसमयधृतवासः परिधाय, श्राद्धीयं च सिद्धान्नादि प्रतिगृह्य नाधीयीत।। ११६।।

श्मशान के समीप में, गाँव के पास में अथवा गोशाला में, शयन के समय पहने गए, मैथुनवस्त्रों को पहने हुए तथा श्राद्धविषयक अन्नादि के दान को स्वीकार करके वेदों का अध्ययन न करे।। ११६।।

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत्।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः।। ११७।।

श्राद्धिकमन्नादि भुक्त्वा तावदनध्यायो भवतीत्युक्तम्। प्राणि वा गवाश्वादि, अप्राणि वा वस्त्रमाल्यादि, प्रतिग्रहकाले हस्तेन गृहीत्वानध्यायो भवति। यस्मात्पाणि-रेवास्यमस्येति पाण्यास्यो हि ब्राह्मणः स्मृतः।। ११७।।

श्राद्धविषयक गाय आदि जीव अथवा निर्जीव अन्नादि वस्तु को हाथ द्वारा लेने पर भी अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण हाथरूपी मुख वाला कहा गया है।। ११७।।

चोरैरुपद्रुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते।
आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वाद्भुतेषु च।। ११८।।

चौरैरुपद्रुते ग्रामे गृहादिदाहादिकृते भये दिव्यान्तरिक्षभौमेषु चाद्भुतेषूत्पातेष्वा-कालिकमनध्यायं जानीयात्।। ११८।।

गाँव में चोरों द्वारा आतंक फैलाने पर, घबराहट में, आग लगने पर, तथा सभीप्रकार के उत्पात आदि अद्‌भुत काम होने पर आकालिक अनध्याय समझना चाहिए।। ११८।।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम्।
अष्टकासु त्वहोरात्रमृत्वन्तासु च रात्रिषु।। ११९।।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रमध्ययनक्षेपणम्। उत्सर्गे पक्षिण्यहोरात्रावनध्यायावुक्तौ तत्रायं धर्मनैपुण्यकामं प्रति त्रिरात्रोपदेशः। तथाग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णपक्षाष्टमीषु तिसृषु चतसृषु चाहोरात्रमनध्यायः। दिवाकालमात्रसद्भावेऽपि पौर्णमास्यष्टकासु चेत्यनेन यावदष्टम्येवानध्याय इतराष्टमीषूक्त इत्यपुनरुक्तिः। ऋत्वन्ताहोरात्रेषु चानध्यायः।। ११९।।

उपाकर्म तथा उत्सर्गविषयक कार्यों में तीन दिन और रात का अनध्याय होता है। अष्टमी में तथा ऋतु के अन्त की रात्रियों में अहोरात्र का अनध्याय कहा गया है।। ११९।।

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्।
न नावं न खरं नोष्ट्रं नेरिणस्थो न यानगः।। १२०।।

तुरगतरुकरिनौकाखरोष्ट्रारूढः तथोषरदेशस्थः शकटादियानेन गच्छन्नाधीयीत।। १२०।।

न घोड़े पर, न वृक्ष पर, न हाथी पर, न नाव पर, न गधे पर, न ऊँट पर चढ़कर, न ऊसर धरती पर बैठकर तथा न वाहन पर जाते हुए (वेद का अध्ययन करे।। १२०।।

न विवादे न कलहे न सेनायां न संगरे।
न भुक्तमात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके।। १२१।।

विवादे वाक्कलहे, कलहे दण्डादण्ड्यादौ, सेनायामप्रवृत्तयुद्धायां, संगरे युद्धे, भोजनानन्तरं च यावदार्द्रहस्तः। "यावदार्द्रपाणिः" इति वसिष्ठस्मरणात्। तथाजीर्णेऽन्ने वमनं च कृत्वाम्लोद्गाने च न पठेत्।। १२१।।

न विवाद में, न कलह होने पर, न सेना में, न युद्ध में, न भोजन करने पर, न अजीर्ण होने पर, न वमन करके तथा न डकार आने पर (वेद का अध्ययन करे)।। १२१।।

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्।
रुधिरे च स्रुते गात्राच्छस्त्रेण च परिक्षते।। १२२।।

अध्ययनं करोमीति यावदतिथिरनुज्ञापितो न भवति, मारुते चात्यर्थं वाति, रुधिरे च गात्रात्स्रुते, रुधिरस्रावं विनापि शस्त्रेण क्षतमात्रेऽपि नाधीयीत।। १२२।।

अतिथि से आज्ञा प्राप्त किए बिना, अत्यधिक वायु (आँधी) चलने पर, शरीर से रक्त बहने पर तथा शस्त्र द्वारा घाव होने पर (वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिए)।। १२२।।

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन।
वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च।। १२३।।

सामध्वनौ च श्रूयमाणे ऋग्यजुषोः कदाचिदध्ययनं न कुर्यात्। वेदं च समाप्य आरण्यकाख्यं च वेदैकदेशमधीत्य तदहोरात्रे वेदान्तरं नाधीयीत।। १२३।।

(इसके अतिरिक्त) सामवेद की ध्वनि होने पर, कभी भी ऋग्वेद और यजुर्वेद का अध्ययन नहीं करना चाहिए। वेद का अध्ययन करके अथवा आरण्यक को अन्त तक पढ़ने पर भी (अनध्याय होता है)।। १२३।।

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।
सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः।। १२४।।

सामगानश्रुतौ ऋग्यजुषोरनध्याय उक्तस्तस्यायमनुवादः। ऋग्वेदो देव एव देवतास्येति देवदैवत्यः। यजुर्वेदो मानुषो मानुषदेवताकत्वात्। प्रायेण मानुषकर्मोपदेशाद्वा मानुषः। सामवेदः पितृदेवताकत्वात्पित्र्यः। पितृकर्म कृत्वा जलोपस्पर्शनं स्मरन्ति तस्मात्तस्याशुचिरिव ध्वनिः न त्वशुचिरेव। अतस्तस्मिञ्छ्रूयमाणे ऋग्यजुषी नाधीयीत।। १२४।।

ऋग्वेद का देव, यजुर्वेद का मनुष्य तथा सामवेद का पितर को देवता कहा गया है। इसलिए उसकी ध्वनि अपवित्र होती है।। १२४।।

एतद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्।
क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते।। १२५।।

एतद्वेदत्रयस्य देवमनुष्यपितृदेवताकत्वं जानन्तः शास्त्रज्ञास्त्रयीनिष्कर्षं सारोद्धृतं प्रणवव्याहृतिसावित्र्यात्मकं प्रणवव्याहृतिसावित्रीः क्रमेण पूर्वमधीत्य पश्चाद्वेदाध्ययनं कुर्युः। द्वितीयाध्यायोक्तोऽप्ययमर्थः पुनरनध्यायप्रकरणेऽभिहितः। यथैते यथोक्तानध्याया एवं प्रणवव्याहृतिसावित्रीष्वपठितास्त्वनध्याय इति दर्शयितुं शिष्यस्याध्यापनमेवं कर्तव्यमिति स्नातकव्रतत्वावगमार्थं च।। १२५।।

इसे जानते हुए विद्वान् लोग प्रतिदिन त्रयी के निष्कर्ष का क्रमशः पहले अभ्यास करके ही, बाद में वेदों का अध्ययन करते हैं।। १२५।।

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम्।। १२६।।

पशुर्गवादिः मण्डूकबिडालकुक्कुरसर्पनकुलमूषकैः शिष्योपाध्याययोर्मध्यागमने-ऽनध्यायमहोरात्रं जानीयात्।। १२६।।

पशु, मेंढक, बिलाव, कुत्ते, सर्प, नेवले तथा चूहे के बीच में आ जाने पर दिन-रात का अनध्याय समझना चाहिए।। १२६।।

संप्रति विद्यानैपुण्यकामं प्रति पूर्वोक्तानध्यायविकल्पार्थमाह-

द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः।। १२७।।

स्वाध्यायभूमिं चोच्छिष्टाद्यमेध्योपहतां आत्मानं च यथोक्तशौचरहितमिति द्वावेवानध्यायौ नित्यं प्रयत्नतो वर्जयेन्न तु पूर्वोक्तान्। तेषामपि यत्र नित्यग्रहणमनुवादो वा नित्यत्वख्यापको वास्ति तानपि नित्यं वर्जयेत्। अन्यत्र विकल्पः।। १२७।।

ब्राह्मण को स्वाध्याय की भूमि के अशुद्ध होने पर तथा अपने शरीर के अपवित्र होने पर, दोनों ही अनध्याय हमेशा प्रयत्नपूर्वक छोड़ देने चाहिएँ।। १२७।।

आमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम्।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः।। १२८।।
(षष्ठ्यष्टम्यौ त्वमावास्यामुभयत्र चतुर्दशीम्।
वर्जयेत्पौर्णमासीं च तैले मांसे भगे क्षुरे।। ७।।)

अमावास्यादिष्वृतावपि स्नातको द्विजो न स्त्रियमुपगच्छेत्। ''पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्'' (अ० ३ श्लो० ४५) इत्यनेनैव निषेधसिद्धौ स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तार्थमिह पुनर्वर्जनम्।। १२८।।

स्नातक ब्राह्मण अमावस्या, अष्टमी, पूर्णमासी, चतुर्दशी इन तिथियों में तथा स्त्री के ऋतुकाल में भी ब्रह्मचारी ही रहे।। १२८।।

(साथ ही वह षष्ठी, अष्टमी, अमावस्या, चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को तैल मर्दन, मांसभक्षण, स्त्रीसम्पर्क तथा क्षौरकर्म कराने का परित्याग कर दे।। ७।।)

न स्नानमाचरेद्भुक्त्वा नातुरो न महानिशि।
न वासोभिः सहाजस्रं नाविज्ञाते जलाशये।। १२९।।

नित्यस्नानस्य भोजनानन्तरमप्रसक्तेश्चाण्डालादिस्पर्शनिमित्तकस्य ''मुहूर्तमपि शक्ति-विषये नाप्रयतः स्यात्।'' इत्यापस्तम्बस्मरणान्निषेद्धुमयोग्यत्वाद्यदृच्छास्नानमिदं

भोजनानन्तरं निषिध्यते। तथा रोगी नैमित्तिकमपि स्नानं न कुर्यात् किन्तु यथासामर्थ्यं "अशिरस्कं भवेत्स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्। आर्द्रेण वाससा वा स्यान्मार्जनं दैहिकं विदुः" इत्यादिजाबालाद्युक्तमनुसंधेयम्। तथा "महानिशात्र विज्ञेया मध्यस्थं प्रहरद्वयम्। तस्मिन्स्नानं न कुर्वीत काम्यनैमित्तिकादृते" इति देवलवचनात्तत्र न स्नायात्। बहुवासाश्च नित्यं न स्नायात्। नैमित्तिकचाण्डालादिस्पर्शे सति तु स्नानं बहुवासोऽप्यनिषिद्धम्। ग्राहाद्याक्रान्तागाधरूपतया च विशेषेणाज्ञाते जलाशये च।। १२९।।

न खाकर, न बीमारी की दशा में, न महारात्रि में, न वस्त्रों के साथ और न ही अज्ञात जलाशय में निरन्तर स्नान करे।। १२९।।

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा।
नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च।। १३०।।

देवतानां पाषाणादिमयीनां, गुरोः पित्रादेः, नृपतेः स्नातकस्याचार्यस्य च। गुरुत्वेऽप्याचार्यस्य प्राधान्यविवक्षया पृथङ्निर्देशः। बभ्रुणः कपिलस्य यज्ञे दीक्षितस्यावभृथस्नानात्पूर्वमिच्छया छायां नाक्रामेत्। चशब्दाच्चाण्डालादीनामपि। कामत इत्यभिधानादबुद्धिपूर्वके न दोषः।। १३०।।

देवताओं की, गुरु की, राजा की, स्नातक तथा आचार्य की, यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति की तथा अग्नि की छाया का जानबूझकर उल्लंघन न करे।। १३०।।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धं भुक्त्वा च सामिषम्।
संध्यायोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम्।। १३१।।

दिवारात्रे च सम्पूर्णे प्रहरद्वये समांसं च श्राद्धं भुक्त्वा प्रातःसायंसंध्ययोश्च चिरं चतुष्पथं नाधितिष्ठेत्।। १३१।।

दोपहर में, अर्द्धरात्रि में तथा श्राद्ध में मांससहित भोजन करके, दोनों संध्याओं में चौराहे पर नहीं रुकना चाहिए।। १३१।।

उद्वर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च।
श्लेष्मनिष्ठ्यूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः।। १३२।।

उद्वर्तनमभ्यङ्गमलापकर्षणपिष्टकादि अपस्नानं स्नानोदकं मूत्रपुरीषे रुधिरं च श्लेष्माणं निष्ठ्यूतमश्लेष्मरूपमपि चर्वितपरित्यक्तरूपताम्बूलादि वान्तं भुक्त्वोद्गीर्ण-भक्तादि एतानि कामतो नाधितिष्ठेत्। अधिष्ठानं तदुपर्यवस्थानम्।। १३२।।

उबटन के मैल, स्नान के जल, मल, मूत्र, रक्त, बलगम, थूक तथा उल्टी के पास में जानबूझकर नहीं बैठे।। १३२।।

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।
अधार्मिकं तस्करं च परस्यैव च योषितम्।। १३३।।

शत्रुं तन्मन्त्रिणमधर्मशीलं चौरं परदारांश्च न सेवेत। चौरस्याधार्मिकत्वेऽप्यत्यन्त-गर्हितत्वात्पृथङ्निर्देशः।। १३३।।

शत्रु, शत्रु के सहयोगी, अधार्मिक, तस्कर तथा दूसरे की स्त्री का सेवन न करे।। १३३।।

न हीदृशमनायुष्यं लोके किंचन विद्यते।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम्।। १३४।।

यस्मादीदृशमनायुष्यमिह लोके पुरुषस्य न किंचिदस्ति यादृशं परदारगमनं तस्मादेतन्न कर्तव्यम्।। १३४।।

इस संसार में व्यक्ति की आयु को कम करने वाला, ऐसा कुछ भी विद्यमान नहीं है, जैसा दूसरे की स्त्री का सेवन करना। इसलिए इसका परित्याग कर देना चाहिए।। १३४।।

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।
नावमन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन।। १३५।।

वृद्ध्यर्थे भूधातुः। भूष्णुर्वर्धिष्णुः धनगवादिना वर्धनशीलः क्षत्रियं सर्पं बहुश्रुतं च ब्राह्मणं नावजानीयात्। कृशानपि तत्काले प्रतीकाराक्षमान्।। १३५।।

अपनी समृद्धि की इच्छा करने वाला व्यक्ति क्षत्रिय, सर्प, विद्वान् ब्राह्मण तथा दुर्बल लोगों का कभी भी अपमान न करे।। १३५।।

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्।
तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान्।। १३६।।

एतत्त्रयमवमानितं सदावमन्तारं विनाशयति। क्षत्रियसर्पौ दृष्टशक्त्या ब्राह्मणश्चा-भिचारादिनाऽदृष्टेन। तस्मात्कल्याणबुद्धिरेतत्त्रयं सर्वदा नावजानीयात्।। १३६।।

अपमानित हुए ये तीनों ही, व्यक्ति को पूर्णतया जला डालते हैं। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति हमेशा इन तीनों का तिरस्कार न करे।। १३६।।

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम्।। १३७।।

प्रथमं धनार्थमुद्यमे कृते तत्र धनानामसंपत्तिभिर्मन्दभाग्योऽहमिति नात्मानमव-जानीयात्। किन्तु मरणपर्यन्तं श्रीसिद्ध्यर्थमुद्यमं कुर्यात्। न त्विमां दुर्लभां बुध्येत्।। १३७।।

पूर्व में समृद्धि न होने से स्वयं का अपमान न करे, जबकि मरने तक लक्ष्मी की कामना करे। इसे दुर्लभ न समझे।। १३७।।

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।। १३८।।

यथा दृष्टश्रुतं तत्त्वं ब्रूयात्। तथा प्रीतिसाधनं ब्रूयात्पुत्रस्तेजात इति। यथा दृष्टश्रुतमप्यप्रियं पुत्रस्ते मृत इत्यादि न वदेत्। प्रियमपि मिथ्या न वदेत्। एष वेदमूलतया नित्यो धर्मः।। १३८।।

सत्य बोले, प्रिय बोले, किन्तु अप्रिय सत्य न बोले तथा प्रिय असत्य भी न बोले। यही सनातनधर्म है।। १३८।।

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह।। १३९।।

प्रथमं भद्रपदमभद्रपदपरं द्वितीयं भद्रशब्दपर्यायपरं अभद्रं यत्तद्भद्रशब्दपर्यायपर-प्रशस्तादिशब्देन प्रब्रूयात्। तथा चापस्तम्बः "नाभद्रमभद्रं ब्रूयात्पुण्यं प्रशस्तमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव" इति। भद्रपदमेव वा तत्र योज्यम्। शुष्कं निष्प्रयोजनं वैरं विवादं न केनचित्सह कुर्यात्।। १३९।।

(दूसरों के लिए कार्य को) बहुत अच्छा कहे या अच्छा (भद्रम्) ही बोले। किसी के भी साथ अनावश्यक शत्रुता और विवाद न करे।। १३९।।

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते।
नाज्ञातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह।। १४०।।

उषःसमये प्रदोषे च दिवा संपूर्णप्रहरद्वये च अज्ञातकुलशीलेन पुरुषेण शूद्रैश्च सह न गच्छेत्। "नैकः प्रपद्येताध्वानम्" (अ० ४ श्लो० ६०) इत्युक्ते प्रतिषेधेऽपि पुनर्नैक इति प्रतिषेधः स्नातकव्रतलोपप्रायश्चित्तगौरवार्थः।। १४०।।

न अत्यन्त सवेरे, न अत्यधिक सायंकाल में और न भरी दोपहरी में, न शूद्रों के साथ तथा न अज्ञात व्यक्ति के साथ, अकेला जावे।। १४०।।

हीनाङ्गनतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्वयोऽधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नाक्षिपेत्।। १४१।।

हीनाङ्गाधिकाङ्गमूर्खवृद्धकुरूपार्थहीनहीनजातीन्काणशब्दाह्वानादिना न निन्देत्।। १४१।।

हीन अङ्गों वाले, अधिक अङ्गों वाले, विद्या से हीन, आयु में अधिक तथा सौन्दर्य एवं धन से विहीन और जातिहीन लोगों की निन्दा न करे।। १४१।।

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान्।
न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गणान्दिवि।। १४२।।

कृतभोजनः कृतमूत्रपुरीषादिश्चाकृतशौचाचमनो ब्राह्मणो हस्तादिना गोब्राह्मणाग्नीन्न स्पृशेत्। न चाशुचिः सन्ननातुरो दिविस्थान्सूर्यचन्द्रग्रहादिज्योतिर्गणान्नपश्येत्।। १४२।।

ब्राह्मण को जूठे मुँह गाय, ब्राह्मण और अग्नि का हाथ से स्पर्श नहीं करना चाहिए। साथ ही बैठा हुआ अपवित्र व्यक्ति आकाश में नक्षत्रों को भी न देखे।। १४२।।

स्पृष्ट्वैतानशुचिर्नित्यमद्भिः प्राणानुपस्पृशेत्।
गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु।। १४३।।

एतान्गवादीनशुचिः सन्स्पृष्टा कृताचमनः पाणिना गृहीताभिरद्भिः प्राणांश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि शिरःस्कन्धजानुपादान्नाभिं च स्पृशेत्। अप्रकरणे चेदं प्रायश्चित्ताभिधानं लाघवार्थं तत्र प्रकरणे गवादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात्।। १४३।।

अपवित्र व्यक्ति इन (गौ, ब्राह्मण और अग्नि) का हाथ से स्पर्श करके हथेली पर जल रखकर उससे हमेशा प्राणों, सभी इन्द्रियों तथा नाभि का स्पर्श करे।। १४३।।

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः।
रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत्।। १४४।।

अनातुरः सन्स्वानि खानीन्द्रियच्छिद्राणि रोमाणि च गोप्यान्युपस्थकक्षादिगतानि निर्निमित्तं न स्पृशेत्।। १४४।।

स्वस्थ व्यक्ति को बिना कारण अपनी इन्द्रियों का स्पर्श नहीं करना चाहिए तथा गुप्ताङ्गों एवं रोमों के स्पर्श का भी परित्याग करना चाहिए।। १४४।।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रयतात्मा जितेन्द्रियः।
जपेच्च जुहुयाच्चैव नित्यमग्निमतन्द्रितः।। १४५।।

अभिप्रेतार्थसिद्धिर्मङ्गलं तद्धेतुत्वेन गोरोचनादिधारणमपि मङ्गलम्। गुरुसेवादिकमाचारस्तत्रोद्युक्तः स्यात्। बाह्याभ्यन्तरशौचापेतो जितेन्द्रियश्च भवेत् गायत्र्यादिजपं विहितहोमं च नित्यं कुर्यात्। अतन्द्रितोऽनलसः। अत्राचारादीनामुक्तानामपि विनिपातनिवृत्त्यर्थत्वात्पुनरभिधानम्।। १४५।।

मांगलिक पदार्थों एवं आचार से युक्त, संयमित मन वाला, जितेन्द्रिय व्यक्ति हमेशा आलस्यरहित होकर जप करे तथा अग्नि में होम करे।। १४५।।

अत्र आह—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते।। १४६।।

मङ्गलाचाराभ्यां युक्तानां नित्यं शुचीनां जपहोमरतानां दैवमानुषोद्रवो न जायते।। १४६।।

गोरोचनादि मांगलिकद्रव्यों से युक्त, श्रेष्ठ आचरण से युक्त, संयमित मन से युक्त, हमेशा जप एवं हवन करने वाले व्यक्ति का विनिपात नहीं होता है।। १४६।।

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते।। १४७।।

नित्यकृत्यावसरे श्रेयोहेतुतया प्रणवगायत्र्यादिकं वेदमेवानलसो जपेत्। यस्मात्तं ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं धर्मं मन्वादयो वदन्ति। अन्यः पुनस्ततोऽपकृष्टो धर्मो मुनिभिरुच्यते उक्तस्यैव वेदाभ्यासादेः पूर्वजातिस्मरणद्वारेण मोक्षहेतुत्वं वदितुं पुनरभिधानम्।। १४७।।

आलस्यरहित होकर, हमेशा, उचितसमय पर वेद का ही अभ्यास करना चाहिए। उसे ही इस ब्राह्मण का परमधर्म कहा गया है। दूसरों को तो उपधर्म कहा जाता है।। १४७।।

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्।। १४८।।

सततवेदाभ्यासशौचतपोऽहिंसाभिः पूर्वभवस्य जातिं स्मरति।। १४८।।

निरन्तर वेदों के अभ्यास से, पवित्रता, तपस्या तथा प्राणियों के साथ द्रोह न करने से व्यक्ति अपने पूर्वजन्म की जाति को स्मरण कर लेता है। (जातिस्मर बन जाता है)।। १४८।।

ततः किमत आह-

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते।। १४९।।

पूर्वजातिं स्मरन्। जातिमित्येकत्वमनाकाङ्क्षितत्वादविवक्षितम्। बहूनि जन्मानि स्मरंस्तेषु च गर्भजन्मजरामरणदुःखान्यपि स्मरन्संसारे विरज्यन्ब्रह्मैवाजस्रमभ्यस्यति श्रवणमननध्यानैः साक्षात्करोति तेन चानन्तमविनाशि परमानन्दाविर्भावलक्षणं मोक्षसुखं प्राप्नोति।। १४९।।

अपनी पूर्वजन्म की जाति (योनि) का स्मरण करता हुआ वह, फिर से केवल ब्रह्म (वेद) का ही अभ्यास करता है। इसप्रकार ब्रह्म के निरन्तर चिन्तन से वह अनन्तसुख को प्राप्त कर लेता है।। १४९।।

सावित्राञ्छान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः।
पितृंश्चैवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च।। १५०।।

सावित्रीदेवताकान्होमाननिष्टनिवृत्त्यर्थं च शान्तिहोमान्पौर्णमास्यममावास्ययोः सर्वदा कुर्यात्। तथा आग्रहायण्या ऊर्ध्वं कृष्णाष्टमीषु तिसृषु चाष्टकाख्येन कर्मणा श्राद्धेन च तदन्तरितकृष्णनवमीषु चान्वष्टकाख्येन परलोकगतापितृन्यजेत्।। १५०।।

पर्वों में नित्य ही सावित्रीदेवता वाले मन्त्रों से शान्तिहवनों को करना चाहिए तथा अष्टकाओं में, अन्वष्टकाओं में सदैव पितरों का ही अर्चन करना चाहिए।। १५०।।

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।
उच्छिष्टान्ननिषेकंच दूरादेव समाचरेत्।। १५१।।

"नैर्ऋत्यामिषुविक्षेपमतीत्याभ्यधिकं भुवः" इति विष्णुपुराणवचनादेवंविधादग्निगृहस्य दूरान्मूत्रपुरीषपादप्रक्षालनसकलोच्छिष्टान्नानि निषिच्यत इति निषेकं रेतश्चोत्सृजेत्।। १५१।।

अग्निशाला से दूर ही मूत्रविसर्जन करे, दूर ही पाद प्रक्षालन करे। जूठे अन्न को दूर ही डाले तथा दूर ही वीर्यपात करे।। १५१।।

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्ण एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम्।। १५२।।

मित्रदेवताकत्वान्मैत्रः पायुस्तद्द्रवत्वान्मैत्रं पुरीषोत्सर्गम्। तथा देहप्रसाधनं प्रातःस्नानदन्तधावनाञ्जनदेवार्चनादि पूर्वाह्ण एव कुर्यात्। पूर्वाह्णशब्देन रात्रिशेषदिनपूर्वभागाविह विवक्षितौ। पदार्थमात्रविधिपरत्वाच्चास्य पाठक्रमोऽपि नादरणीयः। नहि स्नानानन्तरं दन्तधावनम्।। १५२।।

मल का त्याग, शरीर का संस्कार, स्नान, दातून करना, अञ्जन लगाना तथा देवताओं का पूजन दिन के पूर्व भाग में ही करे।। १५२।।

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान्।
ईश्वरं चैव रक्षार्थं गुरूनेव च पर्वसु।। १५३।।

पाषाणादिमयानि धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान् रक्षार्थं राजादिकं गुरूंश्च पित्रादीनमावास्यादिपर्वसु द्रष्टुमभिमुखो गच्छेत्।। १५३।।

अपनी रक्षा के लिए पर्वो में देवता, धार्मिक, श्रेष्ठब्राह्मण, राजा और गुरु के समीप (दर्शनार्थ) जाना चाहिए।। १५३।।

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम्।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्।। १५४।।

गृहागतान्गुरुनभिवादयेत्तेषां च स्वीयमासनमुपवेष्टुं च दद्यात्। बद्धाञ्जलिश्च गुरुसमीप आसीत। गच्छतश्च पृष्ठदेशेऽनुगच्छेत्। उक्तोऽप्ययमभिवादनाद्याचारः फलाभिधानाय पुनरुच्यते।। १५४।।

बड़े-बूढ़ों को अभिवादन करे, उनके लिए अपना आसन प्रदान करे। हाथ जोड़कर पास में बैठे तथा जाते हुए का पीछे (पीछे) अनुगमन करे।। १५४।।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः।। १५५।।

वेदस्मृतिभ्यां सम्यगुक्तं स्वेषु कर्मस्वध्ययनादिष्वङ्गत्वेन संबद्धं धर्मस्य हेतुं साधूनामाचारमनलसः सन्नितान्तं सेवेतेति सामान्येनाचारानुष्ठानोपदेशः फलकथनाय।। १५५।।

श्रुति एवं स्मृतियों में कहे गए, अपने कर्मो में भलीप्रकार सम्बद्ध (जुडे हुए) धर्ममूलक आचरण का, आलस्यरहित होकर हमेशा पालन करना चाहिए।। १५५।।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्।। १५६।।

आचाराद्वेद्वोक्तमायुर्लभते, अभिमताश्च प्रजाः पुत्रपौत्रदुहित्रात्मिकाः, प्रभूतं च धनं, अशुभफलसूचकं च देहस्थमलक्षणमाचारो निष्फलयति। आचाराख्यधर्मेणालक्षणसूचितारिष्टनाशात्।। १५६।।

(व्यक्ति) वस्तुतः आचार से आयु तथा आचार से ईप्सित सन्तानों आचार से अक्षयधन को प्राप्त करता है। आचार बुरे लक्षणों को विनष्ट कर देता है।। १५६।।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव।। १५७।।

यस्माद्दुराचारः पुरुषो लोके गर्हितः स्यात्सर्वदा दुःखान्वितो रोगवानल्पायुश्च भवति तस्मात्सदाचारयुक्तः स्यात्।। १५७।।

दुराचारी व्यक्ति वस्तुतः संसार में निन्दित, हमेशा दुःख का भागी, रोगी तथा कम आयु वाला होता है।। १५७।।

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।। १५८।।

यः सदाचारवाञ्श्रद्धान्वितः परदोषानभिधाता स शुभसूचकलक्षणशून्योऽपि-शतायुर्भवति।। १५८।।

सभी लक्षणों से हीन होते हुए भी जो मनुष्य सदाचारी है तथा श्रद्धा को धारण करने वाला, असूयारहित है। वह सौ वर्षों तक जीवित रहता है।। १५८।।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः।। १५९।।

यद्यत्कर्म पराधीनं परप्रार्थनादिसाध्यं तत्तद्यत्नतो वर्जयेत् यद्यत्स्वाधीनदेहव्यापार-साध्यं परमात्मग्रहादि तत्तद्यत्नतोऽनुतिष्ठेत्।। १५९।।

जो-जो पराधीन कार्य है, उन-उन का प्रयत्नपूर्वक त्याग कर देना चाहिए। जबकि जो-जो कार्य अपने वश में हैं। उन-उनका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए।। १५९।।

अत्र हेतुमाह-

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।। १६०।।

सर्वं परप्रार्थनादिसाध्यं दुःखहेतुः। सर्वमात्माधीनं सुखहेतुः। एतत्सुखदुःखयोः कारणं जानीयात्।। १६०।।

पराधीनता में सब दुःख हैं तथा स्वाधीनता में सब सुख हैं। यही संक्षेप में सुखदुःख का लक्षण समझना चाहिए।। १६०।।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।। १६१।।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्यानुष्ठातुः पुरुषस्यान्तरात्मनस्तुष्टिः स्यात्तत्प्रयत्नतोऽनुष्ठेयम्। अतुष्टिकरं वर्जयेत्। एतच्चाविहितानिषिद्धगोचरं वैकल्पिकविषयं च।। १६१।।

जो कार्य करने से इस (व्यक्ति) की अन्तरात्मा को संतोषे होवे। वह कार्य प्रयत्नपूर्वक करे, जबकि विपरीत (कार्यों) का परित्याग कर देवे।। १६१।।

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।
न हिंस्याद्ब्राह्मणान्गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः।। १६२।।

आचार्यमुपनयनपूर्वकवेदाध्यापकं, प्रवक्तारं वेदार्थव्याख्यातारं, गुरुं "अल्पं वा बहु यस्य" (अ० २ श्लो० १४९) इत्युक्तम्। आचार्यादींस्तु न हिंस्यात्। प्रतिकूलाचरणेऽत्र हिंसाशब्दः। गोविन्दराजस्तु सामान्येन हिंसानिषेधादाततायिनोऽप्येतान्न हिंस्यादिति व्याख्यातवांस्तदयुक्तम्। "गुरुं वा बालवृद्धौ वा" (अ० ८ श्लो० ३५०) इत्यनेन विरोधात्।। १६२।।

आचार्य, वेद आदि की व्याख्या करने वाले, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण, गौ तथा सभीप्रकार के तपस्वियों की हिंसा न करे।। १६२।।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्।। १६३।।

नास्ति परलोक इति बुद्धिं, वेदस्य देवतानां च निन्दां, मात्सर्यं धर्मानुत्साहाभिमान-कोपक्रौर्याणि त्यजेत्।। १६३।।

नास्तिकता, वेदों की निन्दा, देवताओं को बुराभला कहना, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध एवं क्रूरता का परित्याग करे।। १६३।।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्क्रुद्धो नैव निपातयेत्।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ।। १६४।।

परस्य हननार्थं क्रुद्धः सन्दण्डानि नोत्क्षिपेत्। नच परगात्रे निपातयेत्पुत्रशिष्ये भार्यादासादेरन्यत्र। कृतापराधानेताननुशासनार्थं "रज्ज्वा वेणुदलेन वा" (अ० ८ श्लो०२९९) इत्यादिवक्ष्यमाणप्रकारेण ताडयेत्।। १६४।।

पुत्र और शिष्य के लिए दूसरे के ऊपर दण्ड न उठावे, न ही क्रुद्ध होकर मारे, न ही शिक्षा प्रदान करने को छोड़कर उन दोनों को प्रताडित करे।। १६४।।

ब्राह्मणायावगुर्यैव द्विजातिर्वधकाम्यया।
शतं वर्षाणि तामिस्रे नरके परिवर्तते।। १६५।।

द्विजातिरपि ब्राह्मणस्य हननार्थं दण्डादिकमुद्यम्यैव नतु निपात्य वर्षशतं तामिस्त्रादिनरके परिभ्रमति।। १६५।।

द्विजाति भी ब्राह्मण को मारने की इच्छा से केवल दण्डे को उठाकर ही तामिस्र नामक नरक में सौ वर्षों तक घूमता रहता है।। १६५।।

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम्।
एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जायते।। १६६।।

तृणेनापि क्रोधादबुद्धिपूर्वकं ब्राह्मणं ताडयित्वा एकविंशतिजन्मानि पापयोनिषु कुक्कुरादियोनिषु जायते।। १६६।।

क्रोध के कारण सोचसमझकर तिनके के द्वारा मारकर भी वह इक्कीस जन्मपर्यन्त पापयोनियों में उत्पन्न होता है।। १६६।।

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः।
दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः।। १६७।।

अयुध्यमानस्य ब्राह्मणस्याङ्गे शास्त्रानभिज्ञतया शोणितमुत्पाद्य परलोके महदुःखमाप्नोति।। १६७।।

मूर्खतावश व्यक्ति युद्ध न करने वाले ब्राह्मण के अङ्ग से रक्त निकालकर, मरने पर भारी दुःख को पाता है।। १६७।।

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतलात्।
तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकोऽद्यते।। १६८।।

खड्गादिहतब्राह्मणाङ्गनिर्गतं रुधिरं भूमिपतितं यावतो धूलिद्व्यणुकान्पिण्डीकरोति तावत्संख्यानि वर्षाणि परलोके शोणितोत्पादकः प्रहर्ता अन्यैः श्वसृगालादिभिर्भक्ष्यते।। १६८।।

ब्राह्मण का रक्त पृथ्वीतल से जितने धूलिकणों को ग्रहण करता है। उतने ही वर्षों तक खून निकालने वाला वह व्यक्ति, परलोक में (कुत्ते आदि) दूसरों द्वारा खाया जाता है।। १६८।।

न कदाचिद्द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि।
न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्रावयेदसृक्।। १६९।।

तस्मादवगोरणादिदोषाभिज्ञो ब्राह्मणे दण्डाद्युद्यमननिपातरुधिरस्रवणानि नापद्यपि कुर्यादिति पूर्वोक्तक्रियात्रयस्योपसंहारः।। १६९।।

इसलिए समझदार व्यक्ति कभी भी ब्राह्मण पर न दण्ड उठावे, न तिनके से भी मारे और न ही इसके शरीर से रक्त बहावे।। १६९।।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते।। १७०।।

अधर्मेण व्यवहरतीत्यधार्मिक: शास्त्रप्रतिषिद्धागम्यागमनाद्यनुष्ठाता यो मानुषो, यस्य च साक्ष्ये व्यवहारनिर्णयादौ च मिथ्याभिधानमेव धनोपायोऽसत्यमभिधायोत्कोचधनं गृह्णाति, यश्च परहिंसाभिरत: नासाविह लोके सुखयुक्तो वर्तते। तस्मादेतन्न कर्तव्यमिति निन्दया निषेध: कल्प्यते।। १७०।।

जो व्यक्ति अधार्मिक है तथा झूठ बोलना ही जिसका धन है और जो हमेशा हिंसा में लगा रहता है। वह इस संसार में सुखी एवं समृद्ध नहीं होता है।। १७०।।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम्।। १७१।।

शास्त्रविहितमनुतिष्ठन्धनाद्यभावेनावसीदन्नपि कदाचिन्नाधर्मे बुद्धिं कुर्यात्। यस्मादधर्मव्यवहारिणो यद्यप्यापाततो धनादिसंपद्भागिनोऽपि दृश्यन्ते तथापि तेषामधार्मिकाणामधर्मचौरादिव्यवहारिणां पापिनां तज्जनितदुरितशालिनां शीघ्रं धनादिविपर्ययोऽपि दृश्यते। तं पश्यन्नाधर्मे धियं दद्यादिति शिष्यहिताय दृष्टमर्थं दर्शितवान्।। १७१।।

अधार्मिक पापियों का शीघ्र ही विनाश देखते हुए, धर्म के द्वारा दु:खी होता हुआ भी व्यक्ति, अधर्म में मन को न लगावे।। १७१।।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्य: फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति।। १७२।।

शास्त्रेणानियमितकालपरिपाकत्वाच्छुभाशुभकर्मणां नाधर्मोऽनुतिष्ठत: तत्काल एव फलति। गौरिवेह भूमिपक्षे साधर्म्यदृष्टान्त:। यथा भूमिरुप्तबीजमात्रा तदैव प्रचुरपचेलिमफलव्रीहिस्तबकसंवलिता न भवति किन्तु नियमफलपाकसमयमासाद्य। पशुपक्षे वैधर्म्यदृष्टान्त:। यथा गौ: पशुर्वाहदोहाभ्यां सद्य: फलति नैवमधर्म: किन्तु क्रमेणावर्तमान: फलोन्मुखीभवन्नधर्मकर्तुर्मूलानि छिनत्ति। मूलच्छेदेन सर्वनाशो लक्ष्यते। देहधनाद्यन्वितो नश्यति।। १७२।।

आचरण किया गया अधर्म, पृथिवी के समान इस संसार में तत्काल फल प्रदान नहीं करता है, जबकि धीरे-धीरे फलोन्मुख होता हुआ वह करने वाले की जड़ों को ही काट डालता है।। १७२।।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।। १७३।।

यदि स्वयं कर्तुर्देहधनादिनाशं फलं न जनयति, तदा तत्पुत्रेषु नोचेत्पौत्रेषु जनयति नतु निष्फल एव भवति। ननु अन्यकृतस्य कर्मणः कथमन्यत्र फलजनकत्वम्। उच्यते पुत्रादिनाशस्य पितुःक्लेशहेतुत्वाच्छास्त्रीयत्वाच्चास्यार्थस्य नाविश्वासः।। १७३।।

अधर्म यदि अपने में नहीं तो पुत्रों में, यदि पुत्रों में नहीं तो पौत्रों मे फलित अवश्य होता है, किन्तु किया गया अधर्म, करने वाले में निष्फल नहीं होता।। १७३।।

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।। १७४।।

अधर्मेण परद्रोहादिना तावदापाततो ग्रामधनादिना वर्धते। ततो भद्राणि बहुभृत्यगवाश्वदीनि लभते। ततः शत्रून्स्वस्मादपकृष्टाञ्जयति। पश्चात्कियता कालेनाधर्मपरिपाकवशाद्देहधनतनयादिसहितो विनश्यति।। १७४।।

अधर्म द्वारा व्यक्ति पहले उन्नति करता है। तत्पश्चात् कल्याणों को देखता है। पुनः शत्रुओं को जीतता है, किन्तु अन्त में समूल विनष्ट हो जाता है।। १७४।।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः।। १७५।।

सत्यधर्मसदाचारशौचेषु सर्वदा रतिः कुर्यात्। शिष्यांश्चानुशासनीयान्भार्यापुत्र-दासच्छात्रान् "रज्ज्वा वेणुदलेन वा" (अ० ८ श्लो० २९९) इति प्रकारेण शासयेत्। उक्तानामप्यभिधानादादरार्थं वाग्बाहूदरसंयतश्च स्यात्। वाक्संयमः सत्यभाषिता। बाहुसंयमो बाहुबलेन कस्याप्यपीडनम्। उदरसंयमो यथालब्धाल्पभोजनम्।। १७५।।

सत्य, धर्म, श्रेष्ठलोगों के आचरण और पवित्रता में हमेशा अनुराग करे। वाणी, बाहू और उदर के विषय में संयत हुआ, शिष्यों का धर्मपूर्वक अनुशासन करे।। १७५।।

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्सुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च।। १७६।।

यावर्थकामौ धर्मविरोधिनौ भवेतां तौ परिहरेत्। यथा चौर्यादिनार्थोपपादनं, दीक्षादिने यजमानस्य पत्न्युपगमः, उदर्क उत्तरकालस्तत्रासुखं यत्र धर्मे तं धर्ममपि

परित्यजेत्। यथा पुत्रादिवर्गपोष्ययुक्तस्य सर्वस्वदानम्। लोकविक्रुष्टं यत्र लोकानां विक्रोशः यथा कलौ मध्यमाष्टकादिषु गोवधादिः।। १७६।।

धर्म द्वारा वर्जित जो अर्थ और काम होवें, उन दोनों का तथा भविष्य में दुःख देने वाले धर्मकार्यों और लोकनिन्दितकार्यों का भी परित्याग करे।। १७६।।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः।। १७७।।

पाण्यादिचापलं त्यजेत्। अनुपयुक्तवस्तूपादानादि पाणिचापलम्। निष्प्रयोजनं भ्रमणादि पादचापलम्। परस्त्रीप्रेक्षणादि नेत्रचापलम्। बहुगर्ह्यवादिता वाक्चापलम्। अनृजुः कुटिलो न स्यात्। परद्रोहो हिंसा तदर्थं चेष्टां धियं च न कुर्यात्।। १७७।।

न हाथ से, न पैर से चपल होवे, न नेत्र से चपल होवे, न कुटिल होवे, न वाणी से चपल होवे और न ही दूसरे के साथ द्रोहकर्म की बुद्धिवाला होवे।। १७७।।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते।। १७८।।

बहुविधशास्त्रार्थसंभवे पितृपितामहाद्यनुष्ठित एव शास्त्रार्थोऽनुष्ठातव्यः। तेन गच्छन्नरिष्यते नाधर्मेण हिंस्यते।। १७८।।

जिस मार्ग से इसके पिता गए, जिससे पितामह गए। उसी सज्जनों के मार्ग से जाना चाहिए। उससे जाता हुआ व्यक्ति पीडित नहीं होता है।। १७८।।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः।। १७९।।
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्।। १८०।।

ऋत्विगादिभिर्वाक्कलहं न कुर्यात्। शान्त्यादिकर्ता पुरोहितः। संश्रिता अनुजीविनः। ज्ञातयः पितृपक्षाः। संबन्धिनो जामातृश्यालकादयः। बान्धवा मातृपक्षाः। जामयो भगिनीस्नुषाद्याः।। १७९।। १८०।।

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, बालक, वृद्ध, रोगी, वैद्य, ज्ञातिजन, सम्बन्धी और बान्धव-- ।। १७९।।

माता-पिता, जामित्र, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा दासवर्ण के साथ विवाद न करे।। १८०।।

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वांल्लोकानिमान्गृही।। १८१।।

एतैर्ऋत्विगादिभिः सह विवादान्परित्यज्याज्ञातपापैः प्रमुच्यते। तथैतैर्विवादैरुपेक्षितैरिमान्वक्ष्यमाणान्सर्वलोकान्गृहस्थो जयति।। १८१।।

इनके साथ विवाद का परित्याग करके गृहस्थव्यक्ति सभी पापों से छूट जाता है तथा इनके जीत लेने पर वह इन सभी लोकों को विजित कर लेता है।। १८१।।

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः।
अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्य चर्त्विजः।। १८२।।

आचार्यो ब्रह्मलोकस्य प्रभुः तेन सह विवादपरित्यागेन तत्संतुष्ट्या तु ब्रह्मलोकप्राप्ते गौणं ब्रह्मलोकेशत्वम्। एवं प्राजापत्यलोकेशः प्रजापत्ये पिता च प्रभुः। अतिथिरिन्द्रलोकेशः देवलोकस्य च ऋत्विजः। एवमुत्तरत्रापि तत्तल्लोकेशत्वं बोद्धव्यम्।। १८२।।

आचार्य ब्रह्मलोक का स्वामी है, पिता प्राजापत्यलोक का प्रभु है, जबकि अतिथि इन्द्रलोक का तथा ऋत्विक् देवलोक का अधिपति होता है।। १८२।।

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः।
संबन्धिनो ह्यपां लोवे पृथिव्यां मातृमातुलौ।। १८३।।

अप्सरसां लोके जामयः प्रभवन्ति, वैश्वदेवलोके बान्धयाः, वरुणलोके संबन्धिनः, भूर्लोके मातृमातुलौ।। १८३।।

बहन, पुत्रवधू आदि जामियाँ अप्सराओं के लोक में, बान्धव वैश्वदेवों के लोक में, सम्बन्धी वरुणलोक में, माता और मामा पृथिवीलोक में स्वामी हैं।। १८३।।

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः।
भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः।। १८४।।

कृशः कृशधनः। संश्रितो विवक्षितः। बालवृद्धसंश्रितातुरा अन्तरिक्षे प्रभवन्ति। भ्राता च ज्येष्ठः पितृतुल्यः तस्मात्सोऽपि प्रजापतिलोकप्रभुः, भार्यापुत्रौ च स्वशरीरमेव, अतः कथमात्मनैव सह विवादः संभवति।। १८४।।

बालक, वृद्ध, दुर्बल और रोगियों को आकाशलोक का स्वामी समझना चाहिए। बड़ाभाई पिता के समान तथा पत्नी एवं पुत्र अपना शरीर ही होते हैं।। १८४।।

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम्।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा।। १८५।।

स्वदासवर्गश्च नित्यानुगतत्वादात्मच्छायेव न विवादार्हः। दुहिता च परं कृपापात्रं तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सन् असंतापः सहेत नतु विवदेत्।। १८५।।

सेवकवर्ग अपनी छाया तथा पुत्री अत्यधिक कृपा की पात्र है। इसलिए इनके द्वारा तिरस्कृत हुआ भी संतापरहित होकर हमेशा सहन करे।। १८५।।

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।। १८६।।

विद्यातपोवृत्तसंपन्नतया प्रतिग्रहेऽधिकार्यपि तत्र पुनः पुनः प्रवृत्तिं त्यजेत्। यस्मात्प्रतिग्रहेणास्य वेदाध्यायनादिनिमित्तप्रभावः शीघ्रमेव विनश्यति। यात्रामात्र-प्रसिद्ध्यर्थमित्युक्तेऽपि सामान्येनार्जनसंकोचे विशेषेण प्रतिग्रहस्य ब्राह्मप्रभावप्रशमनफल-त्वकथनार्थं वचनम्।। १८६।।

दान ग्रहण करने में समर्थ होते हुए भी, उसमें अत्यधिक आसक्ति का परित्याग करे, क्योंकि दान स्वीकार करने से इसका ब्रह्मतेज शीघ्र ही शान्त हो जाता है।। १८६।।

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।
प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा।। १८७।।

द्रव्याणां प्रतिग्रहं धर्माय हितं विधानं ग्राह्यदेवताप्रतिग्रहमन्त्रादिकमज्ञात्वा क्षुधावसानं गच्छन्नपि प्राज्ञो न प्रतिगृह्णीयात्किं पुनरनापदि।। १८७।।

द्रव्यों के दान ग्रहण करने में उनकी धार्मिकविधि को बिना जाने, भूख से अत्यन्तपीडित होता हुआ भी बुद्धिमान् व्यक्ति दान स्वीकार न करे।। १८७।।

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांस्तु भस्मीभवति दारुवत्।। १८८।।

स्वर्णादीञ्श्रुतस्वाध्यायहीनः प्रतिगृह्णन्नग्निसंयोगेन दारुवद्भस्मीभूते भवति पुनरुत्पत्तिं न लभते।। १८८।।

क्योंकि सोना, भूमि, घोड़े, गाय, अन्न, वस्त्र, तिल और घी को दानरूप में ग्रहण करता हुआ मूर्खव्यक्ति लकड़ी के समान भस्म हो जाता है।। १८८।।

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गौश्चाप्योषतस्तनुम्।
अश्वश्चक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः।। १८९।।

अविदुषः प्रतिग्रहीतुर्भूर्गौश्च शरीरं ओषतो दहतः। उषदाहे भौवादिकस्तस्येदं रूपम्। भूगवोर्द्वित्वविवक्षायां द्विवचनम्। एवं हिरण्यमन्नं चायुरोषतः। अश्वश्चक्षुरित्यादिषु विभक्तिविपरिणामादोषतीत्येकवचनान्तस्यानुषङ्गः।। १८९।।

(दान लिया हुआ) स्वर्ण एवं अन्न आयु को, भूमि तथा गौ शरीर को, घोड़ा नेत्रों को, वस्त्र त्वचा को, घी तेज को और तिल सन्तति को भस्म कर देते हैं।। १८९।।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति।। १९०।।

यस्तपोविद्याशून्यः प्रतिग्रहेच्छुः ब्राह्मणो भवति स प्रतिग्रहाविनाभावाद्बुद्धिस्थेन तेन इति परामृष्टेनैव दात्रैवानर्हप्रतिग्रहादानपापयुक्तेन सह नरके मज्जति। यथा पाषाणमयेनोडुपेनाम्भस्तरंस्तेनैव सहाम्भसि मग्नो भवति।। १९०।।

तपस्या से रहित और वेदों के अध्ययन से हीन, जो ब्राह्मण दान ग्रहण करने में रुचि वाला है। वह जल में पत्थर की नौका के समान उसी के साथ डूब जाता है।। १९०।।

तस्मादविद्वान्बिभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात्।
स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पङ्के गौरिव सीदति।। १९१।।

यस्मादसावल्पद्रव्यप्रतिग्रहेणापि मूर्खः पङ्के गौरिव नरके समर्थो भवति तस्माद्यतःकुतश्चित्सुवर्णादिव्यतिरिक्तसीसकाद्यसारप्रतिग्रहादपि त्रस्येत्।। १९१।।

इसलिए अज्ञानीब्राह्मण को जिस किसी से दान ग्रहण करने से डरना चाहिए, क्योंकि अत्यल्प दान लेने से भी मूर्खब्राह्मण कीचड़ में फँसी हुई गाय के समान दुःखी होता है।। १९१।।

प्रतिग्रहीतुर्धर्ममभिधायाधुना दातुराह-

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित्।। १९२।।

वायसादिभ्यो यद्दीयते तदपि बैडालव्रतिकेभ्यो धर्मज्ञो न दद्यादित्यतिशयोक्त्या द्रव्यान्तरदानं निषिध्यते नतु वारिदानमेव। "पाषण्डिनो विकर्मस्थान्" (अ० ४ श्लो०३०) इत्यनेन बैडालव्रतिकायातिथित्वेन सत्कृतार्थदानादि निषिद्धमिह तु धनदानं निषिध्यते अतएव "विधिनाप्यर्जितं धनं" इति (अ० ४ श्लो० -२९४) वक्ष्यति। नावेदविदीति वेदार्थानभिज्ञे। एतच्च विद्वत्संभवे नावेदविदीति निषिध्यते।। १९२।।

धर्मज्ञव्यक्ति, वैडालव्रतिक द्विज के लिए, बकव्रतिक एवं वेदों को न जानने वाले ब्राह्मण के लिए जल भी प्रदान न करे।। १९२।।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च।। १९३।।

एतेषु त्रिष्वपि बैडालव्रतिकादिषु न्यायार्जितमपि धनं दत्तं दातुः प्रतिग्रहीतुश्च परलोके नरकहेतुत्वादनर्थाय भवति।। १९३।।

क्योंकि इन तीनों को दिया गया, विधिपूर्वक कमाया हुआ धन भी, परलोक में दान ग्रहण करने वाले तथा दान देने वाले दोनों के अनर्थ के लिए होता है।। १९३।।

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ।। १९४।।

यथा पाषाणमयेनोडुपादिना जले तरंस्तेनैव सहाधो गच्छति एवं दानप्रतिग्रह-शास्त्रानभिज्ञौ दातृग्राहकौ नरकं गच्छतः। "अतपास्त्वनधीयानः" (अ० ४ श्लो० १९०) इति प्रतिग्रहीतृप्राधान्येन निन्दोक्ता। इह तु दातृप्राधान्येनेत्यपुनरुक्तिः।। १९४।।

पत्थर की नाव से तैरता हुआ व्यक्ति जिसप्रकार डूब जाता है। उसीप्रकार दान देने वाला तथा ग्रहण करने वाला दोनों ही अज्ञानी नरक में डूब जाते हैं।। १९४।।

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः।। १९५।।
(यस्य धर्मध्वजो नित्यं सुरध्वज इवोच्छ्रितः।
प्रच्छन्नानि च पापानि बैडालं नाम तद्व्रतम्।। ८।।)

यो बहुजनसमक्षं धर्ममाचरति स्वतः परतश्च लोके ख्यापयति तस्य धर्मो ध्वजं चिह्नमिवेति धर्मध्वजी। लुब्धः परधनाभिलाषुकः। छद्मना व्याजेन चरतीति छाद्मिकः। लोकदम्भको निक्षेपापहारादिना जनवञ्चकः। हिंस्रः परहिंसाशीलः। सर्वाभिसंधकः परगुणासहनतया सर्वाक्षेपकः। बिडालव्रतेन चरतीति बैडालव्रतिकः। बिडालो हि प्रायेण मूषिकादिहिंसारुचितया ध्याननिष्ठ इव विनीतः सन्नवतिष्ठत इत्युपचाराद्बिडालव्रतशब्दः।। १९५।।

भूठे ही धर्मरूपी ध्वजा को फहराने वाला, लोभी, कपटपूर्ण व्यवहार करने वाला, लोगों को ठगने वाला, हिंसक, दूसरे के गुणों को सहन न करके सभी पर आक्षेप करने वाला, 'बैडालव्रतिक' समझना चाहिए।। १९५।।

(जिसकी झूठी धर्मरूपी ध्वजा देवध्वजा के समान हमेशा ऊँची रहती है तथा जिसके बहुत से छिपे हुए पाप होते हैं। वह वस्तुतः 'बैडाल व्रती' होता है।।८।।)

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः।। १९६।।

अधोदृष्टिर्निजविनयख्यापनाय सततमध एव एव निरीक्षते। निष्कृतिर्निष्ठुरता तया चरतीति नैष्कृतिकः। स्वार्थसाधनतत्परः परार्थखण्डनेन। शठो वक्रः। मिथ्याविनीतः कपटविनयवान्। बकव्रतं चरतीति बकव्रतचरः। बको हि प्रायेण मीनहननरुचितया मिथ्याविनीतः सन्नेवंशीलो भवतीति गौणो बकव्रतशब्दः।। १९६।।

अधोदृष्टिसम्पन्न, निष्ठुरता का आचरण करने वाला, स्वार्थसिद्धि में तत्पर, शठ तथा झूठी विनम्रता प्रदर्शित करने वाला, ब्राह्मण 'बकव्रतचारी' कहलाता है।। १९६।।

ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा।। १९७।।

ये बकव्रतं बिडालव्रतं चरन्ति ते ब्राह्मणास्तेन पापहेतुना कर्मणान्धतामिस्रनाम्नि नरके पतन्ति।। १९७।।

जो बकव्रतिक ब्राह्मण हैं तथा जो बैडालव्रतिक ब्राह्मण हैं, वे सभी उस पापकर्म से अन्धतामिस्र नामक नरक में गिरते हैं।। १९७।।

न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम्।। १९८।।

पापं कृत्वा प्रायश्चित्तरूपं प्राजापत्यादिव्रतं पापमपनयति तन्नेदं प्रायश्चित्तं किन्तु वर्मार्थमहमनुतिष्ठामीति स्त्रीशूद्रमूर्खादिजनमोहनं कुर्वन्नानुतिष्ठेत्।। १९८।।

स्त्री एवं शूद्र आदि के साथ पाखण्ड करता हुआ, धर्म के बहाने पाप करके व्रत द्वारा पाप को छिपाकर व्रत का आचरण न करे।। १९८।।

प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।
छद्मनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति।। १९९।।
अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।
स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्यग्योनौ च जायते।। २००।।

प्रेत्येहेति श्लोकद्वयं प्रथमं सुबोधम्। अब्रह्मचारी यो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यादिलिङ्गं मेखलाजिनदण्डादिवेषोपलक्षितस्तद्वृत्त्या भिक्षाभ्रमणादिना जीवति स ब्रह्मचार्यादीनां यत्पापं तदात्मन्याहरति। कुक्कुरादितिर्यग्योनौ चोत्पद्यते। तस्मादेतन्न कर्तव्यमिति निषेधः कल्प्यते।। १९९।। २००।।

इसप्रकार के ब्राह्मण इसलोक में तथा परलोक में ब्रह्मवादियों द्वारा निन्दित होते हैं तथा जिस व्रत का कपटपूर्वक आचरण किया जाता है, वह राक्षसों को प्राप्त होता है।। १९९।।

ब्रह्मचारी न होते हुए भी जो ब्रह्मचारी वेष द्वारा आजीविका चलाता है। वह ब्रह्मचारियों के पाप को हरता है तथा तिर्यक्-योनि में उत्पन्न होता है।। २००।।

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपानकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते।। २०१।।
(सप्तोद्धृत्य ततः पिण्डान्कामं स्नायाच्च पञ्चधा।
उदपानात्स्वयं ग्राहाद्बहिः स्नात्वा न दुष्यति।। ९।।)

निपानं जलाधारः। परकृतपुष्करिण्यादिषु न कदाचित्स्नायात्। तत्र स्नात्वा पुष्करिण्यादिकर्तुर्यत्पापं तस्यांशेन वक्ष्यमाणचतुर्थभागरूपेण संबध्यते। अकृत्रिमनद्याद्य-संभवे परकृतेऽपि पुष्करिण्यादौ प्राक्प्रदानात्पञ्च पिण्डानुद्धृत्य स्नातव्यम्। तदाह याज्ञवल्क्यः-"पञ्च पिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात्परवारिषु। उद्धृत्य चतुरः पिण्डान्पारक्ये स्नानमाचरेत्। स्नात्वा च तर्पयेद्देवान्पितृंश्चैव विशेषतः" (अ०१ श्लो०१५९) ।। २०१।।

दूसरों के जलाशयों में कभी स्नान न करे, क्योंकि स्नान करके वह जलाशय निर्माण कराने वाले के पाप-अंश के साथ जुड़ जाता है।। २०१।।

(पाँच या सात पिण्ड निकालने के बाद ही दूसरे के जलाशय में इच्छानुसार स्नान करे। गाँव से बाहर जलाशय से स्वयं जल निकालकर, स्नान करके व्यक्ति दोष का भागी नहीं होता है।। ९।।)

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।
अदत्तान्युपभुञ्जान एनसः स्यात्तुरीयभाक्।। २०२।।

अस्येति प्रकृतः पुनः परामृश्यते। परस्य यानादीन्यदत्तान्युपयुञ्जानस्तदीयपापचतुर्थ-भागभागी भवति। अदत्तानीति परस्यानुमत्यभावश्च विवक्षितः। तेन सर्वार्थोत्सृष्ट-मठकूपादावुपयोगार्थातमस्नानादौ न विरोधः।। २०२।।

वाहन, शय्या, आसन, कुँआ, उद्यान और घर (इनके स्वामी) को बिना दिये उपभोग करने वाला (उसके) चतुर्थ-अंश-पाप का भागी होता है।। २०२।।

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च।
स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च।। २०३।।

नद्यादिषु सर्वदा स्नानमाचरेत्। देवखातेष्विति तडागविशेषणम्। देवसंबन्धित्वेन प्रसिद्धेषु सरःसु गर्तेष्वष्टधनुःसहस्रेभ्यो न्यूनगतिषु। तदुक्तं छन्दोगपरिशिष्टे- "धनुःसहस्राण्यष्टौ च गतिर्यासां न विद्यते। न ता नदीशब्दवहा गर्तास्ताः परि-कीर्तिताः।।" चतुर्हस्तप्रमाणं धनुः। प्रस्रवणेषु निर्झरेषु चानेनैव परकीयनिपानव्या-वृत्तिसिद्धौ यत्पृथग्वचनं तदात्मीयोत्सृष्टतडागादिषु स्नानाद्यनुज्ञानार्थं, तदपि नद्याद्यसंभवे द्रष्टव्यम्।। २०३।।

नदियों में, देवालयों की बावडियों में, तालाबों में, सरोवरों में, गर्तों में तथा झरनों में हमेशा स्नान करे।। २०३।।

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्।। २०४।।
(आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश।। १०।।
अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्पता।
अस्तेयमिति पञ्चैते यमाश्चोपव्रतानि च।। ११।।
शौचमिज्या तपोदानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ।
व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश।। १२।।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्।
अप्रमादश्च नियमाः पञ्चैवोपव्रतानि च।। १३।।)

नियमापेक्षया यमानुष्ठानगौरवज्ञापनार्थमिदं नतु नियमनिषेधार्थम्। द्वयोरेव शास्त्रार्थत्वात्। यमनियमविवेकश्च मुनिभिरेवं कृतः। तदाह याज्ञवल्क्यः-"ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता। अहिंसा स्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः।। स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः। नियमो गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता।।" (अ० ३ श्लो०३१२। ३१३) यमनियमस्वरूपज्ञः समस्तस्नानादिनियमत्यागेनाप्यहिंसा-दिरूपं यममनतिष्ठेत्। नियमाननुतिष्ठन्नपि यमानुष्ठानरहितः पततीत्ययं यमस्तुत्यर्थ आरम्भ इति।। मेधातिथिगोविन्दराजौ हिंसादिप्रतिषेधार्थकाः यमाः, "वेदमेवाभ्य-सेन्नित्यं" (अ०४ श्लो० १४६) इत्यादयोऽनुष्ठेयरूपा नियमा इति व्याचक्षते। "अहिंसा सत्यवचनं ब्रह्मचर्यमकल्कता। अस्तेयमिति पञ्चैते यमा वै परिकीर्तिताः।।

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च सततं पञ्चैते नियमाः स्मृताः''।। २०४।।

बुद्धिमान् व्यक्ति यमों का हमेशा सेवन करे, नियमों का भले ही हमेशा न करे। केवल नियमों का पालन करते हुए यमों का पालन न करता हुआ व्यक्ति पतित हो जाता है।। २०४।।

(दयालुता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, इन्द्रियों का दमन, अस्पृहा, ध्यान, प्रसन्नता, मधुरता तथा सरलता ये दस यम हैं।। १०।।

अहिंसा, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य, कुटिलता का अभाव तथा चोरी न करना ये पाँच यम और उपव्रत हैं।। ११।।

पवित्रता, यज्ञ, तपस्या, दान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, व्रत, उपवास, मौन एवं स्नान ये दस नियम हैं।। १२।।

अक्रोध, गुरुसेवा, पवित्रता, कम खाना, आलस्य न करना ये पाँच नियम और उपव्रत हैं।। १३।।)

नाश्रोत्रियतते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्।। २०५।।

अनधीतवेदेनोपक्रान्ते यज्ञेऽग्नीषोमीयादूर्ध्वमपि भोजनयोग्यसमये ब्राह्मणो न भुञ्जीत। तथा बहूनां याजकेन ऋत्विजां स्त्रिया नपुंसकेन च यत्र यज्ञे हूयते तत्र कदाचिन्न भुञ्जीत।। २०५।।

वेद को न जानने वाले द्वारा कराये गए, अनेक लोगों को यज्ञ कराने वाले व्यक्ति द्वारा कराये गए तथा स्त्री और नपुंसक द्वारा आहुति प्रदान किए गए, यज्ञ में ब्राह्मण कहीं भी भोजन न करे।। २०५।।

अश्लीकमेतत्साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः।
प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तत्परिवर्जयेत्।। २०६।।

पूर्वोक्ता बहुयाजकादयो यत्र होमं कुर्वन्ति तत्कर्म शिष्टानामश्लीकमश्रीकं श्रीघ्नम्। रेफस्य स्थाने लकारः। देवानां प्रतिकूलं तस्मादेतद्धोमं न कारयेत्।। २०६।।

जिस यज्ञ में ये लोग (स्त्री, नपुंसक, अनेक यज्ञ करने वाला) हवन करते हों, वह यज्ञ-कर्म सज्जनों की श्री का नाश करने वाला है तथा देवों के प्रतिकूल है। इसलिए उसे छोड़ देना चाहिए।। २०६।।

मत्तक्रुद्धातुराणां च न भुञ्जीत कदाचन।
केशकीटावपन्नं च पदा स्पृष्टं च कामतः।। २०७।।

क्षीबक्रुद्धव्याधितानामन्नं तथा केशकीटसंसर्गदुष्टं पादेन चेच्छातः संस्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत।। २०७।।

मद से मतवाले, क्रोधयुक्त एवं रोगियों के, बल अथवा कीड़ों से युक्त तथा जानबूझकर पैर से स्पर्श किए गए, अन्न को भी कभी नहीं खाना चाहिए।। २०७।।

भ्रूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्यया।
पतत्रिणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च।। २०८।।

भ्रूणघ्नेत्युपलक्षणाद्गोघ्नेत्यादिपतितावेक्षितं रजस्वलया च स्पृष्टं पक्षिणा च काकादिना स्वादितं कुकुरेण च स्पृष्टमन्नं न भुञ्जीत।। २०८।।

भ्रूणहत्या करने वाले द्वारा देखे गए तथा ऋतुमती स्त्री द्वारा छुए गए, पक्षियों द्वारा चखे गए और कुत्ते द्वारा स्पर्श किए गए (अन्न को भी नहीं खाना चाहिए)।। २०८।।

गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषा च जुगुप्सितम्।। २०९।।

यदन्नं गवाघ्रातं घुष्टान्नं। को भोक्तेत्युपोद्घुष्टान्नं सत्रादौ यद्दीयते। विशेषत इति भूरिदोषतया प्रायश्चित्तगौरवार्थम्। गणान्नं शठब्राह्मणसंघान्नं। गणिका वेश्या तस्या अन्नं शास्त्रविदा च यद्दुष्टमिति निन्दितं तच्च न भुञ्जीत।। २०९।।

गाय द्वारा सूँघे हुए अन्न को, विशेषरूप से किसी के लिए निर्धारित अन्न को तथा समूह के अन्न को, वेश्या के अन्न को एवं निन्दित अन्न को भी विद्वान् को नहीं खाना चाहिए।। २०९।।

स्तेनगायनयोश्चान्नं तक्ष्णो वार्धुषिकस्य च।
दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च।। २१०।।

चौरगायनजीविनोस्तथा तक्षवृत्तिजीवनस्य वृद्ध्युपजीविनश्चान्नं न भुञ्जीत। तथा यज्ञे दीक्षितस्य प्रागग्नीषोमीयात्। कदर्यस्य कृपणस्य। निगडस्येति तृतीयार्थे षष्ठी। निगडेन बद्धस्य। गोविन्दराजस्तु बद्धशब्दस्य बन्धनैर्विनाप्ययोनिगडैर्निगडितस्य दत्तायोनिगडस्येति व्याख्यातवान्।। २१०।।

चोर, गायक, बढ़ई, सूदखोर, यज्ञ में दीक्षित व्यक्ति, कँजूस तथा हथकडियों से बंधे व्यक्ति के अन्न को (भी न खावे)।। २१०।।

अभिशस्तस्य षण्ढस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।
शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च।। २११।।

महापातकित्वेन संजातलोकविक्रोशस्य, नपुंसकस्य, पुंश्चल्या व्यभिचारिण्या अगणिकाया अपि, दाम्भिकस्य छद्मना धर्मचारिणो बैडालव्रतिकादेरन्नं न भुञ्जीत। शुक्तं यत्स्वभावतो मधुरं दध्यादिसंपर्कवशेनोदकादिना चाम्लादिभावं गतम्, पर्युषितं रात्र्यन्तरितम्, शूद्रस्यान्नं न भुञ्जीतेति संबन्धः। उच्छिष्टं च भुक्तावशिष्टान्नम-विशेषात्कस्यापि न भुञ्जीत। गुरूच्छिष्टं च विहितत्वाद्भोज्यम्। गोविन्दराजस्तु शूद्रस्योच्छिष्टं तद्भुक्तावशिष्टं च स्थालीस्थमपि न भुञ्जीतेत्याह।। २११।।

महापापी, नपुंसक, व्यभिचार करने वाली स्त्री तथा घमण्डी स्वभाव से युक्त व्यक्ति के अन्न को, बासी पड़े हुए, शूद्र के तथा किसी के जूठे अन्न को (भी न खावे)।। २११।।

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरस्योच्छिष्टभोजिनः।
उग्रान्नं सूतिकान्नं च पर्याचान्तमनिर्दशम्।। २१२।।

चिकीत्साजीविनः, मृगयोर्मांसविक्रयार्थं मृगादिपशुहन्तुः, क्रूरस्यानृजुप्रकृतेः, निषिद्धोच्छिष्टभोक्तुरन्नं न भुञ्जीत। उग्रो दारुणकर्मा तस्यान्नम्। "गोविन्दराजो मञ्जर्यामुग्रं राजानमुक्तवान्। मनुवृत्तौ च शूद्रायां क्षत्रियोत्पन्नमभ्यधात्।" भेदोक्तेर्याज्ञवल्कीयेनोग्रो राजेति वावदत्। आश्चर्यमिदमेतस्य स्वकीयहृदि भूषणम्।। " सूतिकान्नं सूतिकामुद्दिश्य यत्क्रियते तदन्नं तत्कुलजैरपि न भोक्तव्यम्। एकपङ्क्तिस्थानन्यानवमन्य यत्रान्ने भुज्यमाने केनचिदाचमनं क्रियते तत्पर्याचान्तम्। अनिर्दशं मृतिकान्नं वक्ष्यमाणत्वान्न भुञ्जीत।। २१२।।

वैद्य, व्याध, क्रूर तथा जूठा खाने वाले के अन्न को, उग्रव्यक्ति के अन्न को, जच्चा के अन्न को तथा पर्याचान्त और सूतक के (अन्न को नहीं खावे।। २१२।।

अनर्चितं वृथामांसमवीरायाश्च योषितः।
द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम् ।। २१३।।

अर्चार्हस्य यदवज्ञया दीयते, वृथामांसं देवतादिमुद्दिश्य यन्न कृतं, अवीरायाः पतिपुत्ररहितायाः, शत्रुनगरपतितानां च, उपरि कृतक्षुतं चान्नं न भुञ्जीत।। २१३।।

अनादरपूर्वक दिया गया, निरुद्देश्यपूर्वक बनाया गया मांस, पतिपुत्ररहित स्त्री एवं शत्रु का अन्न, नगरी के अधिपति का अन्न, पतितों का अन्न तथा छींका गया (अन्न नहीं खावे)।। २१३।।

पिशुनानृतिनोश्चान्नं क्रतुविक्रयिणस्तथा।
शैलूषतुन्नवायान्नं कृतघ्नस्यान्नमेव च।। २१४।।

पिशुनः परोक्षे परापवादभाषणपरः, अनृतीत्यतिशयेनानृतवादी कूटसाक्ष्यादिः, क्रतुविक्रयिकः मदीययागस्य फलं तव भवत्वित्यभिधाय यो धनं गृह्णाति, शैलूषो नटः, तुन्नवायः सौचिकः, कृतघ्नो यः कृतोपकारस्यापकारे प्रवर्तते तस्यान्नं न भुञ्जीत।। २१४।।

चुगली करने वाले तथा झूठ बोलने वाले तथा यज्ञ के फल का विक्रय करने वाले के अन्न को तथा दर्जी के अन्न को तथा कृतघ्न व्यक्ति के अन्न को भी (न खावे)।। २१४।।

कर्मारस्य निषादस्य रङ्गावतारकस्य च।
सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा।। २१५।।

कर्मारस्य लोहकारस्य, निषादस्य दशमाध्यायोक्तस्य, नटगायनव्यतिरिक्तस्य रङ्गावतरणजीविनः, सुवर्णकारस्य, वेणोर्भेदनेन यो जीवति, बुरुड इति विश्वरूपः। शस्त्रं लोहः तद्विक्रयिणश्चान्नं न भुञ्जीत।। २१५।।

लौहार, निषाद, रङ्गकर्मी, स्वर्णकार, बरुड़ तथा शस्त्र बेचकर जीविका चलाने वाले का (अन्न भी नहीं खाना चाहिए)।। २१५।।

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च।
रञ्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे।। २१६।।

आखेटकाद्यर्थं शुनः पोषकाणां, मद्यविक्रयिणां, वस्त्रधावकस्य, कुमुम्भादिना वस्त्र रागकृतः, निर्दयस्य, यस्य चोपपतिर्गृहे जारश्च यस्याज्ञानतो गृहे स्थितस्तस्य गेहे नाद्यात्।। २१६।।

शिकार के लिए कुत्ते पालने वाले, शराब बेचने वाले, धोबी, रंगरेज, नृंशस तथा जिसके घर में उपपति विद्यमान है, (ऐसे व्यक्ति के अन्न को भी नहीं खावे)।। २१६।।

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः।
अनिर्दशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च।। २१७।।

गृह इत्यभुषज्यते। गेहे ज्ञातं भार्याजारं ये सहन्ते तेषामन्नं न भुञ्जीत। तेन गृहान्निःसारिताया जारसहने नैष दोषः। तथा सर्वकर्मसु स्त्रीपरतंत्राणां, अनिर्गताशौचं च सूतकान्नं, अतुष्टिकरमेव च न भुञ्जीत।। २१७।।

जो लोग उपपति को घर में सहन करते हैं, उनके, हमेशा स्त्रियों के वश में रहने वालों के, सूतक के, प्रेतों के तथा अतुष्टिकारक अन्न को भी (नहीं खावे)।। २१७।।

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।
आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः।। २१८।।

राजान्नं तेजो नाशयति। इतएव दोषदर्शनात्तदन्नभक्षणनिषेधः कल्प्यते। एवमुत्तरत्रापि पूर्वमनिषिद्धस्य दोषदर्शनादेव निषेधकल्पनम्। ''नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नम्'' (अ० ४ श्लो० २२३) इति निषेधिष्यति तदतिक्रमणफलकथनमिदम्। शूद्रस्य पक्वान्नमध्ययना-दिनिमित्तं तेजो नाशयति। सुवर्णकारस्यान्नमायुः, चर्मकारान्नं ख्यातिं नाशयति।। २१८।।

राजा का अन्न तेज को, शूद्र का अन्न ब्रह्मतेज को तथा सुनार का अन्न आयु को तथा चमार का अन्न यश को ले लेता है।। २१८।।

कारुकान्नं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।
गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति।। २१९।।

कारुकस्य सूपकारादेरन्नं प्रजामपत्यं निहन्ति। चर्मकारादेः कारुकत्वेऽपि गोबलीवर्दन्यायेन पृथङ्निर्देशः। निर्णेजकस्यान्नं बलं हन्ति। गणगणिकयोरन्नं च कर्मान्तरार्जितेभ्यः स्वर्गादिलोकेभ्य आच्छिनत्ति।। २१९।।

बढई का अन्न सन्तान को तथा धोबी का बल को नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त गण का अन्न तथा वेश्याओं का अन्न व्यक्ति को स्वर्गादि लोकों से भ्रष्ट कर देता है।। २१९।।

पूयं चिकित्सकस्यान्नं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम्।। २२०।।

चिकित्सकस्यान्नं पूयं पूयभक्षणसमदोषम्। एवं पुंश्चल्या अन्नमिन्द्रियं शुक्रम्। वार्धुषिकस्यान्नं पुरीषम्। लोहविक्रयिणोऽन्नं विष्ठाव्यतिरिक्तश्लेष्मादि। गोविन्दराजस्तु चिकित्सकान्नभक्षणेन तथाविधायां जातौ जायते यत्र पूयभुग्भवतीत्याह।। २२०।।

वैद्य का अन्न पीव, व्यभिचारिणी स्त्री का अन्न वीर्य, सूद से जीविका यापन करने वाले का अन्न विष्ठा तथा शस्त्रविक्रय करने वाले का अन्न मल (के समान) होता है।। २२०।।

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः।
तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः।। २२१।।

(अमृतं ब्राह्मणस्यान्नं क्षत्रियान्नं पयः स्मृतम्।
वैश्यान्नमन्नमित्याहुः शूद्रस्य रुधिरं स्मृतम्।। १४।।)

प्रतिपदनिर्दिष्टेभ्यो येऽन्ये क्रमेणाभोज्यान्ना अस्मिन्प्रकरणे पठितास्तेषां यदन्नं तत्त्वगस्थिरोमाणि, यास्तदीयास्त्वचः कीकसस्य रोम्णां च भुक्तानां यो दोषः स एव तदन्नस्यापि भुक्तस्य बोद्धव्यः।। २२१।।

ये जो दूसरे अभोज्य अन्न वाले क्रमशः पहले कहे गए हैं। उनके अन्न को मनीषी लोग त्वचा, अस्थि और रोम कहते हैं।। २२१।।

(ब्राह्मण का अन्न अमृत, क्षत्रिय का अन्न दूध कहा गया है। इसीप्रकार वैश्य का अन्न 'अन्न' इस रूप में कहते हैं एवं शूद्र का अन्न रुधिर माना गया है।। १४।।)

भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च।। २२२।।

एषां मध्येऽन्यतमसंबन्धान्नमज्ञानतो भुक्त्वा त्र्यहमुपवासः ज्ञानतस्तु कृच्छ्रम्। एवं रेतोविण्मूत्रभोजनेऽपि। एतच्चान्यतमस्येति षष्ठीनिर्देशान्मत्तादिसंबन्धिनः परिग्रहदुष्टान्नस्यैव प्रायश्चित्तं न संसर्गदुष्टस्य केशकीटावपन्नादेः। नापि कालदुष्टस्य पर्युषितान्नादेः। नापि निमित्तदुष्टस्य घुष्टादेः। एकप्रकरणोपदेशश्चैषां स्नातकत्वज्ञापनार्थम्। प्रयश्चितं चैतेष्वेकादशे वक्ष्यति। यदि तु सर्वेष्वेवं प्रायश्चित्तं स्यात्तदाभुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नं दुष्टमित्यभ्यधास्यत् नत्वन्यतमस्य तु भुक्त्वेति। "तस्मादेकप्रकरणाद्यन्मेधातिथिरभ्यधात्। प्रायश्चित्तमिदं युक्तं शुक्तादौ तदसुन्दरम्।। " अप्रकरणे च प्रायश्चित्तस्याभिधानं लाघवार्थम्। तत्र क्रियमाणे मत्तादिग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात्।। २२२।।

इनमें से किसी एक के भी अन्न को अज्ञानपूर्वक खाकर तीन दिन तक उपवास करे तथा मतिपूर्वक इन अन्नों एवं मूत्र, वीर्य और विष्ठा को खाकर कृच्छ्रव्रत का आचरण करे।। २२२।।

नाद्याच्छूद्रस्य पक्कान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।
आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम्।। २२३।।
(चन्द्रसूर्यग्रहे नाद्यादद्यात्स्नात्वा तु मुक्तयोः।
अमुक्तयोरगतयोरद्याच्चैव परेऽहनि।। १५।।)

अविशेषेण शूद्रान्नं प्रतिषिद्धं तस्येदानीं विशिष्टविषयतोच्यते। अश्राद्धिनः श्राद्धादिपञ्चयज्ञशून्यस्य शूद्रस्य शास्त्रविद्द्विजः पक्वान्नं न भुञ्जीत, किंत्वन्नान्तराभावे सत्येकरात्रनिर्वाहोचितमाममेवान्नमस्माद्गृह्णीयान्न तु पक्वान्नम्।। २२३।।

विद्वान् ब्राह्मण को श्राद्ध न करने वाले शूद्र के पके हुए अन्न को नहीं खाना चाहिए, किन्तु अन्न प्राप्त न होने पर एक रात्रि के लिए इस अन्न को भी इससे ग्रहण कर लेवे।। २२३।।

(चन्द्र एवं सूर्यग्रहण होने पर न खावे, किन्तु उनकी मुक्ति होने पर स्नान करके ही खावे, उन दोनों के बिना मोक्ष अस्त होने पर दूसरे दिन ही भोजन करे।। १५।।)

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः।
मीमांसित्वोभयं देवाः सममन्नमकल्पयन्।। २२४।।

एकोऽधीतवेदः कृपणश्च, परो दाता वृद्धिजीवी च तयोरुभयोरपि गुणदोषवत्त्वं विचार्य देवा स्तुल्यमन्नमनयोरिति निरूपितवन्तः। उभायोरपि गुणदोषसाम्यात्।। २२४।।

कंजूस वेदज्ञाता तथा दानी सूदखोर के अन्न के विषय में भलीप्रकार विचारकर दोनों अन्नों को एक समान कहा गया है।। २२४।।

तान्प्रजापतिराहैत्य मा कृध्वं विषमं समम्।
श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्।। २२५।।

तान्देवानागत्य ब्रह्मा प्रोवाच विषममन्नं मा समं कुरुत। विषमसमीकरणमनुचितम्। कः पुनरनयोर्विशेष इत्यपेक्षायां स एवावोचत्। दानशीलवार्धुषिकस्यापि श्रद्धयान्नं पवित्रं भवति। कृपणान्नं पुनरश्रद्धया हतं दूषितमधमं प्रागुभयप्रतिषेधेऽपि श्रद्धादत्त-विद्वद्वार्धुषिकान्नविशुद्धिबोधनपरमिदम्।। २२५।।

तब उन देवों के पास आकर प्रजापति बोले-"विषम अन्नों को एक समान मत करो।" दानी सूदखोर का अन्न श्रद्धा से पवित्र है, जबकि दूसरा अश्रद्धा से दूषित है।। २२५।।

श्रद्धयेष्टं च पूर्तं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः।। २२६।।

इष्टमन्तर्वेदि यज्ञादिकर्म, पूर्वं ततोऽन्यत्पुष्करिणीकूपप्रपारामादि, तदेवमनलसः सन्नित्यं काम्यस्वर्गादिफलरहितं श्रद्धया कुर्यात्। यस्मात्ते इष्टापूर्ते न्यायार्जितधनेन श्रद्धया कृतेऽक्षये मोक्षफले भवतः।। २२६।।

आलस्यरहित हुआ श्रद्धापूर्वक हमेशा इष्ट एवं पूर्त कर्मों को करे, क्योंकि न्यायोचित उपायों से उपार्जित धनों द्वारा श्रद्धापूर्वक किए गए, वे दोनों अक्षय फल प्रदान करने वाले होते हैं।। २२६।।

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।
परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः।। २२७।।
(पात्रभूतो हि यो विप्रः प्रतिगृह्य प्रतिग्रहम्।
असत्सु विनियुञ्जीत तस्मै देयं न किञ्चन।। १६।।
संचयं कुरुते यस्तु प्रतिगृह्य समंततः।
धर्मार्थं नोपयुङ्क्ते च न तं तस्करमर्चयेत्।। १७।।)

दानाख्यं धर्ममष्टिकं पौर्तिकमन्तर्वेदिकं बहिर्वेदिकं च सर्वदा विद्यातपोयुक्तं ब्राह्मणमासाद्य परितुष्टान्तःकरणयुक्तः यथाशक्ति कुर्यात्।। २२७।।

सुपात्र को प्राप्त करके सर्वथा सन्तुष्टभाव से अपनी शक्ति के अनुसार हमेशा दान, धर्म, इष्ट एवं पूर्तकर्मों का अवश्य सेवन करे।। २२७।।

(पात्रभूत जो ब्राह्मण स्वयं दान स्वीकार करके, उसे कुपात्रों को प्रदान करता है। उसे कुछ भी दान नहीं देना चाहिए।। १६।।

जबकि जो चारों ओर से दान लेकर उसे इकट्ठा करता है तथा उसे धार्मिक कार्यों में नहीं लगाता है, उस तस्कर का भी सम्मान न करे।। १७।।)

यत्किंचिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।
उत्पत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वतः।। २२८।।

प्रार्थितेन परगुणामत्सरेणान्नमपि यथाशक्ति दातव्यम्। यस्मात्सर्वदा दानशीलस्य कदाचित्तादृशं पात्रमागमिष्यति तत्सर्वस्मान्नरकहेतोर्मोचयिष्यति।। २२८।।

याचना करने पर असूयारहित होकर जो कुछ भी सम्भव हो देना चाहिए, क्योंकि कभी न कभी वह पात्र भी आयेगा जो दाता को सब ओर से पार उतार देगा।। २२८।।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।
तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपदश्चक्षुरुत्तमम्।। २२९।।

जलदः क्षुत्पिपासाविगमात्तृप्तिं, अन्नदोऽत्यन्तसुखं, तिलप्रद ईप्सितान्यपत्यादीनि, दीपदो विप्रवेशमादौ निर्दोषं चक्षुः प्राप्नोति।। २२९।।

जलदान करने वाला तृप्ति को, अन्नदान करने वाला अक्षयसुख को, तिलदान करने वाला अभीष्टसन्तान को तथा दीपदान करने वाला उत्तमनेत्रों को प्राप्त करता है।। २२९।।

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।
गृहदोऽग्र्याणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम्।। २३०।।

भूमिदो भूमेराधिपत्यं, सुवर्णदश्चिरजीवित्वं, गृहदः श्रेष्ठानि वेश्मानि, रूप्यदः सकलजननयनमनोहरं रूपं लभते।। २३०।।

(इसके अतिरिक्त) भूमि देने वाला भूमि को, स्वर्णदान करने वाला लम्बी आयु को, घर दान देने वाला उत्तमघरों को तथा चाँदी दान करने वाला उत्तम रूप को प्राप्त करता है।। २३०।।

वासोदश्चन्द्रसालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः।
अनडुहः श्रियं पुष्टां गोदो ब्रध्नस्य विष्टपम्।। २३१।।

वस्त्रदश्चन्द्रसमानलोकान्प्राप्नोति चन्द्रलोके चन्द्रसमविभूतिर्वसति, एवमेवाश्विलोकं बोटकदः, बलीवर्दस्य दाता प्रचुरां श्रियं, स्त्रीगवीप्रदः सूर्यलोकं प्राप्नोति।। २३१।।

वस्त्रदान देने वाला चन्द्रलोक में निवास को, घोडे दान करने वाला अश्विनीकुमारों के साथ निवास को, बैल देने वाला समृद्धलक्ष्मी को तथा गाय दान करने वाला सूर्यलोक को (प्राप्त करता है)।। २३१।।

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदः।।
धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम्।। २३२।।

रथादियानस्य शय्यायाश्च दाता भार्यां, अभयप्रदः प्राणिनामहिंसकः प्रभुत्वं, धान्यदो व्रीहियवमाषमुद्गादिसस्यानां दाता चिरस्थायि सुखित्वं, ब्रह्म वेदस्तत्प्रदो वेदस्याध्यापको व्याख्याता च ब्रह्मणः सार्ष्टितां समानगतितां तत्तुल्यतां प्राप्नोति।। २३२।।

वाहन और शय्या का दान करने वाला स्त्री, ऐश्वर्य एवं अभयप्रदान करने वाला एवं धान्य का दान करने वाला शाश्वत सुख को, वेद का दान करने वाला ब्रह्म की समानता को प्राप्त कर लेता है।। २३२।।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्।। २३३।।

उदाकान्नधेनुभूमिवस्त्रतिलसुवर्णघृतादीनां सर्वेषामेव यानि दानानि तेषां मध्यात् वेददानं विशिष्यते प्रकृष्टफलदं भवति।। २३३।।

अन्न, जल, गौ, पृथिवी, वस्त्र, तिल, स्वर्ण और घी इन सभी दानों में वेदज्ञान का दान श्रेष्ठतम होता है।। २३३।।

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति।
तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः।। २३४।।

अवधारणे तुशब्दः। येन येनैव भावेनाभिप्रायेण फलाभिसंधिकः स्वर्गो मे स्यादिति, मुक्षुक्षुर्मोक्षाभिप्रायेण निष्कामो यद्यद्दानं ददाति तेनैव भावेनोपलक्षितस्तततद्दान-फलद्वारेण जन्मान्तरे पूजितः सन्प्राप्नोति।। २३४।।

जिस-जिस भाव द्वारा व्यक्ति जो-जो दान देता है। उसी भाव से सम्मानित हुआ वह उस-उस वस्तु को (दूसरे जन्म में) प्राप्त कर लेता है।। २३४।।

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये।। २३५।।

योऽर्चापूर्वकमेव दाता ददाति, यश्च प्रतिग्रहीतार्चापूर्वकमेव दत्तं प्रतिगृह्णाति तावुभौ स्वर्गं गच्छतोऽनर्चितदानप्रतिग्रहणे नरकम्। पुरुषार्थे तु प्रतिग्रहेऽनर्चितमेव मया ग्रहीतव्यं नान्यथेति नियमात्फललाभो न विरुद्धः।। २३५।।

जो सम्मानपूर्वक दान ग्रहण करता है तथा आदर के साथ ही दान देता है। वे दोनों स्वर्ग में जाते हैं, जबकि विपरीत करने पर उन्हें नरक की प्राप्ति होती है।। २३५।।

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम्।
नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रान्न दत्त्वा परिकीर्तयेत्।। २३६।।

चान्द्रायणादितपसा कृतेन कथं ममेदं दुष्करमनुष्ठितमिति विस्मयं न कुर्यात्। यागं च कृत्वा नासत्यं वदेत्। कृतेऽपि पुरुषार्थतयानृतवदननिषेधे क्रत्वार्थोऽयं पुनर्निषेधः। ब्राह्मणैः पीडितोऽपि न तान्निन्दयेत्। गवादिकं च दत्त्वा मयेदं दत्तमिति परस्य न कथयेत्।। २३६।।

तप से आश्चर्य न करे। यज्ञ करके असत्य भाषण न करे। पीडित होने पर भी ब्राह्मणों को बुरे वचन न कहे। दान देकर उसका कथन न करे।। २३६।।

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात्।। २३७।।

अनृतेन हेतुना यज्ञः क्षरति। सत्येनैव स फलं साधयति। एवं तपसि दाने च योज्यम्। विप्रनिन्दया चायुः क्षीयते।। २३७।।

असत्य बोलने से यज्ञ नष्ट हो जाता है। विस्मय प्रकट करने से तपस्या नष्ट हो जाती है। ब्राह्मण को अपशब्द कहने से आयु तथा दान का कथन दान के फल को नष्ट कर देता है।। २३७।।

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्।। २३८।।

सर्वप्राणिनां पीडां परिहरन्परलोकसहायार्थं यथाशक्ति शनैःशनैर्धर्ममनुतिष्ठेत्। यथा पुत्तिकाः पिपीलिकाप्रभेदाः शनैशनैर्महान्तं मृत्तिकाकूटं संचिन्वन्ति।। २३८।।

जिसप्रकार चीटियाँ वल्मीक (मिट्टी) का संचयन करती हैं। उसीप्रकार परलोक में अपनी सहायता के लिए सभी प्राणियों को कष्ट न देते हुए धीरे-धीरे धर्म का संचय करे।। २३८।।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः।। २३९।।

यस्मात्परलोके सहायकार्यसिद्ध्यर्थं न पितृमातृपत्नीज्ञातयस्तिष्ठन्ति किन्तु धर्म एवैकोऽद्वितीयभावेनोपकारार्थमवतिष्ठते। तस्मात्पुत्रादिभ्योऽपि महोपकारकं धर्ममनु-तिष्ठेत्।। २३९।।

क्योंकि परलोक में सहायता के लिए न तो माता-पिता, न पुत्र, न पत्नी और न ज्ञातिजन विद्यमान रहते हैं, वहाँ तो केवल धर्म ही रहता है।। २३९।।

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम्।। २४०।।

एक एव प्राण्युत्पद्यते न बान्धवैः सहितः। एक एव च म्रियते। सुकृतफलमपि स्वर्गादिकं, दुरितफलं च नरकादिकमेक एक भुङ्क्ते न मात्रादिभिः सह। तस्मान्मात्राद्यपेक्षयापि धर्मं न त्यजेत्।। २४०।।

प्राणी अकेला ही उत्पन्न होता है तथा अकेला ही मर जाता है। वह अकेला ही पुण्यों को तथा अकेला ही पाप को भोगता है।। २४०।।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति।। २४१।

मृतं शरीरं मनःप्राणादित्यक्तं लोष्ठवदचेतनं भूमौ त्यक्त्वा पराङ्मुखा बान्धवा यान्ति न मृतं जीवमनुयान्ति, धर्मस्तु तमनुगच्छति।। २४१।।

काष्ठ या मिट्टी के लोंधे के समान मरे हुए शरीर को पृथिवी पर छोड़कर बन्धुलोग विमुख हो जाते हैं। एकमात्र धर्म ही उसके पीछे जाता है।। २४१।।

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम्।। २४२।।

यस्माद्धर्मेण सहायेन दुस्तरं तमो नरकादिदुःखं तरति तस्माद्धर्मं सहायभावेन सततं शनैरनुतिष्ठेत्।। २४२।।

इसलिए परलोक में अपनी सहायता के लिए हमेशा धीरे-धीरे धर्म का संचय करे, क्योंकि सहायता करने वाले धर्म द्वारा व्यक्ति दुस्तर तम (नरक आदि का दुःख) को भी पार कर लेता है।। २४२।।

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम्।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम्।। २४३।।

धर्मपरं पुरुषं दैवादुपजाते पापे प्राजापत्यादितपोरूपप्रायश्चित्तेन हतपापं दीप्तिमन्तं प्रकृतो धर्म एव शीघ्रं ब्रह्म स्वर्गादिरूपं परलोकं नयति। खं ब्रह्मेत्याद्युपनिषत्सु खशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयोगः। खशरीरिणं ब्रह्मस्वरूपमित्यर्थः। यद्यपि लिङ्गशरीरावच्छिन्नो जीव एव गच्छति तथापि ब्रह्मांशत्वाद्ब्रह्मस्वरूपमुपपन्नं, धर्म एव चेत्परं लोकं नयति ततो धर्ममनुतिष्ठेत्। "नहि वेदाः स्वधीतास्तु शास्त्राणि विविधानि च। तत्र गच्छन्ति यत्रास्य धर्म एकोऽनुगच्छति"।। २४३।।

धर्म ही तपस्या द्वारा विनष्टपापों वाले प्रकाशमान, ब्रह्मस्वरूप, धर्मप्रधानव्यक्ति को शीघ्र ही पर (ब्रह्म) लोक में ले जाता है।। २४३।।

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं संबन्धानाचरेत्सह।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत्।। २४४।।

कुलमुत्कर्षं नेतुमिच्छन्विद्याचारजन्मादिभिरुत्कृष्टैः सह सर्वदा कन्यादानादि-संबन्धानाचरेत्। अपकृष्टांस्तु संबन्धांस्त्यजेत्। उत्तमविधानादेवाधमपरित्यागे सिद्धे यत्पुनरधमांस्त्यजेदित्यभिधानं तदुत्तमासंभवे स्वतुल्याद्यनुज्ञानार्थम्।। २४४।।

अपने कुल को उन्नति की ओर ले जाने की इच्छा वाला व्यक्ति हमेशा उत्तमोत्तम लोगों के साथ ही सम्बन्ध रखे तथा अधमाधम लोगों के साथ (सम्बन्धों का) परित्याग कर देवे।। २४४।।

उत्तमानुत्तमान्गच्छन्हीनान्हीनांश्च वर्जयन्।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम्।। २४५।।

उत्तमान्गच्छंस्तैः सह संबन्धं कुर्वन्ब्राह्मणः श्रेष्ठतां गच्छति। प्रत्यवायेन विपरीताचारेण हीनैः सह संबन्धे जातेरपकर्षतया शूद्रतुल्यतामेति।। २४५।।

श्रेष्ठ-श्रेष्ठ लोगों के साथ सम्बन्ध बनाता हुआ तथा नीच-नीच लोगों को छोड़ता हुआ ब्राह्मण, श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, जबकि विपरीत आचरण से वह शूद्रता को (प्राप्त होता है)।। २४५।।

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्स्वर्गं तथाव्रतः।। २४६।।

प्रारब्धसंपादयिता दृढकारी। मृदुरनिष्ठुरः। दमस्य पृथगुपादानाद्दान्त इति शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुर्गृहीतव्यः। क्रूराचारैः पुरुषैः संसर्गं परिहरन्, परहिंसानिवृत्तः, तथाव्रत एव नियमदमेन्द्रियसंयममाख्येन च दानेन स्वर्गं प्राप्नोति।। २४६।।

दृढ़ निश्चयी, मृदु, इन्द्रियों का दमन करने वाला, क्रूर आचरणों का साथ न करने वाला, पूर्वोक्त उसप्रकार के व्रतों को करने वाला, हिंसारहित व्यक्ति दम एवं दान से स्वर्ग को जीत लेता है।। २४६।।

एधोदकं मूलफलमन्नभ्युद्यतं च यत्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्मध्वथाभयदक्षिणाम्।। २४७।।

काष्ठजलफलमूलमधूनि अन्नं चाभ्युद्यतमयाचितोपनीतम्। "अन्यत्र कुलटाषण्ढपतितेभ्यस्तथा द्विषः" (अ० १ श्लो० २१५)। इति याज्ञवल्क्यवचनात्कुलटादिवर्जं सर्वतः शूद्रादिभ्योऽपि प्रतिगृह्णीयात्। "आममेवाददीतास्मात्" इत्युक्तत्वादामान्नमेव शूद्रात्प्रतिग्राह्यम्। अभयं चात्मत्राणात्मकं प्रीतिहेतुत्वाद्दक्षिणातुल्यं चंडालादिभ्योऽपि स्वीकुर्यात्।। २४७।।

ईंधन, जल, मूल, फल, स्वयं प्राप्त हुआ अन्न, शहद, एवं अभयदान इन्हें सभी से स्वीकार करे।। २४७।।

आहृताभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।
मेने प्रजापतिर्ग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः।। २४८।।

आहृतां संप्रदानदेशमानीताम्। अभ्युद्यतामाभिमुख्येन स्थापिताम्। अप्रचोदितां प्रतिग्रहीत्रा स्वयमन्यमुखेन वा पूर्वमयाचितां दात्रा च तुभ्यमिदं ददानीति पूर्वमकथितां हिरण्यादिभिक्षां नतु सिद्धान्नरूपाम्। "अन्नमभ्युद्यतं च" इत्युक्तत्वात्पापकारिणोऽपि पतितादिवर्जं ग्राह्या इति विरिञ्चिरमन्यत।। २४८।।

पहले से किसी के द्वारा प्रेरणा न दी गई, सामने लाकर रखी गई भिक्षा को प्रजापति ने बुरेकर्म करने वाले से भी ग्रहण करने योग्य माना है।। २४८।।

नाश्नन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पञ्च च।
न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते।। २४९।।
(चिकित्सककृतघ्नानां शिल्पकर्तुश्च वार्धुषेः।
षण्ढस्य कुलटायाश्च उद्यतामपि वर्जयेत्।। १८।।)

नविद्यमानमेवं वै प्रतिग्राह्यं विजानता।
विकल्प्याविद्यमाने तु धर्महीनः प्रकीर्तितः।। १९।।)

तेनोपकल्पितं श्राद्धेषु कव्यं पञ्चदश वर्षाणि पितरो न भुञ्जते। नच यज्ञेषु तेन दत्तं पुरोडाशादि हव्यमग्निर्वहति देवान्प्रापयति, यस्तां भिक्षां न स्वीकरोति।। २४९।।

जो उस भिक्षा का तिरस्कार करता है, उस व्यक्ति के द्रव्य को पितर भी पन्द्रह वर्षों तक भक्षण नहीं करते हैं तथा अग्नि हव्य को नहीं ले जाता है।। २४९।।

(चिकित्सक, कृतघ्न, शिल्पकार, सूदखोर, नपुंसक तथा कुलटास्त्री की भिक्षा का सामने आने पर भी परित्याग कर दे।। १८।।

अपने यहाँ उस वस्तु के विद्यमान होने पर जानते हुए उस भिक्षा को ग्रहण नहीं करे तथा अपने यहाँ उसके न होने पर विकल्प करने से व्यक्ति धर्महीन कहा गया है।। १९।।)

शय्यां गृहान्कुशान्गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि।
धाना मत्स्यान्पयो मांसं शाकं चैव न निर्नुदेत्।। २५०।।

गन्धान्गन्धवन्ति कर्पूरादीनि, धानाः भ्रष्टयवतण्डुलान्, पयः क्षीरं, पूर्वमाहरणोपायनिबन्धेन गावदीनामप्रत्याख्यानमुक्तं, शय्यादीनि त्वयाचिताहृतान्यपि दात्रा स्वगृहस्थितान्ययाचितोपकल्पितानि न प्रत्याचक्षीत।। २५०।।

शय्या, घर, कुशाएँ, गन्ध, जल, पुष्प, मणि, दही, धान, मछली, दूध, मांस, तथा शाक इन्हें दान में दिये जाने पर मना नहीं करना चाहिए।। २५०।।

गुरून्भृत्यांश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः।। २५१।।

मातापित्रादीन्गुरून्भृत्यांश्च भार्यादीन् क्षुधावसन्नानुद्धर्तुमिच्छन्पतितादिवर्जं सर्वतः शूद्रादेरसाधुभ्यश्च प्रतिगृह्णीयात् न तु तेन धनेन स्वयं वर्तेत।। २५१।।

गुरु और सेवकों का उद्धार (उन्हें क्षुधामुक्त) करने की इच्छा करते हुए तथा देवता एवं अतिथियों का सत्कार करते हुए व्यक्ति, सभी जगह से भिक्षा ग्रहण करे, किन्तु उससे स्वयं तृप्त न होवे।। २५१।।

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन्।
आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्गृह्णीयात्साधुतः सदा।। २५२।।

मातापित्रादिषु मृतेषु तैर्वा जीवद्भिरपि स्वयोगावस्थितैर्विना गृहान्तरे वसन्नात्मनो वृत्तिमन्विच्छन्सर्वदा साधुभ्यो गृह्णीयादेव।। २५२।।

गुरुओं के स्वर्गवास होने पर अथवा उनके बिना घर में रहता हुआ, अपनी आजीविका की इच्छा करता हुआ व्यक्ति, हमेशा सज्जनों से ही भिक्षा ग्रहण करे।। २५२।।

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्।। २५३।।

आर्धिकः कार्षिकः। संबन्धिशब्दाश्चैते। यो यस्त कृषिं करोति स तस्य भोज्यान्नः। एवं स्वकुलस्य मित्रं, ये यस्य गोपालो, यो यस्य दासः, यो यस्य नापितः कर्म करोति, यो यस्मिन्नात्मानं निवेदयति दुर्गतिरहं त्वदीयसेवां कुर्वन्निति च त्वत्समीपे वसामीति यः शूद्रस्तस्य भोज्यान्नः।। २५३।।

कृषि करने वाला, कुल का मित्र, ग्वाला, दास, नाई और जिसने आत्मसमर्पण कर दिया है ऐसा व्यक्ति, ये सभी शूद्र होने पर भी भोजन करने योग्य अन्न वाले हैं।। २५३।।

यथात्मनिवेदनं शूद्रेण कर्तव्यं तदाह–

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च चिकीर्षितम्।
यथा चोपचरेदेनं तथात्मानं निवेदयेत्।। २५४।।

अस्य शूद्रस्य कुलशीलादिभिर्यादृश आत्मा स्वरूपं, यच्चास्य कर्म कर्तुरीप्सितं यथा चानेन सेवा कर्तव्या तेन प्रकारेणात्मानं कथयेत्।। २५४।।

इस शूद्र का जैसा आत्मा हो, जैसा अभिलषित हो तथा जैसी इसकी सेवा करे, उसप्रकार से स्वयं को भी निवेदन कर देवे।। २५४।।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।
स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः।। २५५।।

य इति सामान्यनिर्देशात्प्रकृतशूद्रादन्योऽपि यः कश्चित्कुलादिभिरन्यथा-भूतमात्मानमन्यथा साधुषु कथयति स लोकेऽतिशयेन पापकारी चौरः यस्मादात्माप-हारकः। स्तेनो द्रव्यान्तरमपहरति अयं तु सर्वप्रधानमात्मानमेवापहरेत्।। २५५।।

जो व्यक्ति स्वयं अन्यथा होते हुए, सज्जनों से अपने को विपरीत कहता है। आत्मा का अपहरण करने वाला वह व्यक्ति, इस संसार में चोर और महापापी होता है।। २५५।।

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः।। २५६।।

सर्वेऽर्थाः शब्देषु नियता वाच्यत्वेन नियताः वाङ्मूलाश्च शब्दास्तेषां प्रतिपत्तौ शब्देभ्य एव प्रतीयन्ते प्रतीतिद्वारेण शब्दमूलत्वं शब्देभ्य एवावगम्य चानुष्ठीयन्त इति वाग्विनिर्गता इत्युच्यन्ते। अतएव "वेदशब्देभ्य एवादौ" (अ० १ श्लो० २१) इति ब्रह्मणोऽपि सृष्टिर्वेदशब्दमूलैवौक्ता। अतो यस्तां वाचं स्तेनयेत्स्वार्थव्यभिचारिणीं वाचयति स नरः सर्वार्थस्तेयकृद्भवति।। २५६।।

सभी कार्य वाणी में नियत हैं। सभी से ही उत्पन्न हुए हैं, अतः वाणीमूलक हैं, किन्तु जो व्यक्ति वाणी को चुराता है। वह सबका चोर है।। २५६।।

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः।। २५७।।

गृहस्थयैव संन्यासप्रकारोऽयमुच्यते। महर्षीणां स्वाध्यायेन, पितृणां पुत्रोत्पादनेन, देवतानां यज्ञैर्यथाशास्त्रमानृण्यं गत्वा योग्यपुत्रे सर्वं कुटुम्बचिन्ताभारमारोप्य माध्यस्थमाश्रितः पुत्रदारधनादौ त्यक्तममत्वो ब्रह्मबुद्ध्या सर्वत्र समदर्शनो गृह एव वसेत्।। २५७।।

विधिपूर्वक महर्षि, पितर तथा देवों के ऋण से मुक्ति को प्राप्त करके, सब कुछ पुत्र को सोंपकर, केवल मध्यस्थभाव का आश्रय लेकर निवास करना चाहिए।। २५७।।

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।
एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति।। २५८।।

काम्यकर्मणां धनार्जनस्य च कृतसंन्यासः षष्ठाध्यायो वक्ष्यमाणः पुत्रोपकल्पितवृत्तिरेकाकी निर्जनदेशे आत्महितं जीवस्य ब्रह्मभावं वेदान्तोक्तं सर्वदा ध्यायेत्। यस्मात्तद्ध्यायन्ब्रह्मसाक्षात्कारेण परं श्रेयो मोक्षलक्षणं प्राप्नोति।। २५८।।

हमेशा एकान्तस्थान में अकेला ही अपने हित का चिन्तन करे, क्योंकि अकेले चिन्तन करता हुआ व्यक्ति परमकल्याण को प्राप्त करता है।। २५८।।

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।
स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः।। २५९।।

अयमध्यायार्थोपसंहारः। एषा ऋतादिवृत्तिर्गृहस्थस्य ब्राह्मणस्योक्ता। शाश्वती नित्या। आपदि त्वनित्या वक्ष्यते। स्नातकव्रतविधिश्च सत्तगुणस्य वृद्धिकरणे प्रशस्त उक्तः।। २५९।।

(यहाँ तक मैंने) गृहस्थ ब्राह्मण की यह शाश्वतवृत्ति कही तथा सत्त्वगुण में वृद्धि करने वाला, कल्याणकारी, स्नातकों के व्रत के विधान का (कथन किया)।। २५९।।

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्।
व्यपेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते।। २६०।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां चतुर्थोऽध्यायः।। ४।।

सर्वस्योक्तस्य फलकथनमिदम्। अनेन शास्त्रोक्ताचारेण वेदविद्ब्राह्मणो वर्तमानो नित्यकर्मानुष्ठानात्क्षीणपापः सन्ब्रह्मज्ञानप्रकर्षेण ब्रह्मैव लोकस्तस्मिँल्लीनो महिमानं सर्वोत्कर्षं प्राप्नोति।। २६०।।　क्षे० श्लो० १९।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ चतुर्थोऽध्यायः।। ४।।

इस वृत्ति द्वारा आचरण करता हुआ, पापरहित हुआ वेदशास्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण, हमेशा ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त करता है।। २६०।।

।।इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र में महर्षि भृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय पूर्ण हुआ।।

।।इसप्रकार डॉ. राकेश शास्त्री द्वारा सम्पादित मनुस्मृति चतुर्थ अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान्।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगुम्।। १।।

ऋषयः स्नातकस्यैतान्यथोदितधर्माञ्छ्रुत्वा महात्मानं परमार्थपरं भृगुमिदं वचनमब्रुवन्। यद्यपि प्रथमाध्याये दशप्रजापतिमध्ये "भृगुं नारदमेव च" (अ० १ श्लो० ३५) इति भृगुसृष्टिरपि मनुत एवोक्ता तथापि कल्पभेदेनाग्निप्रभवत्वमुच्यते। तथाच श्रुतिः-"तस्य यद्रेतसः प्रथमं देदीप्यते तदसावादित्योऽभवद्यद्द्वितीयमासीदभृगुः" इति। अतएव भ्रष्टाद्रेतस उत्पन्नत्वाद्भृगुः।। १।।

स्नातक के यथाविधि कहे हुए इन धर्मों को सुनकर ऋषिलोग अग्नि से उत्पन्न हुए महात्माभृगु से इसप्रकार बोले- ।। १।।

एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो।। २।।

एवं यथोक्तं स्वधर्मं कुर्वतां ब्राह्मणानां श्रुतिशास्त्रज्ञानां वेदोदितायुषः पूर्वं कथं मृत्युः प्रभवति। आयुरल्पत्वहेतोरधर्माचरणस्याभावात्। सकलसंशयोच्छेदनसमर्थत्वात्प्रभो इति संबोधनम्।। २।।

हे प्रभो! इसप्रकार यथायोग्य कहे गए, अपने धर्म का पालन करने वाले, वेदशास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मणों की मृत्यु किसप्रकार होती है?।। २।।

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति।। ३।।

स मनोः पुत्रो भृगुर्धर्मस्वभावो येन दोषेणाल्पकाले विप्रान्हन्तुमिच्छति मृत्युः स दोषः श्रूयतामित्येवं तान्महर्षीञ्जगाद।। ३।।

तब मनुपुत्र, धर्मात्मा भृगु उन महर्षियों से बोले-जिस दोष द्वारा मृत्यु ब्राह्मणों को मारना चाहती है, सुनिये।। ३।।

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति।। ४।।

वेदानामनभ्यासात्, स्वीयाचारपरित्यागात्, सामर्थ्ये सत्यवश्यकर्तव्यकरणानुत्साहलक्षणादालस्यात्, अदनीयदोषाच्च मृत्युर्विप्रान्हन्तुमिच्छति। एतेषामधर्मोत्पादनद्वारेणायुःक्षयहेतुत्वात्।। ४।।

वेदों का अभ्यास न करने से, आचरण के परित्याग से, आलस्य से तथा अन्नदोष से, मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है।। ४।।

वेदानभ्यासादेरुक्तत्वादनुक्तमन्नदोषमाह-

लशुनं गृञ्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च।। ५।।

लशुनगृञ्जनपलाण्ड्वाख्यानि त्रीणि स्थूलकन्दशाकानि, कवकं छत्राकं, अमेध्यप्रभवाणि विष्ठादिजातानि तन्दुलीयादीनि। द्विजातीनामिति याज्ञवल्क्यवचनादेतानि द्विजातीनामभक्ष्याणि। द्विजातिग्रहणं शूद्रपर्युदासार्थम्।। ५।।

लहसुन, शलजम, प्याज, छत्राक तथा अपवित्र स्थान में उत्पन्न (शाक आदि वनस्पतियाँ) द्विजातियों के लिए अभक्ष्य हैं।। ।५।।

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनमप्रभवांस्तथा।
शेलुं गव्यं च पेयुषं प्रयत्नेन विवर्जयेत्।। ६।।

लोहितवर्णान्वृक्षनिर्यासान्वृक्षान्निर्गतरसान्कठिनतां यातान्वृश्चनं छेदनं तत्प्रभवानलोहितानपि। तथाच तैत्तिरीयश्रुतिः-"अथो खलु य एव लोहितो यो वा व्रश्चनान्निर्येषति तस्य नाश्यं काममन्यस्य" इति। शेलुं बहुवारकफलं गोभवं पेयूषं नवप्रसूताया गोः क्षीरमग्निसंयोगात्कठिनं भवत्येतान्यत्नतस्त्यजेत्। "आनिर्दशाया गोक्षीरम्" (अ० ५ श्लो० ८) इत्यनेनैव पेयूषस्यापि निषेधसिद्धावधिकदोषत्वात्प्रायः श्चित्तगौरवज्ञापनार्थं पथङ्निर्देशः। अतएव यत्नत इत्युक्तम्।। ६।।

वृक्षों से निकलने वाला लाल गोंद तथा उन्हें छीलने से उत्पन्न हुआ गोंद, लसोड़ा और गाय के दूध से बनी फेनुस (मावा, पनीरादि) इन्हें प्रयत्नपूर्वक खाना छोड़ दे।। ६।।

वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च।
अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च।। ७।।

देवताद्यनुद्देशेनात्मार्थं यत्पच्यते तद्वृथा। कृसरस्तिलेन सह सिद्ध ओदनः। तथाच छन्दोगपरिशिष्टम् "तिलतण्डुलसंपक्वः कृसरः सोऽभिधीयते । संयावो

घृतक्षीरगुडगोधूमचूर्णसिद्धस्तत्करिकेति प्रसिद्धः। क्षीरतण्डुलमिश्रः पायसः। अपूपः पिष्टकः। एतान्वृथापक्कान्विवर्जयेत्। पशुयागादौ मन्त्रबहुलेन पशोः स्पर्शनमुपाकरणं तद्रहितः पशुरनुपाकृतस्तस्य मांसानि। देवान्नानि नैवेद्यार्थमन्नानि प्राङ्निवेदनात्, हवींषि च पुरोडाशादीनि होमात्प्राग्वर्जयेत्। अनुपाकृतमांसानीत्येतद्विशेषनिषेधदर्शनात् "अनर्चितं वृथामांसम्" इति समान्यनिषेधो गोबलीवर्दन्यायेनानुपाकृतमांसेतरश्राद्धाद्यनुद्देश्यमांसभक्षणे पर्यवस्यति।। ७।।

वृथा (देवादि के निमित्त नहीं) ही बनाया हुआ कृसर, (तिल सहित पकाया भात) संयाव, पायस एवं अपूप, बिना यागादि के निमित्त बनाया गया मांस, देवान्न तथा हविष्यान्न (को भी छोड़ देवे)।। ७।।

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा।
आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गोः पयः।। ८।।
(क्षीराणि यान्यभक्षाणि तद्विकाराशने बुधः।
सप्तरात्रं व्रतं कुर्यात्प्रयत्नेन समाहितः।। १।।)

प्रसूताया अनिर्दशाया गोर्दुग्धम्। गोरिति पेयक्षीरपशूपलक्षणार्थम्। तेनाजामहिष्योरपि दशाहमध्ये प्रतिषेधः। तथाच यमः-" अनिर्दशाहं गोक्षीरमाजं माहिषमेव च"। तथोष्ट्रभवं, अश्वाद्येकखुरसंबन्धि, मेषभवं, संधिनी या ऋतुमती वृषमिच्छती तस्याः क्षीरम्। तथाच हारीतः-"संधिनी वृषस्यन्ती तस्याः पयो न पिबेदूतुमत्तद्भवति"। विवत्साया मृतवत्सायाः असन्निहितवत्सायाश्च क्षीरं वर्जयेत्। धेन्वधिकरणन्यायेन वत्सग्रहणादेव गवि लब्धायां पुनर्गोग्रहणं गोरेव न त्वजामहिष्योरिति ज्ञापनार्थम्।। ८।।

प्रसूति के दस दिन पूर्ण न होने वाली गाय, ऊँटनी तथा एक खुर वाली घोडी आदि, भेड़ तथा गर्भवती होने की इच्छा करने वाली गाय का दुग्ध तथा बछड़ोंरहित गाय का दूध भी (प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे)।। ८।।

(जो अभक्ष्य (रूप में कहा गया) दूध तथा उसके विचार से बने पदार्थ खाने पर बुद्धिमान् व्यक्ति अत्यन्त सावधानचित्त हुआ सात रात्रियों तक व्रत करे।। १।।)

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि।। ९।।

मृगशब्दोऽत्र महिषपर्युदासात्पशुमात्रपरः। माहिशं क्षीरं वर्जयित्वा सर्वेषामारण्यप्रभवपशूनां हस्त्यादीनां क्षीरं स्त्रीक्षीरं च सर्वाणि शुक्तानि वर्जनीयानि। स्वभावतो मधुररसानि यानि कालवशेनोदकादिना चाम्लीभवन्ति तानि शुक्तशब्दवाच्यानि।

"शुक्तं पर्युषितं चैव" इति चतुर्थे कृतेऽपि शुक्तप्रतिषेधे दध्यादिप्रतिप्रसवार्थं पुनरिहोच्यते।। ९।।

भैंस को छोड़कर सभी जंगली पशुओं का दूध, स्त्री का दूध तथा सभी प्रकार के शुक्तपदार्थ (स्वभाव से मधुर, किन्तु कालवश खट्टे हुए) भी वर्ज्य हैं।। ९।।

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम्।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः।। १०।।

शुक्तेषु मध्ये दधि भक्ष्यं दधिसंभवं च सर्व तक्रादि। यानि तु पुष्पमूलफलैरुदकेन संधीयन्ते तानि भक्षणीयानि। शुभैरिति विशेषणोपादानान्मोहादिविकारकारिभिः कृतसंधानस्य प्रतिषेधः। तथाच बृहस्पतिः "कन्दमूलफलैः पुष्पैः शस्तैः शुक्तान्न वर्जयेत्। अविकारि भवेद्भक्ष्यमभक्ष्यं तद्विकारकृत्"।। १०।।

शुक्त वस्तुओं में दही एवं दही से उत्पन्न हुए सभी पदार्थ तथा जो पदार्थ शुभ (नशा न करने वाले), पुष्प, फल तथा मूलादि से बनाए जाते हैं, वे सभी भक्ष्य हैं।। १०।।

क्रव्यादाञ्छकुनान्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत्।। ११।।

आमं मांसं ये भक्षयन्ति ते क्रव्यादास्तान्सर्वान्गृध्रादीन्पक्षिणो वर्जयेत्। तथा ग्रामनिवासिनश्च पक्षिणः पारावतादीन्। तथा श्रुतौ केचिदेकशफा भक्ष्यत्वेन निर्दिष्टाः। तथाच "औष्ट्रं वाडवमालभेत तस्य च मांसमश्नीयात्" इति। केचिच्चानिर्दिष्टा रासभादयस्तेषां मांसं वर्जयेत्। येऽपि यज्ञाङ्गत्वेन विहितास्तेषामपि यज्ञ एव मांसभक्षणं न सर्वदा। टिट्टिभाख्यं च पक्षिणं वर्जयेत्।। ११।।

कच्चा मांस भक्षण करने वाले, ग्रामों में रहने वाले सभी पक्षी, जिनके नामों का कथन नहीं किया गया है ऐसे एक खुर वाले पशु तथा टिटिहरी को भी छोड़ देना चाहिए।। ११।।

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम्।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके।। १२।।

कलविङ्कं चटकं तस्य ग्रामारण्योभयवासित्वादेव निषधः। इत्यारण्यस्याप्यभक्ष्यत्वार्थ जातिशब्देन निषेधः। प्लवाख्यं पक्षिणम्। तथा हंसचक्रवाकग्रामकुक्कुटसारसरज्जुवालदात्यूहशुकसारिकाख्यान्पक्षिणो वर्जयेत्। वक्ष्यमाणजालपादनिषेधेनैव हंसचक्रवाकयोरपि निषेधसिद्धौ पृथङ्निषेधोऽन्येषामापदि जालपादानां विकल्पार्थः।

स च व्यवस्थितो विज्ञेयः। आपदि भक्ष्या न त्वनापदि। इच्छाविकल्पस्य रागत एव प्राप्तेः। ग्रामकुक्कुटे तु ग्रामग्रहणमारण्यकुक्कुटाद्यनुज्ञानार्थं न त्वेतद्व्यतिरिक्तग्राम-वासिविकल्पार्थम्। आपदर्थे गतप्रयोजनं भवति। वाक्यान्तरगतविशेषावधारण-परत्वस्यान्याय्यत्वात्।। १२।।

गौरय्या, परेवा, हंस, चकवा, पालतूमुर्गा, सारस, डोमकौआ, जलमुर्गा, तोता और मैना (इनके मांस का भी परित्याग करे)।। १२।।

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान्।
निमज्जतश्च मत्स्यादाञ्शौनं वल्लूरमेव च।। १३।।

प्रतुद्य चञ्च्वा ये भक्षयन्ति तान्दार्वाघाटादीन्, जालपादानिति जालाकारपादाञ्शरा-रिप्रभृतीन्, कोयष्ट्याख्यं पक्षिणम्, नखविष्किरान्नखैर्विकीर्य ये भक्षयन्ति तानभ्यनुज्ञा-तारण्यकुक्कटादिव्यतिरिक्ताञ्शयेनादीन्। तथा निमज्य ये मत्स्यान्खादन्ति तान्मद्गुप्रभृतीन्, सूना मारणस्थानं तत्र स्थितं यन्मांसं भक्ष्यमपि, वल्लूरं शुष्कमांसं एतानि वर्जयेत्।। १३।।

चोंच से काटकर खाने वाले पक्षी कठफोडवा (प्रतुद), बत्तख (जालपाद) कोहडा (कोयष्टि) तथा नाखून से बिखेरकर खाने वाला-तीतर और पानी में डूबकर मछलियों को खाने वाले पक्षी, वधस्थान पर रखा मांस एवं सूखा मांस भी छोड़ देवे।। १३।।

बकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम्।
मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः।। १४।।

बकबलाकाद्रोणकाकखञ्जनान् तथा मत्स्यादान्पक्षिव्यातिरिक्तानपि नक्रादीन्विड्-वराहांश्च। विडिति विशेषणमारण्यसूकराभ्यनुज्ञानार्थम्। मत्स्यांश्च सर्वान्वर्जयेत्।। १४।।

बगुला, बलाका, काकोल, खञ्जन इनके मांस को तथा मछली खाने वाले पक्षियों के मांस को, पालतू सुअर तथा सभी मछलियों के मांस को भी न खावे)।। १४।।

मत्स्यभक्षणनिन्दामाह-

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत्।। १५।।

यो यदीयं मांसं खादति स तन्मांसाद एवं परं व्यपदिश्यते। यथा मार्जारो मूषिकादः। मत्स्यादः पुनः सर्वमांसभक्षकत्वेन व्यपदेष्टुं योग्यस्तस्मान्मत्स्यान्न खादेत्।। १५।।

जो व्यक्ति जिस प्राणी का मांस खाता है, वह उसी का मांसभक्षक कहलाता है। जबकि मछली का खाने वाला सभी मांसों का भक्षक कहा जाता है। इसलिए मछलियों के मांस का परित्याग कर देना चाहिए।। १५।।

इदानीं भक्ष्यमत्स्यानाह-

पाठीनरोहितावाद्यो नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।
राजीवान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः।। १६।।

पाठीनरोहितौ मत्स्यभेदौ भक्षणीयौ। हव्यकव्ययोर्नियुक्ताविति समस्त-वक्ष्यमाणनिषिद्धोपलक्षणार्थम्। तेन प्राणात्ययादावदोषः। तथा राजीवाख्यान्सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्च सर्वान्वक्ष्यमाणलक्षणोपेतानद्यात्। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु-"पाठीनरोहितौ दैवपैत्रादिकर्मणि नियुक्तावेवादनीयौ न त्वन्यदा। राजीवसिंहतुण्डसशल्कमत्स्यास्तु हव्यकव्याभ्यामन्यत्रापि भक्षणीयाः" इत्याचक्षतुः। न तन्मनोहरम्। पाठीनरोहितौ श्राद्धे नियुक्तौ श्राद्धभोक्त्रैव भक्षणीयौ नतु श्राद्धकर्त्रापि। राजीवादयो हव्यकव्याभ्या-मन्यत्रापि भक्ष्या इत्यस्याप्रमाणत्वात्। मुन्यन्तरैश्च रोहितपाठीनराजीवादीनां तुल्यत्वेना-भिधानात्। तथाच शङ्खः-" राजीवाः सिंहतुण्डाश्च सशल्काश्च तथैव च। पाठीनरोहितौ चापि भक्ष्या मत्स्येषु कीर्तिताः"। याज्ञवल्क्यः—"भक्ष्याः पञ्चनखाः श्वाविद्गोधाः कच्छपशल्यकाः। शशश्च मत्स्येष्वपि तु सिंहतुण्डकरोहिताः। तथा पाठीनराजी-वसशल्काश्च द्विजातिभिः" (अ० १ श्लो० १७७) हारीतः-"सशल्कान्मत्स्यान्न्या-योपपन्नान्भक्षयेत्।" एवंच "भोक्त्रैवाद्यौ न कर्त्रापि श्राद्धे पाठीनरोहितौ। राजीवाद्यास्तथा नेति व्याख्या न मुनिसंमता"।। १६।।

हव्य-कव्य में निर्धारित पाठीन तथा रोहित, राजीव और सिंहतुण्ड एवं सशल्क ये सभी मछलियाँ भक्ष्य ही हैं।। १६।।

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्पञ्चनखांस्तथा।। १७।।

ये एकाकिनः प्रायेण चरन्ति सर्वादयस्तानेकचरान्, तथा ये अभियुक्तैरपि नामजातिभेदेनावधर्य विभागतश्च मृगपक्षिणो न ज्ञायन्ते तान्। भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टानिति सामान्यविशेषनिषेधाभावेन भक्ष्यपक्षनिक्षिप्तान्भक्ष्यत्वेन समुद्दिष्टांश्च, तथा सर्वान्पञ्चनखान्वानरादीन्न भक्षयेत्।। १७।।

अकेले विचरण करने वाले सर्प आदि तथा अज्ञात पशु-पक्षी एवं भक्ष्यों में भी सामान्यरूप से कहे गए पञ्चनख (वानरादि) आदि प्राणियों के (मांस को न खावे)।। १७।।

अत्र प्रतिप्रसवमाह-

श्वाविधं शल्यकं गोधां खङ्गकूर्मशशांस्तथा।
भक्ष्यान्पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः।। १८।।

श्वाविधं सेधाख्यं प्राणिभेदं, शल्यकं तत्सदृशं स्थूललोमानं, तथा गोधागण्ड-ककच्छपशशान्पञ्चनखेषु भक्ष्यान्मन्वादयः प्राहुः। तथोष्ट्रवर्जितानेकदन्तपङ्क्त्यु-पेतान्।। १८।।

साही, शल्यक, गोह, गेंडा, कछुआ तथा खरगोश इन्हें तथा एक ओर दाँत वाले पशुओं में ऊँट को छोड़कर शेष को, पाँच नख वालों में भक्ष्य कहा गया है।। १८।।

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः।। १९।।

कवकग्रामसूकरलशुनादीनामन्यतमं बुद्धिपूर्वकं गुरुप्रायश्चित्तोपदेशादभ्यासतो भक्षयित्वा द्विजातिः पतति। ततश्च पतितप्रायश्चित्तं कुर्यात्। ''गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट्'' (अ० ११ श्लो० ५६) इति।। १९।।

छत्राक, पालतूसुअर, लहसुन, पालतूमुर्गा, प्याज तथा शलजम इन्हें जानबूझ कर खाकर ब्राह्मण पतित होता है।। १९।।

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः।। २०।।

एतानि छत्राकादीनि षट् बुद्धिपूर्वकमेव भक्षयित्वाऽभिधेयभक्षणस्य निमित्तत्वेन साहित्यस्याविवक्षितत्वात्। एकादशाध्यायवक्ष्यमाणस्वरूपं सप्ताहसाध्यं सान्तपनं यतिचान्द्रायणं वा चरेत्। एतव्द्यतिरिक्तेषु लोहितवृक्षनिर्यासादिषु प्रत्येकं भक्षणादहोरात्रोपवासं कुर्यात्। छत्राकादीनां च प्रायश्चित्तापकर्षो वर्जनादरार्थः। ''शेषेषूपवसेदहः'' इति लाघवार्थम्। तत्रहि क्रियमाणे लोहितनिर्यासग्रहणमपि कर्तव्यं स्यात्।। २०।।

बिना सोचे समझे भी इन छः पदार्थों को खाकर ब्राह्मण को प्रायश्चित्त-स्वरूप कृच्छ्रसांतपन अथवा यतिचान्द्रायण व्रतों का आचरण करना चाहिए। शेष अभक्ष्यों के खाने पर एक दिन का उपवास करना चाहिए।। २०।।

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः।। २१।।

द्विजोत्तमपदं द्विजातिपरम्। त्रयाणां प्रकृतत्वात्, "एतदुक्तं द्विजातीनाम्" (अ० ५ श्लो० २६) इत्युपसंहाराच्च। द्विजातिः संवत्सरमध्ये एकमपि कृच्छ्रं प्रथमाम्नानात्प्राजापत्याख्यमज्ञातभक्षणदोषोपशमनार्थमनुतिष्ठेत्। ज्ञातस्य पुनरभक्ष्यभक्षण-दोषस्य विशेषतो यत्र यद्विहितं तदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात। यत्तु-"त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्। अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते" (अ० ५ श्लो० १२७) इति तद्द्रव्यशुद्धिप्रकरणपाठितप्रायश्चित्तव्यतिरिक्त द्रव्यशुद्धिविशेषेऽवतिष्ठते ।।२१।।

द्विजश्रेष्ठ अन्जाने खाये हुए अभक्ष्यपदार्थों की शुद्धि के लिए वर्ष में एक बार कृच्छ्रव्रत का आचरण करे, जबकि जानबूझकर खाने पर विशेषरूप से प्रायश्चित्त करना चाहिए।। २१।।

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा।। २२।।

ब्राह्मणादिभिर्यागार्थं प्रशस्ताः शास्त्रविहिता मृगपक्षिणो वध्याः। भृत्यानां चावश्यभरणीयानां वृद्धमातापित्रादीनां संवर्धनार्थम्। यस्मादगस्त्यो मुनिः पूर्वं तथा कृतवान्। प्रकृतिरूपोऽयमनुवादः।। २२।।

यज्ञ के लिए तथा सेवकों के भरण-पोषण के लिए ब्राह्मणों द्वारा श्रेष्ठ पशुपक्षी भी वध्य हैं, ऐसा प्राचीनसमय में महर्षि अगस्त्य ने भी आचरण किया है।। २२।।

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।
पुराणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च।। २३।।

यस्मात्पुरातनेष्वप्यृषिकर्तृकयज्ञेषु च भक्ष्याणां मृगपक्षीणां मांसेन पुरोडाशा अभवंस्तस्माद्यज्ञार्थमधुनातनैरपि मृगपक्षिणो वध्याः।। २३।।

क्योंकि प्राचीनसमय में भी मुनियों, ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों द्वारा किए गए यज्ञों में भक्ष्य पशुपक्षियों के पुरोडाश (बनाये गये) थे।। २३।।

इदानीं पर्युषितप्रतिप्रसवार्थमाह-

यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम्।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत्।। २४।।

यत्किंचित्खरविशदमभ्यवहार्यं मोदकादि, भोज्यं पायसादि, अगर्हितमुपघातान्तर-रहितं तत्पर्युषितं रात्र्यन्तरितमपि घृततैलदध्यादिसंयुक्तं कृत्वा भक्षणीयम्। ननु

प्रागेव यत्स्नेहसंयुक्तं तत्पर्युषितं भक्षणीयमिति व्याख्येयम्। तथाच सति हविःशेषस्य स्नेहसंयोगावश्यंभावात् ''यत्किंचित्स्नेहसंयुक्तं'' इत्यनेनैव भक्षणे सिद्धे ''हविःशेषं च यद्भवेत्'' इत्यनर्थकं स्यात्। स्मृत्यन्तरेऽपि भक्षणकाल एवाभिधारणमुपदिश्यते। तथाच यमः-''मसूरमाषसंयुक्तं तथा पर्युषितं च यत्। तत्तु प्रक्षालितं कृत्वा भुञ्जीत ह्यभिधारितम्''। हविःशेषं तु चरुपुरोडाशादि पर्युषितमपि भोजनकाले स्नेहसंयोगशून्यमेव भक्षणीयं पृथगुपदेशात्।। २४।।

जो कुछ भी निन्दा न किए गए खाने योग्य (भक्ष्य) पदार्थ हैं, बासी होने पर भी उन्हें घी आदि से संस्कारित करके खा लेना चाहिए तथा जो पर्युषित यज्ञ शेष है, वह संस्कार किए बिना ही खाने योग्य है।। २४।।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमस्नेहाक्तं द्विजातिभिः।
यवगोधूमजं सर्वं पयसश्चैव विक्रिया।। २५।।

अनेकरात्र्यन्तरिता अपि यवगोधूमदुग्धविकाराः स्नेहसंयोगरहिता अपि द्विजातिभिर्भक्षणीयाः।। २५।।

लम्बे समय तक रखे हुए भी जौ तथा गेहूँ से बने घी, तेल आदि द्वारा असंस्कृत और दूध के विकार से बने सभीपदार्थ भी द्विजातियों द्वारा भक्ष्य हैं।। २५।।

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने।। २६।।

एतद्द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमुक्तं, अत ऊर्ध्वं मांसस्य भक्षणे वर्जने च विधानं निःशेषं वक्ष्यामि।। २६।।

यह मैंने द्विजातियों के भक्ष्य-अभक्ष्यपदार्थों का पूर्णरूप से कथन किया। इसके पश्चात् मांस के खाने तथा त्यागने के सम्बन्ध में विधि को कहूँगा।। २६।।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये।। २७।।

''प्रोक्षितं भक्षयेत्'' इति परिसंख्या वा स्यान्नियमविधिर्वा।। तत्र परिसंख्यात्वे प्रोक्षितादन्यत्र भक्षणीयमिति वाक्यार्थः स्यात्। स चानुपाकृतमांसानीत्यनेनैव निषेधात्प्राप्तः। तस्मान्मन्त्रकृतप्रोक्षणाख्यसंस्कारयुक्तयज्ञहुतपशुमांसभक्षणमिदं यज्ञाङ्गं विधीयते। अतएव ''असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैः'' (अ० ५ श्लो०३६) इत्यस्यानुवादं वक्ष्यति। ब्राह्मणानां च यदा कामना भवति तदावश्यं मांसं भोक्तव्यमिति तदापि

नियमत एकवारं भक्षयेत् ''सकृद्ब्राह्मणकाम्यया'' इति यमवचनात्। तथा श्राद्धे मधुपर्के च ''नामांसो मधुपर्कः'' (अ० १ खं० २४) इति गृह्यवचनान्नियुक्तेन नियमान्मांसं भक्षणीयमिति। अतएव ''नियुक्तस्तु यथान्यायम्'' (अ० ५ श्लो० ३५) इत्यतिक्रमदोषं वक्ष्यति। प्राणात्यये चाहारान्तराभावनिमित्तके व्याधिहेतुके वा नियमतो मांसं भक्षयेत्।। २७।।

शास्त्रोक्तविधि के अनुसार श्राद्ध आदि में नियुक्त होने पर तथा प्राणों के संकट में पड़ने पर ब्राह्मणों को इच्छापूर्वक प्रोक्षित मांस का भी भक्षण कर लेना चाहिए।। २७।।

प्राणात्यये मांसभक्षणानुवादमाह–

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम्।। २८।।

प्राणितीति प्राणो जीवः शरीरान्तर्गतो भोक्ता तस्यादनीयं सर्वमिदं ब्रह्मा कल्पितवान्। किं तदाह। जंगमं पश्वादि, स्थावरं व्रीहियवादि सर्वं तस्य भोजनम्। तस्मात्प्राणधारणार्थं जीवो मांसं भक्षयेत्।। २८।।

प्रजापति ने प्राणी के लिए यह सब कुछ खाने योग्य है, ऐसी परिकल्पना की। तभी से स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी का भोजन है।। २८।।

प्राणस्यार्थमिदं सर्वमित्येवं प्रपञ्चयति–

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः।। २९।।

जङ्गमानां हरिणादीनामजङ्गमास्तृणादयः, दंष्ट्रिणां व्याघ्रादीनामदंष्ट्रिणो हरिणादयः, सहस्तानां मनुष्यादीनामहस्ता मत्स्यादयः, शूराणां सिंहादीनां भीरवो हस्त्यादयोऽदनीया एतादृश्यां विधातुरेव सृष्टौ।। २९।।

चलने फिरने वाले प्राणियों मृगादि का अन्न, न चलने फिरने वाले तृणादि हैं। व्याघ्रादि दाढ़वालों का अन्न, बिना दाढ़ वाले मृगादि हैं। हाथ वाले मनुष्यादि का अन्न बिना हाथ वाले मछली आदि हैं तथा शूरवीरों का भक्ष्य डरपोक हैं ।। २९।।

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनोऽहन्यहन्यपि।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च।। ३०।।

भक्षयिता भक्षणार्हान्प्राणिनः प्रत्यहमपि भक्षयन्न दोषं प्राप्नोति। यस्माद्विधात्रैव

भक्षणार्हा भक्षयितारश्च निर्मिता इति त्रिभिः श्लोकैः प्राणात्यये मांसभक्षणस्तुतिरियम्।। ३०।।

प्रतिदिन भक्ष्यप्राणियों को खाने वाला भी भक्षक—दोषी नहीं होता है, क्योंकि सृष्टिविधाता ने ही भक्ष्य एवं भक्षक प्राणियों का निर्माण किया है।। ३०।।

अथ प्रोक्षितभक्षणनियमार्थवादमाह–

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते।। ३१।।

यज्ञसंपत्त्यर्थं तदङ्गभूतमांसस्य जग्धिर्भक्षणमेतद्दैवमनुष्ठानं उक्तव्यतिरिक्तप्रकारेण पुनरात्मार्थमेव पशुं व्यापाद्य तन्मांसभक्षणेषु प्रवृत्ती राक्षसोचितमनुष्ठानमित्युत्तरार्द्धं वृथामांसभक्षणनिवृत्यनुवादः।। ३१।।

यज्ञ के लिए मांसभक्षण, यह दैवविधि कही गई है, जबकि इसके विपरीत मांसभक्षण में प्रवृत्ति रखना राक्षसविधि कही जाती है।। ३१।।

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा।
देवान्पितृंश्चार्चयित्वा खादन्मांसं दुष्यति।। ३२।।

क्रीत्वा आत्मना चोत्पाद्य अन्येन वा केनाप्यानीय दत्तं मासं देवपितृभ्यो दत्वा शेषं भक्षयन्न पापं प्राप्नोति। अतः प्रोक्षितादिचतुष्टयभक्षणवन्नेदं नियतं भक्षणं न दुष्यतीत्यभिधानात्। "वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन" (अ० ५ श्लो० ५३) इत्यादिवक्ष्यमाणमांसवर्जनविधिरप्येतद्विषय एवाविरोधात्।। ३२।।

खरीदकर, खुद मारकर अथवा दूसरे के द्वारा दिए गए मांस को देवों एवं पितरों को अर्पित करके खाने वाला व्यक्ति दोषी नहीं होता है।। ३२।।

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।
जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः।। ३३।।

मांसभक्षणानुष्ठानदोषज्ञो द्विजातिरनापदि तत्तद्देवाद्यर्चनविधानं विना न मांसं भक्षयेत्। यस्मादविधानेन यो मासं खादति स मृतः सन्यन्मांसं भक्षितं तैःप्राणिभिः परलोके स्वरक्षणाक्षमः खाद्यत इति सर्वश्लोकानुवादः।। ३३।।

खरीदकर, खुद मारकर अथवा दूसरे के द्वारा उपकारपूर्वक दिए गए मांस को, देवों एवं पितरों को अर्पित करके खाने वाला (व्यक्ति), विधिविधान के बिना मांस खाकर मरने पर विवश हुआ व्यक्ति उसके द्वारा खाया जाता है।। ३३।।

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः।
यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः।। ३४।।

मृगवधजीविनो व्याधादेर्धननिमित्तं मृगाणां हन्तुर्न तथाविधं पापं भवति, यादृशमदेवपितृशेषभूतमांसानि खादतः परलोके भवतीति पूर्वानुवाद एव।। ३४।।

धन के लिए पशु को मारने वाले को वैसा पाप नहीं होता है, जैसा पाप व्यर्थ मांसभक्षण करने वाले को मरने पर होता है।। ३४।।

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति संभवानेकविंशतिम्।। ३५।।

श्राद्धे मधुपर्के च यथाशास्त्रं नियुक्तः सन्यो मनुष्यो मासं न खादति स मृतः सन्नेकविंशतिजन्मानि पशुर्भवति। "यथाविधि नियुक्तस्तु" (अ० ५ श्लो० २७) इत्येतन्नियमातिक्रमफलविधानमिदम्।। ३५।।

शास्त्रोक्तविधि द्वारा श्राद्धादि में नियुक्त जो व्यक्ति मांस का भक्षण नहीं करता है। वह मरकर इक्कीस जन्मों तक पशुत्व को प्राप्त होता है।। ३५।।

असंस्कृतान्पशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः।। ३६।।

वेदविहितमन्त्रवत्प्रोक्षणादिसंस्कारशून्यान्पशून्विप्रादिः कदाचिन्नाश्नीयात्। शाश्वतं प्रवाहानादितया नित्यं पशुयागादिविधिमास्थितो मन्त्रसंस्कृतानेवाश्नीयादिति। "प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसम्" (अ० ५ श्लो० २७) इत्येतस्यानुवादार्थमेतत्।। ३६।।

ब्राह्मण को मन्त्रों द्वारा संस्कार न किए गए मांस को कभी नहीं खाना चाहिए। विधिविधान में स्थित हुआ वह हमेशा मन्त्रों द्वारा संस्कारित मांस को ही खावे।। ३६।।

कुर्याद्घृतपशुं सङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा।
न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन।। ३७।।

सङ्ग आसक्तौ पशुभक्षणानुरागेण घृतमयीं पिष्टमयीं वा पशुप्रतिकृतिं कृत्वा खादयेन्न पुनर्देवताद्युद्देशं विनैव पशून्कदाचिदपि हन्तुमिच्छेत्।। ३७।।

मांसभक्षण की अत्यधिक आसक्ति होने पर घृत-पशु का निर्माण करे तथा आटे के पशु को बना ले, किन्तु कभी भी व्यर्थ में पशु को मारने की इच्छा न करे।। ३७।।

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वो ह मारणम्।
वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि।। ३८।।

देवताद्युद्देशमन्तरेणात्मार्थं यः पशुन्हन्ति स वृथापशुघ्नो मृतः सन्यावत्संख्यानि पशुरोमाणि तावत्संख्याभूतं जन्मनि जन्मनि मारणं प्राप्नोति। तस्माद्वृथा पशुं न हन्यात्। तावत्कृत्व इति वत्त्वन्तात्क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् प्रत्ययः। इह ह शब्द आगमप्रसिद्धिसूचनार्थः।। ३८।।

पशुओं को व्यर्थ ही मारने वाला व्यक्ति, जितने पशु के शरीर में रोम होते हैं, निश्चय ही उतने जन्मों तक मरकर प्रत्येक जन्म में मृत्यु को प्राप्त करता है।। ३८।।

यज्ञार्थे तु पशुवधे न दोष इत्याह-

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयंमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः।। ३९।।

यज्ञसिद्ध्यर्थ प्रजापतिना आत्मनैवादरेण पशवः सृष्टाः। यज्ञश्चाग्नो प्रास्ताहुतिन्याया-त्सर्वस्यास्य जगतो विवृद्ध्यर्थः। तस्माद्यज्ञे वधोऽवध एव। वधजन्यदोषाभावात्।। ३९।।

ब्रह्मा ने स्वयं पशुओं की यज्ञ के लिए सृष्टि की तथा यज्ञ सभी के कल्याण के लिए होता है। इसलिए यज्ञ में किया गया पशुवध 'वध' नहीं है।।३९।।

ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः।। ४०।।

ओषध्यो ब्रीहियवाद्याः, पशवश्छागाद्यः, वृक्षा यूपाद्यर्थाः, तिर्यञ्चः कूर्मादयः, पक्षिणः कपिञ्जलाद्याः, यज्ञार्थं विनाशं गताः पुनर्जात्युत्कर्षं प्राप्नुवन्ति।। ४०।।

यज्ञ के लिए विनाश को प्राप्त हुई औषधियाँ, पशु, वृक्ष, पक्षी तथा कच्छप (तिर्यञ्च) आदि फिर से उत्कर्ष को प्राप्त करते हैं।। ४०।।

मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैतवकर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः।। ४१।।

"नामांसो मधुपर्कः" (गृ० सू० अ० १ खं० २४) इति विधानान्मधुपर्के च यज्ञे च ज्योतिष्टोमादौ, पित्र्ये दैवे च कर्मणि श्राद्धादौ पशवो हिंसनीया नान्यत्रेति मनुरभिहितवान्।। ४१।।

मधुपर्क में, यज्ञ में तथा पितृ-देवकर्मों में केवल इन्हीं स्थानों पर पशु, हिंसा के योग्य हैं, अन्य स्थानों पर नहीं, ऐसा मनु ने कहा है।। ४१।।

एष्वर्थेषु पशून्हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्द्विजः।
आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम्।। ४२।।

एषु मधुपर्कादिषु पदार्थेषु पशून्हिंसन्नात्मानं पशुं चोत्तमां गतिं स्वर्गाद्युपभोगयोग्य-विक्षणदेहदशादिसंबन्धं प्रापयति। वेदतत्त्वार्थविदिति विद्वदधिकारबोधनार्थम्। नन्वन्याधिकारित्वे कर्मणि कथमनधिकृतस्य पश्वादेरुत्तमगतिप्राप्तिः फलम्। उच्यते। शास्त्रप्रमाणकत्वात्। अस्यार्थस्य पित्रधिकारिकायां जातेष्टावनधिकारिणोऽपि पुत्रस्य फलप्राप्तिवदिहापि पश्वादिगतफलसंभवाद्यजमान एव कारुणिकतया पशुगतफल-विशिष्टमेव फलं कामयिष्यति। अतएवात्मानं च पशुंचैवेत्यभिधानात् यजमानव्यापारादेव पशुगतफलसिद्धिरुक्ता।। ४२।।

वेद के तत्त्वार्थ का ज्ञाता ब्राह्मण इन कर्मों में पशुओं को मारता हुआ, स्वयं को एवं पशु को उत्तमगति में पहुँचाता है।। ४२।।

गृहे गुरावरण्य वा निवसन्नात्मवान्द्विजः।
नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत्।। ४३।।

गृहाश्रमे, ब्रह्मचर्याश्रमे, वानप्रस्थाश्रमे च प्रशस्तात्मा द्विजो निवसन्नापद्यपि नाशास्त्रीयां हिंसां समाचरेत्।। ४३।।

गृहस्थ आश्रम, ब्रह्मचर्य आश्रम अथवा वानप्रस्थ आश्रम में निवास करता हुआ, आत्मवान् ब्राह्मण आपत्ति में भी वेदविरुद्ध हिंसा का आचरण न करे।। ४३।।

कथं तर्हि तुल्ये हिंसात्वे वैदिकी दैक्षादिपशुहिंसा नाधर्मायेत्यत आह-

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।। ४४।।

या श्रुतिविहिता कर्मविशेषदेशकालादिनियतास्मिञ्जगति स्थावरजङ्गमात्मनि अहिंसामेव तां जानीयात्, हिंसाजन्याधर्मविरहात्। दैक्षपशुहननमधर्मः प्राणिहननत्वात् ब्राह्मणहननवदित्याद्यनुमानमुपजीव्यशास्त्रबाधादेव न प्रवर्तते। दृष्टान्तीकृतब्राह्मणहनन-स्याप्यधर्मत्वे शास्त्रमेवोपजीव्यम्। वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ यस्मादनन्यप्रमाणको धर्मो वेदादेव निःशेषेण प्रकाशतां गतः।। ४४।।

इस चराचरजगत् में जो हिंसा वेदसम्मत है, उसे अहिंसा ही समझना चाहिए, क्योंकि धर्म वेद से ही प्रकट हुआ है।। ४४।।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते।। ४५।।

योऽनुपघातकान्प्राणिनो हरिणादीनात्मसुखेच्छया मारयति स इह लोके परलोके च न सुखेन वर्धते।। ४५।।

अपने सुख की कामना से जो अहिंसक प्राणियों का वध करता है, जीवित रहता हुआ एवं मरने पर भी वह कहीं भी सुख से समृद्ध नहीं होता है।। ४५।।

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते।। ४६।।

यो बन्धनमारणक्लेशादीन्प्राणिनां कर्तुं नेच्छति स सर्वहितप्राप्तीच्छुरनन्तसुखं प्राप्नोति।। ४६।।

जो व्यक्ति जीवों को वध-बन्धन और क्लेश प्रदान करना नहीं चाहता है। सबका हित चाहने वाला वह अत्यधिक सुख प्राप्त करता है।। ४६।।

अन्यच्च-

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन।। ४७।।

यच्चिन्तयति धर्मादिकमिदं मेऽस्त्विति, यच्च श्रेयः साधनं कर्म करोति, यत्र च परमार्थध्यानादौ धृतिं बध्नाति सत्सर्वमक्लेशेन लभते। य उपघातनिमित्तं दंशमशकाद्यपि न व्यापादयति।। ४७।।

जो व्यक्ति किसी की हिंसा नहीं करता है, वह जो ध्यान करता है, जो कार्य करता है तथा जिसमें ध्यान लगाता है, उस सबको बिना प्रयत्न के ही प्राप्त कर लेता है।। ४७।।

मांसभक्षणप्रसङ्गेन हिंसागुणदोषावभिधाय पुनः प्रकृतमांसाभक्षणमाह-

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयत्।। ४८।।

प्राणिहिंसाव्यतिरेकेण न क्वचिन्मांसमुत्पद्यते। प्राणिवधश्च न स्वर्गनिमित्तं नरकः हेतुरेव यस्मात्तस्मादविधिना मांसं न भक्षयेदिति।। ४८।।

प्राणियों की हिंसा किए बिना कहीं भी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता है तथा प्राणिवध स्वर्ग प्रदान करने वाला भी नहीं है। इसलिए (व्यक्ति को) मांस का परित्याग कर देना चाहिए।। ४८।।

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्।। ४९।।

शुक्रशोणितपरिणामात्मिकां समुत्पत्तिं घृणाकरीं विज्ञाय प्राणिनां बधबन्धौ च क्रूरकर्मरूपौ निरूप्य विहितमांसभक्षणादपि निवर्तेत किमुताविहितमांसभक्षणादित्यविधिना मांसभक्षणनिन्दानुवादः।। ४९।।

मांस की उत्पत्ति तथा प्राणियों के वध एवं बन्धन के विषय में भलीप्रकार विचारकर, सभीप्रकार के मांसभक्षण से निवृत्त हो जाना चाहिए।। ४९।।

न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते।। ५०।।

उक्तविधिव्यतिरेकेण यो न मांसं भक्षयति। पिशाचवदिति यथा पिशाचो भक्षयति तथा नेति व्यतिरेके दृष्टान्तः। स लोकस्य प्रियो भवति रोगैश्च न बाध्यते। तस्मादवैधमांसभक्षणाद्व्याधयो भवन्तीति दर्शितम्।। ५०।।

जो शास्त्रीयविधि को छोड़कर पिशाच के समान मांस नहीं खाता है। वह व्यक्ति संसार में प्रियता को प्राप्त होता है तथा व्याधियों द्वारा पीडित भी नहीं होता है।। ५०।।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः।। ५१।।

यदनुमतिव्यतिरेकेण हननं कर्तुं न शक्यते सोऽनुमन्ता, विशसिता अङ्गानि यः कर्तर्यादिना पृथक्पृथक् करोति, क्रयविक्रयी मांसस्य क्रेता विक्रेता च, संस्कर्ता पाचकः, उपहर्ता परिवेषकः, खादको भक्षयिता। गोविन्दराजस्तु यः क्रीत्वा विक्रीणाति स क्रयविक्रयीत्येकमेवाह। तदयुक्तम्। "हननेन तथा हन्ता धनेन क्रयिकस्तथा। विक्रयी तु धनादानात्संस्कर्ता तत्प्रवर्तनात्" इति यमवचनेन पृथङ्निर्देशात्। घातकत्ववचनं चेदमशास्त्रीयपशुवधेऽनुमत्यादयोऽपि न कर्तव्या इत्येवंपरम्। विधिनिषेधपरत्वाच्छास्त्रस्य। खादकादीनां पृथक्प्रायश्चित्तदर्शनात्।। ५१।।

हिंसा की अनुमति देने वाला, मरे हुए प्राणी के अंगों को टुकड़े-टुकड़े करने वाला, मारने वाला, क्रय-विक्रय करने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये सभी घातक (हिंसक) होते हैं।। ५१।।

स्वमासं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत्।। ५२।।

स्वशरीरमांसं परमांसेन देवपित्राद्यर्चनं विना यो वृद्धिं नेतुमिच्छति तस्मादपरो नापुण्यकर्तास्तीत्यविधिमांसभक्षणनिन्दानुवादः।। ५२।।

जो व्यक्ति देवताओं एवं पितरों की तृप्ति किए बिना दूसरों के मांस द्वारा अपने मांस को बढाना चाहता है, उससे बढ़कर दूसरा पापी (इस संसार में) नहीं है।। ५२।।

इदानीमनियमिताप्रतिषिद्धमांसभक्षणस्य निवृत्तिर्धर्मायेत्येतद्दर्शयितुमाह-

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्।। ५३।।
(सदा यजति यज्ञेन सदा दानानि यच्छति।
स तपस्वी सदा विप्रो यश्च मांसं विवर्जयेत्।। २।।)

यो वर्षशतं यावत्प्रतिवर्षमश्वमेधेन यजेत यश्च यावज्जीवं मांसं न खादति तयोः पुण्यस्य फलं स्वर्गादि तुल्यम्।। ५३।।

जो सौ वर्षों तक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ द्वारा यजन करे और जो मांस न खावे। उन दोनों के पुण्यफल समान होते है।। ५३।।

(जो ब्राह्मण हमेशा यज्ञ द्वारा यजन करता है। सदैव दान देता है। सदा तपस्वी रहता है। उसे मांस का परित्याग कर देना चाहिए।। २।।)

फलमूलाशनैर्मेध्यैर्मुन्यन्नानां च भोजनैः।
न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात्।। ५४।।

पवित्रफलमूलभक्षणैर्वानप्रस्थभोज्यानां च नीवाराद्यन्नानां भोजनैर्न तत्फलमवाप्नोति यच्छास्त्रानियमिताप्रतिषिद्धमांसवर्जनाल्लभते।। ५४।।

(व्यक्ति) पवित्र फल और मूलों (कन्द) के खाने से तथा मुनि-अन्नों के भोजन द्वारा, उस फल को प्राप्त नहीं करता है, जो मांस छोड़ने से प्राप्त करता है।। ५४।।

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।। ५५।।

इह लोके यस्य मांसमहमश्नामि परलोके मां स भक्षयिष्यतीत्येतन्मांस-शब्दस्य निरुक्तं पण्डिताः प्रवदन्ति इति मांसशब्दस्य निर्वचनमवैधमांसभक्षण-पापफलकथनार्थम्।। ५५।।

'इससंसार में मैं जिसके मांस को खा रहा हूँ। वह परलोक में मुझे खाएगा'। विद्वान् लोग यही मांस का मांसत्व कहते हैं।। ।५५।।

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।। ५६।।

ब्राह्मणादीनां वर्णानां यथाधिकारमविहिताप्रतिषिद्धभक्षणादौ न कश्चिद्दोषः। यस्मात्प्राणिनां भक्षणपानमैथुनादौ प्रवृत्तिः स्वाभाविकोऽयं धर्मः। वर्जनं पुनर्महाफलम्। अविहिताप्रतिषिद्धमद्यमैथुननिवृतेर्महाफलकथनार्थोऽयमुक्तस्यैव मांसवर्जनमहाफल-कथनस्यानुवादः।। ५६।।

न मांस खाने में, न शराब पीने में, न मैथुन करने में कोई दोष है, यह प्राणियों की प्रवृत्ति है, जबकि इनकी निवृत्ति महाफलदायिनी है।। ५६।।

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च।
चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः।। ५७।।

ब्राह्मणादीनां चतुर्णामपि वर्णानां प्रेतेष्वपि पित्रादीनां शुद्धिं ब्राह्मणादिक्रमेणया यस्येति, द्रव्यादीनां च तैजसादीनां शुद्धिमभिधास्यामि।। ५७।।

(अब मैं आपसे) चारों वर्णों की प्रेतशुद्धि और द्रव्यशुद्धि का क्रमशः विधिपूर्वक कथन करूँगा।। ५७।।

तत्र शुद्धेरशुद्धिसापेक्षत्वात्तन्निरूपणार्थमाह-

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अशुद्धा बान्धवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते।। ५८।।

दन्तजाते जातदन्त इत्यर्थः। ''वाहिताग्न्यादिषु (पा० सू० २।२।३७) इत्यनेन जातशब्दस्य परनिपातः। अनुजाते जातदन्तानन्तरे कृतचूडाकरणे च चकारात्कृतोपनयने च संस्थिये मृते सति बान्धवाः सपिण्डाः समानोदकाश्चाशुद्धा भवन्ति। प्रसवे च तथैवाशुद्धा भवन्तीत्युच्यते। वयोविभागेनोद्देशमात्रमिदं वक्ष्यमाणाशौचकाल-भेदादिसुखावबोधनार्थम्।। ५८।।

दाँतों के उत्पन्न होने अथवा उत्पन्न न होने पर तथा चूड़ाकर्म संस्कार किए जाने पर, (बालक के) मरने से सभी बान्धव सूतक के समान अशौच कहे जाते हैं।। ५८।।

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
अर्वाक् संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा।। ५९।।

सप्तपुरुषपर्यन्तं सपिण्डतां वक्ष्यति। सपिण्डेषु शवनिमित्तमाशौचं दशाहोरात्रं ब्राह्मणस्योपदिश्यते। ''शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन (अ० ५ श्लो० ८३) इति वक्ष्यमाणत्वात्।

अर्वाक्संचयनादस्थ्नामिति चतुरहोपलक्षणम्। चतुर्थे दिवसेऽस्थिसंचयनं कुर्यादिति विष्णुवचनात्त्र्यहमेकाह वा। अहःशब्दोऽहोरात्रपरः। अयं चाग्निवेदादिगुणापेक्षो व्यस्थितविकल्पः। यथाह दक्षः-"एकाहाच्छुद्ध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः। हीने हीनं भवेच्चैव त्र्यहश्चतुरहस्तथा"। श्रौताग्निमतो मन्त्रब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्यायिन एकाहाशौचम्। तत्र श्रौताग्निवेदाध्ययनगुणयोरेकगुणरहितो हीनस्तस्य त्र्यहः, उभयगुणरहितस्तु हीनतरः, केवलस्मार्ताग्निमांस्तस्य चतुरहः, सकलगुणरहितस्य दशाहः। तदाह पराशरः "निर्गुणो दशभिर्दिनैः" इति।। ५९।।

सपिण्डों में मरणविषयक अशौच का दस दिन तक, अस्थिसञ्चय के बाद चार दिनों तक, तीन दिन अथवा एक दिन तक का ही विधान किया गया है।।५९।।

सपिण्डलक्षणमाह-

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने।। ६०।।

यं पुरुषं प्रतियोगिनं कृत्वा निरूप्यते तस्य पितृपितामहप्रभृतीन्षट्पुरुषानतिक्रम्य सप्तमे पुरुषे प्राप्ते सपिण्डत्वं निवर्तते। एवं पुत्रपौत्रादिष्वप्यवगन्तव्यम्। पिण्डसंबन्धिनिबन्धना चेयं सपिण्डता। तथाहि, पितृपितामहप्रपितामहेभ्यस्त्रिभ्यः पिण्डदानं, प्रपितामहस्य पित्रादयस्त्रयः पिण्डलेपभुजश्च तत्पूर्वस्य तु सप्तमस्य पिण्डसंबन्धो नास्तीत्यसपिण्डता। यस्य चैते षट् पुरुषाः सपिण्डाः सोऽपि तेषां सपिण्डः, पिण्डदातृत्वेन तत्पिण्डसंबन्धात्। अतः साप्तपौरुषीयं सपिण्डता। तदुक्तं मत्स्यपुराणे-"लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः। पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्"। सगोत्रत्वे चेयं सपिण्डता। अतएव शङ्खलिखितौ-"सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी"। तेन मातामहादीनामेकपिण्डसंबन्धेऽपि न सपिण्डता। समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुलेऽमुकनामाभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्तते।। ६०।।

सपिण्डता सातवीं पीढ़ी से समाप्त हो जाती है, जबकि समानोदकभाव जन्म और नाम के न जानने पर ही दूर हो जाता है।। ६०।।

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।
जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणं शुद्धिमिच्छताम्।। ६१।।
(उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते।। ३।।)

यथेदं दशाहादिकं शवनिमित्तमाशौचं कर्मानर्हत्वलक्षणं सपिण्डेषु "दशाहं शावमाशौचम्" (अ० ५श्लो०५९) इत्यनेन विधीयते। प्रसवेऽपि सम्यक् शुद्धिमिच्छतां सपिण्डानां तादृशमेवाशौचं भवेत्।। ६१।।

जिसप्रकार यह मरण-अशौच सपिण्डों में किया जाता है। उसीप्रकार बच्चे के जन्म होने पर भी पूर्णतया शुद्धि की इच्छा करने वाले सपिण्डों में जनन-अशौच होता है।। ६१।।

(जनन और मरण दोनों अशौच में दस दिनों तक उस कुल का अन्न नहीं खाया जाता है तथा दान देना, दान स्वीकार करना, यज्ञ और वेदों का स्वाध्याय भी छोड़ दिया जाता है।। ३।।)

अनिर्देशेन तुल्यतायां प्राप्तायां विशेषमाह-

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः।। ६२।।
(सत्रधर्मप्रवृत्तस्य दानधर्मफलैषिणः।
त्रेता धर्मापरोधार्थमरण्यस्यैतदुच्यते।। ४।।)

मरणनिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं सर्वेषामेव सपिण्डानां समानम्। जननिमित्तं तु मातापित्रोरेव भवति। तत्राप्ययं विशेषः। जननिमित्तमस्पृश्यत्वं मातुरेव दशरात्रम्। पिता तु स्नानात्स्पृश्यो भवति। अयमेव संबन्धः संवर्तेन व्यक्तीकृतः-"जाते पुत्रे पितुः स्नानं सचैलं तु विधीयते। माता शुध्येद्दशाहेन स्नानात् स्पर्शनं पितुः"।। ६२।।

मरण-अशौच सभी सपिण्डों को होता है, जबकि जनन-अशौच माता-पिता को होता है। (इसमें भी दस दिन तक) माता को ही सूतक होता है। पिता तो स्नान करके पवित्र हो जाता है।। ६२।।

(दानधर्म के फल के इच्छुक, यज्ञधर्म में प्रवृत्त, त्रेताधर्म का पालन करते हुए अरण्य में निवास करने वाले के लिए भी यह अशौच कहा जाता है।। ४।।)

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति।
बैजिकादभिसंबन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम्।। ६३।।
(जननेप्येवमेव स्यान्मातापित्रोस्तु सूतकम्।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः।। ५।।)

"स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्" (अ० ५ श्लो० १४४) इति मैथुने स्नानं

विधास्यति, तेन मैथुनं विनापि कामतो रेतस्खलने स्नात्वा पुमान्शुद्धो भवति। अकामतस्तु स्वप्नादौ रेतःपाते "मूत्रवद्रेतस उत्सर्ग" इत्यापस्तम्बोक्तेः स्नानं विनापि गृहस्थस्य शुद्धिः। ब्रह्मचारिणस्त्वकामतोऽपि "स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी" (अ० २ श्लो० १८१) इत्यनेन स्नानादिना शुद्धिरुक्ता। बैजिके तु संबन्धे परपूर्वभार्यायामपत्योत्पत्तौ त्र्यहमाशौचं भवति। तथाच विष्णुः-"परपूर्वभार्यासु त्रिरात्रम्"। रेतःपातिनामाशौचमप्रकृतमपि जननप्रकरणे प्रसङ्गात्तदनुगुणतयोक्तम्। यत्र रेतःपातमात्रेण स्नानं तत्रापत्योत्पत्तौ त्रिरात्रमुचितम्।। ६३।।

व्यक्ति वीर्यपात करने के बाद स्नान करके ही शुद्ध होता है। परस्त्री में बैजिकसम्बन्ध स्थापित होने पर तीन दिन की अशुद्धि होती है।। ६३।।

अह्ना चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।
शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहादुदकदायिनः।। ६४।।

एकेनाह्ना एकया च रात्र्येत्यहोरात्रेण त्रिरात्रैस्त्रिभिरिति नवाहोरात्रैर्मिलित्वा दशाहेनेति वेदग्ध्येनोक्तम्। ननु दशाहेनेति वक्तव्ये किमर्थोऽयं वाग्विस्तरः। उच्यते-"बृंहीयसीं लघिष्ठां वा गिरं निर्मान्ति वाग्मिनः। न चावश्यत्वमेतेषां लघूक्त्यैव नियम्यते"। वृत्तस्वाध्यायगुणयोगेन ये सपिण्डा एकाहाद्यल्पाशौचयोग्यास्ते यदि स्नेहादिना शवस्पृशो भवन्ति तदा दशाहेनैव शुद्ध्यन्ति। उदकदायिनः पुनः समानोदकाख्यहेण। गोविन्दराजस्तु धनग्रहणपूर्वकशवनिर्हारकासंबन्धिब्राह्मणविषयमिदं दशाहाशौचमाह।। ६४।।

शव का स्पर्श करने वाले दस दिन में तथा समानोदक तीन दिन में शुद्ध होते हैं।। ६४।।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति।। ६५।।

गुरोराचार्यादेरसपिण्डस्य मृतस्य शिष्योऽन्त्येष्टिं कृत्वा प्रेतनिर्हारकैर्गुरुसपिण्डैस्तुल्यो दशरात्रेण शुद्धो भवति।। ६५।।

सपिण्ड मृतगुरु का अन्त्येष्टिसंस्कार करता हुआ शिष्य, शव ले जाने वालों के साथ ही वहाँ दस रात्रि में शुद्ध होता है।। ६५।।

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्रावे विशुद्ध्यति।
रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला।। ६६।।

अत्र रात्रिभिरिति विधेयगामिनो बहुत्वस्य विवक्षितत्त्वात्तृतीयमासात्प्रभृति गर्भस्रावे

गर्भमासतुल्याहोरात्रैर्विशेषाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यस्त्री विशुद्ध्यति। एतच्च षण्मासपर्यन्तम्। यथोक्तमादिपुराणे-"षण्मासाभ्यन्तरं यावद्गर्भस्त्रावो भवेद्यदि। तदा माससमैस्तासां दिवसैः शुद्धिरिष्यते।। अत ऊर्ध्वं तु जात्युक्तमाशौचं तासु विद्यते"। मेधातिथिगोविन्द-राजादयस्त्वादिपुराणे वचनादर्शनात्सप्तमासादर्वागगर्भस्त्रावे मासतुल्याहोरात्रैः स्त्रीणां विशुद्धिरित्यतिदिशन्ति। प्रथमद्वितीयमासीयगर्भस्त्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रम्। यथाह हारीतः-"गर्भस्त्रावे स्त्रीणां त्रिरात्रं साधीयो रजोविशेषत्वात्। पित्रादिसपिण्डानां त्वत्र सद्यःशौचम्" यथाह सुमन्तुः-" गर्भमासतुल्या दिवसा गर्भसंस्त्रवणे सद्यःशौचं वा भवति" गर्भमासतुल्या इति स्त्रीविषयं सद्यःशौचं वेति पित्रादिसपिण्डविषयमिति व्यवस्थितविकल्पः। रजस्वला च स्त्री रजसि निवृत्ते सति पञ्चमे दिने स्नानेना-दृष्टार्थकल्पनयोग्या भवति। स्पर्शयोग्या तु त्रिरात्रव्यपगमे चतुर्थेऽहनि कृतस्नानेनैव शुद्धा भवति।। ६६।।

गर्भपात होने पर गर्भ के महीनों के बराबर रात्रियों द्वारा माता शुद्ध होती है तथा साध्वी रजस्वला स्त्री रजोनिवृत्ति पर स्नान द्वारा शुद्ध होती है।। ६६।।

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता।
निर्वृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते।। ६७।।
(प्राक्संस्कारप्रमीतानां वर्णानामविशेषतः।
त्रिरात्रात्तु भवेच्छुद्धिः कन्यास्वह्नो विधीयते।। ६।।
अदन्तजन्मनः सद्य आचूडान्नैशिकी स्मृता।
त्रिरात्रमावृता देशाद्दशरात्रमतः परम्।। ७।।
परपूर्वासु भार्यासु पुत्रेषु प्रकृतेषु च।
मातामहे त्रिरात्रं तु एकाहं त्वसपिण्डतः।। ८।।)

अकृतचूडानां बालानां मरणे सपिण्डानामहोरात्रेण शुद्धिर्भवति। कृतचूडानां तु मरणे प्रागुपनयनकालात्त्रिरात्रेण शुद्धिः।। ६७।।

चूड़ाकर्मसंस्कार के अभाव में ही बालक की मृत्यु होने पर एक रात्रि में शुद्धि मानी गई है, जबकि चूड़ाकर्मसंस्कार के उपरान्त मरने पर सपिण्डों की तीन रात्रि की शुद्धि कही गई है।। ६७।।

(संस्कार से पूर्व सभी वर्णों के बच्चों के मरने पर सामान्यरूप से तीन रात में, जबकि कन्या के मरने पर एक दिन में शुद्धि का विधान किया गया है।। ६।।

बिना दाँत वाले बच्चे की मृत्यु पर तुरन्त स्नान द्वारा, चूडाकर्म किए हुए के मरने पर एक रात्रि में, उपनयन के बाद मरने पर तीन दिन में तथा उसके पश्चात् मरने पर दस दिन में सपिण्डों की शुद्धि कही गई है।। ७।।

पहली और बाद वाली स्त्रियों की, उनके पुत्रों की तथा मातामह (नाना) की अशुद्धि तीन दिन तक तथा असपिण्डों में एक दिन तक होती है।। ८।।)

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः।
अलंकृत्य शुचौ भुमावस्थिसंचयनादृते।। ६८।।

असंपूर्णद्विवर्षं बालं मृतमकृतचूडं मालादिभिरलंकृत्य ग्रामाद्बहिः कृत्वा विशुद्धायां भूमौ कालान्तरे शीर्णदेहतयाशक्यमस्थिसंचयनवर्जं बान्धवाः प्रक्षिपेयुः। विश्वरूपस्तु- "यस्यां भूमावन्यस्यास्थिसंचयनं न कृतं तस्यां निदध्युः" इति व्याचष्टे।। ६८।।

दो वर्ष से कम आयु वाले मरे हुए बालक को बन्धुलोग माला आदि से अलंकृत करके, गाँव के बाहर भूमि पर अस्थिसंचय किए बिना ही छोड़ देवें।। ६८।।

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च।। ६९।।

अस्योनद्विवार्षिकस्याग्निसंस्कारो न कर्तव्यः। नाप्युदकक्रिया कर्तव्या। उदकदाननिषेधोऽयं श्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यनिवृत्त्यर्थः।। किं त्वरण्ये काष्ठवत्परित्यज्य। काष्ठवदिति शोकाभावोऽभिहितः। यथारण्ये काष्ठं परित्यज्य शोको न भवति एवं त्यक्त्वा त्र्यहं क्षपेत् त्र्यहाशौचं कुर्यात्। अयं चाकृतचूडस्य त्र्यहाशौचविधिः पूर्वोक्तैकाहाशौचविकल्पपरः। स च व्यवस्थितो वृत्तस्वाध्यायादियुक्तस्यैकाहः तद्रहितस्य त्र्यहः। यद्यपि मनुना परित्यागमात्रं विहितं तथापि "ऊनद्विवार्षिकं निखनेत्" (अ० ३ श्लो० १) इति याज्ञवल्क्यवचनाद्विशुद्धभूमौ निखायैव त्यक्तव्यः।। ६९।।

इसका अग्निसंस्कार नहीं करना चाहिए और न ही उदकक्रिया करनी चाहिए। काष्ठ के समान जंगल में छोड़कर, तीन दिन अशौच में व्यतीत करे।। ६९।।

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।
जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति।। ७०।।

अप्राप्ततृतीयवर्षस्य पित्रादिसपिण्डैरुदकक्रिया न कर्तव्येति पूर्वत्रनिषिद्धाप्युत्तरार्थ-मनूद्यते। जातदन्तस्य वोदकदानं कर्तव्यं नामकरणे वा कृते उदकक्रियासाहचर्यादग्नि-

संस्कारोऽप्यनुज्ञामात्रं, प्रेतपिण्डश्राद्धादिकं च यद्यप्यकरणसंभवे करणं क्लेशावहं तथापि करणाकरणयोराम्नानाज्जातदन्तकृतनाम्नोः करणे प्रेतोपकारो भवत्यकरणे प्रत्यवायाभाव इत्यवगम्यते।। ७०।।

बान्धव लोगों को तीन वर्ष से कम आयु वाले बालकों की उदकक्रिया नहीं करनी चाहिए, जबकि दाँत निकल चुकने पर या नामसंस्कार हो जाने पर उदकक्रिया करे।। ७०।।

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते।। ७१।।

सहाध्यायिनि मृते एकरात्रमाशौचं कर्तव्यम्। समानोदकानां पुनः पुत्रजनने सति त्रिरात्रेण शुद्धिर्भवति। त्र्यहानुदकदायिन इति मरणविषयमुक्तम्।। ७१।।

सहपाठी ब्रह्मचारी के मरने पर एक दिन और रात का अशौच कहा गया है। जबकि समानोदक के यहाँ जन्म के विषय में तीन रात की शुद्धि होती है।।७१।।

स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहाच्छुद्ध्यन्ति बान्धवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः।। ७२।।
(परपूर्वासु पुत्रेषु सूतके मृतकेषु च।
मातामहे त्रिरात्रं स्यादेकाहं तु सपिण्डने।। ९।।)

स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवाः भर्त्रादयस्त्र्यहेण शुद्ध्यन्ति। वाग्दानं विना भर्तृपक्षे संबन्धाभावादश्रुतमपि वाग्दानान्तपर्यन्तं बोद्धव्यम्। सनाभयः पितृपक्षाः वाग्दत्तानां विवाहादर्वाङ्मरणे यथोक्तेनैव कल्पेनेत्येतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तेन त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यन्तीत्यर्थः। तदुक्तमादिपुराणे-"आजन्मनस्तु चूडान्तं यत्र कन्या विपद्यते। सद्यः शौचं भवेत्तत्र सर्ववर्णेषु नित्यशः।। ततो वाग्दानपर्यन्तं यावदेकाहमेव हि। अतःपरं प्रवृद्धानां त्रिरात्रमिति निश्चयः।। वाग्दाने तु कृते तत्र ज्ञेयं चोभयतस्त्र्यहम्। पितुर्वरस्य च ततो दत्तानां भर्तुरेव हि।। स्वजात्युक्तमशौचं स्यान्मृतके सूतकेऽपि च"। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु यथोक्तेनैव कल्पेनेति "नृणामकृतचूडानाम्" इत्येतदुक्तेन विधिना शुद्ध्यन्तीति व्याचक्षाते। अत्रच व्याख्याने पुत्रवत्कन्यायामपि चूडाकरणादूर्ध्वं मरणे त्र्यहाशौचं स्यात्। तच्चादिपुराणाद्यनेकवचनविरुद्धम्।। ७२।।

(केवल वाग्दान होने, किन्तु संस्कार न हो पाने वाली) अविवाहित कन्या के मरने पर पतिपक्ष वालों की शुद्धि तीन दिनों में होती है। जबकि सपिण्ड पितृपक्ष वालों की शुद्धि भी कहे गए उतने समय अर्थात् तीन दिन में ही होती है।। ७२।।

(पहले एक बार दूसरे से विवाहित स्त्री के पुत्र के जनन-अशौच तथा मरण अशौच मातामह के लिए तीन दिन तथा सपिण्ड वालों के लिए एक दिन का होता है।। ९।।)

अक्षारलवणान्नाः स्युर्निमज्जेयुश्च ते त्र्यहम्।
मांसाशनं च नाश्नीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ।। ७३।।

क्षारलवणं कृत्रिमलवणं तद्रहितमन्नमश्नीयुः। त्रिरात्रं नद्यादौ स्नानमाचरेयुः। मांसं च न भक्षयेयुः। भूमौ चैकाकिनः शयनं कुर्युः।। ७३।।

(अशौच में लोग) कृत्रिमलवण से रहित अन्न खावें। तीन दिन तक (नदी आदि में) स्नान करें।। मांसाहार का त्याग करें तथा पृथिवी पर अलग सोवें।। ७३।।

सन्निधावेष वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असंन्निधावयं ज्ञेयो विधिः संबन्धिबान्धवैः।। ७४।।

मृतस्य सन्निधावेकस्थानावस्थानादहः परिज्ञाने शावाशौचस्य विधिरयमुक्तः। देशान्तारावस्थानादज्ञाने सत्ययं वक्ष्यमाणो विधिः संबन्धिबान्धवैर्ज्ञातव्यः। संबन्धिनः सपिण्डाः। समानोदका बान्धवाः।। ७४।।

मरणशौच की यह विधि मैंने पास में मरने पर कही है। अब पास में न मरने पर सम्बन्धी और बान्धवों को यह विधि समझनी चाहिए।। ७४।।

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत्।। ७५।।
(मासत्रये त्रिरात्रं स्यात्षण्मासे पक्षिणी तथा।
अहस्तु नवमादर्वागूर्ध्वं स्नानेन शुद्ध्यति।। १०।।)

विगतं मृतं विदेशस्थं विप्रकृष्टदेशस्थमनिर्दशमनिर्गतदशाहाद्यशौचकालं यः शृणोति स यदवशिष्टं दशरात्राद्याशौचस्य तावत्कालमविशुद्धो भवति। विगतमित्युपलक्षणं जननेऽप्येतदवगन्तव्यम्। तथाच बृहस्पतिः-"अन्यदेशमृतं ज्ञातिं श्रुत्वा वा पुत्रजन्म च। अनिर्गते दशाहे तु शेषाहोभिर्विशुद्ध्यति"।। ७५।।

दस दिन बीतने से पहले जो विदेश में रहने वाले को मरा हुआ सुने, तो दस दिन में जितना शेष है, उतने दिन की ही अशुद्धि होती है।। ७५।।

(विदेश में मृत का समाचार तीन मास में सुनने पर तीन रात्रि में, छः मास में सुनने पर पक्षिणी रात्रि में, नौ मास के बाद सुनकर एक दिन में, तथा इसके बाद सुनने पर केवल स्नान से ही शुद्धि हो जाती है।। १०।।)

अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुद्ध्यति।। ७६।।

"नाशौचं प्रसवस्यास्ति व्यतीतेषु दिनेष्वपि" इति देवलवचनान्मरणविषयं वचनमिदम्। सपिण्डमरणे दशाहाशौचेऽतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुद्धो भवति, संवत्सरे पुनरतीते स्नात्वैव विशुद्ध्यति। एतच्चाविशेषेणाभिधानाच्चातुर्वर्ण्यविषयम्।। ७६।।

विदेश में मरे हुए बन्धु के समाचार को मरने के दस दिन व्यतीत होने पर सुनने से तीन दिन तक अशुद्धि होती है। जबकि एक वर्ष बीत जाने पर जल को स्पर्श करने मात्र से ही शुद्धि हो जाती है।। ७६।।

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च।
सवासा जलमाप्लुत्य शुद्धो भवति मानवः।। ७७।।

दशाहाशौचव्यपगमे कर्मानर्हत्वलक्षणस्य त्र्यहाशौचस्योक्तत्वात्तदङ्गास्पर्शविषयम्। निर्गतदशाहसपिण्डमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च श्रुत्वा सचैलं स्नात्वा स्पृश्यो भवति।। ७७।।

दस दिन बीत जाने पर सपिण्ड बान्धव का मरण तथा पुत्र का जन्म सुनकर वस्त्रसहित जल में स्नान करके व्यक्ति शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।। ७७।।

बाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते।
सवासा जलमाप्लुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति।। ७८।।

बालेऽजातदन्ते मृते जातदन्ते "नृणामकृतचूडानां" (अ० ५ श्लो० ६७) इत्येकाहोरात्राभिधानादेशान्तरस्थे च सपिण्डे मृत इत्येकाहाशौचविषयम्। पूर्वश्लोके दशाहाशौचिनस्त्र्यहविधानात्पृथक्पिण्डे समानोदके त्रिरात्रमुक्तम्। तत्र त्रिरात्रव्यपगमे सर्वेष्वेषु सचैलं स्नात्वा सद्यो विशुद्धो भवति।। ७८।।

दूसरे देश में स्थित बालक के तथा अलग रहने वाले सपिण्ड के मरने पर, वस्त्रसहित जल में स्नान करके व्यक्ति शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।। ७८।।

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम्।। ७९।।

दशाहादिमध्ये यदि पुनर्मरणे मरणं जनने जननं स्यात्पुनःशब्दात्सजातीयाबगमात्तदा तावत्कालमेव विप्रादिरशुद्धः स्यात्। यावत्पूर्वजातदशाहाद्यशौचं नापगतं स्यात्तावत्पूर्वाशौचव्यपगमैनेव द्वितीयेऽपि मृतके सूतके च शुद्धिरित्यर्थः।। ७९।।

यदि मरण-अशौच या जनन-अशौच के पहले दस दिन के भीतर ही फिर

से जन्म या मरण हो जाता है, तो जब तक पहले दस दिन पूरे होते हैं, तभी तक ब्राह्मण पवित्र हो जाता है।। ७९।।

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति।
तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः।। ८०।।

आचार्ये मृते सति शिष्यस्य त्रिरात्रमाशौचं वदन्ति। तत्पुत्रपत्न्योश्च मृतयोरहोरात्रमित्येषा शास्त्रमर्यादा।। ८०।।

आचार्य की मृत्यु होने पर तीन दिन तक तथा उसके पुत्र और पत्नी के मरने पर एक दिन-रात का अशौच होता है, यही शास्त्र की मर्यादा है।। ८०।।

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यर्त्विग्बान्धवेषु च।। ८१।।

वेदशास्त्राध्यायिन्युपसंपन्ने मैत्रादिना तत्समीपवर्तिनि तद्गृहवासिनीत्यर्थः। तस्मिन्मृते त्रिरात्रेण शुद्धो भवति। मातुलर्त्विक्शिष्यादिषु पक्षिणीरात्रिं व्याप्याशौचम्। द्वे अहनी पूर्वोत्तरे पक्षाविव यस्याः सा पक्षिणी।। ८१।।

श्रोत्रिय ब्राह्मण के मरने पर तीन दिन तक, मामा, शिष्य, ऋत्विक् तथा बान्धव के मरने पर पक्षिणी रात्रि (एक रात दो दिन) तक अशुद्धि होती है।। ८१।।

प्रेते राजनि सज्योतिर्यस्य स्याद्विषये स्थितः।
अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ।। ८२।।

यस्य देशे ब्राह्मणादिः स्थितस्तस्मिन्राजनि कृताभिषेके क्षत्रिये मृते सज्योतिराशौचं स्यात्। सह ज्योतिषा वर्तत इति सज्योतिः। यदि दिवा मृतस्तदा यावत्सूर्यज्योति स्तावदाशौचं, यदि रात्रौ मृतस्तदा यावत्तारकाज्योतिस्तावदाशौचम्। श्रोत्रिये त्रिरात्रमुक्तम्। अश्रोत्रिये पुनस्तद्गृहे मृते कृत्स्नं दिनमात्रमाशौचं नतु रात्रावपि। रात्रौ मृते रात्रावेवेत्यवगन्तव्यम्। साङ्गवेदाध्यायिनि "स्वल्पं वा बहु वा यस्य" (अ० २ श्लो० १४९) इत्येतन्निर्दिष्टे गुरावप्यहर्मात्रमेव।। ८२।।

जिसके राज्य में निवास करता हो, उस राजा के मरने पर सज्योति-अशौच, अङ्गोंसहित वेद का अध्ययन करने वाले (अनूचान) अश्रोत्रिय ब्राह्मण तथा गुरु के मरने पर उसी दिन का अशौच होता है।। ८२।।

शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति।। ८३।।

(क्षत्रविट्शूद्रदायादा स्युश्चेद्विप्रस्य बान्धवाः।
तेषामशौचं विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते।। ११।।
राजन्यवैश्ययोश्चैवं हीनयोनिषु बन्धुषु।
स्वमेव शौचं कुर्वीत विशुध्यर्थमिति स्थितिः।। १२।।
विप्रः शुध्येद्दशाहेन जन्महानौ स्वयोनिषु।
षट्भिस्त्रिभिरथैकेन क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु।। १३।।
सर्वे चोत्तमवर्णास्तु शौचं कुर्युरतन्द्रिताः।
तद्वर्णं विधिदृष्टेन स्वं तु शौचं स्वयोनिषु।। १४।।)

उपनीतसपिण्डमरणे संपूर्णकालीनजनने च वृत्तस्वाध्यायादिहितब्राह्मणो दशाहेन शुद्धो भवति। क्षत्रियो द्वादशाहेन। वैश्यः पञ्चदशाहेन। शूद्रो मासेन। तस्य चोपनयनस्थाने विवाहः।। ८३।।

ब्राह्मण दस दिनों में तथा क्षत्रिय बारह दिनों में शुद्ध होता है। वैश्य पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है।। ८३।।

(यदि ब्राह्मण के बन्धु तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से धन लेने वालों की मृत्यु हो तो उनका अशौच दस दिनों की शुद्धि की अपेक्षा करता है।। ११।।

क्षत्रिय और वैश्य के बान्धव यदि स्वयं से हीनवर्णों के होवें तो उनके मरने पर शुद्धिहेतु वे अपने ही अशौच की पालना करें, ऐसी शास्त्रों की स्थिति है।। १२।।

ब्राह्मण, अपने वर्ण वाले ब्राह्मण की मृत्यु होने पर दस दिन में, क्षत्रियवर्ण की मृत्यु पर छः दिन में, वैश्यवर्ण वाले के मरने पर तीन दिन में तथा शूद्रवर्णों के मरने पर एक दिन में शुद्ध होता है।। १३।।

आलस्यरहित हुए उत्तमवर्ण वाले, सभी उन-उन वर्णों के लिए कहे गए विधिविधान के अनुसार अपनी शुद्धि तथा अपने वर्ण वालों की शुद्धि करे।। १४।।)

न वर्धयेदघाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।
न च तत्कर्म कुर्वाणः सनाभ्योऽप्यशुचिर्भवेत्।। ८४।।

यस्य तु वृत्तस्वाध्यायाद्यपेक्षया पर्वम्'' अर्वाक्संचयनादस्थ्नाम्'' (अ० ५ श्लो० ५९) इत्याद्याशौचसंकोच उक्तः स निष्कर्मा सुखमासिष्ये इति बुद्ध्या नाशौचदिनानि दशाहादिरूपतया वर्धयेत्संकुचिताशौचदिनेष्वपि। अग्निष्विति बहुवचना-च्छ्रौताग्निष्वग्निहोत्रहोमान्न विघातयेत्। स्वयं कुर्यादशक्तौ वा पुत्रादीन्कारयेत्। अत्रैव

हेतुमाह। यस्मात्तत्कर्माग्निहोत्ररूपं कुर्वाणः पुत्रादिः सपिण्डो नाशुचिर्भवति। तदाह पारस्करः "नित्यानि विनिवर्तन्ते वैतानवर्जं। वैतानं श्रौतो होमः गार्हपत्यकुण्डस्थानग्नी-नाहवनीयादिकुण्डेषु वितत्य क्रियते" इति। तथाच शङ्खलिखितौ "अग्निहोत्रार्थं स्नानोपस्पर्शनाच्छुचिः"। जाबालोऽप्याह-"जन्महानौ वितानस्य कर्मलोपो न विद्यते। शालाग्नौ केवलो होमः कार्यं एवान्यगोत्रजै"। छन्दोगपरिशिष्टमपि-"मृतके कर्मणां त्यागः संध्यादीनां विधीयते। होमः श्रौते तु कर्तव्यः शुष्कान्नेनापि वा फलैः"। तस्मादेकाहत्र्यहाद्याशौचसंकोचे संध्यादीनामेव परित्यागो नतु श्रौतहोमस्य। एकाहत्र्य-हाद्यपगमे तु संध्यापञ्चमहायज्ञादिसर्वमेवानुष्ठेयम्। अतो यन्मेधातिथिगोविन्दराजाभ्याम-न्यथाप्यभिधायि "एकाहत्र्यहाद्यशौचसंकोचोऽयं होमस्वाध्यायमात्रविषयः संध्योपासनादिकं तु तेनापि दशाहमेव न कर्तव्यम्" इति तन्निष्प्रमाणकम्। यत्तु गौतमेन "राज्ञां च कर्मविरोधाद्ब्राह्मणस्य स्वाध्यायानिवृत्त्यर्थम्," याज्ञवल्क्येन च-"ऋत्विजां दीक्षितानां च" (अ० ३ श्लो० २८) इत्यादिना सद्यःशौचमुक्तं तत्सर्वेषामेव दशाहाद्यशौचिनामपि तत्तत्कर्मविषयम्। यानि तूभयत्र दशाहानि" कुलस्यान्नं न भुञ्जीत" इत्यादीनि दशाहं तत्तत्कर्मनिषेधकानि वचनानि तानि दशाहाशौचविषयाणीति न कश्चिद्विरोधः। तस्माद्धोमस्वाध्यायमात्रार्थं सगुणे अशौचलाघवं न संध्योपासनार्थमितीदं निष्प्रमाणम्।। ८४।।

अशौच के दिनों में वृद्धि नहीं करनी चाहिए तथा अग्निहोत्र की क्रियाओं को बधित नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस अग्निहोत्र रूप कर्म को करते हुए सपिण्डी पुत्रादि के लिए अशुद्धि नहीं होती है।। ८४।।

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति।। ८५।।

चाण्डालं, रजस्वलां ब्रह्महादिकं, प्रसूतां, दशाहाभ्यन्तरे शवं शवस्पृष्टिनं च स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्धो भवति। केचित्तु तत्स्पृष्टिनमिति चाण्डालोदक्यादिभिः सर्वैः संबन्धयन्ति। गोविन्दराजस्तु याज्ञवल्क्यवचनाच्छवस्पृष्टिनमेव तत्स्पृष्टिनमाह नोदक्यादिस्पृष्टिनं तत्राचमनविधानात् तदाह याज्ञवल्क्यः-"उदक्याशुचिभिः स्नायात्सं स्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् (अ० ३ श्लो०३०) उदक्याशुचिभिः स्पृष्टः स्नानं कुर्यात्। उदक्याशौचिभिः स्पृष्टैः स्पृष्टस्तूपस्पृशेदाचामेत्।। ८५।।

चाण्डाल, रजस्वला स्त्री, ब्रह्मघाती पतित, प्रसूतिका तथा शव का स्पर्श करने वाला (इन्हें छूकर व्यक्ति) मात्र-स्नान से शुद्ध हो जाता है।। ८५।।

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।
सौरान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः।। ८६।।

श्राद्धदेवपूजादिसंचिकीर्षुः स्नानाचमनादिना प्रयतः सन्प्रकृतचाण्डालाद्यशुचिदर्शने सति "उदुत्यं जातवेदसम्" इत्यादिसूर्यदैवतमन्त्रान्यथासामर्थ्यं पावमानीश्च शक्तया जपेत्।। ८६।।

देवपूजन का इच्छुक व्यक्ति अपवित्र व्यक्ति को देखने पर आचमन करके हमेशा एकाग्रचित्त हुआ, उत्साहपूर्वक शक्ति के अनुसार सूर्यविषयक मन्त्रों तथा पावमानी मन्त्रों का जाप करे।। ८६।।

नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा।। ८७।।

मानुषस्थि स्नेहसंयुक्तं स्पृष्ट्वा ब्राह्मणादिः स्नानेन विशुद्ध्यति। स्नेहशून्यं पुनः स्पृष्ट्वा आचम्य गोस्पर्शार्कविक्षणयोरन्यतरत्कृत्वा विशुद्धो भवति।। ८७।।

मनुष्य की रक्तादि से भीगी हड्डी को छूकर ब्राह्मण स्नान करके, सूखी हड्डी को छूकर आचमन करके अथवा गौस्पर्श से या सूर्यदर्शन से ही शुद्ध हो जाता है।। ८७।।

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्।
समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति।। ८८।।

व्रतादेशनमादिष्टं तदस्यास्तीति ब्रह्मचारी स प्रेतोदकमाव्रतसमापनान्न कुर्यात्। उदकमिति पूरकपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्योपलक्षणम्। समाप्ते पुनर्ब्रह्मचर्ये प्रेतोदकं कृत्वा त्रिरात्रमशौचं कृत्वा विशुद्धो भवति। एतच्च मातापित्राचार्य-व्यतिरिक्तविषयम्। तदाह वसिष्ठः- "ब्रह्मचारिणः शवकर्मणा व्रतान्निवृत्तिरन्यत्र मातापित्रोर्गुरोर्वा"। शवकर्मणेति शवनिमित्तकेन निर्हरणदहनोदकदानपूर्वक-पिण्डषोडशश्राद्धादिकर्मणा। वक्ष्यति "च आचार्यं स्वमुपाध्यायम्" (अ० ५ श्लो० ९१) इति।। ८८।।

व्रत करने वाला ब्रह्मचारी, व्रत के समाप्त होने से पूर्व तिलाञ्जलि प्रदान न करे, व्रत के समाप्त होने पर जल देकर तीन अहोरात्र में ही वह शुद्ध हो जाता है।। ८८।।

वृथासंकरजातानां प्रव्रज्यासु च तिष्ठताम्।
आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तेतोदकक्रिया।। ८९।।

जातशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। वृथाजातानां बाहुल्येन त्यक्तस्वधर्माणां संकरजातानां हीनवर्णेनोत्कृष्टस्त्रीषूत्पन्नानां वेदबाह्यरक्तपटादिप्रव्रज्यासु वर्तमाना-नामशास्त्रीयविषोद्बन्धनादिना कामतश्च कृतजीवितत्यागिनामुदकादिक्रिया न कर्तव्या।। ८९।।

अपने धर्म का परित्याग करने वाले, वर्णसङ्कर तथा संन्यास को धारण करने वाले की उदकक्रिया सम्पादित नहीं करनी चाहिए।। ८९।।

पाषण्डमाश्रितानां च चरन्तीनां च कामतः।
गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम्।। ९०।।

वेदबाह्यरक्तपटमौञ्जादिव्रतचर्या पाषण्डं तदनुतिष्ठन्तीनां स्वच्छन्दमेकानेकपुरुष-गामिनीनां गर्भपातनभर्तृवधकारिणीनां द्विजातिस्त्रीणां सुरापीनामुदकक्रियौर्ध्वदैहिकं निवर्तत इति पूर्वेण संबन्धः।। ९०।।

पाखण्ड का आश्रय लेने वाली, इच्छानुसार विचरण करने वाली, गर्भपात कराने वाली एवं पति से द्रोह करने वाली एवं सुरापान करने वाली स्त्रियों को (भी जलाञ्जलि नहीं देनी चाहिए)।। ९०।।

आचार्यं स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।
निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुज्यते।। ९१।।

आचार्य उपनयनपूर्वकं संपूर्णशाखाध्यापयिता, उपाध्यायो वेदैकदेशस्याङ्गस्य वाध्यापकः, वेदस्य वेदानां चैकदेशस्यापि व्याख्याता गुरुः। निर्हरणापूर्वकत्वात्प्रेत-कृत्यस्य निर्हृत्येति दाहदशाहपिण्डषोडशश्राद्धादिसकलप्रेतकृत्यस्य प्रदर्शनार्थमाचार्या-दीन्पञ्च मृतान्निर्हृत्य ब्रह्मचारी न लुप्तव्रतो भवति। एवं चान्यान्निर्हृत्य व्रतलोपो भवतीति गम्यते। आचार्यं स्वमित्यभिधानात् "गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत्" (अ० २ श्लो० २०५) इति न्यायान्नाचार्याचार्यमपि। स्वमिति सर्वत्र संबध्यते तेनोपाध्यायोपाध्यायमपि निर्हृत्य व्रतलोप एव।। ९१।।

अपने आचार्य, उपाध्याय, माता-पिता और गुरु के मृतशरीर को घर से निकालकर व्रती ब्रह्मचारी अपने व्रत से भ्रष्ट नहीं होता है।। ९१।।

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरद्वारेण निर्हरेत्।
पश्चिमोत्तरपूर्वैस्तु यथायोगं द्विजन्मनः।। ९२।।

अमाङ्गलिकत्वादत्यन्तापकृष्टशूद्रक्रमेणाभिधानम्। शूद्रं मृतं दक्षिणपुरद्वारेण निर्हरेत्। द्विजातीन्पुनर्यथायोगं यथायुक्त्यापकृष्टवैश्यक्षत्रियविप्रक्रमेणैव पश्चिमोत्तरपूर्वद्वारेण निर्हरेत्।। ९२।।

मरे हुए शूद्र को नगर के दक्षिणद्वार से बाहर निकालना चाहिए। अन्य द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के शव को क्रमशः पश्चिम, उत्तर और पूर्वदिशा के द्वारों से बाहर निकालना चाहिए।। ९२।।

न राज्ञामघदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्।
ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा।। ९३।।

राज्ञामभिषिक्तक्षत्रियाणां सपिण्डमरणादावशौचदोषो नास्ति। यतो राजान ऐन्द्रं स्थानं राज्याभिषेकाख्यमाधिपत्यकारणं प्राप्ताः। व्रतिनो ब्रह्मचारिणश्चान्द्रायणादिव्रत-कारिणश्च, सत्रिणां गवामयनादियागप्रवृत्ताः। यतो ब्रह्मभूतास्ते ब्रह्मैव निष्पापाः। अशौचाभावश्चायं कर्मविशेषे। तदाह विष्णुः-"अशौचं न राज्ञां राजकर्मणि न व्रतिनां व्रते न सत्रिणां तत्रे"। राजकर्मणि व्यवहारदर्शनशान्तिहोमादिकर्मणि।। ९३।।

अभिषिक्त राजा, व्रती तथा यज्ञ करने वालों को अशुद्धि दोष नहीं होता है, क्योंकि अभिषेक किया हुआ राजा इन्द्र के पद पर अधिष्ठित होता है तथा व्रती और यज्ञकर्ता वे हमेशा ब्रह्मरूप ही होते हैं।। ९३।।

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यःशौचं विधीयते।।
प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम्।। ९४।।

महात्मन इदं स्थानं माहात्मिकं राज्यपदाख्यं सर्वाधिपत्यलक्षणं महात्मैव प्राचीनपुण्यराज्यमासादयति तस्मिन्वर्तमानस्य सद्यःशौचमुपदिश्यते। नतु राज्यप्रच्युतस्य क्षत्रियजातेरपि। अत्र जातिविवक्षितेत्यनेन श्लोकेन दर्शितम्। यतो न्यायनिरूपणेन दुर्भिक्षेऽन्नदानेनोपसर्गेषु शान्तिहोमादिना प्रजारक्षार्थं राज्यासनेष्ववस्थानमशौचाभावे च कारणम्। तच्चाक्षत्रियाणामपि तत्कार्यकारिणां विप्रवैश्यशूद्राणामविशिष्टम्। अतएव सोमकार्यकारिणि फलचमसे सोमधर्मा अतएव व्रीहिधर्मान्विततया श्रुतमप्यवघातादि तत्कार्यकारित्वस्य विवक्षितत्वात्प्रकृतौ यवे विकृतौ च नीवारादिषु संबध्यत इति कर्ममीमांसायां तत्तदधिकरणेषु निरणायि।। ९४।।

राजा के राज्यसिंहासन पर आरूढ़ होने से तत्काल शुद्धि हो जाती है, क्योंकि यहाँ प्रजाओं की रक्षा के लिए राज्य सिंहासन ही कारण होता है।। ९४।।

डिम्भाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च।
गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः।। ९५।।

डिम्भाहवो नृपरहितयुद्धं तत्र हतानां, विद्युता वज्रेण, पार्थिवेन वधार्हेऽपराधे हते गोब्राह्मणरक्षणार्थं विनापि युद्धं जलाग्निव्याघ्रादिभिर्हतानां, यस्य पुरोहितादेः स्वकार्याविघातार्थं नृपतिरशौचाभावमिच्छति तस्यापि सद्यःशौचम्।। ९५।।

राजा से रहित युद्ध में मरे हुए, विद्युत्पात से मरे, राजा द्वारा प्राणदण्डादि से मारे गए, गौ, ब्राह्मण की रक्षा करते हुए मारे गए तथा राजा जिनकी शुद्धि कराना चाहता है (उनकी तत्काल शुद्धि का विधान है)।। ९५।।

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च।
अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः।। ९६।।

चन्द्राग्निसूर्यवायुशक्रयमानां वित्तस्यापां च पत्योः कुबेरवरुणयोरेवमष्टानां लोकपालानां संबन्धि देहं राजा धारयति।। ९६।।

राजा चन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन आठ लोकपालों के शरीर को धारण करता है।। ९६।।

ततः किमत आह-

लोकेशाधिष्ठितो राजा नास्याशौचं विधीयते।
शौचाशोचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्।। ९७।।

यतो लोकेशांशाक्रान्तो नृपतिरतो नास्याशौचमुपदिश्यते। यस्मान्मनुष्याणां यच्छौचमशौचं वा तल्लोकेशेभ्यः प्रभवति विनश्यति च। अप्ययो विनाशः। एतेनान्यदीयशौचाशौचोत्पादनविनाशशक्तस्य लोकेश्वररूपस्य नृपतेः कुतः स्वकीयाशौचमिति पूर्वोक्ताशौचाभावस्तुतिः।। ९७।।

राजा लोकपालों के अंशों से अधिष्ठित होता है। इसलिए इसका अशौच नहीं होता है, क्योंकि मनुष्यों का शौच एवं अशौच लोकपालों से ही होता है अथवा दूर होता है।। ९७।।

उद्यतैराहवे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च।
सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः।। ९८।।

उद्यतैः शस्त्रैः खड्गादिभिर्नतु लगुडपाषाणादिभिरपराङ्मुखत्वादिक्षत्रियधर्मयुक्त-संग्रामे हतस्य तत्क्षणादेव ज्योतिष्टोमादियज्ञः संतिष्ठते। समाप्तिमेति तत्पुण्येन युज्यत इत्यर्थः। तथाशौचमपि तत्क्षणादेव समाप्तिमेति इयं शास्त्रे मर्यादा।। ९८।।

युद्ध में उद्यत शास्त्रों से क्षत्रियधर्म से मारे गए व्यक्ति का (ज्योतिष्टोम) यज्ञ तथा शौच तत्काल हो जाता है, ऐसी शास्त्र की मर्यादा है।। ९८।।

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम्।
वैश्यः प्रतोदं रश्मीन्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः।। ९९।।

अशौचान्ते कृतश्राद्धादिकृत्यो ब्राह्मणोऽपः स्पृष्ट्वेति जलस्पर्शमात्रं दक्षिणहस्तेन

कृत्वा शुद्धो भवति नतु "संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्टैरद्भिर्विशुद्ध्यति" इतिवत् स्नात्वा वाहनादिस्पर्शसाहचर्यात्स्पृष्ट्वेत्यस्य च सकृदुच्चरितस्यार्थभेदस्यान्याय्यत्वात्क्षत्रियो हस्त्यादिवाहनं खड्गाद्यस्त्रं च, वैश्यो बलीवर्दादिप्रतोदं लोहप्रोताग्रं योक्त्रं वा, शूद्रो यष्टिं वंशदण्डिकाम्।। ९९।।

ब्राह्मण जल का स्पर्श करके, क्षत्रिय वाहन और शस्त्र का स्पर्श करके वैश्य चाबुक या लगाम का स्पर्श करके तथा शूद्र यष्टि को छूकर शुद्ध हो जाता है।। ९९।।

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः।
असपिण्डेषु सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत।। १००।।

भो द्विजश्रेष्ठाः, एतच्छौचं सपण्डिेषु प्रेतेषु युष्माकमुक्तम्। इदानीमसपिण्डेषु प्रेतशुद्धिं शृणुत।। १००।।

हे ब्राह्मणों! सपिण्डों के मरने पर मैंने आपसे इस शौच का कथन किया। अब आप लोग सभी असपिण्डों के मरने पर प्रेतशुद्धि को सुनो।। १००।।

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हत्य बन्धुवत्।
विशुद्ध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान्।। १०१।।

असपिण्डं ब्राह्मणं मृतं ब्राह्मणो बन्धुवत्स्नेहानुबन्धेन न त्वदुष्टबुद्ध्येत्यर्थादुक्तम्। मातुश्चाप्तान्सन्निकृष्टान्सहोदरभ्रातृभगिन्यादीन्बान्धवान्निर्हत्य त्रिरात्रेण शुद्धो भवति।। १०१।।

ब्राह्मण मरे हुए असपिण्ड द्विज को और माता से आप्त बान्धवों को स्नेहपूर्वक बन्धु के समान बाहर निकालकर तीन रात्रि में शुद्ध होता है।। १०१।।

यद्यन्नमत्ति तेषां तु दशाहेनैव शुद्ध्यति।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत्।। १०२।।

निर्हारको यदि तेषां मृतस्य सपिण्डानामाशौचिनामन्नमश्नाति तदा तद्दशाहेनैव शुद्ध्यति न त्रिरात्रेण। अथ तेषामन्नं नाश्नाति, गृहे च तेषां न वसति, निर्हरति च तदाहोरात्रेणैव शुद्ध्यति। एवंच तद्गृहवासे सति तदन्नाभोजिनो निर्हारकस्य पूर्वोक्तं त्रिरात्रम्।। १०२।।

यदि ब्राह्मण उस मृत असपिण्ड द्विज के अन्न को खाता है तो दस दिन में शुद्ध होता है और यदि न तो इसका अन्न खाता है और न ही इसके घर में निवास करता है तो (वह) एक दिन में ही शुद्ध हो जाता है।। १०२।।

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमज्ञातिमेव च।
स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति।। १०३।।

ज्ञातिमज्ञातिं वा मृतमिच्छातोऽनुगम्य सचैलस्नानं च कृत्वा ततोऽग्निं च स्पृष्ट्वा पश्चाद्घृतप्राशनं कृत्वा अनुगमननिमित्ताशौचाद्विशुद्ध्यति।। १०३।।

ज्ञातिजन हो अथवा ज्ञातिजन न हो, मृतक के पीछे अपनी इंच्छा के अनुसार जाकर व्यक्ति वस्त्रों सहित स्नान करके, अग्नि का स्पर्श करके, घी का प्राशन कर शुद्ध हो जाता है।। १०३।।

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नाययेत्।
अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छूद्रसंस्पर्शदूषिता।। १०४।।

ब्राह्मणादिं मृतं समानजातीयेषु स्थितेषु न शूद्रेण पुत्रादिर्निर्हारयेत्। यस्मात्सा शरीराहुतिः शूद्रस्पर्शदुष्टा सती मृतस्य स्वर्गाय हिता न भवति। मृतं स्वर्गं न प्रापयतीत्यर्थः। स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यभिधानाद्ब्राह्मणाभावे क्षत्रियेण तदभावे वैश्येन तदभावे शूद्रेणापि निर्हारयेदित्युक्तं यथापूर्वं श्रेष्ठत्वादस्वर्ग्यदोषश्च ब्राह्मणादिसद्भावे शूद्रेण निर्हरणे सति बोद्धव्यः। गोविन्दराजस्तु दोषनिर्देशात्स्वेषु तिष्ठत्स्वित्यविवक्षित-मित्याह। तदयुक्तम्। संभवदर्थपदद्वयोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्गादुपक्रमावगतेश्च वेदोदितन्या-येनानुबोध्यत्वाद्गुणभूतशुद्ध्यनुरोधेन प्रधानभूताया जातेरुपेक्षायां गुणलोपेनामुख्यस्येत्यपि न्यायेन बाध्येत। तस्मात्स्वेषु तिष्ठत्स्विति पदद्वितयं न विवक्षितम्। इमां गोविन्दराजस्य राजाज्ञां नाद्रियामहे।। १०४।।

अपने बन्धुओं के स्थित रहने पर मृतब्राह्मण को शूद्र द्वारा लिवाकर न ले जावे, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित हुई वह आहुति स्वर्गप्राप्ति नहीं करती है।। १०४।।

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्।। १०५।।

ज्ञानादीनि शुद्धेः साधनानि भवन्ति। तत्र ब्रह्मज्ञानं बुद्धिरूपान्तःकरणशुद्धेः साधनम्। यथा वक्ष्यति "बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति" (अ० ५ श्लो० १०९) तपो यथा "तपसा वेदवित्तमाः" (अ० ५ श्लो० १०७) अग्निर्यथा "पुनः पाकेन मृन्मयम्" (अ० ५ श्लो० २२२) आहारो यथा "हविष्येण यवाग्वा" (अ० ११ श्लो० १०६) इति। मृद्वारिणी यथा "मृद्वार्यादियमर्थवत्" (अ० ५ श्लो०१३४) इति। मनो यथा "मनः पूतं समाचरेत्" (अ० ६ श्लो० १४६) इति। संकल्पविकल्पात्मकं मनो, निश्चयात्मिका बुद्धिरिति मनोबुद्ध्योर्भेदः। उपाञ्जनमुपलेपनं यथा

''मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म''। कर्म यथा ''यजेत वाऽश्वमेधेन'' (अ० ११ श्लो० ७४) इत्यादि। अर्को यथा ''गामालभ्यार्कमीक्ष्य वा''। कालो यथा ''शुद्ध्येद्विप्रो दशाहेन'' (अ० ५ श्लोक० ८३) वायोस्तु शुद्धिहेतुत्वं मनुनानुक्तमपि ''पन्थानश्च विशुद्ध्यन्ति सोमसूर्यांशुमारुतैः'' इति विष्ण्वादावुक्तं ग्राह्यम्।। १०५।।

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म, सूर्य, और समय ये शरीरधारी मनुष्यों की शुद्धि करने वाले हैं।। १०५।।

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। १०६।।

सर्वेषां मृद्वारिनिमित्तेदहशौचमनश्शौचादीनां मध्यादर्थशौचमन्यायेन परधनहरणपरिहारेण यद्धनेहा तत्परं प्रकृष्टं मन्वादिभिः स्मृतम्। यस्माद्योऽर्थे शुद्धः स शुद्धो भवति। यः पुनर्मृद्वारिशुचिरर्थे चाशुद्धः सोऽशुद्ध एव।। १०६।।

सभी शुद्धियों में धन की शुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। जो धनों में शुद्ध है, वही वस्तुतः शुद्ध होता है। मिट्टी एवं जल से शुद्ध किया गया व्यक्ति शुद्ध नहीं होता है।। १०६।।

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।
प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः।। १०७।।

परेणापकारे कृते तस्मिन्प्रत्यपकारबुद्ध्यनुत्पत्तिरूपया पण्डिताः शुद्ध्यन्ति। यथाच वक्ष्यति- ''महायज्ञक्रियाः क्षमा। नाशयन्त्याशु पापानि'' इति। अकार्यकारिणो दानेन। यथा वक्ष्यति-''सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणाय'' इति। अप्रख्यातपापा जप्येन। यथा वक्ष्यति-''जपंस्तूपवसेद्दिनम्'' इति। वेदवित्तमाः वेदार्थचान्द्रायणादितपोविदः तपसेत्येकादशाध्याये वक्ष्यमाणेन।। १०७।।

विद्वान् क्षमा द्वारा, अनुचित कार्य करने वाले दान से, गुप्तपाप करने वाले जप से तथा वेदों के ज्ञाता तपस्या से शुद्ध होते हैं।। १०७।।

मृत्तोयैः शुद्ध्यते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।
रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः।। १०८।।

मलाद्यपहतं शोधनीयं भृज्जलैः शोध्यते। नदीप्रवाहश्च श्लेष्माद्यशुचिदूषितो वेगेन शुद्ध्यति। स्त्री च परपुरुषमैथुनसंकल्पादिदूषितमानसा प्रतिमासार्तवेन तस्मात्पापाच्छुद्धा भवति। ब्राह्मणश्च संन्यासेन षष्ठाध्यायाभिधेयेन पापाच्छुध्यति।। १०८।।

मलिन पात्रादि, मिट्टी और जल से शुद्ध किए जाते हैं। नदी तीव्र जलप्रवाह से, मन से दूषित स्त्री आर्तव से एवं ब्राह्मण संन्यास द्वारा शुद्ध होता है।। १०८।।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।। १०९।।

स्वेदाद्यपहतान्यङ्गानि जलेन क्षालितानि शुद्ध्यन्ति। मनश्च निषिद्धचिन्तादिना दूषितं सत्याभिधानेन शुद्ध्यति। भूतात्मा सूक्ष्मादिलिङ्गशरीराविच्छन्नो जीवात्मा ब्रह्मविद्यया पापक्षयहेतुतया तपसा च शुद्धो भवति। शुद्धः परमात्मरूपेणावतिष्ठते। बुद्धिश्च विपर्ययज्ञानोपहता यथार्थविषयज्ञानेन शुद्ध्यति।। १०९।।

शरीर जलों द्वारा शुद्ध होते हैं तथा मन सत्य से शुद्ध होता है। जीवात्मा विद्या और तप द्वारा तथा बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।। १०९।।

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शारीरस्य विनिर्णयः।
नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्।। ११०।।

अयं शरीरसंबन्धिनः शौचस्य युष्माकं निश्चय उक्तः। इदानीं नानाप्रकारद्रव्याणां ऐन यच्छुद्ध्यति तस्य निर्णयं श्रृणुत।। ११०।।

आपसे यह मैंने शरीर के शौच निर्णयों को कहा। अब आप अनेकप्रकार के द्रव्यों की शुद्धि के निर्णय को सुनिये।। ११०।।

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च।
भस्मनाद्भिर्मृदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः।। १११।।

तैजसानां सुवर्णादीनां मरकतादिमणीनां पाषाणमयस्य च सर्वस्य भस्मना जलेन मृत्तिकया च मन्वादिभिः शुद्धिरुक्ता। निर्लेपस्य जलेनैवान्तरं शुद्धेर्वक्ष्यमाणत्वा-दिदमुच्छिष्टघृतादिलिप्तविषयम्। तत्र मृद्भस्मनोर्गन्धक्षयैककार्यत्वाद्विकल्पः। आपस्तूभयत्र समुच्चीयन्ते।। १११।।

स्वर्ण आदि तेजस् पदार्थ, मणि तथा पत्थर द्वारा निर्मित सभीप्रकार के पदार्थों की शुद्धि विद्वानों ने भस्म,जल और मिट्टी से कही है।। १११।।

निर्लेपं काञ्चनं भाण्डमद्भिरेव विशुद्ध्यति।
अब्जमश्ममयं चैव राजतं चानुपस्कृतम्।। ११२।।

उच्छिष्टादिलेपरहितं सौवर्णभाण्डं, जलभवं च शङ्खमुक्तादि, पाषाणमयं च राजतमनुपस्कृतं रेखादिगुणान्तराधानरहितं तथाविधमलासंभवाज्जलेनैव भस्मादिरहि तेन शुद्ध्यति।। ११२।।

घी आदि के लेप से रहित सोने के पात्र, जल में उत्पन्न होने वाले मोती

आदि, पत्थर से निर्मित तथा चांदी द्वारा बनाए गए बर्तन केवल जलों द्वारा ही विशुद्ध हो जाते हैं।। ११२।।

अपामग्नेश्च संयोगाद्धैमं रौप्यं च निर्बभौ।
तस्मात्तयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः।। ११३।।

"अग्निर्वै वरुणानीरकामयत" इत्यादि वेदे श्रूयते। तथा "अग्नेःसुवर्णमिन्द्रियम्, वरुणानीनां रजतम्" इत्यादिश्रुतिष्वग्न्यापः संयोगात्सुवर्णं रजतं चोद्भूतं यस्मादतस्तयोः स्वेन कारणेनैव जलेनात्यन्तोपघातेनाग्निना निर्णेकः शुद्धिहेतुर्गुणवत्तरः प्रशस्ततरः।। ११३।।

पानी एवं अग्नि के संयोग से स्वर्ण और रजत दोनों धातु उत्पन्न हुए हैं। अतः इन दोनों की शुद्धि भी अपने उत्पत्तिस्थान (जल और अग्नि) द्वारा ही उत्तम होती है।। ११३।।

ताम्रायःकांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभि।। ११४।।

अयो लोहं, रीतिः पित्तलं तद्भवं पात्रं रैत्यं, त्रपु रङ्गं, एषां भस्माम्लोदकैः शोधनं कर्तव्यम्। यथार्हं यस्य यदर्हति। "अम्भसा हेमरौप्यायःकांस्यं शुद्ध्यति भस्मना। अम्लैस्ताम्रं च रैत्यं च पुनःपाकेन मृन्मयम्" इति बृहस्पत्यादिवचनाद्विशेषोऽत्र बोद्धव्यः।। ११४।।

तांबा, लोहा, काँसा, पीतल, रांगा एवं सीसा इनकी शुद्धि यथासम्भव राख, खटाई का पानी तथा साधारण जल द्वारा करनी चाहिए।। ११४।।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्।
प्रोक्षणं संहतानां च दारवाणां च तक्षणम्।। ११५।।

द्रवाणां घृततैलानां काककीटाद्युपहतानां बौधायनादिवचनात्प्रसृतिमात्रप्रमाणानां प्रादेशप्रमाणकुशपत्रद्वयाभ्यामुत्पवनेन शुद्धिः। संहतानां च शय्यादीनामुच्छिष्टाद्युपघाते प्रोक्षणं, दारवाणां चात्यन्तोपघाते तक्षणेन।। ११५।।

सभी घी तेल आदि द्रव्यपदार्थों की शुद्धि हवा करने पर, एक दूसरे से सटे हुए पदार्थों की शुद्धि पानी छिड़कने से तथा लकड़ी के पदार्थों की छीलने से मानी गई है।। ११५।।

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिनां यज्ञकर्मणि।
चमसानां ग्रहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु।। ११६।।

चमसानां ग्रहाणां चान्येषां यज्ञपात्राणां पूर्वं पाणिना मार्जनं कार्यं पश्चात्प्रक्षालनेन यज्ञे कर्तव्ये शुद्धिर्भवति।। ११६।।

यज्ञ के काम आने वाले चमस ग्रह आदि यज्ञ के पात्रों की शुद्धि, हाथ से पोंछकर तथा जल से धोकर होती है।। ११६।।

चरूणां स्रुक्स्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।
स्फ्यशूर्पशकटानां च मुसलोलूखलस्य च।। ११७।।

स्नेहाक्तानां चरुस्रुगादीनामुष्णजलेन शुद्धिः। स्नेहाद्ययुक्तानां तु जलमात्रेणैव शुद्धिर्यज्ञार्थम्।। ११७।।

चरू, स्रुक् तथा स्रुवों की शुद्धि गर्म जल द्वारा धोने से होती है तथा स्फ्य, शूर्प, शकट, मूसल एवं ओखली—(की शुद्धि जल छिड़ककर की जाती है)।। ११७।।

अद्भिस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।
प्रक्षालनेन त्वल्पानामद्भिः शौचं विधीयते।। ११८।।
(त्र्यहकृतशौचानां तु वायसी (?) शुद्धिरिष्यते।
पर्युक्षणाद्धूपनाद्वा मलिनामतिधावनात्।। १५।।)

बहूनां धान्यानां वस्त्राणां च चाण्डालाद्युपघाते जलेन प्रोक्षणाच्छुद्धिः। बहुत्वं च पुरुषभारहार्याधिकत्वमिति व्याचक्षते। तदल्पानां तु प्रक्षालनाच्छुद्धिर्मन्वादिभिपदिश्यते।। ११८।।

बहुत से धान्य एवं वस्त्रों की शुद्धि जल छिड़कने से एवं कम मात्रा में होने पर उनकी शुद्धि जल द्वारा प्रक्षालन से ही की जाती है।। ११८।।

(जिनकी शुद्धि तीन दिन में होने की बात कही गई है, उन बालकादि के कपड़ों की शुद्धि स्थिति के अनुसार जल छिड़कने, धूप दिखाने तथा अत्यन्त मलिन होने पर जल द्वारा धुलवाने से होती है।। १५।।)

चैलवच्चर्मणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।
शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते।। ११९।।

स्पृश्यपशुचर्मणां वंशादिदलनिर्मितानां च वस्त्रवच्छुद्धिर्भवति। शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिः।। ११९।।

चर्म एवं बाँस द्वारा बने पदार्थों की शुद्धि वस्त्र के समान तथा शाक, मूल एवं फलों की शुद्धि धान्य के समान जल छिड़कने से होती है।। ११९।।

कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः।। १२०।।

कृमिकोशोद्भवस्य वस्त्रस्य, मेषादिलोमप्रभवस्य कम्बलादेः, ऊषैः क्षारमृत्तिकाभिः, कुतपानां नेपालकम्बलानामरिष्टकैररिष्टचूर्णैः, अंशुपट्टानां पट्टशाटकानां बिल्वफलैः, क्षौमाणां दुकूलानां क्षुमावल्कलभवानां वस्त्राणां तु पिष्टश्वेतसर्षपप्रक्षालनाच्छुद्धिः।। १२०।।

रेशमी तथा ऊनीवस्त्रों की शुद्धि खारी मिट्टी द्वारा, नेपाली कम्बलों की रीठों से, अंशुपट्ट की शुद्धि बेल के फलों द्वारा तथा क्षौमवस्त्रों की शुद्धि सफेद सरसों द्वारा हो जाती है।। १२०।।

क्षौमवच्छङ्खशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च।
शुद्धिर्विजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा।। १२१।।

शङ्खस्य पशुशृङ्गाणां स्पृश्यपश्वयस्थिभवस्य गजादिदन्तस्य च क्षौमवत्पिष्टश्वेतसर्षपकल्केन गोमूत्रजलयोरन्यतरयुक्तेन शास्त्रविदा शुद्धिः कर्तव्या।। १२१।।

शुद्धि के विषय में विशेषज्ञान रखने वाले व्यक्ति को शङ्ख, सींग, अस्थि और दाँत से निर्मित पदार्थों की शुद्धि, क्षौमवस्त्रों के समान गोमूत्र द्वारा अथवा जल द्वारा करनी चाहिए।। १२१।।

प्रोक्षणात्तृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति।
मार्जनोपाञ्जनैर्वेश्म पुनःपाकेन मृन्मयम्।। १२२।।

तृणकाष्ठपलालं च चाण्डालादिस्पर्शदूषितं प्रोक्षणेन शुद्ध्यति। तृणपलालसाहचर्यादिदमिन्धनादिकाष्ठविषयम्। दारवाणां च तक्षणमिति निर्मितदारुमयगृहपात्रविषयम्। गृहमुदक्यानिवासादिदूषितं मार्जनगोमयाद्युपलेपनेन। मृन्मयभाण्डमुच्छिष्टादिस्पर्शदूषितं पुनःपाकेन शुद्ध्यति।। १२२।।

घास, लकड़ी और पुआल जलप्रोक्षण से शुद्ध होता है। घर झाड़ू लगाने तथा लीपनें से और दूषित मिट्टी के पात्र अग्नि द्वारा पुनः पकाने से शुद्ध हो जाते हैं।। १२२।।

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः।
संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनःपाकेन मृन्मयम्।। १२३।।

मद्यादिभिस्तु संस्पृष्टं मृन्मयपात्रं पुनःपाकेनापि न शुद्ध्यति। ष्ठीवनं श्लेष्मा। पूयं शोणितविकारः।। १२३।।

मदिरा, मूत्र, विष्ठा, बलगम, पीव (मवाद) और रक्त द्वारा स्पर्श किए गए मिट्टी के बर्तन फिर पकाने से भी शुद्ध नहीं होते हैं।। १२३।।

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च।
गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः।। १२४।।

अवकरशोधनेन गोमयाद्युपलेपनेन गोमूत्रोदकादिसेकेन खात्वा कतिपयमृदपनयनेन गवामहोरात्रनिवासेन पञ्चभिरेकैकशो भूमिः शुद्ध्यति। एषां चोच्छिष्टमूत्रपुरीष-चण्डालनिवासाद्युपघातगौरवलाघवाभ्यां समुच्चयविकल्पाववगन्तव्यौ।। १२४।।

भूमि की शुद्धि झाड़ू लगाने, लीपने, गोमूत्र या जल छिड़कने, ऊपर की कुछ मिट्टी खोदने तथा गायों को उसस्थान पर निवास कराने, इन पाँच (उपायों) द्वारा होती है।। १२४।।

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्।
दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति।। १२५।।

भक्ष्यपक्षिभिर्नतु काकगृध्रादिभिः कश्चिद्भागो यस्य भक्षितः, गवा यस्य घ्राणं कृतं, पदा चावधूतमुपरि कृतक्षुतं, केशकीटदूषितं जग्धशब्दलिङ्गादन्नमल्पं मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति।। १२५।।

पक्षियों द्वारा खाये हुए, गौ द्वारा सूँघे हुए, जिसके ऊपर पैर रखा गया हो, तथा जिसके ऊपर छींक दिया गया हो ऐसे, केश तथा कीड़ों द्वारा दूषित पदार्थ मिट्टी डालने से शुद्ध हो जाते हैं।। १२५।।

यावन्नापैत्यमेध्याक्ताद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः।
तावन्मृद्वारि चादेयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु।। १२६।।

विष्ठादिलिप्ताद्द्रव्याद्यावत्तत्संबन्धिनौ गन्धलेपौ तिष्ठतस्तावद्द्रव्यमुद्धृत्य मृद्वारि प्रक्षिप्य ग्रहीतव्यम्। यत्रच वसामज्जादौ मृदा शुद्धिस्तत्र मृत्सहितं जलग्रहणं कर्तव्यम्। यत्र कर्णमलादौ जलेनैव शुद्धिस्तत्र जलमात्रमित्यवगन्तव्यम्।। १२६।।

अपवित्र वस्तुओं द्वारा, दूषित पात्रों से जब तक उसकी गन्ध तथा लेप आदि दूर न हो जावे, तब तक सभी प्रकार की द्रव्यशुद्धियों के लिए उनमें मिट्टी और जल डालते रहना चाहिए।। १२६।।

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्राह्मणानामकल्पयन्।
अदृष्टमद्भिर्निर्णिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते।। १२७।।

केनापि प्रकारेणादृष्टोपघातहेतुसंसर्गमदृष्टम्। संजातोपघातशङ्कायां जलेन प्रक्षालितम्।

तदाह हारीतः-"यद्यन्मीमांस्यं स्यात्तत्तदद्भिः स्पर्शाच्छुद्धं भवति"। उपघातशङ्कायामेव पवित्रं भवत्विति ब्राह्मणवाचा यत्प्रशस्यते तानि त्रीणि पवित्राणि देवाः ब्राह्मणानां कल्पितवन्तः।। १२७।।

तीनप्रकार की वस्तुओं को देवताओं ने ब्राह्मणों के लिए पवित्र माना है, जिसकी अशुद्धि देखी न गई हो, जिसकी अशुद्धि जल द्वारा धो दी गई हो तथा जिसे वाणी द्वारा प्रशस्त माना गया हो।। १२७।।

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्ण्यं यासु गोर्भवेत्।
अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः।। १२८।।

यत्परिमाणास्वप्सु गोः पिपासाविच्छेदो भवति ता आपो गन्धवर्णरसशालिन्यः सत्यः यद्यमेध्यलिप्ता न भवन्ति तदा विशुद्धभूमिगता विशुद्धाः स्युः। भूमिगता इति विशुद्धभूमिसंबन्धप्रदर्शनाय न त्वन्तरिक्षगतानां निवृत्त्यर्थम्।। १२८।।

जिसके द्वारा गाय की प्यास दूर हो जाए, जो अपवित्र वस्तु से व्याप्त न हो तथा उपयुक्त वर्ण, गन्ध एवं स्वाद वाला हो, ऐसा पृथ्वी पर पड़ा हुआ भी पानी शुद्ध होता है।। १२८।।

नित्यं शुद्धः कारुहस्तः पण्ये यच्च प्रसारितम्।
ब्रह्मचारिगतं भैक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः।। १२९।।

कारोर्मालाकारादेर्देवब्राह्मणाद्यर्थेऽपि माल्यादिग्रथने द्रव्यप्रयोजनाद्यपेक्षया शुद्धिविशेषाकरणेऽपि स्वभावादेव हस्तः सर्वदा शुद्धः। तथा जननमरणयोरपि स्वव्यापारे शुद्धः। "न त्वाशौचं कारूणां कारुकर्मणि" इति वचनात्। तथा यद्विक्रेतव्यं पण्यविथिकायां प्रसारितं "नापणनीयमन्नमश्नीयात्" इति शङ्खवचनात्सिद्धान्नव्यतिरिक्तं तदनेकक्रेतृकरस्पर्शेऽपि शुद्धमेव। तथा च ब्रह्माचार्यादिगतभैक्ष्यमनाचान्त स्त्रीदत्तमपि रथ्यादिक्रमणेऽपि सर्वदा शुद्धमिति शास्त्रमर्यादा।। १२९।।

माला गूँथने वाले माली का हाथ, जो बेचने के लिए बाजार में फैलाई गई वस्तु नित्य पवित्र है, ब्रह्मचारी को प्राप्त हुई भिक्षा हमेशा शुद्ध है, ऐसी शास्त्रों की स्थिति है।। १२९।।

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने।
प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः।। १३०।।

सर्वदा स्त्रीणां मुखं शुचि, तथा काकादिपक्षिणां चञ्चूपघातपतितं फलं शुचि, वत्समुखं च दोहसमये क्षीरप्रक्षरणे शुचि, श्वा च यदा मृगादीन्हन्तुं गृह्णाति तदा तत्र व्यापारे शुचिः स्यात्।। १३०।।

स्त्रियों का मुख हमेशा शुद्ध है, फल गिराने में पक्षी, दूध दोहने में बछडा शुद्ध है तथा हिरण पकड़ने में कुत्ता शुद्ध होता है।। १३०।।

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।
क्रव्याद्भिश्च हतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः।। १३१।।
(शुचिरग्निः शुचिवायुः प्रवृत्तो हि बहिश्चरः।
जलं शुचि विविक्तस्थं पन्था संचरणे शुचिः।। १६।।)

कुक्कुरैर्हतस्य मृगादेर्यन्मासं तच्छुचि मनुरवोचत्। तच्छ्राद्धाद्यतिथिभोजनादावेव द्रष्टव्यम्। अन्यैश्चाममांसादिभिर्व्याघ्रश्येनादिभिश्च व्याधादिभिश्च मृगवधजीविभिर्हतस्य।। १३१।।

कुत्तों के द्वारा मारे गये पशु का जो मांस है उसे मनु ने भी पवित्र कहा है। कच्चे मांस को खाने वाले व्याघ्र आदि द्वारा मारे गए, चाण्डाल आदि द्वारा, तथा बहेलियों द्वारा मारे गए पशु का मांस भी शुद्ध होता है।। १३१।।

(अग्नि पवित्र है, बाहर बहती हुई वायु शुद्ध है। एकान्तस्थान में रखा हुआ जल शुद्ध है तथा हमेशा चलता हुआ मार्ग पवित्र होता है।। १६।।)

ऊर्ध्वं नाभेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।
यान्यधस्तान्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाश्च्युताः।। १३२।।

यानि नाभेरुपरीन्द्रियच्छिद्राणि तानि सर्वाणि पवित्राणि भवन्ति। अतस्तेषां स्पर्शने नाशौचम्। यानि नाभेरधस्तान्यशुचीनि भवन्ति अधश्छिद्रेषु च। बहुवचनं व्यक्तिबहुत्वापेक्षया। वक्ष्यमाणाश्च वसादयो देहमला देहान्निःसृता अशुद्धा भवन्ति।। १३२।।

नाभि से ऊपर जितनी इन्द्रियाँ नाक, कान आदि हैं, वे सभी शुद्ध हैं तथा जो नाभि से नीचे की इन्द्रियाँ उपस्थादि हैं, वे सभी तथा शरीर से निकले हुए सभी मल अपवित्र है।। १३२।।

मक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।
रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शे मेध्यानि निर्दिशेत्।। १३३।।

मक्षिका अमेध्यस्पर्शिन्योऽपि, विप्रुषो मुखनिःसृता अल्पा जलकणाः छाया पतितादेर्हीनस्पर्शस्यापि, गवादीनि चाग्निपर्यन्तानि चण्डालादिस्पृष्टानि स्पर्शे शुचीनि जानीयात्।। १३३।।

मक्खियाँ, मुख से निकले छोटे-छोटे जलकण, छाया, गौ, अश्व, सूर्य की

किरणें, धूलि, भूमि, वायु तथा अग्नि ये सभी स्पर्श में पवित्र समझने चाहिएँ।। १३३।।

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।
दैहिकानां मलानां च शुद्धिषु द्वादशस्वपि।। १३४।।

विण्मूत्रमुत्सृज्यते येन स विण्मूत्रोत्सर्गः पाय्वादिस्तस्य शुध्द्यर्थं मृद्वारि ग्रहीतव्यमर्थवत्प्रयोजनवत् यावता गन्धलेपक्षयो भवति। तथा शारीराणां वसादिमलानां संबन्धिषु द्वादशस्वपि गन्धलेपक्षयार्थं मृद्वारि ग्राह्यम्। तत्र स्मृत्यन्तरात्पूर्वंषट्के मृज्जलग्रहणम्। उत्तरषट्के जलमात्रग्रहणम्। तदाह बौधायनः-''आददीत मृदोऽपश्च षट्सु पूर्वेषु शुद्धये। उत्तरेषु च षट्स्वद्भिः केवलाभिर्विशुद्ध्यति।। '' ततश्च द्वादशस्वपीति मानवं मृद्वारिग्रहणवचनं व्यवस्थया मृद्वारिणोर्ग्रहणे सति न विरुद्ध्यते। गोविन्दराजस्तु मनुबौधायनवचनसंदर्शनादुत्तरषट्केऽपि विकल्पमाह सच व्यवस्थितो दैवपित्राद्यदृष्टकर्मप्रवृत्ते उत्तरेष्वपि मृदमादद्यान्नान्यदा।। १३४।।

मल-मूत्र का परित्याग करने वाली इन्द्रियों, गुदा एवं लिङ्ग की शुद्धि के लिए तथा शरीर से निकले हुए बारह प्रकार के मलों की शुद्धि हेतु आवश्यकतानुसार मिट्टी और जल ग्रहण करना चाहिए।। १३४।।

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविट् घ्राणकर्णविट्।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः।। १३५।।

वसा कायस्नेहः, शुक्रं रेतः, असृक् रक्तं, मज्जा शिरोमध्ये पिण्डितस्नेहः, दूषिका अक्षिमलः, स्वेदः श्रमादिना देहनिःसृतं जलम्। वसादयो द्वादश नराणां दैहिका मला भवन्ति।। १३५।।

चर्बी, वीर्य, रक्त, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, नाक का मैल (सिनक), कान का मैल, कफ, आँसू, आँख का मैल (ढ़ीड) और पसीना ये मनुष्यों के बारह मल कहे गए हैं।। १३५।।

एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता।। १३६।।

मूत्रपुरीषोत्सर्गे सति शुद्धिमभीप्सता ''मृद्वार्यादेयमर्थवत्'' (अ० ५ श्लो० १३४) इत्युक्तत्वाज्जलसहिता मृदेका लिङ्गे दातव्या, गुदे तिस्रो मृदः, तथैकस्मिन्करे वामे। ''शौचविद्दक्षिणं हस्तं नाधः शौचे नियोजयेत्। तथैव वामहस्तेन नाभेरूर्ध्वं न शोधयेत्।। '' इति देवलवचनात्तस्यैवाधःशौचसाधनत्वात्तत्रैव दश मृदौ दातव्यास्तत उभयोः करयोः सप्त दातव्याः। यदा तूक्तशौचेनापि गन्धलेपक्षयो न भवति तदा

"यावदपैत्यमेध्याक्तात्" इति वचनादधिकसंख्यापि मृद्दातव्या। एतद्विषयाण्येव मुनीनामधिकमृत्संख्यावचनानि। मृत्परिमाणमाह दक्षः-"लिङ्गेऽपि मृत्समाख्याता त्रिपर्वी पूर्यते यया। द्वितीया च तृतीया च तदर्धार्धा प्रकीर्तिता।।" इति यदा तूक्तसंख्याया अल्पेनापि गन्धलेपक्षयो भवति तदा संख्यावाक्यारम्भसामर्थ्यात्संख्या पूरयितव्यैव।। १३६।।

शुद्धि की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को लिङ्ग में एक बार, गुदा में तीन बार, बाएँ हाथ में दस बार तथा दोनों हाथों को मिलाकर सात बार मिट्टी लगानी चाहिए।। १३६।।

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्।। १३७।।

एका लिङ्ग इत्यादि यच्छौचमुक्तं तद्गृहस्थानामेव, ब्रह्मचारिणां द्विगुणं, वानप्रस्थानां त्रिगुणं, यतीनां पुनश्चतुर्गुणम्।। १३७।।

यह शुद्धि गृहस्थियों के लिए है। ब्रह्मचारियों को दुगुनी, वानप्रस्थों को तिगुनी तथा संन्यासियों को चौगुनी बार मिट्टी लगानी चाहिए।। १३७।।

कृत्वा मूत्रं पुरीषं वा खान्याचान्त उपस्पृशेत्।
वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा।। १३८।।

मूत्रपुरीषं कृत्वा कृतयथोक्तशौचस्त्रिराचान्त इन्द्रियच्छिद्राणि शीर्षाण्यन्यानि च स्पृशेत् वेदाध्ययनं चिकीर्षन्, अन्नं वाश्नन्। यत्तु द्वितीयाध्याये "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो" (अ० २ श्लो० ७०) "निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य" (अ० २ श्लो० ५१) इत्युभयमुक्तं तद्व्रताङ्गत्वार्थं, इदं तु पुरुषार्थशौचायेत्यपुनरुक्तिः।। १३८।।

मल अथवा मूत्र का परित्याग करके, वेदों के अध्ययन की इच्छा करता हुआ और भोजन खाता हुआ व्यक्ति, हमेशा आचमन करके अपनी इन्द्रियों, नाक कानादि का स्पर्श करे।। १३८।।

आचान्त इति यदुक्तं तत्र विशेषमाह-

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विःप्रमृज्यात्ततो मुखम्।
शारीरं शौचमिच्छन्हि स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत्।। १३९।।

देहस्य शुद्धिमिच्छन्प्रथमं वारत्रयमपो भक्षयेत्। ततो द्विर्मुखं परिमृज्यात्। स्त्रीशूद्रश्चैकवारमाचनार्थमुदकं भक्षयेत्।। १३९।।

शरीरविषयक शुद्धि को चाहने वाला व्यक्ति जल द्वारा तीन बार आचमन

करे, दो बार मुख का प्रक्षालन करे। जबकि स्त्री और शूद्र केवल एक-एक बार ही (आचमन और मुख प्रक्षालन करे)।। १३९।।

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।
वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्।। १४०।।

शूद्राणां कार्यमिति "कृत्यानां कर्तरि वा" (पा० सू० २।३।७१) इति कर्तरि षष्ठी। यथाशास्त्रव्यवहारिभिर्द्विजशुश्रूषकैः शूद्रैर्मासि मासि मुण्डनं कार्यं, वैश्यवच्च मृतसूतकादौ शौचकल्पोऽनुष्ठातव्यः, द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्। भुज्यत इति भोजनं कार्यमिति।। १४०।।

शास्त्रोक्त विधि से आचरण करने वाले शूद्र को प्रति माह मुण्डन कराना चाहिए। वैश्य के समान शौचविधान तथा ब्राह्मणों का जूठा भोजन करना चाहिए।। १४०।।

"निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च" इति निष्ठीवतामाचमनविधानाद्विदुषामपि मुखान्निःसरणं निष्ठीवनमेवेति प्रसक्तौ शुद्ध्यर्थमपवादमाह-

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽङ्गे पतन्ति याः।
न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम्।। १४१।।
(अजाश्वं मुखतो मेध्यं गावो मेध्याश्च सपृष्ठतः।। १७।।
गौरमेध्या मुखे प्रोक्ता अजा मेध्या ततः स्मृता।
गोः पुरीषं च मूत्रं च मेध्यमित्यब्रवीन्मनुः।। १८।।)

मुखभवा विप्रुषो या अङ्गे निपतन्ति ता उच्छिष्टं न कुर्वन्ति। तथा श्मश्रुलोमानि मुखप्रविष्टानि नोच्छिष्टतां जनयन्ति। दन्तावकाशस्थितं चान्नावयवादि नोच्छिष्टं कुरुते। अत्र गौतमीये विशेषः-"दन्ताश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्षणात्प्राक् च्युतेरिति। एके "च्युतेष्वाहारवद्विद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः"।। १४१।।

मुख से निकलने वाले छोटे-छोटे जलकण जो शरीर के अङ्गों पर गिरते हैं वे, मुख में जाते हुए मूँछों के बाल तथा दाँतों के अन्दर स्थित अन्नकण, ये व्यक्ति को उच्छिष्ट नहीं करते हैं।। १४१।।

(बकरी और घोड़ा मुख से पवित्र होते हैं। गाय पीछे से पवित्र होती है। ब्राह्मण पैरों से पवित्र होता है तथा स्त्रियाँ सभी अङ्गों से पवित्र होती हैं।। १७।।

गाय मुख से अपवित्र कही गयी है। जबकि बकरी मुख से पवित्र मानी गई है। गाय का गोबर और मूत्र पवित्र होता है। ऐसा मनु ने कहा है।। १८।।)

स्पृशन्ति बिन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।
भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत्।। १४२।।
(दन्तवद्दन्तलग्नेषु जिह्वास्पर्शेषु चेन्नतु।
परिच्युतेषु तत्स्थानान्निगिरन्नेव तच्छुचिः।। १९।।)

अन्येषामाचमनार्थं जलं ददतां ये बिन्दवः पादौ स्पृशन्ति न जङ्घादि विशुद्धभूमिष्ठोदकैस्तुल्यास्तेन नाचमनार्हो भवति। तदा तत्र च्यवनावस्थैरकृताचमनः शुद्ध्यति द्रव्यं च शुद्ध्यति।। १४२।।

दूसरों को आचमन कराते समय जो जलकण पैरों का स्पर्श करते हैं। उन्हें भूमि पर पड़े हुए (जलकणों) के समान समझना चाहिए। उनके कारण व्यक्ति को आचमन (करके पवित्रता) की आवश्यकता नहीं होती।। १४२।।

(यदि जिह्वा का स्पर्श न कर रहा हो तो दाँतों में लगा हुआ अन्न दाँतों के समान पवित्र होता है। उस स्थान से निकलने पर निगला जाता हुआ भी वह शुद्ध ही है।। १९।।)

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात्।। १४३।।

द्रव्यहस्तपदेन शरीरसंबन्धमात्रं द्रव्यस्य विवक्षितम्। आमणिबन्धात्पाणिं प्रक्षाल्येति द्रव्यहस्तस्याचमनासंभवात्स्कन्धादिस्थितद्रव्यो यद्युच्छिष्टेन संस्पृष्टो भवति, तदा द्रव्यमनवस्थाप्यैव कृताचमनः शुद्ध्यति द्रव्यं च शुद्धं भवति।। १४३।।

हाथ में भोजन सामग्री को लिए हुए व्यक्ति यदि किसी प्रकार जूठे मुख वाले व्यक्ति से छू जाता है, वह उस भोजनसामग्री को बिना रखे ही आचमन करके शुद्ध हो जाता है।। १४३।।

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्राशनमाचरेत्।
आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।। १४४।।
(अनृतौ तु मृदा शौचं कार्यं मूत्रपुरीषवत्।
ऋतौ तु गर्भं शङ्कित्वा स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्।। २०।।)

कृतवमनः संजातविरेकः स्नात्वा घृतप्राशनं कुर्यात्। "दश विरेकान्विरिक्तः" इति गोविन्दराजः। यदि भुक्त्वा अनन्तरमेव वमति तदा आचमनमेव कुर्यान्न स्नानघृतप्राशने। मैथुनं च कृत्वा स्नायात्। इदं त्वृतुमतीविषयम्।। १४४।।

उल्टी तथा शौच करने पर स्नान करके घृतप्राशन करे। भोजन करके

(वमन करना पड़े तो) केवल आचमन ही करे। स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले के लिए स्नान ही (पवित्र करने वाला) कहा गया है।। १४४।।

(ऋतुभिन्नकाल में सम्भोग करने पर मल-मूत्र की शुद्धि के समान मिट्टी से शुद्धि करनी चाहिए। जबकि ऋतुकाल की स्थिति की शङ्का होने पर, मैथुन करने वाले की स्नान से ही शुद्धि कही गई है।। २०।।)

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वानृतानि च।
पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचामेत्प्रयतोऽपि सन्।। १४५।।

निद्राक्षुद्भोजनश्लेष्मनिरसनमृषावादजलपानादिकृत्वाध्ययनं चिकीर्षुः शुचिरप्याचामेत्। यत्तु "भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यक्" इति, तथा "अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तः" (अ० २ श्लो० ७०) इति द्वितीयाध्यायोक्तं तद्व्रताङ्गत्वेन। इह तु भुक्त्वाचमनविधानं पुरुषार्थमध्ययनाङ्गतयाचमनविधानं गृहस्थादीनामपीति।। १४५।।

सोकर, छींककर, भोजन करके, थूककर, असत्य बोलकर तथा पानी पीकर अध्ययन की इच्छा करता हुआ व्यक्ति पहले से शुद्ध होने पर भी आचमन करे।। १४५।।

एषां शौचाविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।
उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत।। १४६।।

एष वर्णानां जननमरणादौ दशरात्रादिरशौचविधिः समग्रो द्रव्याणां तैजसादीनां चेलादिनां च जलादिना शुद्धिविधिर्युष्माकमुक्तः। इदानीं स्त्रीणामनुष्ठेयं धर्मं शृणुत।। १४६।।

यह मैंने सभी वर्णों की सम्पूर्ण शौचविधि तथा द्रव्यशुद्धि का आपसे कथन किया। अब आप लोग सभी वर्णों की स्त्रियों के धर्मों को समझिये।। १४६।।

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि।। १४७।।

बाल्ये यौवने वार्धके च वर्तमानया किंचित्सूक्ष्ममपि कार्यं भर्त्राद्यननुमतं न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यमिति।। १४७।।

बाला हो अथवा युवती हो, वृद्धा स्त्री हो, उसे घरों में भी कोई कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं करना चाहिए।। १४७।।

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम्।। १४८।।

किंतु बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्। यौवने भर्तुः। भर्तरि मृते पुत्राणाम्। तदभावे तत्सपिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियः। पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः। इति नारदवचनाज्ज्ञातिराजादीनामायत्ता स्यात्कदाचिन्न स्वतन्त्रा भवेत्।। १४८।।

स्त्री बचपन में पिता के वश में, यौवनकाल में पति के वश में, पति के मरने पर पुत्रों के वश में रहे। स्त्री कभी भी स्वतन्त्रतापूर्वक आचरण न करे।। १४८।।

पित्रा भर्त्रा सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः।
एषां हि विरहेण स्त्री गर्ह्ये कुर्यादुभे कुले।। १४९।।

पित्रा पत्या पुत्रैर्वा नात्मनो विरहं कुर्यात्। यस्मादेषां वियोगेन स्त्री बन्धकीभावं गतापि पतिपितृकुले निन्दिते करोति।। १४९।।

स्त्री को कभी भी पिता, पति अथवा पुत्रों से अपने वियोग की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इनके विरह से स्त्री पितृ और पति दोनों के कुलों को निंदित करती है।। १४९।।

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया।। १५०।।

सर्वदा भर्तरि विरुद्धेऽपि प्रसन्नवदनतया गृहकर्मणि चतुरया सुशोधितकुण्ड-कटाहादिगृहभाण्डया व्यये चाबहुप्रदया स्त्रिया भवितव्यम्।। १५०।।

स्त्री को सदैव प्रसन्न, गृहकार्यों में निपुण, वस्तुओं को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली तथा खर्च के विषय में मुक्तहस्त नहीं होना चाहिए।। १५०।।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत्।। १५१।।

यस्मै पिता एनां दद्यात्पितुरनुमत्या भ्राता वा तं जीवन्तं परिचरेन्मृतं च नातिक्रामेत्। व्यभिचारेण तदीय श्राद्धतर्पणादिविरहितया पारलौकिककृत्यखण्डनेन च।। १५१।।

पिता अथवा पिता की अनुमति से भ्राता, इसे जिसके लिए भी देवे, जीवनपर्यन्त यह उसकी सेवा करे तथा मरने पर भी मर्यादा का उल्लंघन न करे।। १५१।।

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम्।। १५२।।

यदासां सस्त्ययनशान्त्यनुमन्त्रवचनादिरूपं, यश्चासां प्रजापतियागः प्रजापत्युद्दशेनाज्यहोमात्मको विवाहेषु क्रियते तन्मङ्गलार्थमभीष्टसंपत्त्यर्थं कर्म। यत्पुनः प्रथम प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्। ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा। तस्मात्तं श्रयेतेति पूर्वोक्तशेषः। यत्तु अष्टमे वक्ष्यते "तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे" (अ० ८ श्लो० २२७) इति तद्भार्यात्वसंस्कारार्थमित्यविरोधः।। १५२।।

इनके विवाह में मंगल के लिए स्वस्तिवाचन तथा प्रजापति का यज्ञ एवं जो वाग्दान संस्कार प्रयुक्त किया जाता है, वही इनपर स्वामित्व का कारण है।। १५२।।

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः।
सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः।। १५३।।

यतः मन्त्रसंस्कारो विवाहस्तत्कर्ता भर्ता "ऋतावुपेयात्सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम्" इति गोतमवचनादृतुकाले अन्यदा च नित्यमिह लोके च सुखस्य दाता तदाराधनेन च स्वर्गादिप्राप्तेः परलोकेऽपि सुखस्य दातेति।। १५३।।

मन्त्रसंस्कार करने वाला पति, स्त्री को ऋतुकाल में और ऋतु से भिन्नकाल में इसलोक तथा परलोक में हमेशा ही सुख प्रदान करने वाला है।। १५३।।

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्यः स्त्रीया साध्व्या सततं देववत्पतिः।। १५४।।
(दानप्रभृति या तु स्याद्यावदायुः पतिव्रता।
भर्तृलोकं न त्यजति यथैवारुन्धती तथा।। २१।।)

सदाचारशून्यः स्त्र्यन्तरानुरक्तो वा विद्यादिगुणहीनो वा तथापि साध्व्या स्त्रिया देववत्पतिराराधनीयः।। १५४।।

सदाचारहीन, कामुक आचरणयुक्त अथवा गुणों से रहित पति भी पतिव्रता स्त्री द्वारा देवता के समान हमेशा सेवा करने योग्य होता है।। १५४।।

(जिसप्रकार अरुन्धती ने पातिव्रतधर्म का पालन किया, ठीक उसीप्रकार जो स्त्री वाग्दान से लेकर जीवनपर्यन्त पतिव्रता रहती है। वह भर्तृलोक का परित्याग नहीं करती है।। २१।।)

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतुं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते।। १५५।।
(पत्यौ जीवति या तु स्त्री उपवासं व्रतं चरेत्।
आयुष्यं हरते भर्तुः नरकं चैव गच्छति।। २२।।)

यथा भर्तुः कस्याश्चित्पत्न्या रजोयोगादिना अनुपस्थितावपि पत्न्यन्तरेण यज्ञनिष्पत्तिः तथा न स्त्रीणां भर्त्रा विना यज्ञसिद्धिः। नापि भर्तुरनुमतिमन्तरेण व्रतोपवासौ किंतु भर्तृपरिचर्ययैव स्त्री स्वर्गलोके पूज्यते।। १५५।।

स्त्रियों का पृथक् यज्ञ नहीं है, न व्रत है और न ही उपवास है। वह जो पतिसेवा करती है, उसके द्वारा ही वह स्वर्गलोक में महिमासम्पन्न होती है।। १५५।।

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा।
पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम्।। १५६।।

पत्या सह धर्माचरणेन योऽर्जितः स्वर्गादिलोकः तमिच्छन्ती साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा भर्तुर्न किंचिदप्रियमर्जयेत्। मृतस्याप्रियं व्यभिचारेण विहितश्राद्ध-खण्डनेन च।। १५६।।

पतिलोक की इच्छा करती हुई पतिव्रता स्त्री जीवित अथवा मृत पति को अप्रिय लगने वाला कुछ भी आचरण न करे।। १५६।।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु।। १५७।।

वृत्तिसंभवेऽपि पुष्पमूलफलैः पवित्रैश्च देहं क्षपयेदल्पाहारेण क्षीणं कुर्यात्। न च भर्तरि मृते व्यभिचारधिया परपुरुषस्य नामाप्युच्चारयेत्।। १५७।।

स्त्री भले ही पवित्र पुष्प, मूल तथा फलों द्वारा अपने शरीर को क्षीण कर लेवे, किन्तु पति के मरने पर किसी अन्य पुरुष का तो नाम भी न लेवे।। १५७।।

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम्।। १५८।।

क्षमायुक्ता नियमवती एकभर्तकाणां यो धर्मः प्रकृष्टतमस्तमिच्छन्ती मधुमांसमैथुनवर्जनात्मकब्रह्मचर्यशालिनी मरणपर्यन्तं तिष्ठेत्। अपुत्रापि पुत्रार्थं न परपुरुषं सेवेत।। १५८।।

पतिव्रता स्त्री का जो धर्म है, उस उत्कृष्टधर्म की आकांक्षा करती हुई स्त्री मृत्युपर्यन्त क्षमाशील, नियम से रहने वाली तथा ब्रह्मचारिणी रहे।। १५८।।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम्।। १५९।।

बाल्यत एव ब्रह्मचारिणामकृतदाराणां सनकवालखिल्यादीनां ब्राह्मणानां बहूनि सहस्राणि कुलवृद्ध्यर्थं संततिमनुत्पाद्यापि स्वर्गं गतानि।। १५९।।

बचपन से ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हजारों ब्राह्मण, कुल की वृद्धि करने वाली सन्तति उत्पन्न किए बिना ही स्वर्गलोक चले गए।। १५९।।

मृते भर्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिण:।। १६०।।

साध्वाचारा स्त्री मृते भर्तर्यकृतपुरुषान्तरमैथुना पुत्ररहितापि स्वर्गं गच्छति। यथा ते सनकवालखिल्यादय: पुत्रशून्या: स्वर्गं गता:।। १६०।।

सनकादि ब्रह्मचारियों के समान ही ब्रह्मचारिणी रहती हुई साध्वीस्त्री पुत्रवती न होते हुए भी स्वर्ग में जाती है।। १६०।।

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते।
सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते।। १६१।।

पुत्रो मे जायतां तेन स्वर्गं प्राप्स्यामीति लोभेन या स्त्री भर्तारमतिक्रम्य वर्तते। व्यभिचरतीत्यर्थ:। सेह लोके गर्हां प्राप्नोति। परलोकं च स्वर्गं तेन पुत्रेण न लभते।। १६१।।

जबकी सन्तति के लालच में जो स्त्री पति का उल्लंघन (व्यभिचार) करती है। वह इसलोक में निन्दा को प्राप्त करती है तथा पतिलोक में से भ्रष्ट हो जाती है।। १६१।।

अत्रैव हेतुमाह-

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्यपरिग्रहे।
न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते।। १६२।।

यस्माद्भर्तृव्यतिरिक्तेन पुरुषेणोत्पन्ना सा प्रजा तस्या: शास्त्रीया न भवति। नचान्यपत्यामुत्पादितोत्पादकस्य प्रजा भवति। एतच्चानियोगोत्पादितविषयम्। बहुभर्तृकेयमिति लोकप्रसिद्धे: द्वितीयोऽपि भर्तैव। तस्मादन्योत्पादितत्वमसिद्ध-मित्याशङ्क्याह नेति। लोके गर्हाप्रसिद्धावपि साध्वाचाराणां न क्वचिच्छास्त्रे द्वितीयोपभर्तो-पदिश्यते। एवं सति पुराभूत्वमपि प्रतिषिद्धम्।। १६२।।

इस संसार में परपुरुष द्वारा उत्पन्न सन्तति तथा परस्त्री में उत्पन्न सन्तति दोनों ही शास्त्र सम्मत नहीं है। न ही पतिव्रता स्त्री का दूसरा पति ही कहीं कहा गया है।। १६२।।

पतिं हित्वापकृष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।
निन्द्यैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते।। १६३।।

अपकृष्टं क्षत्रियादिकं स्वकीयं पतिं त्यक्त्वोत्कृष्टं ब्राह्मणादिकं या आश्रयति सा लोके गर्हणीयैव भवति। परोऽन्यः पूर्वो भर्तास्या अभूदिति च लोकैरुच्यते।। १६३।।

जो स्त्री अपने निम्नवर्ण के पति को छोड़कर उत्कृष्टवर्ण के पति का सेवन (सम्भोग) करती है। वह भी निन्दा के योग्य है और इसका पहले अन्य पति था-'परपूर्वा' इसप्रकार की बात इस संसार में लोगों द्वारा कही जाती है।। १६३।।

व्यभिचारफलमाह-

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते।। १६४।।

परपुरुषोपभोगेन स्त्री इह लोके गर्हणीयतां लभते, मृता च शृगाली भवति, कुष्ठादिरोगैश्च पीड्यते।। १६४।।

पतिविषयक व्यभिचार करने से स्त्री इस संसार में निन्दा को प्राप्त करती है तथा कुष्ठादि पापरोगों पीड़ित होती है तथा मरने पर अगले जन्म में शृगाल योनि को प्राप्त करती है।। १६४।।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयुता।
सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते।। १६५।।

मनोवाग्देहसंयतेति विशेषणोपादानाद्या मनोवाग्देहैरेव भर्तारं न व्यभिचरति सा भर्तृमात्रनिष्ठमनोवाग्देहव्यापारत्वाद्भर्त्रा सहार्जिताँल्लोकान्प्राप्नोति। इह च शिष्टैः साध्वीत्युच्यते। वाङ्मनसाभ्यामपि पतिं न व्यभिचरेदिति विधानार्थो दैहिकव्यभिचार-निवृत्तेरुक्ताया अप्यनुवादः।। १६५।।

मन, वाणी और शरीर से संयत रहती हुई जो स्त्री पतिविषयक व्यभिचार नहीं करती है। वह सज्जनों द्वारा 'साध्वी है' इस रूप में प्रशंसित होती है तथा मृत्यु के बाद वह पतिलोक को प्राप्त करती है।। १६५।।

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।
इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च।। १६६।।

अनेन स्त्रीधर्मप्रकारेणोक्तेनाचारेण पतिशुश्रूषाभर्त्रव्यभिचारादिना मनोवाक्कायसंयता स्त्री इह लोके च प्रकृष्टां कीर्तिं परत्र पत्या सहार्जितं च स्वर्गादिलोकं प्राप्नोतीति प्रकरणार्थोपसंहारः।। १६६।।

इस स्त्रीधर्म के आचरण का पालन करते हुए मन, वाणी तथा शरीर से संयमित रहती हुई जो स्त्री पतिविरुद्ध (व्यभिचारादि) नहीं करती है। वह इस लोक में सर्वोत्कृष्ट यश को तथा परलोक में पतिलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करती है।। १६६।।

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।
दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञपात्रैश्च धर्मवित्।। १६७।।

द्विजातिः समानवर्णां यथोक्ताचारयुक्तां पूर्वमृतां श्रौतस्मार्ताग्निभिर्यज्ञपात्रैश्च दाहधर्मज्ञो दाहयेत्।। १६७।।

धर्म को जानने वाला, द्विजवर्ण में उत्पन्न व्यक्ति, इसप्रकार के आचरण सम्पन्न सवर्ण स्त्री की पहले मर जाने पर, अग्निहोत्र तथा यज्ञपात्रों से दाहक्रिया सम्पन्न करे।। १६७।।

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि।
पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च।। १६८।।

पूर्वमृताया अन्त्यकर्मणि दाहनिमित्तमग्नीन्समर्प्य गृहस्थाश्रममिच्छन्नुत्पन्नपुत्रोऽनुत्पन्नपुत्रो वा पुनर्विवाहं कुर्यात्। स्मार्ताग्नीन् श्रौताग्नीन्वा आदध्यात्।। १६८।।

पहले मरी हुई स्त्री का अग्नि देकर दाहकर्मसंस्कार सम्पन्न करके, पुनः विवाह (दारक्रिया) करे अथवा केवल श्रौताग्नि का ही आधान करे।। १६८।।

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञान्न हापयेत्।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।। १६९।।

अनेन तृतीयाध्यायाद्युक्तविधिना प्रत्यहं पञ्चयज्ञान्न त्यजेत्। द्वितीयमायुर्भागं कृतदारपरिग्रहोऽनेनैव यथोक्तविधिना गृहस्थाविहितान्धर्माननुतिष्ठेत्। गृहस्थधर्मत्वेऽपि पञ्चयज्ञानां प्रकृष्टधर्मज्ञापनार्थं पृथङ्निर्देशः।। १६९।। क्षे० श्लो० २२।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ पञ्चमोऽध्यायः।। ५।।

इस विधि से हमेशा आचरण करता हुआ पञ्चयज्ञों का परित्याग न करे। आयु के द्वितीयभाग में विवाह करके घर में निवास करे।। १६९।।

।। इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र में महर्षि भृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार डॉ० राकेश शास्त्री द्वारा सम्पादित मनुस्मृति पञ्चम अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः।। १।।
(अतःपरं प्रवक्ष्यामि धर्मं वैखानसाश्रमम्।
वन्यमूलफलानां च विधिं ग्रहणमोक्षणे।। १।।)

आश्रमसमुच्चयपक्षाश्रितो द्विजातिः कृतसमावर्तन उक्तप्रकारेण यथाशास्त्रं गृहाश्रम-मनुष्ठाय नियतः कृतनिश्चयो यथाविधानं वक्ष्यमाणधर्मेण यथार्हं विशेषेण जितेन्द्रियः। परिपक्वषाय इत्यर्थः। वानप्रस्थाश्रममनुतिष्ठेत्।। १।।

इसप्रकार विधिपूर्वक गृहस्थ-आश्रम में स्थित होकर स्नातक द्विज इन्द्रियों को वश में करके, समयपूर्वक शास्त्रोक्तविधि से वन में निवास करे।। १।।

(इसके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में धर्म तथा वनफल-मूल को ग्रहण करने और त्यागने का आपसे कथन करूँगा।। १।।)

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। २।।

गृहस्थो यदात्मदेहस्य त्वक्शैथिल्यं केशधावल्यं पुत्रस्य पुत्रं च पश्यति तथाविधवयोवस्थया विगतविषयरागतया वनमाश्रयेत्।। २।।

जब गृहस्थ आश्रम में निवास करने वाला व्यक्ति अपनी त्वचा को सिकुड़ा हुआ, बालों को पका हुआ तथा पुत्र के पुत्र-पौत्र को देखे तो उसे वन का आश्रय लेना चाहिए।। २।।

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा।। ३।।

ग्राम्यं व्रीहियवादिकं भक्ष्यं सर्वं च गवाश्वशय्यादिपरिच्छदं परित्यज्य विद्यमानभार्यश्च वनवासमनिच्छन्तीं भार्यां पुत्रेषु समर्प्य इच्छन्त्या सहैव वनं गच्छेत्।। ३।।

गाँव के भोजन का परित्याग करके तथा गाय, घोड़ा आदि सभीप्रकार के परिग्रहों को छोड़कर, अपनी पत्नी, पुत्रों को सोंपकर अथवा उसके साथ ही वन में जावे।। ३।।

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः।। ४।।

श्रौताग्निमावसथ्याग्निमग्न्युपकरणं च स्रुक्स्रुवादि गृहीत्वा ग्रामादरण्यं निःसृत्य गत्वा संयतेन्द्रियः सन्निवसेत्।। ४।।

अग्निहोत्र के लिए ग्रहण करने योग्य स्रुक्, स्रुवा आदि होमविषयक सभी उपकरणों को लेकर गाँव से बाहर निकलकर जितेन्द्रिय हुआ वन में निवास करे।। ४।।

मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम्।। ५।।

मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्नानाप्रकारैः पवित्रैः शाकमूलफलैर्वारण्योद्भवैः। एतानेवेति गृहस्थस्य पूर्वोक्तान्महायज्ञान्यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत्।। ५।।

वहाँ अनेकप्रकार के पवित्र मुनि अन्नों द्वारा अथवा शाक, मूल और फल द्वारा इन्हीं पञ्चमहायज्ञों को विधिपूर्वक सम्पन्न करे।। ५।।

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च।। ६।।

मृगादिचर्म वृक्षवल्कलं वा आच्छादयेत्। हारीतेन तु "वल्कलशाण- चर्मचीर-कुशमुञ्जफलकवासाः" इति विदधता वल्कलादिकमप्यनुज्ञातम्। सायंप्रातः स्नायात्। जटाश्मश्रुलोमनखानि नित्यं धारयेत्।। ६।।

मृग-चर्म या वृक्षों के वल्कल धरण करे। प्रातःकाल एवं सायंकाल स्नान करे और दाड़ी, मूँछ, रोम और नखों को हमेशा धारण करे।। ६।।

यद्भक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलिं भिक्षां च शक्तितः।
अम्मूलफलभिक्षाभिरर्चयेदाश्रमागतान् ।। ७।।

यद्भुञ्जीत ततो यथाशक्ति बलिं भिक्षां च दद्यात्। बलिमिति तु वैश्वदेवनित्य-श्राद्धयोरुपलक्षणम्। "एतानेव महायज्ञान्" (अ० ४ श्लो० २२) इति विहितत्वात् आश्रमागताञ्जलफलमूलभिक्षादानेन पूजयेत्।। ७।।

जो भोज्यपदार्थ (वहाँ उपलब्ध हों) उन्हीं में से अपनी शक्ति के अनुसार बलि और भिक्षा प्रदान करे। आश्रम में आए हुए लोगों का जल, मूल, फल और भिक्षा द्वारा सम्मान करे।। ७।।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः।। ८।।

वेदाभ्यासे नित्ययुक्तः स्यात्। शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुः सर्वोपकारकः संयतमनाः सततं दाता प्रतिग्रहनिवृत्तः सर्वभूतेषु कृपावान्भवेत्।। ८।।

हमेशा स्वाध्याय में लगा हुआ, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करने वाला, सबके साथ मित्रभाव रखने वाला, इन्द्रियों को वश में रखने वाला, दान देने वाला, दान न लेने वाला तथा सभी जीवों पर दया करने वाला बने।। ८।।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः।। ९।।

गार्हपत्यकुण्डस्थानामग्नीनामाहवनीयदक्षिणाग्निकुण्डयोर्विहारो वितानं तत्र भवं वैतानिकमग्निहोत्रं यथाशास्त्रमनुतिष्ठेत्। दर्शं पौर्णमासं च पर्वेति श्रौतस्मार्तदर्शपौर्णमासौ योगतः स्वकाले अस्कन्दयन्नपरित्यजन्, भार्यानिक्षेपपक्षे च रजस्वलायामिव भार्यायामेतेषामनुष्ठानमुचितम्। विशेषाश्रवणात्।। ९।।

दर्श एवं पौर्णमास पर्व को यथासमय ठीक से सम्पादित करता हुआ विधिपूर्वक वैतानिक अग्निहोत्र करता रहे।। ९।।

ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत्।
तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च।। १०।।

ऋक्षेष्टिर्नक्षत्रेष्टिः, आग्रयणं नवसस्येष्टिः, ऋक्षेष्ट्याग्रयणं चेति समाहारद्वन्द्वः। तथा चातुर्मास्यतुरायणदाक्षायणानि श्रौतकर्माणि क्रमेण कुर्यात्। अत्र केचित्। सर्वमेतच्छ्रौतं दर्शपौर्णमासादि कर्म वानप्रस्थस्य स्तुत्यर्थमुच्यते नत्वस्यानुष्ठेयं ग्राम्यव्रीह्यादिसाध्यत्वादेषां च। नच स्मृतिः श्रौताङ्गबाधने शक्तेत्याहुस्तदसत्। "वासन्तशारदैः" इत्युत्तरश्लोके मुन्यन्नैर्नीवारादिभिर्वानप्रस्थविषयतया स्पष्टस्य चरुपुरोडाशादिविधेर्बाधनस्यान्याय्यत्वात्। गोविन्दराजस्तु व्रीह्यादिभिरेव कथंचिदरण्यजातैरेतान्निर्वर्तयिष्यत इत्याह।। १०।।

क्रमशः नक्षत्रयाग, आग्रहायणयाग, चातुर्मास्ययाग, उत्तरायणयाग एवं दक्षिणायनयाग को श्रौतस्मार्तविधि द्वारा करे।। १०।।

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः　स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव　विधिवन्निर्वपेत्पृथक्॥ ११॥

वसन्तोद्भवैः शरदुद्भवैर्मेध्यैर्यागाङ्गभूतैर्मुन्यन्नैर्नीवारादिभिः स्वयमानीतैः पुरोडाशांश्चरून्यथाशास्त्रं तत्तद्यागादिसिद्धये संपादयेत्॥ ११॥

स्वयं लाए गए, वसन्त एवं शरदृतु में उत्पन्न होने वाले, पवित्र, मुनि-अन्नों द्वारा पुरोडाश एवं चरुओं का विधिपूर्वक निर्माण करे॥ ११॥

देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः।
शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम्॥ १२॥

तद्वनोद्भवनीवारादिकसाधितमतिशयेन यागार्हं हविर्देवताभ्य उपकल्प्य शेषान्नमुपभुञ्जीत। आत्मना च कृतं लवणमूषरलवणाद्युपभुञ्जीत॥ १२॥

वन में उत्पन्न, अत्यन्त पवित्र उस हविष्यान्न को देवों के लिए होम करके, बचे हुए अन्न को स्वयं खावे तथा स्वयं बनाए हुए लवण का प्रयोग करे॥ १२॥

स्थलजौदकशाकानि　पुष्पमूलफलानि　च।
मेध्यवृक्षोद्भवान्यद्यात्स्नेहांश्च फलसंभवान्॥ १३॥

स्थलजलोद्भवशाकान्यरण्ययज्ञियवृक्षोद्भवानि पुष्पमूलफलानीङ्गुद्यादिफलोद्भवांश्च स्नेहानद्यात्॥ १३॥

भूमि एवं जलों में उत्पन्न होने वाले शाकों को, पवित्र वृक्षों से उत्पन्न होने वाले पुष्प, मूल एवं फलों को तथा फलों से बने हुए तेल आदि को ही खावे॥ १३॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च॥ १४॥

माक्षिकं, मांसं, भौमानीति प्रसिद्धदर्शनार्थम्। भौमादीनि कवकानि छत्राकान्, भूस्तृणं वालवदेशे प्रसिद्धं शाकं, शिग्रुकं वाहीकेषु प्रसिद्धं शाकं, श्लेष्मातकफलानि वर्जयेत्। गोविन्दराजस्तु भौमानि कवकानीत्यन्यव्यवच्छेदकं विशेषणमिच्छन्भौमानां कवकानां निषेधः वार्क्षाणां तु भक्षणमाह। तदयुक्तम्। मनुनैव पञ्चमे द्विजातेरेव कवकमात्रनिषेधाद्वनस्थगोचरतया नियमातिशयस्योचितत्वात्। यमस्तु-"भूमिजं वृक्षजं वापि छत्राकं भक्षयन्ति ये। ब्रह्मघ्नांस्तान्विजानीयाद्ब्रह्मवादिषु गर्हितान्॥ इति विशेषेण वृक्षजस्यापि निषेधमाह। मेधातिथिस्तु भौमानीति स्वतन्त्रं पदं वदन्गोजिह्विका

नाम कश्चित्पदार्थो वनेचराणां प्रसिद्धस्तद्विषयं निषेधमाह। तदपि बहुष्वभिधान-कोशादिष्वप्रसिद्धं न श्रद्दधीवीमहि। कवकानां द्विजातिविशेषे पाञ्चमिके निषेधे सत्यपि पुनर्निषेधो भूस्तृणादीनां निषेधेऽपि च समप्रायश्चित्तविधानार्थः।। १४।।

शहद, मांस, जमीन में उत्पन्न होने वाले छत्राल, भूस्तृण (शाक विशेष) शिग्रुक (सज्जन) तथा लसोड़े के फल का परित्याग करे।। १४।।

त्यजेदाश्वयुजे मासि मुन्यन्नं पूर्वसंचितम्।
जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च।। १५।।

संवत्सरनिचयपक्षे पूर्वसंचितनीवाराद्यन्नं जीर्णानि च वासांसि शाकमूलफलानि चाश्विने मासि त्यजेत्।। १५।।

पहले एकत्र किए गए नीवार आदि, पुराने वस्त्र, शाक, मूल और फलों का आश्विन् माह में परित्याग कर देवे।। १५।।

न फालकृष्टमश्नीयादुत्सृष्टमपि केनचित्।
न ग्रामजातान्यार्तोऽपि मूलानि च फलानि च।। १६।।

अरण्येपि फालकृष्टप्रदेशे जातं स्वामिनोपेक्षितमपि व्रीह्यादि नाद्यात्। तथा ग्रामजातान्यफालकृष्टभूभागेऽपि लतावृक्षमूलफलानि क्षुत्पीडितोऽपि न भक्षयेत्।। १६।।

हल द्वारा जोती हुई भूमि में उत्पन्न किसी के द्वारा छोड़े गए अन्न को तथा गाँव में उत्पन्न मूल एवं फलों को भूख से पीडित होने पर भी नहीं खावे।। १६।।

अग्निपक्वाशनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा।
अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा।। १७।।

अग्निपक्वं वन्यमन्नं कालपक्वं वा फलादि। यद्वा नोलूखलमुसलाभ्यां किंतु पाषाणेन चूर्णीकृत्यापक्वमेवाद्यात्। दन्ता एवोलूखलस्थानानि यस्य तथाविधो वा भवेत्।। १७।।

अग्नि में पकाए गए अन्न को खाने वाला अथवा समयानुसार पके हुए फलों को खाने वाला या पत्थर से कूटकर खाने वाला अथवा फिर दन्त-ओखली में चबाकर खाने वाला ही होवे।। १७।।

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्मासंसंचयिकोऽपि वा।
षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा।। १८।।

एकाहमात्रजीवनोचितं मासवृत्त्युपचितं वा षण्मासससंवत्सरनिर्वाहसमर्थं वा नीवारादिकं संचिनुयात्। यथापूर्वं नियमातिशयः। मासवृत्तियोग्यसंचयो माससंचयः सोऽस्यातीतिः "अत इनिठनौ" (पा० सू० ५।२।११५) इति ठन्प्रत्ययेन माससंचयिक इति रूपम्।। १८।।

उसे उसी दिन खाने योग्य अन्न का संग्रह करने वाला अथवा एक मास के अन्न का संचय करने वाला होना चाहिए। छः माह तक के अन्न को इकट्ठा करने वाला अथवा वह एक वर्ष तक के अन्न को संचय करने वाला भी हो सकता है।। १८।।

नक्तं चान्नं समश्नीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः।
चतुर्थकालिको वा स्यात्स्याद्वाप्यष्टमकालिकः।। १९।।

यथासामर्थ्यमन्नमाहृत्य प्रदोषे भुञ्जीत। अहन्येव वा चतुर्थकालाशनो वा स्यात्। "सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्" इति विहितं तत्रैकस्मिन्नहन्युपोष्यापरेद्युः सायं भुञ्जीत। अष्टमकालिको वा भवेत्। त्रिरात्रमुपोष्य चतुर्थस्याह्नो रात्रौ भुञ्जीत।। १९।।

अपनी शक्ति के अनुसार अन्न लाकर सायंकाल अथवा दिन में, एक दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल अथवा तीन दिन उपवास करके दूसरे दिन सायंकाल (चतुर्थकालिक) अथवा तीन दिन उपवास कर चौथे दिन सायंकाल में (अष्टमकालिक) भोजन करने वाला बने।। १९।।

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णे च वर्तयेत्।
पक्षान्तयोर्वाप्यश्नीयाद्यवागूं क्वथितां सकृत्।। २०।।
(यतः पत्रं समादद्यान्न ततः पुष्पमाहरेत्।
यतः पुष्पं समादद्यान्न ततः फलमाहरेत्।। २।।)

शुक्लकृष्णयोः "एकैकं ह्रासयेत्पिण्डं शुक्ले कृष्णे च वर्धयेत्" (अ० ११ श्लो० २१६) इत्यादिनैकादशाध्याये च वक्ष्यमाणैश्चान्द्रायणैर्वा वर्तयेत्। पक्षान्तौ पौर्णमास्यमावास्ये तत्र शृतां यवागूं वाप्यश्नीयात्। सकृदिति सायं प्रातर्वा।। २०।।

अथवा शुक्ल और कृष्णपक्ष में चान्द्रायणव्रत के अनुसार भोजन करे या दोनों पक्षों के अन्त में अमावस्या या पूर्णिमा को, दिन में या सायंकाल एक बार पकाए गए हुए यवागू (लप्सी) का भोजन करे।। २०।।

(जिस वृक्ष अथवा लता से पत्ता ग्रहण करे, उसी से फूल न लेवे। जिससे फूल ले उसीसे फल ग्रहण न करे।। २।।)

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः।। २१।।

पुष्पमूलफलैरेव वा कालपक्वैः नाग्निपक्वैः स्वयंपतितैर्जीवेत्। वैखानसो वानप्रस्थः तद्धर्मप्रतिपादकशास्त्रदर्शने स्थितः। तेनैतदुक्तमन्यदपि वैखानसशास्त्रोक्तं धर्मम-नुतिष्ठेत्।। २१।।

वानप्रस्थ आश्रम में निवास करने वाला व्यक्ति केवल समय पर पके, पककर स्वयं भूमि पर गिरे हुए पुष्प, कन्द एवं फलों द्वारा ही हमेशा जीवन निर्वाह करे।। २१।।

भूमौ विपरिवर्तेत तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम्।
स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः।। २२।।

केवलायां भूमौ लुंठनगतागतानि कुर्यात्। स्थानासनादावपविशेत्। उत्तिष्ठेत्पर्यटे-दित्यर्थः। आवश्यकं स्नानभोजनादिकालं विहाय चायं नियमः। एवमुत्तरत्रापि, पादाग्राभ्यां वा दिनं तिष्ठेत्कंचित्कालं स्थित एव स्यात् कंचिच्चोपविष्ट एव न त्वन्तरा पर्यटेत्। सवनेषु सायंप्रातर्मध्याह्नेषु स्नायात्। यत्तु सायं प्रगे तथेत्युक्तं तेन सहास्य नियमातिशयापेक्षो विकल्पः।। २२।।

भूमि पर लेटे, दिन में कुछ समय तक पैरों के अग्रिम भाग पर खड़ा रहे। या स्थान और आसन पर बैठे। प्रातः मध्याह्न और सायंकाल तीन बार स्नान करे।। २२।।

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः।। २३।।

आत्मतपोविवृद्ध्यर्थं ग्रीष्मे चतुर्दिगवस्थितैरग्निभिरूर्ध्वं वादित्यतेजसात्मानं तापयेत्। वर्षास्वभ्रावकाशमाश्रयेत्। यत्र देशे देवो वर्षति तत्र छात्राद्यावरणरहितस्तिष्ठेदित्यर्थः। हेमन्ते चार्द्रवासा भवेत्। ऋतुत्रयसंवत्सरावलम्बेनायं सांवत्सरिक एव नियमः।। २३।।

अपनी तपस्या को क्रमशः बढाता हुआ वह ग्रीष्मऋतु में पञ्चाग्नितप करे, वर्षाऋतु में आकाश के नीचे निवास करे तथा हेमन्तऋतु में गीले वस्त्रों को धारण करे।। २३।।

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृन्देवांश्च तर्पयेत्।
तपश्चरंश्चोग्रतरं शोषयेद्देहमात्मनः।। २४।।

विहितमपि त्रिषवणं स्नानं देवर्षिपितृतर्पणाविधानार्थमनूद्यते। प्रातर्मध्यंदिनं सायं सवनेषु त्रिष्वपि देवर्षिपितृतर्पणं कुर्वन्। अन्यदपि पक्षमासोपवासादिकं तीव्रव्रतं

तपोऽनुतिष्ठन्यथोक्तं यमेन "पक्षोपवासिनः केचित्केचिन्मासोपवासिनः" इति स्वशरीरं शोषयेत्।। २४।।

तीनों सवनों (समय) में स्नान करता हुआ, पितरों एवं देवों का तर्पण करे तथा कठोरतप का आचरण करता हुआ अपने शरीर को सुखा (क्षीण) देवे।। २४।।

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि।
अनग्निरनिकेतः स्यान्मुनिर्मूलफलाशनः।। २५।।

श्रौतानग्नीन्वैखानसशास्त्रविधानेन भस्मपानादिना आत्मनि समारोप्य लौकिकाग्निगृहशून्यः। यथा वक्ष्यति "वृक्षमूलनिकेतनः" (अ० ६ श्लो० २६) इति। मुनिर्मौनव्रतचारी फलमूलाशन एव स्यात्। नीवाराद्यपि नाश्नीयात्। एतच्चोर्ध्वं षण्मासेभ्योऽप्युपरि "अनग्निरनिकेतनः" इति वसिष्ठवचनात्षण्मासोपर्यनग्नित्वमनिकेतत्वं च।। २५।।

विधिविधान के अनुसार वैतानिक अग्नियों को अपनी आत्मा में धारण करके, अग्नि तथा घर से रहित हुआ, केवल मुनियों के खाने योग्य मूल एवं फलों को खाने वाला होवे।। २५।।

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः।। २६।।

सुखप्रयोजनेषु स्वादुफलभक्षणशीतातपपरिहारादिषु प्रयत्नशून्योऽस्त्रीसंभोगी भूशायी च निवासस्थानेषु ममत्वरहितो वृक्षमूलवासी स्यात्।। २६।।

सुख प्रदान करने वाले विषयों में प्रयत्न का परित्याग करके, ब्रह्मचारी भूमि पर शयन करने वाला, निवासस्थल के विषय में ममत्व न रखने वाला तथा वृक्षों की जड़ में निवास करने वाला होवे।। २६।।

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वानवासिषु।। २७।।

फलमूलासंभवे च वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचित भैक्षमाहरेत् तदभावे चान्येभ्यो वनवासिभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यः।। २७।।

तपस्वी वानप्रस्थी ब्राह्मणों से केवल जीवननिर्वाह के योग्य ही भिक्षा को लेवे तथा उसके अभाव में वन में निवास करने वाले दूसरे गृहस्थ ब्राह्मण से भिक्षा ग्रहण करे।। २७।।

ग्रामादाहृत्य वाश्नीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन्।
प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा।। २८।।

तस्याप्यसंभवे ग्रामादानीय ग्रामस्यान्नस्याष्टौ ग्रासान्पर्णशरावादिखण्डेन पाणिनैव वा गृहीत्वा वातप्रस्थो भुञ्जीत।। २८।।

अथवा (उसके भी अभाव में) वन में ही निवास करता हुआ वानप्रस्थी पत्ते में, सकोरे के टुकड़े में अथवा हाथ में ही गाँव से भिक्षा लाकर केवल आठ ग्रासों का ही भक्षण करे।। २८।।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः।। २९।।

वानप्रस्थ एता दीक्षा एतान्नियमानन्यांश्च वानप्रस्थशास्त्रोक्तानभ्यसेत्। औपनिषदीश्च श्रुतीरुपनिषत्पठितब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानि विविधान्यस्यात्मनो ब्रह्मसिद्धये ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यसेत्।। २९।।

वन में निवास करने वाला वानप्रस्थी ब्राह्मण इन नियमों का तथा शास्त्रों में कहे गए अन्य नियमों का सेवन करे तथा ब्रह्मप्राप्ति (आत्मसिद्धि) हेतु वेदों एवं उपनिषदों में कहे गए विविध वचनों का पालन करे।। २९।।

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।
विद्यातपोविवृद्ध्यर्थं शरीरस्य च शुद्धये।। ३०।।

यस्मादेता ऋषिभिर्ब्रह्मदर्शिभिः परिव्राजकैर्गृहस्थैश्च वानप्रस्थैर्ब्रह्माद्वैतज्ञानधर्मयो विवृद्ध्यर्थमुपनिषच्छ्रुतयः सेवितास्तस्मादेताः सेवेतेति पूर्वस्यानुवादः।। ३०।।

ऋषियों, ब्राह्मणों तथा गृहस्थों की विद्या एवं तपस्या की विशेष वृद्धिहेतु तथा शरीर की शुद्धि के लिए इन वेद एवं उपनिषदों का सेवन (अभ्यास)किया गया है।। ३०।।

अपराजितां वास्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः।। ३१।।

अचिकित्सितव्याध्याद्युद्भवेऽपराजितामैशानीं दिशमाश्रित्याकुटिलगतिर्युक्तो योगनिष्ठो जलानिलाशन आशरीरनिपाताद्गच्छेत्। महाप्रस्थानाख्यं शास्त्रे विहितं चेदं मरणं तेन "न पुरायुषः स्वःकामी प्रेयात्" इति श्रुत्यापि न विरोधः। यतः स्वः कामिशब्दप्रयोगादेवैधं मरणमनया निषिध्यते न शास्त्रीयम्।। ३१।।

असाध्य रोग से ग्रस्त होने पर सरल बुद्धि सम्पन्न वानप्रस्थी केवल जल एवं

वायु का भक्षण करता हुआ, शरीरपात होने तक दक्षिणदिशा की ओर प्रस्थान करे।। ३१।।

आसां महर्षिचर्याणां त्यक्त्वान्यतमया तनुम्।
वीतशोकभयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते।। ३२।।

एषां पूर्वोक्तानुष्ठानानामन्यतमेनानुष्ठानेन शरीरं त्यक्त्वावगतदुःखभयो ब्रह्मैव लोकस्तत्र पूजां लभते। मोक्षमाप्नोतीत्यर्थः। केवलकर्मणो वानप्रस्थस्य कथं मोक्ष इति चेन्न। ''विविधाश्चोपनिषदीरात्मसंशुद्धये श्रुतीः'' इत्यनेनास्याप्यात्मज्ञानसंभवात्।। ३२।।

पूर्व महर्षियों द्वारा पालन की गई इन विधियों में से किसी एक विधि द्वारा शरीर को त्यागकर शोक एवं भय से मुक्त हुआ ब्राह्मण ब्रह्मलोक में पूजित होता है।। ३२।।

यस्य तु मरणाभावस्तस्याह-

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्।। ३३।।

अनियतपरिमाणत्वादायुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात्तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम्। अत एव शङ्खलिखितौ-''वनवासादूर्ध्वं शान्तस्य परिगतवयसः परिव्राज्यम्'' इत्याचख्यतुः। एवं वनेषु विहृत्यैवं विधिवद्दुश्चरतपोऽनुष्ठानप्रकारेण वानप्रस्थाश्रमं विषयरागोपशमनाय कंचित्कालमनुष्ठाय ''चतुर्थमायुषो भागम्'' (अ० ४ श्लो० १) इति शेषायुःकाले सर्वथा विषय-सङ्गांस्त्यक्त्वा परिव्राजकाश्रममनुतिष्ठेत्।। ३३।।

अपनी आयु के तीसरे भाग को इसप्रकार वन में व्यतीत करके, आयु के चतुर्थ भाग में विषयासक्ति का परित्याग करके संन्यास धारण करे।। ३३।।

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः प्रव्रजन्प्रेत्य वर्धते।। ३४।।

पूर्वपूर्वाश्रमादुत्तरोत्तराश्रमं गत्वा ब्रह्मचर्याद्गृहाश्रमं ततो वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायेत्यर्थः। यथाशक्ति गताश्रमहुतहोमो जितेन्द्रियो भिक्षाबलिदानचिरसेवया श्रान्तः परिव्रज्याश्रममनु-तिष्ठन्परलोके मोक्षलाभाद्ब्रह्मभूतर्ध्यतिशयं प्राप्नोति।। ३४।।

एक आश्रम से दूसरे आश्रम में प्रवेश करके, हवन करता हुआ, इन्द्रियों को जीतकर, भिक्षा एवं बलिकर्म से थका हुआ, संन्यास ग्रहण करता हुआ व्यक्ति मरकर मुक्ति को प्राप्त करता है।। ३४।।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनापाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।। ३५।।

आश्रमसमुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उत्तरश्लोकाभिधेयानि त्रीण्यृणानि संशोध्य मोक्षे मोक्षान्तरङ्गे परिव्रज्याश्रमे मनो नियोजयेत्। तान्यृणानि त्वसंशोध्य मोक्षं चतर्थाश्रममनुतिष्ठन्नरकं व्रजति।। ३५।।

देव, ऋषि एवं पितृ इन तीनों ऋणों को पूरा करके मन को मोक्षसाधन में नियुक्त करे, क्योंकि इन तीनों ऋणों से मुक्त हुए बिना मोक्ष का सेवन करता हुआ व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है।। ३५।।

तान्येवर्णानि दर्शयति-

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्।। ३६।।

"जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणैर्ऋणवा जायते यज्ञे देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः" इति श्रूयते। अतो यथाशास्त्रं वेदानधीत्य पर्वगमनवर्जनादिध र्मेण च पुत्रानुत्पाद्य यथासामर्थ्यं ज्योतिष्टोमादियज्ञांश्चानुष्ठाय मोक्षान्तरङ्गे चतुर्थाश्रमे मनो नियोजयेत्।। ३६।।

विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करके तथा धर्म के अनुसार पुत्रोत्पत्ति करके और शक्ति के अनुसार यज्ञों द्वारा यजन करके मन को मोक्षप्राप्ति में लगावे।। ३६।।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः।। ३७।।

वेदाध्ययनमकृत्वा पुत्राननुत्पाद्य यज्ञांश्चाननुष्ठाय मोक्षमिच्छन्नरकं व्रजति।। ३७।।

वेदों का अध्ययन किए बिना तथा पुत्रों को उत्पन्न न करके और यज्ञों द्वारा यजन किए बिना ही, मोक्ष की इच्छा करता हुआ ब्राह्मण अधोगति को प्राप्त होता है।। ३७।।

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्।। ३८।।

यजुर्वेदीयोपाख्यानग्रन्थोक्तां सर्वस्वदक्षिणां प्रजापतिदेवताकामिष्टिं कृत्वा तदुक्तविधिनैव "आत्मन्यग्नीन्समारोप्य गृहात्" इत्यभिधानाद्वानप्रस्थाश्रममनुष्ठायैव चतुर्थाश्रममनुतिष्ठेत्। एतेन मनुना चातुराश्रमस्य समुच्चयोऽपि दर्शितः। श्रुतिसिद्धाश्चैक-द्वित्रिचतुराश्रमाणां समुच्चया विकल्पिताः। तथा जाबालश्रुतिः—"ब्रह्मचर्यं समाप्य

गृही भवेद्गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनादा।। ३८।।

जिसमें सभी सम्पत्तियों को दक्षिणा के रूप में प्रदान कर दिया जाता है, ऐसे प्राजापत्ययज्ञ को सम्पादित करके, अपनी आत्मा में अग्नि को आशोषित करके, ब्राह्मण घर के निकलकर संन्यास ग्रहण करे।। ३८।।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः।। ३९।।

यः सर्वेभ्यो भूतारब्धेभ्यः स्थावरजङ्गमेभ्योऽभयं दत्त्वा गृहाश्रमात्प्रव्रजति तस्य ब्रह्मप्रतिपादकोपनिषन्निष्ठस्य सूर्याद्यालोकरहिता हिरण्यगर्भादिर्लोकास्तत्तेजसैव प्रकाशा भवन्ति। तानाप्नोतीत्यर्थः।। ३९।।

जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अभय प्रदान करके, घर से संन्यास ग्रहण कर लेता है। उस ब्रह्मज्ञानी के निवासहेतु तेजोमय लोक होते हैं।। ।३९।।

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।
तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चन।। ४०।।

यस्माद्द्विजात्सूक्ष्ममपि भयं भूतानां न भवति तस्य देहाद्विमुक्तस्य वर्तमानदेहनाशे कस्मादपि भयं न भवति।। ४०।।

जिस द्विज से प्राणियों को लेशमात्र भी भय उत्पन्न नहीं होता है। देह से वियुक्त हुए उस द्विज को कहीं से भी भय नहीं रहता है।। ४०।।

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्।। ४१।।

गृहान्निर्गतः पवित्रैर्दण्डकमण्डल्वादिभिर्युक्तो मुनिर्मौनी समुपोढेषु कामेषु केनचित्सम्यक्समीपं प्रापितेषु स्वाद्वन्नादिषु विगतस्पृहः परिव्रजेत्। मेधातिथिस्तु "पवित्रैर्मन्त्रजपैरथवा पावनैः कृच्छ्रैर्युक्तः" इति व्याचष्टे।। ४१।।

कमण्डलु आदि पवित्र वस्तुओं से युक्त, घर से निकला हुआ मुनि पास में स्थित इच्छापूर्वक वस्तुओं में निस्पृहभाव होकर संन्यास ग्रहण करे।। ४१।।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।
सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हियते।। ४२।।

एकस्य सर्वसङ्गविरहिणो मोक्षावाप्तिर्भवतीति जानन्नेक एव सर्वदापि मोक्षार्थं चरेत्। एक एवेत्यनेन पूर्वपरिचितपुत्रादित्याग उच्यते। असहायवानित्युत्तरस्यापि

एकाकी यदि चरति स किंचिन्न त्यजति न कस्यापि त्यागेन दुःखमनुभवति नापि केनापि त्यज्यते न कोऽप्यनेन त्यागदुःखमनुभाव्यते। ततश्च सर्वत्र निर्ममत्वः सुखेन मुक्तिमाप्नोति।। ४२।।

बिना किसी की सहायता के अकेला ही हमेशा सिद्धि हेतु विचरण करे। अकेले की सिद्धि को देखता हुआ वह न तो किसी को छोड़ता है और न किसी के द्वारा छोड़ा जाता है।। ४२।।

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्नार्थमाश्रयेत्।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः।। ४३।।

अनग्निर्लौकिकाग्निसंयोगरहितः शास्त्रीयाग्निं समारोप्येति पूर्वमुक्तत्वात्। अनिकेतो गृहशून्यः, उपेक्षकः शरीरस्य व्याध्याद्युत्पादे तत्प्रतीकाररहितः, असंकुसुकः स्थिर-मतिः, असंचयिक इत्यन्ये पठन्ति। मुनिर्ब्रह्म मननान्मौनस्य पूर्वोक्तत्वात्। भावेन ब्रह्मणि समाहितस्तदेकतानमनाः अरण्ये च दिवारात्रौ वसन्भिक्षार्थमेव ग्रामं प्रविशेत्।। ४३।।

लौकिक अग्नि से रहित, घर से रहित, अपने शरीर के रोगादि की उपेक्षा करने वाला, स्थिरबुद्धि सम्पन्न, ब्रह्मचिन्तन में लगा हुआ मुनि केवल अन्न के लिए गाँव का आश्रय लेवे।। ४३।।

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलमसहायता।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्।। ४४।।

मृन्मयकर्परादिभिक्षापात्रं, वासार्थं वृक्षमूलानि, स्थूलजीर्णवस्त्रं कोपीनकन्था, सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या शत्रुमित्राभावः, एतन्मुक्तिसाधनत्वान्मुक्तस्य लिङ्गम्।। ४४।।

मिट्टी का टूटा पात्र (कपाल), वृक्षों की जड़, जीर्णशीर्ण वल्कल वस्त्र, एकाकीनिवास तथा सभी के प्रति समभाव, ये ही जीवनमुक्त के लक्षण हैं।। ४४।।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा।। ४५।।
(ग्रैष्म्यान्हैमन्तिकान्मासानष्टौभिक्षुर्विचक्रमेत्।
दयार्थं सर्वभूतानां वर्षास्वेकत्र संवसेत्।। ३।।
नासूर्यं हि व्रजेन्मार्गं नादृष्टां भूमिमाक्रमेत्।
परिभूताभिरद्भिस्तु कार्यं कुर्वीत नित्यशः।। ४।।

सत्यां वाचमहिंस्त्रां च वदेदनपकारिणीम्।
कल्कापेतामपरुषामनृशंसामपैशुनाम्　।।५।।)

मरणं जीवनं च द्वयमपि न कामयेत्किंतु स्वकर्माधीनं मरणकालमेव प्रतीक्षेत। निर्दिश्यत इति निर्देशो भृतिस्तत्परिशोधनकालमिव भृतक:।। ४५।।

जिसप्रकार नौकर आदेश की प्रतीक्षा करता है, ठीक उसीप्रकार केवल काल (मृत्यु समय) की प्रतीक्षा करे।। ४५।।

(ग्रीष्म और हेमन्त के आठ महीनों में भिक्षा के लिए भ्रमण करे तथा वर्षा में सभी प्राणियों पर दया करने के लिए एक स्थान पर निवास करे।। ३।।

सूर्य के अभाव में (रात्रि के समय) मार्ग में न जाए तथा भूमि को बिना देखे न चले। पवित्र जलों द्वारा ही हमेशा सभी क्रियाएँ सम्पन्न करे।। ४।।

किसी की हिंसा न करने वाली, अपकाररहित, दोषरहित, कठोरता एवं क्रूरता से रहित, निन्दारहित, सत्यवाणी का उच्चारण करे।। ५।।)

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मन:पूतं समाचरेत्।।४६।।

केशास्थ्यादिपरिहारार्थं दृष्टिशोधितभूमौ पादौ क्षिपेत्। जलेषु क्षुद्रजन्त्वादिवारणार्थं वस्त्रशोधितं जलं पिबेत्। सत्यपवित्रां वाचं वदेत्। ततश्च मौनेन सह सत्यस्य विकल्प:। प्रतिषिद्धसंकल्पशून्यमनसा सर्वदा पवित्रात्मा स्यात्।। ४६।।

दृष्टिपात से पवित्र भूमि पर पैर रखे, वस्त्र से पवित्र करके (छानकर) जल को पीये। सत्य से पवित्र वाणी का उच्चारण करे तथा मन से पवित्र हुआ आचरण करे।। ४६।।

अतिवादांस्तितिक्षेत　नावमन्येत　कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्।।४७।।

अतिक्रमवादान्परोक्तान्सहेत न कंचित्परिभवेत्। नेमं देहमस्थिरं व्याध्यायतनमाश्रित्य तदर्थं केनचित्सह वैरं कुर्यात्।। ४७।।

दूसरों की अमर्यादित बातों को सहन करे। किसी का भी अपमान न करे और न ही इस शरीर का आश्रय लेकर किसी के साथ शत्रुता करे।। ४७।।

क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्ट: कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्।।४८।।

संजातक्रोधाय कस्मैचित्प्रतिक्रोधं न कुर्यात्। निन्दितश्चान्येन वाचं भद्रां वदेत् नतु निन्देत्। सप्तद्वारावकीर्णामिति। चक्षुरादीनि पञ्च बहिर्बुद्धीन्द्रियाणि मनोबुद्धि-रित्यन्तः करणद्वयं वेदान्तदर्शन एतैर्गृहीतेषु स्वेषु वाचा प्रवृत्तेरेतानि सप्त द्वाराणीत्युच्यन्ते, एतैरवकीर्णां निक्षिप्तां तद्गृहीतार्थविषयां वाचं न वदेत्किंतु ब्रह्ममात्रविषयां वदेत्। ननु मनसैव ब्रह्मोपास्यते ब्रह्मविषयवागुच्चारणमपि मनोव्यापारस्तत्कथं सप्तद्वारावकीर्णत्वविशेषेऽपि ब्रह्मविषयां वदेदित्यन्यविषयां न वदेदिति लभ्यते। उच्यते। अत एवानृतामिति विशेषयति स्म, अनृतमसत्यं विनाशीति यावत्, तद्विषया वागप्यनृतोच्यते तेन विनाशिकार्यविषयां वाचं नोच्चारयेत्। अविनाशिब्रह्मविषयां तु प्रणवोपनिषदादिरूपां वदेत्। गोविन्दराजस्तु धर्मोऽर्थः कामो धर्मार्थावर्थकामौ धर्मार्थकामा इत्येतानि सप्त वाग्विषयतया वाक्प्रवृत्तेर्द्वाराणि, तेष्ववकीर्णां विक्षिप्तां सर्वस्य भेदस्यासत्वात्तद्विषयामसत्यरूपां वाचं न वदेत्। अन्ये तु सप्त भुवनान्येव वाग्विषयत्वात्सप्त द्वाराणि तेषां भेदाद्विनाशित्वाच्चासत्यतया तद्विषयां वाचमसत्यां न वदेत्केवलं ब्रह्मविषयां वदेत्।। ४८।।

क्रोध करने वाले पर भी क्रोध न करे। अन्य द्वारा निन्दा किया गया भी उससे कल्याणकारी वाणी ही बोले। सप्तद्वारों से निकली हुई असत्यवाणी न बोले।। ४८।।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह।। ४९।।

आत्मानं ब्रह्माधिकृत्य रतिर्यस्य सोऽध्यात्मरतिः सर्वदा ब्रह्मध्यानपरः, आसीन इति स्वस्तिकादियोगासननिष्ठः, निरपेक्षो दण्डकमण्डल्वादिष्वपि विशेषापेक्षाशून्यः निरामिषः आमिषं विषयास्तदभिलाषरहितः, आत्मनो देहेनैव सहायेन मोक्षसुखार्थीह संसारे विचरेत्।। ४९।।

ब्रह्म का ध्यान करता हुआ, स्वस्तिक आदि योगासनों में बैठा हुआ, निरपेक्ष, मांस की इच्छा न करने वाले, सुख का इच्छुक व्यक्ति, स्वयं को सहायक बनाकर इस संसार में विचरण करे।। ४९।।

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया।
नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्।। ५०।।

भूकम्पाद्युत्पातचक्षुःस्पन्दादिनिमित्तफलकथनेन, अद्याश्विनी हस्तरेखादेरीदृशं फलमिति नक्षत्राङ्गविद्यया, ईदृशो नीतिमार्ग इत्थं वर्तितव्यं इत्यनुशासनेन शास्त्रार्थकथनेन च कदाचिन्न भिक्षां लब्धुमिच्छेत्।। ५०।।

कभी भी न उत्पात से, न निमित्त से, न नक्षत्र विद्या से, न अङ्गविद्या से न अनुशासन एवं वाद को लक्ष्य करके कभी भिक्षाग्रहण करने की इच्छा करे।। ५०।।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः।
आकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरगारमुपसंव्रजेत्।।५१।।

वानप्रस्थैरन्यैर्वा ब्राह्मणैर्भक्षणशीलैः, पक्षिभिः, कुक्कुरैर्वा व्याप्तं गृहं भिक्षार्थं न प्रविशेत्।। ५१।।

अनेक तपस्वियों, ब्राह्मणों, पक्षियों, कुत्तों अथवा भिक्षुकों से भरे हुए घर में भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए।। ५१।।

क्लप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन्।।५२।।

क्लप्तकेशनखश्मश्रुर्भिक्षापात्रवान् दण्डी कुसुम्भः कमण्डलुस्तद्युक्तः सर्वप्राणिनोऽपीडयन्सर्वदा परिभ्रमेत्।।५२।।

बाल, नाखून, दाढ़ी और मूँछें कटवाकर, भिक्षापात्र, दण्ड एवं कमण्डलु को धारण करने वाला, सभी प्रणियों को पीड़ित न करता हुआ संन्यासी हमेशा संयत होकर विचरण करे।। ५२।।

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्व्रणानि च।
तेषामद्भिः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे।।५३।।

सौवर्णादिवर्जितानि निश्छिद्राणि भिक्षोर्भिक्षापात्राणि भवेयुः। तथा यमः-"सुवर्ण रूप्यपात्रेषु ताम्रकांस्यायसेषु च।। गृह्णन्भिक्षां न धर्मोऽस्ति गृहीत्वा नरकं व्रजेत्।।" तेषां च यतिपात्राणां जलेनैव तु शुद्धिः यज्ञे चमसानामिव।।५३।।

उसके पात्र छिद्ररहित तथा सोना, चाँदी आदि तैजस् धातुओं द्वारा निर्मित नहीं होने चाहिएँ। उन पात्रों की शुद्धि, यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले चमसपात्रों के समान जलों द्वारा कही गई है।। ५३।।

तान्येव दर्शयति-

अलाबुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा।
एतानि यतिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।।५४।।

अलाबुदारुमृत्तिकावंशादिखण्डनिर्मितानि यतीनां भिक्षापात्राणि स्वायंभुवो मनुरवदत्। वैदलं तरुत्वङ्निर्मितमिति गोविन्दराजः।।५४।।

तुम्बी, लकड़ी, मिट्टी तथा बाँस द्वारा बने हुए ये पात्र ही संन्यासियों के पात्र स्वयंभू के पुत्र मनु ने कहे हैं।। ५४।।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति।। ५५।।

एकवारं प्राणधारणार्थं भैक्षं चरेत्। तत्रापि प्रचुरभिक्षाप्रसङ्गं न कुर्यात्। यतो बहुतरभिक्षाभक्षणप्रसक्तो यतिः प्रधानधातुवृद्ध्या स्त्र्यादिविषयेष्वपि प्रसज्जते।। ५५।।

संन्यासी को केवल एक समय ही भिक्षाटन करना चाहिए, इससे अधिक में उसकी आसक्ति न होवे, क्योंकि भिक्षा में आसक्त हुआ संन्यासी विषयों में भी आसक्त हो जाता है।। ५५।।

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्।। ५६।।

विगतपाकधूमे, निवृत्तावहननमुसले, निर्वाणपाकाङ्गारे, गृहस्थपर्यन्तभुक्तवज्जने, उच्छिष्टशरावेषु त्यक्तेषु, सर्वदा यतिर्भिक्षां चरेत्। एतच्च दिनशेषमुहुर्तत्रयरूपसायाह्नोपलक्षणम्। तथाह याज्ञवल्क्यः-"अप्रमत्तश्चरेद्भैक्ष्यं सायाह्ने नाभिसंधितः" (अ० ३ श्लो० ५९)।। ५६।।

घरों में धुँआ न उठने पर, मूसल का शब्द न होने पर, अग्नि के अङ्गार रहित होने पर, लोगों द्वारा भोजन कर लेने पर, जूठे बर्तनों को बाहर फैंक दिये जाने पर ही संन्यासी को हमेशा भिक्षा के लिए विचरण करना चाहिए।। ५६।।

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः।। ५७।।

भिक्षादेरलाभे न विषीदेत्। लाभे च हर्षं न कुर्यात्। प्राणस्थितिमात्रोपचितान्न-भोजनपरः स्यात्। दण्डकमण्डलुमात्रास्वपि "इदमशोभनं त्यजामि इदं रुचिरं गृह्णामि" इत्यादिप्रसङ्गं न कुर्यात्।। ५७।।

भिक्षा न मिलने पर दुःखी न होवे तथा मिल जाने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए। जीवन-निर्वाहमात्र भिक्षा मांगने वाला होवे तथा दण्ड, कमण्डलु आदि की मात्रा में भी आसक्ति वाला न होवे।। ५७।।

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजिलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते।। ५८।।

पूजापूर्वकभिक्षालाभं सर्वकालं निन्देत्। न स्वीकुर्यादित्यर्थः। यस्मात्पूजापूर्वकलाभस्वीकारे दातृगोचरस्नेहममत्वादिभिरासन्नमुक्तिरपि यतिर्जन्मबन्धाँल्लभते।।५८।।

विशेषसम्मान के साथ प्राप्त होने वाली भिक्षा की हमेशा निन्दा करे, क्योंकि आदरसत्कार द्वारा प्राप्त होने वाली भिक्षा द्वारा मुक्त संन्यासी भी बँध जाता है।। ५८।।

अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।
ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत्।। ५९।।

आहारलाघवेन निर्जनदेशस्थानादिना च रूपादिविषयैराकृष्यमाणानीन्द्रियाणि निवर्तयेत्।। ५९।।

विषयों द्वारा आकर्षित की जाती हुई इन्द्रियों को अत्यल्प भोजन के आहार द्वारा तथा एकान्तस्थान के निवास द्वारा रोकना चाहिए।। ५९।।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।। ६०।।

यस्मात् इन्द्रियाणां निग्रहेण रागद्वेषाभावेन च प्राणिहिंसाविरतेन च मोक्षयोग्यो भवति।। ६०।।

अपने विषयों से इन्द्रियों को रोकने से तथा रागद्वेष के विनाश से और प्रणियों की अहिंसा द्वारा व्यक्ति अमरता के योग्य होता है।। ६०।।

इदानीमिन्द्रियनियमोपायविषयवैराग्याय संसारतत्त्वचिन्तनमुपदिशति-

अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।
निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये।। ६१।।

विहिताकरणनिन्दिताचरणरूपकर्मदोषजन्यां मनुष्याणां पश्वादिदेहप्राप्तिं नरकेषु पतनं यमलोके नरकस्थस्य निशितनिस्त्रिंशच्छेदनादिभवास्तीव्रवेदनाः श्रुतिपुराणादिषूक्ताश्चिन्तयेत्।। ६१।।

कर्मों के दोषों से उत्पन्न होने वाली लोगों की गतियों (स्थितियों), नरक में गिरना आदि यमलोक की यातनाओं के विषय में चिन्तन करे।। ६१।।

विप्रयोगं प्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः।
जरया चाभिभवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम्।। ६२।।

इष्टपुत्रादिवियोगं, अनिष्टहिंसकादियोगं, जराभिभवनं, व्याध्यादिभिश्च पीडनं कर्मदोषसमुद्भवमनुचिन्तयेत्।। ६२।।

प्रिय लोगों से वियोग, अप्रिय लोगों के साथ संयोग, बुढ़ापे का आक्रमण, तथा व्याधियों द्वारा उत्पीडन (इन सब विषयों पर भी विचार करे)।। ६२।।

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम्।
योनिकोटिसहस्त्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः।। ६३।।

अस्माद्देहादस्य जीवात्मन उत्क्रमणं तथाच मर्मभिद्भिर्महारोगपतितस्य श्लेष्मादिदोषनिरुद्धकण्ठस्य महतीं वेदनां गर्भे चोत्पत्तिदुःखबहुलां श्वश्रृगालादिनिकृष्टजातियोनिकोटिसहस्त्रगमनानि स्वकर्मबन्धान्यनुचिन्तयेत्।। ६३।।

इस अन्तरात्मा का इस शरीर से उत्क्रमण, पुनः इसका गर्भ मे उत्पन्न होना तथा इसका हजारों, करोडों योनियों में उत्पन्न होने का (विचार करे)।। ६३।।

अधर्मप्रभवं चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्।
धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम्।। ६४।।

शरीरवतां जीवात्मनामधर्महेतुकं दुःखसंबन्धं धर्महेतुकोऽर्थो ब्रह्मसाक्षात्कारस्तत्प्रभवं मोक्षलक्षणमक्षयं ब्रह्मसुखसंयोगं चिन्तयेत्।। ६४।।

इसके अतिरिक्त शरीरधारियों को अधर्म के कारण उत्पन्न होने वाले दुःख के सम्बन्ध का तथा धर्माचरण से उत्पन्न होने वाले अक्षयसुख की प्राप्ति का (चिन्तन करे)।। ६४।।

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च।। ६५।।

योगेन विषयान्तरचित्तवृत्तिनिरोधेन परमात्मनः स्थूलशरीराद्यपेक्षया सर्वान्तर्यामित्वेन सूक्ष्मतां निरवयवतां तत्त्यागादुत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वादिशरीरेषु जीवानां शुभाशुभफलभोगार्थमुत्पत्तिमधिष्ठानमनुचिन्तयेत्।। ६५।।

योग द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता के विषय में विचार करे तथा उत्तम एवं अधम शरीरों में उत्पत्ति के बारे में (सोचे)।। ६५।।

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रये रतः।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम्।। ६६।।

यस्मिन्कस्मिंश्चिदाश्रमे स्थितस्तदाश्रमिविरुद्धाचारदूषितोऽप्याश्रमलिङ्गरहितोऽपि सर्वभूतेषु ब्रह्मबुद्ध्या समदृष्टिः सन् धर्ममनुतिष्ठेत्। नहि दण्डादिलिङ्गधारणामात्र धर्म कारणं, किन्तु विहितानुष्ठानं, एतच्च धर्मप्राधान्यबोधनायोक्तं नतु लिङ्गपरित्यागार्थम्।। ६६।।

जिस किसी भी आश्रम में निरत हुआ, दोषयुक्त होता हुआ भी व्यक्ति सभी प्राणियों में समानदृष्टि से धर्म का आचरण करे, क्योंकि चिह्नविशेष धर्म का कारण नहीं होता है।। ६६।।

अत्र दृष्टान्तमाह-

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति।। ६७।।

यद्यपि कतकवृक्षस्य फलं कलुषजलस्वच्छताजनकं तथापि तन्नामोच्चारणवशान्न प्रसीदति किन्तु फलप्रक्षेपेण, एवं न लिङ्गधारणमात्रं धर्मकारणं किन्तु विहितानुष्ठानम्।। ६७।।

यद्यपि कतकवृक्ष का फल रीठा पानी को स्वच्छ करने वाला होता है, फिर भी उसका नाम लेने मात्र से ही जल स्वच्छ नहीं होता है।। ६७।।

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।
शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत्।। ६८।।

शरीरस्यापि पीडायां सूक्ष्मपिपीलिकादिप्राणरक्षार्थं रात्रौ दिवसे वा सदा भूमिं निरीक्ष्य पर्यटेत्। पूर्वं केशादिपरिहारार्थं ''दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्'' (अ० ६ श्लो० ४६) इत्युक्तं, इदं तु हिंसापरिहारार्थमित्यपुनरुक्तिः।। ६८।।

शरीर के कष्ट में होने पर भी प्रणियों की रक्षा के लिए हमेशा रात्रि में अथवा दिन में भूमि को देखकर ही विचरण करे।। ६८।।

अत्र प्रायश्चित्तमाह-

अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्षडाचरेत्।। ६९।।

यतिर्यानज्ञानतो दिवसे रात्रौ वा प्राणिनो हन्ति तद्धननजनितपापनाशार्थं स्नात्वा षट् प्राणायामान्कुर्यात्। प्राणायामश्च ''सव्याहतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते'' इति वसिष्ठोक्त्यात्र द्रष्टव्यः।। ६९।।

संन्यासी अज्ञानवश दिन या रात में जिन प्राणियों को मारता है। उनकी शुद्धि के लिए स्नान करके छः प्राणायाम करे।। ६९।।

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः।। ७०।।

ब्राह्मणस्येति निर्देशाद्ब्राह्मणजातेरयमुपदेशो न यतेरेव। त्रयोऽपि प्राणायामा सप्तभिर्व्याहृतिभिर्दशभिः प्रणवैर्युक्ताः, विधिवदित्यनेन सावित्र्या शिरसा च युक्ताः, पूरककुम्भकरेचकविधिना कृता ब्राह्मणस्य श्रेष्ठं तपो ज्ञातव्यम्। पूरकादिस्वरूपं स्मृत्वन्तरेषु ज्ञेयम्। तथा योगियाज्ञवक्ल्यः-"नासिकोत्कृष्ट उच्छ्वासो ध्मातः पूरक उच्यते। कुम्भको निश्चलश्वासो मुच्यमानस्तु रेचकः"।। त्रयोऽपीत्यपिशब्देन त्रयोऽवश्यं कर्तव्याः अधिककरणे त्वधिकपापक्षयः।। ७०।।

व्याहृति एवं प्रणव से युक्त, विधिविधान से किए गए तीन प्राणायाम ही ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट तप समझना चाहिए।। ७०।।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।। ७१।।

धातूनां स्वर्णरजतादीनां यथा मूषायामग्निना ध्मायमानानां मलद्रव्याणि दह्यन्ते, एवं मनसो रागादयश्चक्षुरादेश्च विषयप्रवणत्वादयो दोषाः प्राणायामेन विषयानभिध्याना-दह्यन्ते।। ७१।।

आग में तपाए जाने से जिसप्रकार धातुओं के सभी मैल जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायु के रोकने से इन्द्रियों के सभी दोष विनष्ट हो जाते हैं।। ।७१।।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्।। ७२।।

एवं सति अनन्तरोक्तप्रकारेण प्राणायामै रागादिदोषान्दहेत्। अपेक्षितदेशे पर-ब्रह्मादौ यन्मनसो धारणं सा धारणा तया पापं नाशयेत्। प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियाकर्षणैर्विषयसंपर्कान्वारयेत्। ब्रह्मध्यानेनेति सोऽहमस्मीति सजातीयप्रत्ययप्रवाह-रूपेणानीश्वरान्गुणान् ईश्वरस्य परमात्मनो ये गुणा न भवन्ति क्रोधलोभासूयादयः तान्निवारयेत्।। ७२।।

इसलिए प्राणायामों से शरीर के सभी दोषों को, धारणा द्वारा पापों को, इन्द्रियों को नियन्त्रित करके विषयों के संसर्गों को तथा ध्यान द्वारा ईश्वर से भिन्न कामक्रोधादि गुणों को जलावे।। ७२।।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः।
ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः।। ७३।।

अस्य जीवस्योत्कृष्टापकृष्टेषु देवपश्वादिषु जन्मप्राप्तिमकृतात्मभिः शास्त्रैर-संस्कृतान्तःकरणैर्दुर्ज्ञेयां ध्यानाभ्यासेन सम्यक् सकारणकं जानीयात्। ततश्चाविद्या-काम्यनिषिद्धकर्मनिर्मितेयं गतिरिति ज्ञात्वा ब्रह्मज्ञाननिष्ठो भवेदिति तात्पर्यार्थः।। ७३।।

इस अन्तरात्मा की ऊँची नीची योनियों में, अपरिष्कृत बुद्धि वाले व्यक्तियों की दुर्ज्ञेयगति का ध्यान-योग द्वारा भलीप्रकार अवलोकन करे।। ७३।।

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्ध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।। ७४।।

ततश्च तत्त्वतो ब्रह्मसाक्षात्कारवान्कर्मभिर्न निबध्यते कर्माणि तस्य पुनर्जन्मने न प्रभवन्ति, पूर्वार्जितपापपुण्यस्य ब्रह्मज्ञानेन नाशात्। तथाच श्रुतिः-"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त उभौ ब्रह्मैवैष भवति" इति श्रुत्या। तथा "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति अविशेषश्रुत्या पुण्यसंबन्धोऽपि बोध्यते, उत्तरकाले च दैवात्पापे कर्मणि प्रवृतेऽपि न पापसंश्लेषः। तथाच श्रुतिः-" पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इति। देहारम्भकपापपुण्यसंबन्धः परं नश्यति अयमेव चार्थो ब्रह्ममीमांसायां "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तव्द्यपदेशात्" (४।१।१३) इति सूत्रेण बादरायणेन निरणायि। ब्रह्मसाक्षात्कारशून्यस्तु जन्ममरणप्रबन्धं लभते।। ७४।।

क्योंकि सम्यक् दर्शन (दृष्टि) सम्पन्न व्यक्ति कर्मों द्वारा नहीं बाँधा जाता है, जबकि सम्यक्दर्शनरहित व्यक्ति संसार में बार-बार जन्म लेता है।। ७४।।

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।
तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्।। ७५।।

निषिद्धहिंसावर्जनेनेन्द्रियाणां च विषयसङ्गपरिहारेण वैदिकैर्नित्यैः कर्मभिः, काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वात्। उक्तंच-"कामात्मता न प्रशस्ता" (अ० २ श्लो० २) इति। तपसश्च यथासंभवमुपवासकृच्छ्रचान्द्रायणादेरनुष्ठानैरिह लोके तत्पदं ब्रह्मात्यन्तिकलयलक्षणं प्राप्नुवन्ति। पूर्वश्लोकेन ब्रह्मदर्शनस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं अनेन तत्सहकारितया कर्मणोऽभिहितम्।। ७५।।

अहिंसा से, इन्द्रियों की अनासक्ति से, वेदप्रतिपादित कर्मों द्वारा, कठोर तपस्या के आचरण से, तपस्वी लोग इस संसार में उस ब्रह्मपद को सिद्ध कर लेते हैं।। ।७५।।

इदानीं मोक्षान्तरङ्गोपायसंसारवैराग्याय देहस्वरूपमाह श्लोकद्वयेन-

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः।। ७६।।

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्।। ७७।।

अस्थीन्येव स्थूणा इव यस्य तं अस्थिस्थूणं, स्नायुरज्जुभिराबद्धं, मांसरुधिराद्युपलिप्तं, चर्माच्छादितं, मूत्रपुरीषाभ्यां पूर्णमत एव दुर्गन्धि। जरोपतापाभ्यामाक्रान्तं, विविधव्याधीनामाश्रयं, आतुरं क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिकातरं, प्रायेण रजोगुणयुक्तं, विनश्वरस्वभावं च, आवासो गृहं पृथिव्यादिभूतानि तेषामावासं, देहमेव जीवस्य गृहत्वेन निरूपितं त्यजेत्। यथा पुनर्देहसंबन्धो न भवेत्तथा कुर्यात्। गृहसाम्यमेवोक्तमस्थीत्यादिना।। ७६।। ।। ७७।।

यह शरीर अस्थिरूपी स्तम्भों वाला, स्नायुरूपी रस्सी से युक्त, मांस एवं रक्त द्वारा लीपा गया, चर्म से ढका हुआ, दुर्गन्ध और मलमूत्र से भरा हुआ है।। ७६।।

अतः वृद्धावस्था एवं शोक से युक्त, रोगों के घर, भूख प्यास से व्याकुल होने वाले, रजोगुणयुक्त और अनित्य, पञ्चमहाभूतों के निवास, इस शरीर का त्याग कर देना चाहिए।। ७७।।

नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद्ग्राहाद्विमुच्यते।। ७८।।

ब्रह्मोपासकस्य देहत्यागसमये मोक्षः, आरब्धदेहस्य कर्मणो भोगेनैव नाशात् तत्र देहत्यक्तुर्द्वैविध्यमाह। यः कर्माधीनं देहपातमवेक्षते स नदीकूलं यथा वृक्षस्त्यजति स्वपातमजानन्नेव नदीरयेण पात्यते, तथा देहं त्यजन्यश्च ज्ञानकर्मप्रकर्षाद्भीष्मादिवत्स्वाधीनमृत्युः स यथा पक्षी वृक्षं स्वेच्छया त्यजति तथा देहमिमं त्यजन् संसारकष्टाद्ग्राहादिव जलचरप्राणिभेदाद्विमुच्यते।। ७८।।

जिसप्रकार वृक्ष नदी के किनारे को अथवा जिसप्रकार पक्षी वृक्ष को छोड़ देता है। उसीप्रकार इस शरीर को छोड़ता हुआ संन्यासी कष्टरूपी ग्राह (मगरमच्छ) से विमुक्त हो जाता है।। ७८।।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्।। ७९।।

ब्रह्मविदात्मीयेषु प्रियेषु हितकारिषु सुकृतं अप्रियेष्वहितकारिषु दुष्कृतं निक्षिप्य ध्यानयोगेन नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मणि लीयते। तथा च श्रुतिः ''तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्'' इति। अपरा श्रुतिः ''तत् सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्'' इत्येवमादीन्येव

वाक्यान्युदाहृत्य सुकृतदुष्कृतयोर्हानिमात्रश्रवणेऽप्युपायनं प्रतिपत्तव्यमिति ब्रह्ममीमांसायां "हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगायनवत्तदुक्तम्" (व्या० सू० ३।३।२६) इत्यादिसूत्रैर्बादरायणेन निरणायि। ननु परकीयसुकृतदुष्कृतयो: कथं परत्र संक्रान्ति:। उच्यते। धर्माधर्मव्यवस्थायां शास्त्रमेव प्रमाणं, संक्रामोऽपि तयो: शास्त्रप्रमाणक एव। अत: शास्त्रात्संक्रमणयोग्यावेतौ सिध्यत:। अत: शास्त्रेण बाधान्न प्रतिपक्षानुमानोदय: शुचि नरशिर:कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खादिवदितिवत्। मेधातिथिगोविन्दराजौ तु स्वेषु प्रियेषु केनचित्कृतेषु ध्यानाभ्यासेनात्मीयमेव सुकृतं तत्र कारणत्वेनारोप्य, एवमप्रियेष्वपि केनचित्कृतेष्वात्मीयमेव प्राग्जन्मार्जितं दुष्कृतं कारणत्वेन प्रकल्प्योद्धृत्य तत्संपादयितारौ पुरुषौ रागद्वेषाख्यौ त्यक्त्वा नित्यं ब्रह्माभ्येति ब्रह्मस्वभावमुपगच्छतीति व्याचक्षाते। तन्न। विसृज्येति क्रियायां सुकृतं दृष्कृतमिति कर्मद्वयत्यागेन तत्संपादयितारावित्यश्रुत-कर्माध्याहारात्, कर्मद्वये च श्रुतक्रियात्यागेन कारणत्वेन प्रकल्प्येत्याद्यश्रुतक्रियाध्या-हारात्। किंच। "व्यासव्याख्यातवेदार्थमेवमस्या मनुस्मृते:। मन्ये न कल्पितं गर्वादर्वाचीनैर्विचक्षणै:"।। ७९।।

इसप्रकार वह संन्यासी अपने प्रिय लोगों में पुण्य को तथा अप्रिय लोगों में पाप को छोड़कर, ध्यानयोग द्वारा सनातनब्रह्म को पा लेता है।। ७९।।

यदा भावेन भवति सर्वभावेषु नि:स्पृह:।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।। ८०।।

यदा परमार्थतो विषयदोषभावनया सर्वविषयेषु निरभिलाषो भवति तदेह लोके संतोषजन्यसुखं परलोके च मोक्षसुखमविनाशि प्राप्नोति।। ८०।।

जब संन्यासी सांसारिकविषयों में दोष की भावना से तथा सभी विषयों के प्रति स्पृहारहित हो जाता है। तब वह इसलोक तथा परलोक में शाश्वतसुख को प्राप्त करता है।। ८०।।

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्छनै: शनै:।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते।। ८१।।

पुत्रकलत्रक्षेत्रादिषु ममत्वरूपान्क्रमेण सङ्गान्सर्वांस्त्यक्त्वा द्वन्द्वैर्मानापमानादिभि-र्मुक्तोऽनेन यथोक्तेन ज्ञानकर्मानुष्ठानेन ब्रह्मण्येवात्यन्तिकं लयमाप्नोति।। ८१।।

इस विधि से सभी विषयों के प्रति आसक्ति को धीरे-धीरे त्यागकर, सभी प्रकार के द्वन्द्वों से पूर्णयता मुक्त हुआ, संन्यासी ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।। ८१।।

ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते।। ८२।।

यदेतदित्यत्यन्तसंनिधानात्पूर्वश्लोकोदितं परामृश्यते। यदेतदुक्तं पुत्रादिममत्वत्यागो मानापमानादिहानिर्ब्रह्मण्येवावस्थानं सर्वमेवैतद्ध्यानिकमात्मनः परमात्मत्वेन ध्याने सति भवति। यदात्मानं परमात्मेति जानाति तदा सर्वसत्वान्न विशिष्यते तस्य न कुत्रचिन्ममत्वं मानापमानादिकं वा भवति, तथाविध्ज्ञानाद्ब्रह्मात्मत्वं च जायते। ध्यानिकविशेषाध्येयविशेषलाभे परमात्मध्यानार्थमाह-न ह्यनध्यात्मविदिति। यस्मादात्मानं जीवमधिकृत्य यदुक्तं तस्य परमात्मत्वं तद्यो न जानाति न ध्यायति स प्रकृतध्यानक्रियाफलं ममत्वत्यागमानापमानादिहानिं मोक्षं च प्राप्नोति।। ८२।।

यह सब कुछ (पुत्र-धनादि में ममत्वादि का परित्यागादि) जो पूर्व में कहा गया है, परमात्मा में ध्यान से ही सम्भव है, क्योंकि अध्यात्मज्ञान से रहित कोई भी (व्यक्ति) क्रिया के फल को प्राप्त नहीं करता है।। ८२।।

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिदैविकमेव च।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्।। ८३।।

पूर्वं ब्रह्मध्यानस्वरूपमुपासनमुक्तं। इदानीं तदङ्गतया वेदजपं विधत्ते। तथाच श्रुतिः-"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" इति विद्याङ्गतया वेदजपमुपदिशति-अधियज्ञमिति।। यज्ञमधिकृत्य प्रवृत्तं ब्रह्म वेदं तथा देवतामधिकृत्य तथा जीवमधिकृत्य तथा वेदान्तेषूक्तं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादिब्रह्मप्रतिपादकं सर्वदा जपेत्।। ८३।।

यज्ञसम्बन्धी तथा देवताविषयक वेदमन्त्रों को एवं जो वेदान्त में कहे गए आध्यात्मिक मन्त्र हैं, उन्हें हमेशा जपना चाहिए।। ८३।।

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानताम्।
इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्।। ८४।।

इदं वेदाख्यं ब्रह्म तदर्थानभिज्ञानामपि शरणं गतिः, पाठमात्रेणापि पापक्षयहेतुत्वात्। सुतरां तज्जानतां तदर्थाभिज्ञानां स्वर्गमपवर्गं चेच्छतामिदमेव शरणं, तदुपायोपदेशकत्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वात्।। ८४।।

यही वेद-वेदार्थ को जानने वालों की तथा यही वेदार्थ को न जानने वाले की, यही स्वर्ग को चाहने वाले की तथा यही हमेशा के लिए मुक्ति की इच्छा करने वालों की शरण है।। ८४।।

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।
स विधूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति।। ८५।।

अनेन यथाक्रमोक्तानुष्ठानेन यः प्रव्रज्याश्रममाश्रयति स इह लोके पापं विसृज्य परं ब्रह्म प्राप्नोति ब्रह्मसाक्षात्करेणोपाधिशरीरनाशाद्ब्रह्मण्यैक्यं गच्छति।। ८५।।

इसी क्रम-योग से जो द्विज संन्यास धारण करता है। सब पापों को इसी संसार में नष्ट करके, वह परमब्रह्म को प्राप्त करता है।। ८५।।

एष धर्मोऽनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्।
वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत।। ८६।।

एष यतीनां यतात्मनां चतुर्णामेव कुटीचरबहूदकहंसपरमहंसानां साधारणो धर्मो वो युष्माकमुक्तः। इदानीं यतिविशेषाणां कुटीचराख्यानां वेदविहितादि-कर्मयोगिनामसाधारणं वक्ष्यमाणं "पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्" (अ० ६ श्लो० ९५) इति कर्मसंबन्धं शृणुत भारते चतुर्धा भिक्षव उक्ताः- "चतुर्धा भिक्षवस्तु स्युःकुटीचरबहूदकौ। हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः" इति। कुटीचरस्यायं पुत्रभिक्षाचरणरूपासाधारणकर्मोपदेशः। गोविन्दराजस्तु गृहस्थविशेषमेव वेदोतिताग्निहोत्रादिकर्मत्यागिनं ज्ञानमात्रसंपादितवैदिककर्माणं वेदसंन्यासिकमाह, तन्न। यतो गृहस्थस्याहिताग्नेरन्त्येष्टौ विनियोगः, चतुर्थाश्रमाश्रयणे चात्मनि समारोपः शास्त्रेणोच्यते तदुभयाभावे सत्येवमेवाग्नीनां त्यागः स्यात्। गोविन्दराजो गृहस्थं वेदसंन्यासिकं ब्रुवन् "एवमेवाहिताग्नीनां त्यागमर्थादुपेतवान्। वेदसंन्यासिकं मेधातिथिः प्राह निराश्रमम्। तन्मते चातुराश्रम्यनियमोक्तिः कथं मनोः"।। ८६।।

नियतात्मा वाले संन्यासियों का यह धर्म मैंने आप सबसे कहा। अब आप वेद-सन्यासियों के कर्मयोग को समझो।। ८६।।

इदानीं वेदसंन्यासिकस्य प्रतिज्ञाते कर्मयोगेऽनन्तरं वक्तुमुचितमपि वेदसंन्यासिकः पञ्चमाश्रमी निराश्रमीवा चत्वार एवाश्रमा नियता इति दर्शयितुमुक्तानाश्रमाननुवदति-

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः।। ८७।।

ब्रह्मचर्यादयो य एते पृथगाश्रमा उक्ता एते चत्वार एव गृहस्थजन्या भवन्ति।। ८७।।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये अलग-अलग चार आश्रम गृहस्थ से उत्पन्न हुए हैं।। ८७।।

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्।। ८८।।

एते सर्वे चत्वारोऽप्याश्रमाः शास्त्रानतिक्रमेणानुष्ठिताः अपि शब्दात्त्रयो द्वावेकोऽपि यथोक्तानुष्ठातारं विप्रं मोक्षलक्षणां गतिं प्रापयन्ति।। ८८।।

शास्त्रोक्तविधि से क्रमशः सेवन किए गए ये सभी आश्रम, विधिविधान से पालन करने वाले ब्राह्मण को परमगति (मोक्ष) को प्राप्त कराते हैं।। ८८।।

प्रकृतवेदसंन्यासिकस्य गृहे पुत्रैश्वर्ये सुखे वा संवक्ष्यति तदर्थं गृहस्थोत्कर्षमाह-

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि।। ८९।।

सर्वेषामेतेषां ब्रह्मचार्यादीनां मध्ये गृहस्थस्य श्रूयमाणत्वेन प्रायशोऽग्निहोत्रादि-विधानाद्गृहस्थो मन्वादिभिः श्रेष्ठ उच्यते। तथा यस्माद्ब्रह्मचारिवानप्रस्थयतीनसौ भिक्षादानेन पोषयति तेनाप्यसौ श्रेष्ठः। यथोक्तम्-"यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्" (अ० ३ श्लो० ७८) इति।। ८९।।

इन सभी आश्रमों में भी वेद एवं स्मृतियों के निर्देशानुसार गृहस्थ ही श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि वह ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमों का पालन करता है।। ८९।।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।। ९०।।

यथा सर्वे नदीनदा गङ्गाशोणाद्याः समुद्रेऽवस्थितिं लभन्ते एवं गृहस्थादपरे सर्वाश्रमिणस्तदधीनजीवनत्वाद्गृहस्थसमीपेऽवस्थितिं लभन्ते।। ९०।।

जिसप्रकार सभी नदी, नाले समुद्र में ही स्थिति को प्राप्त करते हैं।। उसी प्रकार अन्य आश्रमों में रहने वाले गृहस्थाश्रम में ही स्थिति (आश्रय को) पाते हैं।। ९०।।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः।। ९१।।

एतैर्ब्रह्मचार्यादिभिराश्रमिभिश्चतुर्भिरपि द्विजातिभिर्वक्ष्यमाणो दशविधस्वरूपो धर्मः प्रयत्नतः सततमनुष्ठेयः।। ९१।।

इन चारों आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) में निवास करने वाले द्विजों को, हमेशा दस लक्षणों से युक्त धर्म का ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए।। ९१।।

तमेव स्वरूपतः संख्यादिभिश्च दर्शयति-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।। ९२।।

संतोषो धृतिः, परेणापकारे कृते तस्य प्रत्यपकारानाचरणं क्षमा, विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमः। मनसो दमनं दम इति सनन्दनवचनात्। शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः। अन्यायेन परधनादिग्रहणं स्तेयं तद्भिन्नमस्तेयं, यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचं, विषयेभ्यश्चक्षुरादिवारणमिन्द्रियनिग्रहः, शास्त्रदितत्त्वज्ञानं धीः, आत्मज्ञानं विद्या, यथार्थाभिधानं सत्यं, क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः, एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम्।। ९२।।

धृति (धैर्य), क्षमा, दम, चोरी न करना अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य एवं क्रोध न करना, ये धर्म के दस लक्षण हैं।। । ९२।।

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्।। ९३।।

ये विप्रा एतानि दशविधधर्मस्वरूपाणि पठन्ति पठित्वा चात्मज्ञानसाचिव्येनानुतिष्ठन्ते ते ब्रह्मज्ञानसमुत्कर्षात्परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नुवन्ति।। ९३।।

जो ब्राह्मण, धर्म के उपर्युक्त दस लक्षणों का भलीप्रकार अध्ययन करते हैं तथ अध्ययन करके उनका अनुकरण करते हैं। वे परमगति को प्राप्त होते हैं।। ९३।।

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदान्तं विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः।। ९४।।

उक्तं दशलक्षणकं धर्मं संयतमनाः सन्ननुतिष्ठन् उपनिषदाद्यर्थं गृहस्थावस्थायां यथोक्ताध्ययनधर्मानुगुरुमुखादवगम्य परिशोधितदेवाद्यृणत्रयः संन्यासमनुतिष्ठेत्।। ९४।।

दस लक्षणयुक्त धर्म का पालन करता हुआ, एकाग्रचित हुआ, वेदान्त को विधिपूर्वक (गुरुमुख से) सुनकर (तीनों) ऋणों से मुक्त हुआ द्विज संन्यास ग्रहण करे।। ९४।।

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्।। ९५।।
(संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत्।
वेदसंन्यासतः शूद्रस्तस्माद्वेदं न संन्यसेत्।। ६।।)

सर्वाणि गृहस्थानुष्ठेयाग्निहोत्रादिकर्माणि परित्यज्य अज्ञातजन्तुवधादिकर्मजनित-पापानि च प्राणायामादिना नाशयन्नियतेन्द्रिय उपनिषदो ग्रन्थतोऽर्थतश्चाभ्यस्य पुत्रैश्वर्य इति पुत्रगृहे पुत्रोपकल्पितभोजनाच्छादनत्वेन वृत्तिचिन्तारहितः सुखं वसेत्। अयमेवा-साधारणो धर्मः कुटीचरस्योक्तः। इदमेव वक्तुं "वेदंसन्यासिनां तु" (अ० ६ श्लो० ८६) इति पूर्वमुक्तम्।। ९५।।

सभीप्रकार के कर्मों का परित्याग करके, कर्मदोषों को विनष्ट करता हुआ, जितेन्द्रिय होकर, वेदों का अभ्यास करके पुत्र के ऐश्वर्य में सुखपूर्वक निवास करे।। ९५।।

(अग्निहोत्रादि सभी कर्मों का परित्याग करे। एक वेद का त्याग न करे, क्योंकि वेद के त्याग से द्विज शूद्र हो जाता है। इसलिए व्यक्ति को वेद का परित्याग नहीं करना चाहिए।। ६।।)

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः।
संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम्।। ९६।।

एवमुक्तप्रकारेण वर्तमानोऽग्निहोत्रादिगृहस्थकर्माणि परित्यज्यात्मसाक्षात्कार-स्वरूपस्वकार्यप्रधानः स्वर्गादावपि बन्धहेतुतया निःस्पृहः प्रव्रज्यया पापानि विनाश्य ब्रह्मसाक्षात्कारेण परमां गतिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति।। ९६।।

इसप्रकार अग्निहोत्रादि गृहस्थ कर्मों का परित्याग करके, आत्मसाक्षात्काररूप अपने कार्य को प्रधानता प्रदान करते हुए, बन्धनादि के कारण स्वर्गादि के प्रति निःस्पृहभाव धारण करता हुआ, संन्यास से पापों को विनष्ट करके व्यक्ति परमगति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।। ९६।।

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत।। ९७।।

ऋषीन्संबोध्योच्यते। एष युष्माकं ब्राह्मणस्य संबन्धी क्रियाकलापो धर्मस्तस्यैव ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थादिभेदेन चतुर्विधः परत्राक्षयफल उक्तः। इदानीं राजसंबन्धिनं धर्मं शृणुत। अत्र च श्लोके ब्राह्मणस्य चातुराश्रम्योपदेशाद्ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति पूर्वमभिधानाद्ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्याधिकारः।। ९७।। क्षे० श्लो० ६।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां षष्ठोऽध्यायः।। ६।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ षष्ठोऽध्यायः।। ६।।

पुण्यवान् एवं परलोक में अक्षयफल प्रदान करने वाला, यह ब्राह्मण का चार प्रकार का धर्म मैंने आप लोगों से कहा। अब आप राजाओं के धर्म को समझो।। ९७।।

।। इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र में महर्षिभृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत षष्ठ अध्याय पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार डॉ. राकेश शास्त्री द्वारा सम्पादित मनुस्मृति षष्ठ अध्याय का हिन्दीअनुवाद पूर्ण हुआ।।

अथ सप्तमोऽध्यायः।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा।। १।।

धर्मशब्दोऽत्र दृष्टादृष्टार्थानुष्ठेयपरः, षाड्गुण्योदेरपि वक्ष्यमाणत्वात्। राजशब्दोऽपि नात्र क्षत्रियजातिवचनः किंत्वभिषिक्तजनपदपुरपालयितृपुरुषवचनः। अतएवाह "यथावृत्तो भवेन्नृपः" इति। यथावदाचारो नृपतिर्भवेत्तथा तस्यानुष्ठेयानि कथयिष्यामि। यथा येन प्रकारेण वा "राजानमसृजत्प्रभुः" (अ० ७ श्लो० ३) इत्यादिना तस्योत्पत्तिः यथा च दृष्टादृष्टफलसंपत्तिः तदपि वक्ष्यामि।। १।।

अब मैं राजधर्मों को कहूँगा जैसे-राजा किसप्रकार के आचरण वाला होवे? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई? तथा उसको परमसिद्धि कैसे प्राप्त होवे?।। १।।

ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्।। २।।

ब्रह्म वेदस्तत्प्राप्त्यर्थतयोपनयसंस्कारस्तं यथाशास्त्रं प्राप्नुवता क्षत्रियेणास्य सर्वस्य स्वविषयावस्थितस्य शास्त्रानुसारेण नियमतो रक्षणं कर्तव्यम्। एतेन क्षत्रिय एव नान्यो राज्याधिकारीति दर्शितम्। अतएव शास्त्रार्थतत्त्वं क्षत्रियस्य जीवनार्थं, तथा क्षत्रियस्य तु रक्षणं स्वकर्मसु श्रेष्ठं च वक्ष्यति, ब्राह्मणस्य ह्यापदि "जीवेत्क्षत्रियधर्मेण" इत्यभिधास्यति। वैश्यस्यापि क्षत्रियधर्मं, शूद्रस्य च क्षत्रियवैश्यकर्मणी जीवनार्थमापदि जगाद नारदः-: "न कथंचन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम्। वृषलः कर्म च ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः।। उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते। मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते।। रक्षणं वेदधर्मार्थं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्" इति। "सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः" (अ० ८ श्लो० ३०४) इति च वक्ष्यमाणत्वाद्रक्षितुर्बलिषड्भागग्रहणाद्दृष्टार्थमपि "योऽरक्षन्बलिमादत्ते" (अ० ८ श्लो० ३०७) इति नरकपातं वक्ष्यति।। २।।

शास्त्रोक्त विधि से ब्रह्मसंस्कार को प्राप्त क्षत्रिय को, इस सम्पूर्ण संसार की न्यायपूर्वक भलीप्रकार रक्षा करनी चाहिए।। २।।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।। ३।।

यस्मादराजके जगति बलवद्भयात्सर्वतः प्रचलिते सर्वस्यास्य चराचरस्य रक्षायै राजानं सृष्ट्वांस्तस्मात्तेन रक्षणं कार्यम्।। ३।।

वस्तुतः राजारहित इस संसार में डर के कारण प्राणियों के सब ओर भागने पर ईश्वर ने इस सम्पूर्ण संसार की रक्षा के लिए राजा का सृजन किया।। ३।।

कथं सृष्ट्वानित्याह—

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।। ४।।

इन्द्रवातयमसूर्याग्निवरुणचन्द्रकुबेराणां मात्रा अंशान्सारभूतानाकृष्य राजानमसृजत्।। ४।।

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर के सारभूत अंशों को लेकर ही ईश्वर ने राजा की सृष्टि की।। ४।।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा।। ५।।

यस्मादिन्द्रादीनां देवश्रेष्ठानामंशेभ्यो नृपतिः सृष्टस्तस्मादेव सर्वप्राणिनो वीर्येणातिशेते।। ५।।

क्योंकि यह राजा शक्तिसम्पन्न इन देवों के अंशों द्वारा बनाया गया है। इसलिए यह अपने तेज द्वारा सभी प्रणियों को तिरस्कृत करता है।। ५।।

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्।। ६।।

अयं च राजा स्वतेजसा सूर्य इव पश्यतां चक्षूंषि मनांसि च संतापयति, न चैनं राजानं पृथिव्यां कश्चिदप्याभिमुख्येन द्रष्टुं क्षमते।। ६।।

इसलिए यह राजा सूर्य के समान आँखों और मनों को संतापित करता है। इसलिए पृथ्वी पर कोई भी इसे सामने खड़े होकर देखने में समर्थ नहीं है।। ६।।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः।। ७।।

एवं चाग्न्यादीनां पूर्वोक्तांशभवत्वात्तत्कर्मकारित्वाच्च प्रताप उक्तस्तेजस्वीत्यादिना नवमाध्याये वक्ष्यमाणत्वात् स राजा शक्त्यतिशयेनाग्न्यादिरूपो भवति।। ७।।

अपने प्रभाव से वह अग्नि और वायु है, वह सूर्य और चन्द्रमा है। वह धर्मराज है। वह कुबेर है और वही इन्द्र भी होता है।। ७।।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।। ८।।

ततश्च मनुष्य इति बुद्ध्या बालोऽपि राजा नावमन्तव्यः। यस्मान्महतीयं काचि-द्देवता मानुषरूपेणावतिष्ठते। एतेन देवतावज्ञायामधर्मादयोऽदृष्टदोषा उक्ताः।। ८।।

'यह मनुष्य है' इसप्रकार सोचकर बालक होते हुए भी राजा अपमान के योग्य नहीं है, क्योंकि यह मनुष्यरूप में महान् देवता ही स्थित है।। ८।।

संप्रति दृष्टदोषमाह—

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम्।। ९।।

योऽग्नेरतिसमीपमनवहितः सन्नुपसर्पति तं दुरुपसर्पिणमेकमेवाग्निर्दहति न तत्पुत्रा दिकम्। क्रुद्धो राजाग्निः पुत्रदारभ्रात्रादिरूपं कुलमेव गवाश्वादिपशुसुवर्णादिधनसंचयस हितं सापराधं निहन्ति।। ९।।

असावधानीपूर्वक पास जाने पर अग्नि तो एक व्यक्ति को ही जलाती है, जबकि राजारूपी अग्नि तो पशु एवं धनसमेत सम्पूर्ण कुल को ही जला डालती है।। ९।।

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः।। १०।।

स राजा प्रयोजनापेक्षया स्वशक्तिं देशकालौ चावेक्ष्य कार्यसिद्ध्यर्थं तत्त्वतो विश्वरूपं बहूनि रूपाणि करोति। जातिविवक्षया बहुष्वेकवचनम्। अशक्तिदशायां क्षमते शक्तिं प्राप्योन्मूलयति, एवमेकस्मिन्नपि देशे काले च प्रयोजनानुरोधेन शत्रुर्वा मित्रं वा उदासीनो वा भवति अतो राजवल्लभोऽहमिति बुद्ध्या नावज्ञेयः।। १०।।

धर्म की सिद्धि के लिए वह वस्तुतः प्रयोजन, क्षमता, समय और परिस्थिति को भलीप्रकार विचारकर बार-बार अनेक रूपों को धारण करता है।। १०।।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः।। ११।।

पद्माशब्दः श्रीपर्यायोऽपि महत्त्वविवक्षयात्र प्रयुक्तः। यस्य प्रसादान्महती

श्रीर्भवत्यत: श्रीकामेन सेव्य:। यस्य शत्रव: सन्ति तानपि संतोषितो हन्ति। तेन च शत्रुवधकामेनाप्याराधनीय:। यस्मै क्रुध्यति तस्य मृत्युं करोति, तस्माज्जीवनार्थिना न क्रोधनीय:। यस्मात्सर्वेषां सूर्याग्निसोमादीनां तेजो बिभर्ति।। ११।।

जिसकी अनुकम्पा में कमल पर निवास करने वाली लक्ष्मी, पराक्रम में विजय तथा क्रोध में मृत्यु निवास करती है। वह वस्तुत: सभीप्रकार के तेजों से युक्त है।। ११।।

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मन:।। १२।।

तं राजानमज्ञतया यो द्वेष्टि तस्याप्रीतिमुत्पादयति स निश्चितं राजक्रोधान्नश्यति। यस्मात्तस्य विनाशाय शीघ्रं राजा मनो नियुङ्क्ते।। १२।।

जो व्यक्ति अज्ञानता के कारण उस राजा से द्वेष करता है, वह नि:संदेह विनष्ट हो जाता है, क्योंकि उसके शीघ्र विनाश के लिए राजा अपने मन को दृढ़ कर लेता है।। १२।।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिप:।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्।। १३।।

यत: सर्वतेजोमयो नृपतिस्तस्मादपेक्षितेषु यमिष्टं शास्त्रानुष्ठेयं शास्त्राविरुद्धं निश्चित्य व्यवस्थापयत्यनपेक्षितेषु चानिष्टं नियमं नातिक्रामेत्।। १३।।

इसलिए वह राजा जिस व्यक्ति को शास्त्रों के अनुकूल धर्म के कल्याण के लिए, शास्त्र के प्रतिकूल अनभिलषित कार्यों में भी लगाता है। उसे निम्न मानकर उल्लंघन नहीं करना चाहिए।। १३।।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वर:।। १४।।

तस्य राज्ञ: प्रयोजनसिद्धये सर्वप्राणिनां रक्षितारं धर्मस्वरूपं पुत्रं ब्रह्मणो यत्केवलं तेजस्तेन निर्मित न पाञ्चभौतिकं देहं ब्रह्मा पूर्वं सृष्टवान्।। १४।।

ईश्वर ने सभी प्राणियों की रक्षा के लिए सर्वप्रथम उस राजा के लिए धर्म एवं पुत्रस्वरूप, ब्रह्मतेज से युक्त दण्ड की सृष्टि की।। १४।।

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।। १५।।

तस्य दण्डस्य भयेन चराचराः सर्वे प्राणिनो भोगं कर्तुं समर्था भवन्ति, अन्यथा बलवता दुर्बलस्य धनदारादिग्रहणे तस्यापि तदपेक्ष्य बलिनेति कस्यापि भोगो न सिद्ध्येत्, वृक्षादीनां स्थावरादीनां छेदने भोगासिद्धिः, तथा सतामपि नित्यनैमित्तिकस्वधर्मानुष्ठानमकरणे याम्ययातनाभयादेव।। १५।।

उस दण्ड के भय से ही सभी प्राणी अपने-अपने भोगों को भोगने में समर्थ होते हैं तथा अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं।। १५।।

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु।। १६।।

तं दण्डं देशकालौ दण्ड्यस्य च शक्तिं विद्यादिकं यस्मिन्नपराधे यो दण्डोऽर्हतीत्यादिकं शास्त्रानुसारेण तत्त्वतो निरूप्यापराधिषु प्रवर्तयेत्।। १६।।

(राजा को) देश, काल, सामर्थ्य और विद्या इनके विषय में भलीप्रकार विचार करके, अन्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले लोगों में, जो जिस दण्ड के योग्य हो, तदनुसार दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।। १६।।

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।। १७।।

स एव दण्डो वस्तुतो राजा तस्मिन् सति राजशक्तियोगात्। स एव पुरुषस्ततोऽन्ये स्त्रिय इव तद्विधेयत्वात्, स एव नेता तेन कार्याणि नीयन्ते प्राप्यन्ते, स एव शासिता शासनमाज्ञा तद्दातृत्वात्, स एव चतुर्णामप्याश्रमाणां यो धर्मस्तस्य संपादने प्रतिभूरिव प्रतिभूर्मुनिभिः स्मृतः।। १७।।

वही दण्ड वस्तुतः राजा है, पुरुष है, वह नेता है, वही शासन करने वाला है तथा इसीको चारों आश्रमों के धर्म का उत्तरदायी माना गया है।। १७।।

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।। १८।।

यस्माद्दण्डः सर्वाः प्रजा आज्ञां करोति तस्मात्साधूक्तं शासितेति ज्ञेयम्। यस्मात्स एव प्रजा रक्षति ततो युक्तमुक्तं राजेति। निद्राणेष्वपि रक्षितृषु दण्ड एव जागर्ति तद्भयेनैव चौरादीनामप्रवृत्तेः। दण्डमेव धर्महेतुत्वाद्धर्मं जानन्ति। कारणे कार्योपचारः ऐहिकपारत्रिकदण्डभयादेव धर्मानुष्ठानात्।। १८।।

दण्ड सम्पूर्ण प्रजाओं को शासित करता है। दण्ड सभी की सब ओर से रक्षा करता है। सबके सोने पर दण्ड जागता है। विद्वानों ने दण्ड को ही धर्म माना है।। १८।।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।। १९।।

स दण्डः शास्त्रतः सम्यङ्निरूप्यापराधानुरूपेण देहधनादिषु धृतः सर्वाः प्रजाः सानुरागाः करोति। अविचार्य तु लोभादिना प्रयुक्तः सर्वाणि बाह्यार्थपुत्रादीनि नाशयति। सर्वत इति द्वितीयार्थे तसिः।। १९।।

भलीप्रकार विचार करके धारण किया गया वह दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न करता है, किन्तु बिना विचारे प्रयोग किया गया यही, सब ओर विनाश कर देता है।। १९।।

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः।। २०।।

यदि राजानलसो भूत्वा दण्डप्रणयनं न कुर्यात्तदा शूले कृत्वा मत्स्यानिव बलवन्तो दुर्बलानपक्ष्यन्। लृङन्तस्य पचिधातो रूपमिदम्। बलिनोऽल्पबलानां हिंसामकरिष्यन्नित्यर्थः। ''शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्'' इत्येष मेधातिथिगोविन्दराजलिखितः पाठः। ''जले मत्स्यानिवाहिंस्यु'' इति च पाठान्तरम्। अत्र बलवन्तो दुर्बलान्हिंस्युरिति मत्स्यन्याय एव स्यादित्युक्तम्।। २०।।

आलस्यहीन राजा यदि दण्ड के योग्य लोगों में दण्ड का प्रयोग न करे तो बलवान्, दुर्बलों को मछलियों के समान, लोहे की छड़ों पर लपेटकर पका डालें।। २०।।

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्।। २१।।

यदि राजा दण्डं नाचरिष्यत्तदा यज्ञेषु सर्वथा हविरनर्हः काकः पुरोडाशमखादिष्यत्। तथा कुक्कुरः पायसादि हविरलेक्ष्यत्। न कस्यचित्कुत्रचित्स्वाम्यमभविष्यत्। ततो बलिना तद्ग्रहणाद्ब्राह्मणादिवर्णानां च मध्ये यदवरं शूद्रादि तदेवोत्तरं प्रधानं प्रावर्तिष्यत।। २१।।

इसके अतिरिक्त दण्ड के अभाव में कौआ पुरोडाश अन्न को खा जाएगा तथा कुत्ता हवि को चट कर जाएगा। किसी पर भी किसी का शासन नहीं हो सकेगा तथा निकृष्टलोग उन्नति को प्राप्त कर लेंगे।। २१।।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते।। २२।।

सर्वोऽयं लोको दण्डेनैव नियमितः सन्मार्गेऽवतिष्ठते। स्वभावविशुद्धो हि मानुषः कष्टेन लभ्यते। तथा सर्वमिदं जगद्दण्डस्यैव भयादावश्यकभोजनादिरूपेऽपि भोगे समर्थं भवति।। २२।।

सम्पूर्ण संसार दण्ड द्वारा ही नियन्त्रित है। पवित्र आचरण वाला व्यक्ति वस्तुतः दुर्लभ ही है। इसलिए दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार भोगों को भोगने के लिए समर्थ होता है।। २२।।

उक्तमपि दण्डस्य भोगसंपादकत्वं दाढर्यार्थं पुनरुच्यते-

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः।। २३।।

इन्द्राग्निसूर्यवाय्वादयो देवास्तथा दानवगन्धर्वराक्षसपक्षिसर्पा अपि, जगदीश्वर-परमार्थभयपीडिता एव वर्षदानाद्युपकाराय प्रवर्तन्ते। तथाच श्रुतिः—"भयादस्या-ग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" इति।। २३।।

देवता, दैत्य, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी तथा सर्प आदि वे सभी दण्ड द्वारा प्रताडित होकर ही अपने-अपने भोगों में समर्थ होते हैं।। । २३।।

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्।। २४।।

दण्डस्यानाचरणादनुचितेन वा प्रवर्तनात्सर्वे ब्राह्मणादिवर्णा इतरेतरस्त्रीगमनेन संकीर्येरन्,सर्वशास्त्रीयनियमाश्चतुर्वर्गफला उत्सीदेयुः, चौर्यसाहसादिना च परस्या-पकारात्सर्वलोकसंक्षोभश्च जायेत।। २४।।

दण्ड के अनुचित प्रयोग से सभी वर्ण दूषित हो जाएँ। सभी सीमाएँ छिन्न-भिन्न हो जाएँ तथा सम्पूर्ण संसार क्षुब्ध हो जाए।। २४।।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति।। २५।।

यत्र देशे शास्त्रप्रमाणावगतः श्यामवर्णः लोहितनयनोऽधिष्ठातृदेवताको दण्डो विचरति तत्र प्रजा व्याकुला न भवन्ति। दण्डप्रणेता यदि विषयानुरूपं सम्यग्जा-नाति।। २५।।

जहाँ काला, लाल नेत्रों वाला, पाप का नाश करने वाला, दण्ड प्रचलित होता है एवं यदि नेता सही दृष्टि रखता हो, तो वहाँ प्रजाएँ दुःखी नहीं होती हैं।। २५।।

तस्याहु: संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्।। २६।।

तस्य दण्डस्य प्रवर्तयितारमभिषेकादिगुणयुक्तं नृपतिमवितथवादिनं समीक्ष्यकारिणं तत्त्वातत्त्वविचारोचितं प्रज्ञाशालिनं धर्मार्थकामानां ज्ञातारं मन्वादयोऽप्याहु:।। २६।।

उस दण्ड का प्रयोग करने वाले राजा को, सत्य बोलने वाला, भलीप्रकार सोच समझकर कार्य करने वाला, विवेकसम्पन्न एवं धर्म, अर्थ और काम को भलीप्रकार जानने वाला कहा गया है।। २६।।

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते।
कामात्मा विषम: क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते।। २७।।

तं दण्डं राजा सम्यक्प्रवर्तयन्धर्मार्थकामैर्वृद्धिं गच्छति। य: पुनर्विषयाभिलाषी विषम: कोपन: क्षुद्रश्छलान्वेषी नृप: स प्रकृतेनैव दण्डेनामात्यादिना कोपादधर्माद्वा विनाश्यते।। २७।।

उस दण्ड का भलीप्रकार प्रयोग करता हुआ राजा (धर्म, अर्थ, काम इस) त्रिवर्ग द्वारा पूर्णरूप से समृद्धि को प्राप्त करता है। जबकि काम में आसक्त भेदभाव रखने वाला, निकृष्ट राजा दण्ड द्वारा ही विनष्ट हो जाता है।। २७।।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभि:।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्।। २८।।

यतो दण्ड: प्रकृष्टतेजोस्वरूप: स्वशास्त्रैरसंस्कृतात्मभि: दु:खेन ध्रियतेऽतो राजधर्मरहितं नृपमेव पुत्रबन्धुसहितं नाशयति।। २८।।

इसके अलावा अत्यन्त प्रचण्डतेज से युक्त तथा दण्डशास्त्र में गति न रखने वालों द्वारा कठिनतापूर्वक धारण करने योग्य यह दण्ड, धर्म से विचलित हुए राजा को निश्चय ही बन्धुबान्धवों सहित नष्ट कर देता है।। २८।।

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।
अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन् देवांश्च पीडयेत्।। २९।।

दोषाद्यनपेक्षया यो दण्ड: क्रियते स बन्धुनृपनाशानन्तरं धन्व्यादिदुर्गराष्ट्रं देशं पृथिवीलोकं जङ्गमस्थावरसहितं "हवि:प्रदानजीवनादेवा:" इति श्रुत्या हवि:प्रदाना-भावेऽन्तरिक्षगतानृषीन्देवांश्च पीडयेदिति।। २९।।

उसके बाद वह दुर्ग, राष्ट्र, स्थावर, जङ्गम प्राणियों सहित संसार को तथा स्वर्ग में गए हुए मुनियों को और देवताओं को भी पीड़ित करता है।। २९।।

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च।। ३०।।

स दण्डो मन्त्रिसेनापतिपुरोहितादिसहायरहितेन मूर्खेण लोभवता शास्त्रासंस्कृत-बुद्धिपरेण नृपतिना शास्त्रतो न प्रणेतुं शक्यते।। ३०।।

वह दण्ड श्रेष्ठ सहायकों से रहित, मूर्ख, लोभी, शास्त्रों द्वारा परिष्कृत बुद्धि से रहित तथा सांसारिकविषयों में आसक्त राजा द्वारां न्यायपूर्वक प्रयोग नहीं किया जा सकता है।। ३०।।

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता।। ३१।।

अर्थादिशौचयुक्तेन सत्यप्रतिज्ञेन यथाशास्त्रव्यवहारिणा शोभनसहायेन तत्त्वज्ञेन कर्तुं शक्य इति पूर्वोक्तदोषप्रतिपक्षे गुणा अनेन श्लोकेनोक्ताः।। ३१।।

पवित्र विचारों वाले, सत्यप्रतिज्ञा वाले, शास्त्रों के अनुकूल आचरण करने वाले, श्रेष्ठ सहायकों से युक्त एवं बुद्धिमान् राजा द्वारा ही दण्ड का भलीप्रकार प्रयोग किया जा सकता है।। ३१।।

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः।। ३२।।

आत्मदेशे यथाशास्त्रव्यवहारी स्यात्। शत्रुविषयेषु तीक्ष्णदण्डो भवेत्। निसर्गस्नेहविषयेषु मित्रेष्वकुटिलः स्यान्न कार्यमित्रेषु। ब्राह्मणेषु च कृताल्पापराधेषु च क्षमावान्भवेत्।। ३२।।

राजा को अपने राष्ट्र में न्याय के अनुसार आचरण करने वाला, शत्रुओं में अत्यधिक दण्ड का प्रयोग करने वाला, स्नेही मित्रों में सरल व्यवहार करने वाला और ब्राह्मणों में क्षमायुक्त होना चाहिए।। ३२।।

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।
विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि।। ३३।।

शिलोञ्छेनेति क्षीणकोशत्वं विवक्षितम्। क्षीणकोशस्यापि नृपतेरुक्ताचारवतो जले तैलबिन्दुरिव कीर्तिलोके विस्तारमेति।। ३३।।

इसप्रकार शिलोञ्छवृत्ति से भी जीवित रहते हुए राजा का यश, जल में तेल की बूँद के समान इस संसार में विस्तार को प्राप्त होता है।। ३३।।

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि।। ३४।।

उक्ताचाराद्विपरीताचारवतो नृपतेरजितेन्द्रियस्य जले घृतबिन्दुरिव कीर्तिः लोके संकोचयति।। ३४।।

इसके विपरीत इन्द्रियों के वश में रहने वाले राजा का यश तो इस संसार में जल में डाली गई घी की बूँद के समान, एक जगह इकट्ठा होकर ही रह जाता है।। ३४।।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।। ३५।।

क्रमेण स्वधर्मानुष्ठातृणां ब्राह्मणादिवर्णानां ब्रह्मचार्याद्याश्रमाणां च विश्वसृजा राजा रक्षिता सृष्टः। तस्मात्तेषां रक्षणमकुर्वतो राज्ञः प्रत्यवायः स्वधर्मविरहिणां त्वरक्षणेऽपि न प्रत्यवाय इत्यस्य तात्पर्यार्थः।। ३५।।

परमात्मा द्वारा इसप्रकार क्रमशः अपने-अपने धर्म में लगे हुए वर्णों एवं आश्रमों की रक्षा करते हुए राजा की सृष्टि की गई।। ३५।।

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।
तत्तद्वोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः।। ३६।।

वक्ष्यमाणावतारार्थोऽयं श्लोकः। तेन राज्ञा प्रजारक्षणं कुर्वता सामात्येन यद्यत्कर्तव्यं तत्तत्समग्रं युष्माकमभिधास्यामि।। ३६।।

सेवकों सहित प्रजा की रक्षा करते हुए उस राजा द्वारा जो-जो भी कर्तव्य किए जाने चाहिएँ। अब मैं उन्हें क्रमशः ठीकप्रकार आप लोगों से कहूँगा।। ३६।।

ब्राह्मणान्पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठेत्तेषां च शासने।। ३७।।

प्रत्यहं प्रातरुत्थाय ब्राह्मणानृग्यजुःसामासाख्यविद्यात्रयग्रन्थार्थाभिज्ञान्विदुष इति नीतिशास्त्राभिज्ञान्सेवेत तदाज्ञां कुर्यात्।। ३७।।

राजा प्रातः उठकर तीनों वेदों के ज्ञाता, आयु में बढ़े हुए विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करे तथा उनके अनुशासन में रहे।। ३७।।

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्धसेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते।। ३८।।

तांश्च ब्राह्मणान्वयस्तपस्यादिवृद्धानर्थतो ग्रन्थतश्च वेदज्ञान्बहिरन्तश्चार्थदानादिना शुचिन्नित्यं सेवेत। यस्माद्वृद्धसेवी सततं हिंस्रैराक्षसैरपि पूज्यते तैरपि तस्य हितं क्रियते। सुतरां मनुष्यैः।। ३८।।

राजा वेदज्ञाता, पवित्र एवं वृद्ध ब्राह्मणों की हमेशा सेवा करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाला राक्षसों द्वारा भी निरन्तर पूजा किया जाता है।। ३८।।

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्।। ३९।।

सहजप्रज्ञया अर्थशास्त्रादिज्ञानेन च विनीतोऽप्यतिशयार्थं तेभ्यो विनयमभ्यसेत्। यस्माद्विनीतात्मा राजा न कदाचिन्नश्यति।। ३९।।

विनयशील होते हुए भी राजा को उन वृद्धों से हमेशा विनय का उपदेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि विनीत स्वभाव वाला राजा कभी विनष्ट नहीं होता है।। ३९।।

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे।। ४०।।

करितुरगकोशादिपरिच्छदयुक्ता अपि राजानो विनयरहिता नष्टाः। बहवश्च वनस्था निष्परिच्छदा अपि विनयेन राज्यं प्राप्नुवन्।। ४०।।

अविनय के कारण बहुत से राजा लोग साधनसम्पन्न होते हुए भी नष्ट हो गए तथा विनय के कारण वन में स्थित भी उन्होंने राज्यों को प्राप्त कर लिया।। ४०।।

उभयत्रैव श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह—

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च।। ४१।।

वेनो नहुषश्च राजा पिजवनस्य च पुत्रः सुदानामा सुमुखो निमिश्चाविन यादनश्यन्।। ४१।।

अविनय के कारण वेन, नहुष तथा पिजवन के पुत्र सुदास, सुमुख एवं राजा निमि भी नष्ट हो गए।। ४१।।

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः।। ४२।।

पृथुर्मनुश्च विनयाद्राज्यं प्रापतुः। कुबेरश्च विनयाद्धनाधिपत्यं लेभे। गाधिपुत्रो विश्वामित्रश्च क्षत्रियः संस्तेनैव देहेन ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्। राज्यलाभावसरे ब्राह्मण्य-

प्राप्तिरप्रस्तुतापि विनयोत्कर्षार्थमुक्ता। ईदृशोऽयं शास्त्रानुष्ठाननिषिद्धवर्जनरूपो। विनयो यदनेन क्षत्रियोऽपि दुर्लभं ब्राह्मण्यं लेभे।। ४२।।

विनय के कारण पृथु और मनु ने राज्य, कुबेर ने धन एवं ऐश्वर्य, जबकि विश्वामित्र ने तो ब्राह्मणत्व ही प्राप्त कर लिया।। ४२।।

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः।। ४३।।

त्रिवेदीरूपविद्याविद्भ्यस्त्रिवेदीमर्थतो ग्रन्थतश्चाभ्यसेत्। ब्रह्मचर्यदशायामेव वेद-ग्रहणात्समावृत्तयस्य च राज्याधिकारात्। अभ्यासार्थोऽयमुपदेशः। दण्डनीतिं चार्थशास्त्र-रूपामर्थयोगक्षेमोपदेशिनीं पारम्पर्यागतत्वेन नित्यां तद्विद्भ्योऽधिगच्छेत्। तथा आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यां भूतप्रवृत्तिप्रयुक्त्युपयोगिनीं ब्रह्मविद्यां चाभ्युदयव्यसनयोर्हर्षविषादप्रशमनहेतुं शिक्षेत। कृषिवाणिज्यपशुपालनादिवार्ता तदारम्भान्धनोपायार्थांस्तदभिज्ञकर्षकादिभ्यः शिक्षेत।। ४३।।

वेदत्रयी के जानने वालों से त्रयीविद्या को तथा हमेशा प्रयोग की जाने वाली दण्डनीति को, तर्कशास्त्र को एवं आत्मविद्या को, जबकि लोक से कृषि व्यापार आदि से सम्बन्धित बातों को ग्रहण करना चाहिए।। ४३।।

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।। ४४।।

चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां विषयासक्तिवारणे सर्वकालं यत्नं कुर्यात्। यस्माज्जितेन्द्रियः प्रजा नियन्तुं शक्नोति नतु विषयोपभोगव्यग्रः। ब्रह्मचारिधर्मेषु सर्वपुरुषोपादेयतयाभि-हितोऽपीन्द्रियजयो राजधर्मेषु मुख्यत्वज्ञानार्थमनन्तरवक्ष्यमाणव्यसननिवृत्तिहेतुत्वाच्च पुनरुक्तः।। ४४।।

उसे इन्द्रियों को जीतने का दिन-रात प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रखने में समर्थ होता है।। ४४।।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्।। ४५।।

दश कामसंभवानि अष्टौ क्रोधजानि वक्ष्यमाणव्यसनानि यत्नतस्त्यजेत्। दुरन्तानि दुःखावसानान्यादौ सुखयन्ति अन्ते दुःखानि कुर्वन्ति। यद्वा दुर्लभोऽन्तो येषां तानि दुरन्तानि। नहि व्यसनिनस्ततो निवर्तयितुं शक्यन्ते।। ४५।।

इसके अतिरिक्त राजा को काम से उत्पन्न होने वाले दस तथा क्रोध से

उत्पन्न होने वाले आठ, बुरे अन्त वाले व्यसनों का विशेषरूप से परित्याग कर देना चाहिए।। ४५।।

वर्जनप्रयोजनमाह—

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु।। ४६।।

यस्मात्कामजनितेषु व्यसनेषु प्रसक्तो राजा धर्मार्थाभ्यां हीयते। क्रोधजेषु प्रसक्तः प्रकृतिकोपाद्देहनाशं प्राप्नोति।। ४६।।

वस्तुतः काम से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा धर्म एवं अर्थ से वियुक्त होता है, जबकि क्रोध से उत्पन्न होने वाले व्यसनों में आसक्त हुआ तो अपने से ही अलग हो जाता है।। ४६।।

तानि व्यसनानि नामतो दर्शयति—

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः।। ४७।।

आखेटकाख्यो मृगवधो मृगया, अक्षो द्यूतक्रीडा, सकलकार्यविघातिनी दिवानिद्रा, परदोषकथनं, स्त्रीसंभोगः, मद्यपानजनितो मदः, तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवादित्राणि, वृथाभ्रमणं एष दशपरिमाणो दशकः सुखेच्छाप्रभवो गणः।। ४७।।

शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में स्वप्न देखना, दूसरों की निन्दा करना, स्त्री-सम्पर्क, नशा करना, नृत्य-गीत-वाद्य के प्रति आसक्ति तथा व्यर्थ में इधर उधर घूमना, यह काम से उत्पन्न दस का समूह होता है।। ४७।।

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः।। ४८।।

पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादिनिग्रहः, द्रोहश्छद्मवधः, ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता, परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देयानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि, एषोऽष्टपरिमाणो व्यसनगणः क्रोधाद्भवति।। ४८।।

चुगलखोरी, दुःसाहस करना, द्रोह करना, ईर्ष्या करना, गुणों में दोषदृष्टि रखना, दूसरे का धन हड़पने की आकांक्षा रखना, कर्कश वाणी का उच्चारण तथा कठोरतापूर्वक आचरण करना, यह क्रोध से उत्पन्न आठ का समूह (माना गया है)।। ४८।।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ।। ४९।।

एततयोर्द्वयोरपि कामक्रोधजव्यसनसङ्घयोः कारणं स्मृतिकारा जानन्ति तं यत्नतो लोभं त्यजेत्। यस्मादेतद्गणद्वयं लोभाज्जायते। क्वचिद्धनलोभतः क्वचित्प्रकारान्तरलोभेन प्रवृत्तेः।। ४९।।

सभी विद्वान् जिसे इन दोनों का भी मूलकारण मानते हैं, उस लोभ को अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक जीतना चाहिए, क्योंकि ये दोनों समूह उसी से उत्पन्न होते हैं।। ४९।।

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे।। ५०।।

मद्यपानं, अक्षैः क्रीडा, स्त्रीसंभोगो, मृगया चेति क्रमपठितमेतच्चतुष्कं कामजव्यसनमध्ये बहुदोषत्वादतिशयेन दुःखहेतुं जानीयात्।। ५०।।

काम से उत्पन्न होने वाले समूह के अन्तर्गत शराब पीना, जुआ खेलना, स्त्रियों से सम्पर्क तथा शिकार करना, इस चार के समूह को ही क्रमशः अधिक कष्टदायक समझना चाहिए।। ५०।।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा।। ५१।।

दण्डपातनं, वाक्पारुष्यं, अर्थदूषणं चेति क्रोधजेऽपि व्यसनगणे दोषबहुलत्वादतिशयितदुःखसाधनं मन्येत।। ५१।।

क्रोध से उत्पन्न होने वाले गण में भी दण्ड का क्रूरतापूर्वक प्रयोग, कठोर वचनों का प्रयोग तथा धन के सम्बन्ध में कष्टपूर्ण आचरण इस तीन के समूह को ही क्रमशः सदैव अधिक कष्टकारक समझना चाहिए।। ५१।।

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान्।। ५२।।

अस्य पानादेः कामक्रोधसंभवस्य सप्तपरिमाणस्य व्यसनवर्गस्य सर्वस्मिन्नेव राजमण्डले प्रायेणावस्थितस्य पूर्वपूर्वव्यसनमुत्तरोत्तरात्कष्टतरं प्रशस्तात्मा राजा जानीयात्। तथाहि द्यूतात्मानं कष्टतरं, मद्यपानेन मत्तस्य संज्ञाप्रणाशाद्यथेष्टचेष्टया देहधनादिविरोध इत्यादयो दोषाः। द्यूते तु पाक्षिकीधनावाप्तिरप्यस्ति। स्त्रीव्यसनाद्द्यूतं दुष्टम्। द्यूते हि वैरोद्भवादयो नितिशास्त्रोक्ता दोषाः। मूत्रपुरीषवेगधारणाच्च व्याध्युत्पत्तिः। स्त्रीव्यसने

पुनरपत्योत्पत्त्यादिगुणयोगोऽप्यस्ति। मृगयास्त्रीव्यसनयोः स्त्रीव्यसनं दुष्टम्। तत्रादर्शन-कार्याणां कालातिपातेन धर्मलोपादयो दोषाः, मृगयायां तु व्यायामेनारोग्यादि-गुणयोगोऽप्यस्तीत्येवं कामजचतुष्कस्य पूर्वं पूर्वं गुरुदोषं, क्रोधजेष्वपि त्रिषु वाक्पारुष्याद्दण्डपारुष्यं दुष्टम्। अङ्गच्छेदादेरशक्यसमाधानत्वात्। वाक्पारुष्ये तु कोपानलो दानमानपानीयसेकैः शक्यः शमयितुम्। अर्थदूषणाद्वाक्पारुष्यं दोषवन्मर्मपीडाकरं, वाक्प्रहारस्य दुश्चिकित्स्यत्वात्। तदुक्तं न संरोहयति वाक्कृतं। अर्थदूषणं तु प्रचुरतरार्थदानाच्छक्यसमाधानं, एवं क्रोधजत्रिकस्यापि पूर्वंपूर्वं दुष्टतरं यत्नतस्त्य-जेत्।।५२।।

जितेन्द्रिय राजा सभी राजाओं में रहने वाले इस सात के समूह के पूर्व-पूर्व व्यसन को अपेक्षाकृत अधिक दुष्प्रभाव वाला समझे।। ५२।।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः।। ५३।।

यद्यपि मृत्युव्यसने द्वे अपीह लोके संज्ञाप्रणाशादिदुःखहेतुतया शास्त्रानुष्ठान-विरोधितया च तुल्ये, तथापि व्यसनं कष्टतरं परत्रापि नरकपातहेतुत्वात्। तदाह व्यसन्यधोऽधो व्रजतीति। बहून्नरकान्गच्छतीत्यर्थः। अव्यसनी तु मृतः शास्त्रानुष्ठानप्रति-पक्षव्यसनाभावात्स्वर्गं गच्छति। एतेनापतिप्रसक्तिर्व्यसनेषु निषिध्यते नतु तस्य सेवनमपि।। ५३।।

व्यसन और मृत्यु दोनों में व्यसन को अधिक कष्टदायक कहा जाता है, क्योंकि व्यसनी जीवित रहते हुए भी निम्न-निम्न स्थान को जाता है, जबकि अव्यसनी मरा हुआ भी स्वर्ग में प्रस्थान करता है।। ५३।।

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।। ५४।।

मौलान्पितृपितामहक्रमेण सेवकान्, तेषामपि द्रोहादिना व्यभिचारात् दृष्टादृष्टार्थ-शास्त्रज्ञान्विक्रान्तान्, लब्धलक्षान्लक्षादप्रच्युतशरीरशल्यादीनायुधविद इत्यर्थः। विशुद्ध-कुलभवान्देवतास्पर्शादिनियतानमात्यान्सप्ताष्टौ वा मन्त्रादौ कुर्वीत।। ५४।।

वंश परम्परा से चले आने वाले, शास्त्रों के ज्ञाता, शूरवीर, लक्ष्य को प्राप्त करने वाले, उच्चकुल में उत्पन्न तथा सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्रियों को ही राजा नियुक्त करे।। ५४।।

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम्।। ५५।।

सुखेनापि यत्क्रियते कर्म तदप्येकेन दुष्करं भवति। विशेषतो यन्महाफलं तत्कथमसहायेन क्रियते।। ५५।।

वस्तुत: जो आसान काम है वह भी अकेले व्यक्ति द्वारा किया जाना कठिन होता है। इसलिए सहायकों के अभाव में विशेषरूप में महान् उन्नति सम्पन्न राज्य को भला किसप्रकार चलाया जा सकता है?।। ५५।।

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च।। ५६।।

सचिवैः सह सामान्यं मन्त्रेष्वगोपनीयं संधिविग्रहादि। तन्निरूपयेत्। तथा तिष्ठत्यनेनेति स्थानं दण्डकोशपुरराष्ट्रात्मकं चतुर्विधं चिन्तयेत्। दण्ड्यतेऽनेनेति दण्डो हस्त्यश्वरथपदातयस्तेषां पोषणं रक्षणादि तच्चिन्त्यम्। कोशोऽर्थनिचयस्तस्यायव्ययादि, पुरस्य रक्षणादि, राष्ट्रं देशस्तद्वासिमनुष्यपश्वादिधारणक्षमत्वादि चिन्तयेत्। तथा समुदयन्त्युत्पद्यन्तेऽस्मादर्था इति समुदयो धान्यहिरण्याद्युत्पत्तिस्थानं तन्निरूपयेत्। तथा गुप्तिं रक्षामात्मगतां राष्ट्रगतां च, स्वपरीक्षितमन्नाद्यमद्यात् "परीक्षिताः स्त्रियश्चैवं" (अ० ७ श्लो०२१९) इत्यादिनात्मरक्षणं "राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यम्" (अ० ७ श्लो० ११३) इत्यादिना राष्ट्ररक्षां च वक्ष्यति। लब्धस्य च धनस्य प्रशमनानि सत्पात्रे प्रतिपादनादीनि चिन्तयेत्। तथाच वक्ष्यति "जित्वा संपूजयेद्देवान्" (अ० ७ श्लो० २०१) इत्यादि।। ५६।।

उन सचिवों के साथ सामान्य तथा सन्धि-विग्रह, स्थान, उन्नति, रक्षा और प्राप्त किए हुए धन के सदुपयोग करने सम्बन्धी उपायों को हमेशा विचारना चाहिए।। ५६।।

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः।। ५७।।

तेषां सचिवानां रहसि निष्प्रतिपक्षतया हृदयगतभावज्ञानसंभवात्प्रत्येकमभिप्रायं समस्तानामपि युगपदभिप्रायं बुध्वा कार्ये यदात्मनो हितं तत्कुर्यात्।। ५७।।

सभी कार्यों में उनके अपने-अपने विचारों को अलग-अलग तथा सभी के विचारों को एक साथ जानकर, राजा अपने हित को सम्पादित करे।। ५७।।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।
मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्।। ५८।।

एषामेव सर्वेषां सचिवानां मध्यादन्यतमेन धार्मिकत्वादिना विशिष्टेन ब्राह्मणेन सह संधिविग्रहादिवक्ष्यमाणगुणषट्कोपेतं प्रकृष्टं मन्त्रं निरूपयेत्।। ५८।।

सभी सचिवों में विशिष्ट विद्वान् ब्राह्मण के साथ राजा को षड्गुणयुक्त अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्रणा करनी चाहिए।। ५८।।

नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत्।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत्।। ५९।।

सर्वदा तस्मिन्ब्राह्मणे संजातविश्वासो भूत्वा यानि कुर्यात्तानि सर्वकार्याणि समर्पयेत्। तेन सह निश्चित्य सर्वं कर्मारभेत्।। ५९।।

हमेशा प्रमुख उस ब्राह्मण मन्त्री के ऊपर पूर्णतया विश्वास किया हुआ राजा, सभी कार्यों को उसी को सौंप देवे। तत्पश्चात् उसके साथ ठीक से निर्णय करके ही कार्य आरम्भ करे।। ५९।।

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ।। ६०।।

अन्यानप्यर्थदानादिना शुचीन्, प्रज्ञाशालिनः, सम्यग्धनार्जनशीलान्धर्मादिना परीक्षितान्कर्मसचिवान्कुर्यात्।। ६०।।

पवित्र, बुद्धिमान्, स्थिरचित्त, न्यायपूर्वक अर्थोपार्जन करने वाले, भलीप्रकार परीक्षा किए गए, अन्य मन्त्रियों को भी राजा को नियुक्त करना चाहिए।। ६०।।

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः।
तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान्।। ६१।

अस्य राज्ञो यत्संख्याकैर्मनुष्यैः कर्मजातं संपद्यते तत्संख्याकान्मनुष्यानालस्यशून्यान्, क्रियासु सोत्साहान्, तत्कर्मज्ञांस्तत्र कुर्यात्।। ६१।।

इस राज्य का कार्य जितने लोगों द्वारा सम्पन्न किया जा सके, उतने आलस्यविहीन, निपुण एवं विद्वान् लोगों को नियुक्त करना चाहिए।। ६१।।

तेषामार्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान्।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने।। ६२।।

तेषां सचिवानां मध्ये विक्रान्तांश्चतुरान् कुलांकुशनियमितान्, शुचीनर्थनिःस्पृहान् धनोत्पत्तिस्थाने नियुञ्जीत। अस्यैवोदाहरण आकरकर्मान्त इति। आकरेषु सुवर्णाद्युत्पत्ति-स्थानेषु, कर्मान्तेषु च इक्षुधान्यादिसंग्रहस्थानेषु, अन्तर्निवेशने भोजनशयनगृहान्तःपुरादौ भीरून्नियुञ्जीत। शूरा हि तत्र राजानं प्रायेणैकाकिनं स्त्रीवृतं वा कदाचिच्छत्रूपजापदूषिता हन्युरपि।। ६२।।

उनमें से पराक्रमी, कुशल, कुलीन एवं पवित्र मन वाले लोगों को

धन-धान्य (टैक्सादि) संग्रहविषयक कार्यों में तथा डरपोक लोगों को अन्त:पुर के कार्यो में लगाना चाहिए।। ६२।।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्।। ६३।।

दूतं च दृष्टादृष्टार्थशास्त्रज्ञं, इङ्गितज्ञमभिप्रायसूचकं वचनस्वरादि, आकारो देहधर्मादिमुखप्रसादवैवर्ण्यादिरूप: प्रीत्यप्रीतिसूचक: चेष्टा करास्फालनादिक्रिया कोपादिसूचिका तदीयतत्त्वज्ञं, अर्थदानस्त्रीव्यसनाद्यभावात्मकं शौचयुक्तं चतुरं कुलीनं कुर्यात्।। ६३।।

सभी शास्त्रों में कुशल, सङ्केत, आकृति और चेष्टाओं को जानने वाले, पवित्र हृदययुक्त, निपुण एवं उच्चकुल में उत्पन्न दूत को ही नियुक्त करना चाहिए।। ६३।।

अनुरक्त: शुचिर्दक्ष: स्मृतिमान्देशकालवित्।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञ: प्रशस्यते।। ६४।।
(सन्धिविग्रहकालज्ञान्समर्थानायतिक्षमान्।
परैरहार्याञ्छुद्धांश्च धर्मत: कामतोऽर्थत:।। १।।
समाहर्तुं प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चित:।
कुलीनान्वृत्तिसंपन्नान्निपुणान्कोशवृद्धये ।। २।।
आयव्ययस्य कुशलान्गणितज्ञानलोलुपान्।
नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यक्कार्यार्थचिन्तकान्।। ३।।
कर्मणि चातिकुशलान्लिपिज्ञानायतिक्षमान्।
सर्वविश्वासिन: सत्यान्सर्वकार्येषु निश्चितान्।। ४।।
अकृताशांस्तथाभर्तु: कालज्ञांश्च प्रसङ्गिन:।
कार्यकामोपधा शुद्धा बाह्याभ्यन्तरचारिण:।। ५।।
कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च।)

जनेषु अनुरागवान् तेन प्रतिराजादेरपि अद्वेषविषय:, अर्थस्त्रीशौचयुक्तस्तेन धनस्त्रीदानादिनाऽभेद्य:, दक्षश्चतुरस्तेन कार्यकालं नातिक्रामति। स्मृतिमान् तेन संदेशं न विस्मरति, देशकालज्ञ: तेन देशकालौ ज्ञात्वा अन्यदपि संदिष्टं देशकालोचितमन्यथा कथयति, सुरूप: तेनादेयवचन:, विगतभय: तेनाप्रियसंदेशस्यापि वक्ता, वाग्मी तेन संस्कृताद्युक्तिक्षम:, एवंविधो दूतो राज्ञ: प्रशस्यो भवति।। ६४।।

स्वामीभक्त, पवित्र विचारों वाला, कुशल, श्रेष्ठ स्मरणशक्ति से युक्त, देश एवं काल को समझने वाला, सुन्दर शरीरयुक्त, निडर, वाणी में चतुर, राजदूत प्रशंसनीय होता है।। ६४।।

(राजा को सन्धि, विग्रह, समय को समझने वाले, समर्थ, भावी परिणाम को जानने में समर्थ, धर्म, अर्थ, कामादि से शत्रुओं द्वारा अपने पक्ष में न किए जा सकने वाले तथा पवित्र विचारों वाले दूतों को नियुक्त करना चाहिए।। १।।

अपने पक्ष की समृद्धि के लिए राजा को सभी शास्त्रों में निपुण तथा अपने कोश की वृद्धि के लिए, कुलीन, पर्याप्त वेतन वाले, निपुण दूतों को नियुक्त करना चाहिए।। २।।

आय-व्यय को करने में कुशल, गणितज्ञ, लोभरहित, धार्मिकवृत्ति वाले एवं भलीप्रकार कार्यार्थ चिन्तन करने वाले दूतों को नियुक्त करे।। ३।।

कार्यों को सम्पादित करने में समर्थ, सभी के विश्वस्त एवं सत्यवादी, सभी कार्यों में निश्चित किए गए दूतों को राजा नियुक्त करे।। ४।।

पुरस्कार आदि की आशा न करने वाले, समय को समझने वाले, प्रसङ्ग के अनुसार स्वविवेक से कार्य करने वाले, काम तथा धरोहर के विषय में विश्वास करने योग्य तथा बाहर-भीतर आने जाने वाले दूतों को राजा अपने निकटस्थ कार्यों में और अन्तःपुर में नियुक्त करे।। ५।।)

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययौ।। ६५।।

अमात्ये सेनापतौ हस्त्यश्वरथपादाताद्यात्मको दण्ड आयत्तः। तदिच्छया तस्य कार्येषु प्रवृत्तेः। विनययोगाद्वैनयिकी यो विनयः स दण्ड आयत्तः। नृपतावर्थसंचयस्थान-देशावायत्तौ राज्ञा पराधीनौ न कर्तव्यौ। स्वयमेव चिन्तनीयं धनं ग्रामश्च। दूते संधिविग्रहावायत्तौ, तदिच्छया तत्प्रवृत्तेः।। ६५।।

अमात्य के अधीन दण्ड, दण्ड के अधीन विनयविषयक क्रियाएँ, राजा के अधीन कोश एवं राष्ट्र तथा दूत के अधीन सन्धि एवं युद्धविषयक क्रियाएँ होती हैं।। ६५।।

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः।। ६६।।

यस्मादूत एव हि भिन्नानां संधिसंपादने क्षमः। संहतानां च भेदने। तथा परदेशे दूतस्तत्कर्म करोति येन संहता भिद्यन्ते। तस्माद्दूते संधिविग्रहौ विपर्ययावायत्ताविति तदुक्तं तस्यैवायं प्रपञ्चः।। ६६।।

वस्तुतः दूत ही सन्धि कराता है तथा वही मिले हुए दो राजाओं में फूट डालता है। जिससे लोग अलग-अलग हो जाते हैं, वह कार्य भी दूत ही करता है।। ६६।।

दूतस्य कार्यान्तरमाह—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम्।। ६७।।

स दूतोऽस्य प्रतिराजस्य कर्तव्ये आकारेङ्गितचेष्टां जानीयात्। निगूढा अनुचराः प्रतिपक्षनृपस्यैव परिजनास्तस्मिन्युक्तास्तत्सन्निधावपि तेषामिङ्गितचेष्टितैः भृत्येषु च क्षुब्धलुब्धापमानितेषु प्रतिराजस्य कर्तुमीप्सितं जानीयात्।। ६७।।

इस राजा के कार्य में वह दूत अपने हावभाव एवं चेष्टाओं को छिपाकर तथा शत्रु राजा के सेवकवर्ग के आकार, हाव-भाव और चेष्टाओं को तथा उनके द्वारा किये जाने की इच्छायोग्य कार्यों को समझे।। ६७।।

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम्।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत्।। ६८।।

उक्तलक्षणदूतद्वारेण प्रतिपक्षराजस्य कर्तुमिष्टं सर्वं तत्त्वतो ज्ञात्वा तथा प्रयत्नं कुर्यात्। यथात्मनः पीडा न भवति।। ६८।।

शत्रु राजा द्वारा अभीप्सित सम्पूर्ण कार्यों को भलीप्रकार जानकर वैसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे स्वयं को कष्ट न होवे।। ६८।।

जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।
रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत्।। ६९।।

"अल्पोदकतृणो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः। स ज्ञेयो जाङ्गलो देशो बहुधान्यादि-संयुतः"। प्रचुरधार्मिकजनं रोगोपसर्गाद्यैरनाकुलं फलपुष्पतरुलतादिमनोहरं प्रणतसमीप-वास्तव्याटविकादिजनं सुलभकृषिवाणिज्याद्याजीवनमाश्रित्यावासं कुर्यात्।। ६९।।

राजा को हरे-भरे वृक्षों से युक्त, धान्यसम्पन्न, अधिकांश शिष्ट लोगों से युक्त, विकाररहित, सुन्दर विनम्र सामन्तों से युक्त, तथा अपनी-अपनी जीविका में लगे हुए लोगों से युक्त, प्रदेश में निवास करना चाहिए।। ६९।।

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्।। ७०।।

धनुर्दुर्गं मरुवेष्टितं चतुर्दिशं पञ्चयोजनमनुदकं, महीदुर्गं पाषाणेन इष्टकेन वा विस्ताराद्वैगुण्योच्छ्रायेन द्वादशहस्तादुच्छ्रितेन युद्धार्थमुपरिभ्रमणयोग्येन सावरण-गवाक्षादियुक्तेन प्राकारेण वेष्टितं, जलदुर्गमगाधोदकेन सर्वतः परिवृतं, वार्क्षदुर्गं बहिः सर्वतो योजनमात्रं व्याप्य तिष्ठन्महावृक्षकण्टकिगुल्मलताद्याचितं, नृदुर्गं चतुर्दिगवस्थायि हस्त्यश्वरथयुक्तबहुपादातरक्षितं, गिरिदुर्गं पर्वतपृष्ठमतिदुरारोहं संकोचैक-मार्गोपेतं अन्तर्नदीप्रस्रवणाद्युदकयुक्तं बहुसस्योत्पन्नक्षेत्रवृक्षान्वितं, एतेषु दुर्गेषु मध्यादन्यतमं दुर्गमाश्रित्य पुरं विरचयेत्।। ७०।।

राजा को धनुदुर्ग, जलदुर्ग, मनुष्यदुर्ग अथवा गिरिदुर्ग का आश्रय लेकर नगर में निवास करना चाहिए।। ७०।।

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते।। ७१।।

यस्मादेषां दुर्गाणां मध्यात् दुर्गगुणबहुत्वेन गिरिदुर्गमतिरिच्यते तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तदाश्रयेत्। गिरिदुर्गे शत्रुदुरारोहत्वं महत्प्रदेशादल्पप्रयत्नप्रेरितशिलादिना बहुविपक्षसैन्य-व्यापादनमित्यादयो बहवो गुणाः।। ७१।।

क्योंकि इन सभी में अपनी अत्यधिक विशेषताओं के कारण गिरिदुर्ग विशिष्ट होता है। इसलिए राजा को सबप्रकार के प्रयत्नों द्वारा गिरिदुर्ग का ही आश्रय लेना चाहिए।। ७१।।

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगर्ताश्रयाऽप्सराः।
त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवङ्गमनरामराः।। ७२।।

एषां दुर्गाणां मध्यात्प्रथमोक्तानि त्रीणि दुर्गाणि मृगादय आश्रिताः। तत्र धनुर्दुर्गं मृगैराश्रितं, महीदुर्गं गर्ताश्रितैर्मूषिकादिभिः, अब्दुर्गं जलचरैर्नक्रादिभिः, इतराणि त्रीणि वृक्षदुर्गादीनि वानरादय आश्रितास्तत्र वृक्षदूर्गं वानरैराश्रितं, नृदुर्गं मानुषैः, गिरिदुर्गं दैवैः।। ७२।।

पशु, बिल में रहने वाले, जल में सरकने वाले, तो इनमें से पहले तीन दुर्गों में तथा अन्तिम तीन दुर्गों में वानर, मनुष्य और देवता क्रमशः निवास करें।। ७२।।

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्।। ७३।।

यथैतान्दुर्गवासिनो मृगादीन्व्याधादय: शत्रवो न हिंसन्ति एवं दुर्गाश्रितं राजानं न शत्रव:।। ७३।।

जिसप्रकार धन्वादि दुर्गों में निवास करने वाले इन प्राणियों को उनके शत्रु नहीं मार सकते हैं। उसीप्रकार गिरि आदि दुर्ग का आश्रय लेकर रहने वाले राजा को शत्रु नहीं मार पाते हैं।। ७३।।

एक: शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धर:।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते।। ७४।।
(मन्दरस्यापि शिखरं निर्मानुष्यं न शिष्यते।
मनुष्यदुर्गं दुर्गाणां मनु: स्वायंभुवोऽब्रवीत्।। ६।।)

यस्मादेको धानुष्क: प्राकारस्थ: शत्रूणां शतं योधयति। प्राकारस्थं धानुष्कशतं च शत्रूणां दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं कर्तुमुपदिश्यते।। ७४।।

दुर्ग में स्थित एक धनुर्धारी सौ लोगों से युद्ध कर सकता है तथा सौ धनुर्धारी दस हजार योद्धाओं से एक साथ युद्ध कर सकते हैं। इसलिए दुर्ग का विधान किया गया है।। ७४।।

(मनुष्य से रहित मन्दिर का शिखर भी अपराजित शेष नहीं बचता है। इसलिए स्वयंभू के पुत्र मनु ने मनुष्यदुर्ग को सभी दुर्गों में श्रेष्ठ कहा है।। ६।।)

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनै:।
ब्राह्मणै: शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च।। ७५।।

तद्दुर्गं खड्गाद्यायुधसुवर्णादिधनधान्यकरितुरगादिवाहनब्राह्मणभक्ष्यादिशिल्पियन्त्र-घासोदकसमृद्धं कुर्यात्।। ७५।।

वह मनुष्यदुर्ग धन-धान्य, वाहन, शस्त्र, ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र, (पशुओं के खाने योग्य) घास एवं मनुष्यों के लिए पर्याप्त अन्न से परिपूरित होना चाहिए।। ७५।।

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मन:।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम्।। ७६।।

तस्य दुर्गस्य मध्ये पर्याप्तं पृथक्पृथक् स्त्रीगृहदेवागारायुधागाराग्निशालादियुक्तं परिखाप्राकाराद्यैर्गुप्तं सर्वर्तुकफलपुष्पादियोगेन सर्वर्तुकं सुधाधवलितं वाप्यादिजलयुक्तं वृक्षान्वितमात्मनो गृहं कारयेत्।। ७६।।

उस दुर्ग के बीच में सभी ऋतुओं के अनुकूल, शुभ्र, जल एवं वृक्षादि से

युक्त अपनी आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त तथा गोपनीय अपने घर का निर्माण करावे।। ७६।।

तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।
कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्।। ७७।।

तद्गृहमाश्रित्य समानवर्णां शुभसूचकलक्षणोपेतां महाकुलप्रसूतां मनोहारिणीं सरूपां गुणवतीं भार्यामुद्वहेत्।। ७७।।

उस दुर्ग में निवास करके अपने वर्ण की शुभलक्षणों से युक्त, उच्चकुल में उत्पन्न, मनोहारिणी, सौन्दर्य आदि गुणों से युक्त स्त्री से विवाह करे।। ७७।।

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च।। ७८।।

पुरोहितं चाप्याथर्वणविधिना कुर्वीत। ऋत्विजश्च कर्माणि कर्तुं वृणुयात्। ते चास्य राज्ञो गृह्योक्तानि त्रेतासंपाद्यानि कर्माणि कुर्युः।। ७८।।

इसके अतिरिक्त वहाँ राजपुरोहित को नियुक्त करे तथा ऋत्विजों का वरण करे। वे सब इस राजा के गृहकर्म तथा वैतानिककर्मों को सम्पादित करें।। ७८।।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च।। ७९।।

राजा नानाप्रकारान्बहुदक्षिणानश्वमेधादियज्ञान्कुर्यात्। ब्राह्मणेभ्यश्च स्त्रीगृहशय्या-दीन्भोगान्सुवर्णवस्त्रादीनि धनानि दद्यात्।। ७९।।

राजा स्वयं भी प्रभूतदक्षिणा वाले विविध यज्ञों को सम्पन्न करे तथा धर्म की सिद्धि के लिए ब्राह्मणों को भी भोग्य वस्तुएँ एवं धन प्रदान करे।। ७९।।

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत पितृवन्नृषु।। ८०।।

राजा सत्कैरमात्यैर्वर्षग्राह्यं धान्यादिभागमानाययेत्, लोके च करादिग्रहणे शास्त्रनिष्ठः स्यात्, स्वदेशवासिषु नरेषु पितृवत्स्नेहादिना वर्तेत।। ८०।।

राजा को विश्वासपात्र सेवकों द्वारा राष्ट्र से वार्षिककर (Tax) वसूल करना चाहिए। लोक में शास्त्रों के अनुसार आचरण करना चाहिए तथा प्रजा के प्रति पिता के समान व्यवहार करना चाहिए।। ८०।।

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम्।। ८१।।

तत्र तत्र हस्त्यश्वरथपदाताद्यर्थादिस्थानेष्वध्यक्षानवेक्षितृन्विविधान्पृथक् पृथक् विपश्चितः कर्मकुशलान्कुर्यात्। तेऽस्य राज्ञस्तेषु हस्त्यश्वादिस्थानेषु मनुष्याणां कुर्वतां सर्वाणि कार्याणि सम्यक्कार्यार्थमवेक्षेरन्।। ८१।।

सेना, कोषसंग्रहादि उन-उन विविध कार्यों में विद्वान् अध्यक्षों को नियुक्त करना चाहिए। वे सभी इसके कार्यो का सम्पादन करते हुए सेवकों के (लोगों के) सभी कार्यों का निरीक्षण करें।। । ८१।।

आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते।। ८२।।

गुरुकुलान्निवृत्तानामधीतवेदानां ब्राह्मणानां गार्हस्थ्यार्थिना नियमतो धनधान्येन पूजां कुर्यात्। यस्माद्योऽयं ब्राह्मो ब्राह्मणेषु स्थापितधनधान्यादिनिधिरिव निधिरक्षयो। ब्रह्मफलत्वादविनाशी राज्ञां शास्त्रेणोपदिश्यते।। ८२।।

राजा को गुरुकुल से वेदाध्ययन पूर्ण करके लौटे हुए ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वेदज्ञ, विद्वान् ब्राह्मण राजाओं की कभी समाप्त न होने वाली निधि कहा जाता है।। ८२।।

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेष्वक्षयो निधिः।। ८३।।

तं ब्राह्मणस्थापितनिधिं न चौरा नापि शत्रवो हरन्ति, अन्यनिधिवद्भूम्यादिस्थापितः कालवशान्न नश्यति। स्थानभ्रान्त्या वाऽदर्शनमुपैति। तस्माद्योयमक्षयोऽनन्तफलो निधिरिव निधिर्धनौघः स राज्ञा ब्राह्मणेषु निधातव्यः। तेभ्यो देय इत्यर्थः।। ८३।।

न तो इसे चोर चुरा सकते हैं और न शत्रु इसका हरण कर सकते हैं तथा न ही यह नष्ट होता है। इसलिए राजा को ब्राह्मणों में कभी समाप्त न होने वाले (दानरूप) कोष को स्थापित करना चाहिए।। ८३।।

न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्राह्मणस्य मुखे हुतम्।। ८४।।

अग्नौ यद्धविर्हूयते तत्कदाचित्स्कन्दते स्रवत्यधः पतति, कदाचिद्व्यथते शुष्यति कदाचिद्दाहादिना नश्यति, ब्राह्मणस्य मुखे यद्धुतं "पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः" इति ब्राह्मणहस्तदत्तमित्यर्थः। तस्य नोक्ता दोषाः। तस्मादग्निहोत्रादिभ्यः श्रेष्ठं ब्राह्मणाय दानमित्यर्थः।। ८४।।

वस्तुतः ब्राह्मण के मुख में किया गया हवन, अन्य अग्निहोत्रों से श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह न गिरता है, न सूखता है और न ही कभी नष्ट होता है।। ८४।।

समममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे।
प्राधीते शतसाहस्त्रमनन्तं वेदपारगे।। ८५।।

ब्राह्मणेतरक्षत्रादिविषये यद्दानं तत्समफलं यस्य देयद्रव्यस्य यत्फलं श्रुतं ततो नाधिकं नच न्यूनं भवति। यो ब्राह्मणः क्रियारहित आत्मानं ब्राह्मणं ब्रवीति स ब्राह्मणब्रुवः। तद्विषयदानं पूर्वापेक्षया द्विगुणफलम्। एवं प्राधीते प्रक्रान्ताध्ययने ब्राह्मणे लक्षगुणं फलम्। समस्तशाखाध्यायिन्यनन्तफलम्। "सहस्त्रगुणमाचार्ये" इति तृतीयपादस्य पाठः।। ८५।।

जबकि अब्राह्मण को दिया गया दान सामान्य होता है। वही दान स्वयं को ब्राह्मण कहने वाले में दुगने फल वाला, प्रकृष्टरूप से अध्ययन करने वाले में लाख गुने फल वाला तथा वेदों में पारङ्गत ब्राह्मण में अनन्त फल वाला होता है।। ८५।।

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्दधानतयैव च।
अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते।। ८६।।
(एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः।
जित्वा धनानि संग्रामाद्द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत्।। ७।।
देशकालविधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत्तु तद्धर्मस्य प्रसाधनम्।। ८।।)

विद्यातपोवृत्तियुक्ततया पात्रस्य तारतम्यपेक्ष्य शास्त्रे तथेति प्रत्ययरूपाया श्रद्धायास्तारतम्यपात्रमासाद्य दानस्याल्पं महद्वाफलं परलोके लभ्यते।। ८६।।

वास्तव में पात्र की विशेषता एवं श्रद्धा को धारण करने से ही दान का थोड़ा या अधिक फल व्यक्ति परलोक में प्राप्त करता है।। ८६।।

(राजा का वास्तव में यही सबसे बड़ा धर्म बताया गया है कि युद्ध में धनों को जीतकर वह ब्राह्मणों को दान कर देवे।। ७।।

देश एवं काल के अनुसार श्रद्धा से युक्त होकर जो धन सत्पात्र में दान दिया जाता है। वही वस्तुतः धर्म का सर्वोत्कृष्ट आभूषण है।। ८।।)

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः।
न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्।। ८७।।

समबलेनाधिकबलेन हीनबलेन च राज्ञा युद्धार्थमाहूतो राजा प्रजारक्षणं कुर्वन्युद्धान्न निवर्तेत। क्षत्रियेण युद्धार्थमाहूतेनावश्यं योद्धव्यमिति क्षात्रं धर्मं स्मरन्।। ८७।।

प्रजाओं का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक अथवा कम बल वाले शत्रुओं द्वारा ललकारने पर, क्षत्रियधर्म का स्मरण करते हुए, कभी भी युद्ध से विमुख न होवे।। ८७।।

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्।। ८८।।

युद्धेष्वपराङ्मुखत्वं प्रजानां च रक्षणं ब्राह्मणपरिचर्या एतद्राज्ञामतिशयितं स्वर्गादिश्रेयःस्थानम्।। ८८।।

युद्ध में पीठ दिखाकर न भागना, प्रजाओं का पालन करना एवं ब्राह्मणों की सेवा करना ही राजाओं के लिए अत्यधिक कल्याणकारी है।। ८८।।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः।। ८९।।

राजानो मिथः स्पर्धमाना युद्धेष्वन्योन्यं हन्तुमिच्छन्तः प्रकृष्टया शक्त्या संमुखीभूय युध्यमानाः स्वर्गं गच्छन्ति। यद्यपि युद्धस्य शत्रुजयधनलाभादिरूपं दृष्टमेव फलं न स्वर्गस्तथापि युद्धाश्रितापराङ्मुखत्वनियमस्य स्वर्गः फलमिति न दोषः।।८९।।

युद्धों में आपस में एक दूसरे को मारने की इच्छा करते हुए राजा लोग, युद्ध से पराङ्मुख न होने वाले, अपनी पूर्णशक्ति से युद्ध करते हुए स्वर्ग को जाते हैं।। ८९।।

न कूटैरायुधैर्हन्याद्युध्यमानो रणे रिपून्।
न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः।। ९०।।

कूटान्यायुधानि बहिःकाष्ठादिमयान्यन्तर्गुप्तनिशितशस्त्राण्येतैः समरे युध्यमानः शत्रून्न हन्यात्। नापि कर्ण्याकारफलकैर्बाणैः। नापि विषाक्तैः। नाप्यग्निदीप्त-फलकैः।।९०।।

युद्ध करता हुआ योद्धा, युद्धस्थल में शत्रुओं को कपटपूर्ण शस्त्रों द्वारा न मारे, न कान के आकार वाले शास्त्रों से, न विष आदि से बुझाए गए बाणों से और न ही आग्नेयास्त्रों द्वारा ही शत्रुओं को मारे।। ९०।।

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवस्मीति वादिनम्।। ९१।।

स्वयं रथस्थो रथं त्यक्त्वा स्थलारूढं न हन्यात्। तथा नपुंसकं, बद्धाञ्जलिं मुक्तकेशं, उपविष्टं, त्वदीयोऽहमित्येवंवादिनं न हन्यात्।। ९१।।

न भूमि पर स्थित योद्धा को, न नपुंसक को, न हाथ जोड़े हुए को, न खुले बालों वाले को, न बैठे हुए को और न ही 'मैं तुम्हारा हूँ' इसप्रकार कहने वाले व्यक्ति को मारे।। ९१।।

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्।। ९२।।

सुप्तं, मुक्तसन्नाहं विवस्त्रं, अनायुधं, अयुध्यमानं, प्रेक्षकं, अन्येन सह युध्यमानं च न हन्यात्।। ९२।।

इसके अतिरिक्त न सोते हुए को, न कवचरहित को, न नंगे शरीर वाले को, न शस्त्ररहित को, न युद्ध करने वालों को देखते हुए को और न ही दूसरे के साथ युद्ध करते हुए शत्रु को मारे।। ९२।।

नायुधव्यसनप्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्।। ९३।।

भग्नखड्गाद्यायुधं, पुत्रशोकादिनार्तं, बहुप्रहाराकुलं, भीतं, युद्धपराङ्मुखं, शिष्टक्षत्रियाणां धर्मं स्मरन्न हन्यात्।। ९३।।

सज्जनों के धर्म को स्मरण करता हुआ योद्धा, न टूटे हुए हथियार वाले को, न दुःखी को, न अत्यधिक घायल को, न भयभीत को और न ही युद्ध से भागे हुए को मारे।। ९३।।

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।
भर्तुर्यद्दुष्कृतं किंचित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते।। ९४।।

यस्तु योधो भीतः पराङ्मुखः सन्युद्धे शत्रुभिर्हन्यते स पोषणकर्तुः प्रभोर्यद्दुष्कृतं तत्सर्वं प्राप्नोति। शास्त्रप्रमाणके व सुकृतदुष्कृते यथाशास्त्रं संक्रमयोग्ये एव सिद्ध्यतः अतएवोपजीव्यशास्त्रेण बाधनान्न प्रतिपक्षानुमानोदयोऽपि। एतच्च षष्ठे "प्रियषु स्वेषु सुकृतम्" (अ० ६ श्लो० ७९) इत्यत्राविष्कृतमस्माभिः। "पराङ्मुखहतस्य स्यात्पापमेतद्विवक्षितम्। न त्वत्र प्रभुपापं स्यादिति गोविन्दराजकः"।। मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपयन्। मन्ये नैतद्द्वयं युक्तं व्यक्तमन्वर्थवर्जनात्"। "अन्यदीयपुण्यपापेऽन्यत्र संक्रमेते" इति शास्त्रप्रामाण्याद्वेदान्तसूत्रकृता बादरायणेन निर्णीतोऽयमर्थ इति यथोक्तमेव रमणीयम्।। ९४।।

डरा हुआ, पीठ दिखाने वाला जो योद्धा शत्रुओं द्वारा युद्ध में मारा जाता है, वह जो भी स्वामी के दुष्कर्म हैं, उन सभी को प्राप्त कर लेता है।। ९४।।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।
भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु।। ९५।।

पराङ्मुखहतस्य यकिंचित्सुकृतं परलोकार्थमर्जितमनेनास्ति तत्सर्वं प्रभुर्लभते।। ९५।।

जबकि युद्ध में पीठ दिखाने वाले तथा मरे हुए इसके जो कुछ भी परलोक के लिए अर्जित किए हुए पुण्यकर्म हैं।। उन सबको इसका स्वामी प्राप्त कर लेता है।। ९५।।

राज्ञः स्वामिनः सर्वधनग्रहणे प्राप्ते तदपवादार्थमाह—

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्।। ९६।।

रथाश्वहस्तिछत्रवस्त्रादि, धनधान्यगवादि, दास्यादि, स्त्रियः, सर्वाणि द्रव्याणि गुडलवणादीनि, कुप्यं च सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि धनं, यः पृथग्जित्वा सततं गृहमानयति तस्यैव तद्भवति। सुवर्णरजतभूमिरत्नाद्यनपकृष्टधनं तु राज्ञ एव समर्पणीयं एतदर्थमेवात्र परिगणनीयम्।। ९६।।

रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, पशु, स्त्रियाँ, सभीप्रकार के धन तथा तांबा आदि युद्ध में व्यक्ति जो भी जीतता है, वह उसीका होता है।। ९६।।

अत एवाह—

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम्।। ९७।।
(भृत्येभ्यो विजयेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत्।
नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः।। १।।)

उद्धारं योद्धारो राज्ञे दद्युः। उद्ध्रियत इत्युद्धारः। जितधनादुत्कृष्टधनं सुवर्णरजतकुप्यादि राज्ञे समर्पणीयम्। करितुरगादि वाहनमपि राज्ञे देयम्। ''वाहनं च राज्ञ उद्धारं च'' इति गोतमवचनात् उद्धारदाने च श्रुतिः ''इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा'' इत्युपक्रम्य ''स महान्भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं समुद्धरत'' इति। राज्ञा चापृथग्जितं सह जितं सर्वयोधेभ्यो यथापौरुषं संविभजनीयम्।। ९७।।

इसके अतिरिक्त 'राजा को जीता हुआ उत्कृष्टधन दिया जाए' यह वेदविषयक

श्रुति है तथा एक साथ मिलकर जीते हुए धन, राजा को सभी योद्धाओं को दे देने चाहिए।। ९७।।

(राजा सभीप्रकार के धनों को अपने सेवकों के लिए विजित करे। अकेला सब कुछ हरण करने वाला न हो। राजा को नाममात्र के अंश (छत्रेण) द्वारा ही संतोष प्राप्त करना चाहिए।। ९।।)

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।
अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियो घ्नन्रणे रिपून्।। ९८।।

अविगर्हित एषोऽनादिसर्गप्रवाहसंभवतया नित्यो योधधर्म उक्तः। युद्धे शत्रून्हिंसन्क्षत्रिय एतं धर्मं न त्यजेत्। युद्धाधिकारित्वात्क्षत्रियग्रहणम्। अन्योऽपि तत्स्थानपतितो न त्यजेत्।। ९८।।

योद्धओं के बारे में यही प्रशंसनीय सनातनधर्म कहा गया है। युद्धस्थल में शत्रुओं का संहार करता हुआ क्षत्रिय, इस धर्म से कभी भी विचलित न होवे।। ९८।।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्।। ९९।।

अजितं भूमिहिरण्यादि जेतुमिच्छेत्। जितं प्रयत्नतो रक्षेत्। रक्षितं च वाणिज्यादिना वर्धयेत्। वृद्धं च पात्रेभ्यो दद्यात्।। ९९।।

राजा को, अप्राप्त को भी प्राप्त करने का आकांक्षा करनी चाहिए तथा प्राप्त की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। रक्षा की हुई वस्तुओं में वृद्धि भी करनी चाहिए और वृद्धि को प्राप्त को योग्यपात्रों को प्रदान करना चाहिए।। ९९।।

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः।। १००।।

एतच्चतुःप्रकारं पुरुषार्थो यः स्वर्गादिस्तत्प्रयोजनं यस्मादेवंरूपं जानीयात्। अतोऽनलसः सन्सर्वदानुष्ठानं कुर्यात्।। १००।।

वह इन चारों बातों को पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का साधन माने तथा आलस्यरहित होकर इनका हमेशा ठीकप्रकार से क्रियान्वयन करे।। १००।।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।
रक्षितं वर्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्।। १०१।।

अलब्धं यद्धस्त्यश्वरथपादातात्मकेन दण्डेन जेतुमिच्छेत्। जितं च प्रत्यवेक्षणेन रक्षेत्। रक्षितं च बुद्ध्युपायेन स्थलजलपथवाणिज्यादिना वर्धयेत्। वृद्धं शास्त्रीयविभागेन पात्रेभ्यो दद्यात्।। १०१।।

उसे अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए। प्राप्त की ठीकतरह देखभाल कर रक्षा करनी चाहिए तथा रक्षित को अपनी बुद्धि द्वारा बढ़ाना चाहिए और वृद्धि को प्राप्त हुए धनों को योग्यपात्रों को दान देना चाहिए।। १०१।।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
नित्यं संवृतसंवार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरिः।। १०२।।

नित्यं हस्त्यश्वादियुद्धादिशिक्षाभ्यासो दण्डो यस्य स तथा स्यात्। नित्यं च प्रकाशीकृतमस्त्रविद्यादिना पौरुषं यस्य स तथा स्यात्। नित्यं संवृतं संवरणीयं मन्त्राचारचेष्टादिकं यस्य स तथा स्यात्। नित्यं च शत्रोर्व्यसनादिरूपच्छिद्रानुसंधानं तत्परः स्यात्।। १०२।।

राजा को हमेशा दण्ड तैयार रखने वाला, हमेशा अपने पराक्रम को प्रदर्शित करने वाला, सदैव गुप्त बातों को छिपाने वाला तथा हमेशा शत्रुओं के दोषों की जानकारी रखने वाला होना चाहिए।। १०२।।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्।। १०३।।

यस्मान्नित्योद्यतदण्डस्य जगदुद्विजेदिति तस्मात्सर्वप्राणिनो दण्डेनैवात्मसा-त्कुर्यात्।। १०३।।

सेना को हमेशा तैयार रखने वाले राजा से ही सारा संसार घबराता है। इसलिए दण्ड द्वारा ही सभी प्राणियों को वश में रखना चाहिए।। १०३।।

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः।। १०४।।

मायया छद्मतया अमात्यादिषु न वर्तेत। तथा सति सर्वेषामविश्वसनीयः स्यात्। धर्मरक्षार्थं यथातत्त्वेनैव व्यवहरेत्। यत्नकृतात्मपक्षरक्षश्च शत्रुकृतां प्रकृतिभेदरूपां मायां चारद्वारेण जानीयात्।। १०४।।

कभी भी कपटपूर्ण व्यवहार न करे, अपितु हमेशा निष्कपट बर्ताव करे तथा अपने व्यवहार को गुप्त रखते हुए, हमेशा शत्रु द्वारा प्रयुक्त कपट की जानकारी रखे।। १०४।।

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः।। १०५।।
(न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलादपि निकृन्तति।। १०।।)

तथा यत्नं कुर्याद्यथास्य प्रकृतिभेदादि छिद्रं शत्रुर्न जानाति। शत्रोस्तु प्रकृतिभेदादिकं चारैर्जानीयात्। कूर्मो यथा मुखचरणादीन्यङ्गान्यात्मदेहे गोपायत्येवं राज्याङ्गान्यमात्यादीनि दानसंमानादिनात्मसात्कुर्यात्। दैवाच्च प्रकृतिभेदादिरूपे छिद्रे जाते यत्नतः प्रतीकारं कुर्यात्।। १०५।।

(राजा का ऐसा प्रयास हो कि) इसकी कमजोरियों को शत्रु न जान पाए तथा यह शत्रु की कमजोरियों को जान ले। यह कछुए के समान कोश, सेना, मित्रादि अपने सातों अङ्गों को छिपाए रखे और अपनी गोपनीय बातों की रक्षा करे।। १०५।।

(अविश्वस्त व्यक्ति पर विश्वास न करे तथा विश्वस्त पर भी अधिक विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय, मनुष्य को जड़ से ही विनष्ट कर देता है।। १०।।)

बकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।। १०६।।

यथा बको जले मीनमतिचञ्चलस्वभावमपि मत्स्यग्रहणादेकतानान्तःकरणश्चिन्त- यत्येवं रहसि सुविहितरक्षस्यापि विपक्षस्य देशग्रहणादीनर्थांश्चिन्तयेत्। यथाच सिंहः प्रबलमतिस्थूलमपि दन्तीबलं हन्तुमाक्रमत्येवमल्पबलो बलवतोपक्रान्तः संश्रयाद्यु- पायान्तरासंभवे सर्वशक्त्या शत्रुं हन्तुमाक्रमेत्। यथा च वृकः पालकृतरक्षणमपि पशुं दैवात्पालानवधानमासाद्य व्यापादयत्येवं दुर्गाद्यवस्थितमपि रिपुं कथंचित्प्रमादमासाद्य व्यापादयेत्। यथा शशः वधोद्धुरविविधव्याधमध्यगतोऽपि कुटिलगतिरुत्प्लुत्य पलायते, एवं स्वयमबलो बलवदरिपरिनृतोऽपि कथंचिदरिव्यामोहमाधाय गुणवत्पार्थिवान्तरं संश्रयितुमुपसर्पेत्।। १०६।।

राजा को बुगले के समान अर्थचिन्तन करना चाहिए। शेर के समान पराक्रम प्रदर्शित करना चाहिए। भेडिये के समान शत्रु को नष्ट करना चाहिए एवं खरगोश के समान आवश्यकता पड़ने पर भाग जाना चाहिए।। १०६।।

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः।। १०७।।

एवमुक्तप्रकारेण विजयप्रवृत्तस्य नृपतेर्ये विजयविरोधिनो भवेयुस्तान्सर्वान्सामदानभेददण्डैरुपायैर्वशमानयेत्।। १०७।।

इसप्रकार विजय में प्रवृत्त इस राजा के जो कोई भी विरोधी हों, उन सभी को सामादि उपायों द्वारा वश में लाना चाहिए।। १०७।।

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत्।। १०८।।

ते च विजयविरोधिनो यद्याद्यैस्त्रिभिरुपायैर्न निवर्तन्ते तदा बलाद्देशोपमर्दादिना युद्धेन शनकैर्लघुगुरुदण्डक्रमेण दण्डेन वशीकुर्यात्।। १०८।।

यदि वे विरोधी पहले तीन उपायों (साम, दान, भेद) द्वारा नहीं रुकें, तो उन्हें बलपूर्वक दण्ड द्वारा ही धीरे से वश में लाना चाहिए।। १०८।।

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये।। १०९।।

चतुर्णामपि सामादीनामुपायानां मध्यात्सामदण्डावेव राष्ट्रवृद्ध्यर्थं पण्डिताः प्रशंसन्ति। साम्नि प्रयासधनव्ययसैन्यक्षयादिदोषाभावाद्दण्डे तु तत्सद्भावेऽपि कार्यसिध्यति- शयात्।। १०९।।

राजनीति के विद्वान् लोग राष्ट्र की उन्नति के लिए हमेशा साम आदि चार उपायों में से साम और दण्ड की ही प्रशंसा करते हैं।। १०९।।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः।। ११०।।

यथा क्षेत्रे धान्यतृणादिकयोः सहोत्पन्नयोरपि धान्यानि लवनकर्ता रक्षति तृणादिकं चोद्धरति, एवं नृपती राष्ट्रे दुष्टान्हन्यान्नत्वदुष्टांस्तदीयसहजान्भ्रातृनपि निर्दातृदृष्टान्तादवसीयते। शिष्टसहितं च राष्ट्रं रक्षेत्।। ११०।।

जिसप्रकार खेत में निराई गुडाई करने वाला किसान खरपतवार को बाहर निकाल देता है और धान की रक्षा करता है। ठीक उसीप्रकार राजा को अपने राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए तथा विरोधियों को नष्ट कर देना चाहिए।। ११०।।

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः।। १११।।

यो राजा अनवेक्षया दुष्टशिष्टाज्ञानेन सर्वानेव स्वराष्ट्रीयजनाञ्छास्त्रीयधनग्रहणमारणा-

दिकष्टेन पीडयति स शीघ्रमेव जनपदवैराख्यप्रकृतिकोपाधर्मै राजा राज्याज्जीविताच्च पुत्रादिसहितो भ्रश्यते।। १११।।

अज्ञानवश जो राजा उपेक्षा से अपने राष्ट्र को कष्ट देता है। वह शीघ्र ही बन्धुओं सहित राज्य से और जीवन से नष्ट हो जाता है।। १११।।

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्।। ११२।।

यथा प्राणभृतामाहारनिरोधादिना शरीरशोषणात्प्राणाः क्षीयन्ते, एवं राज्ञामपि राष्ट्रपीडनात्प्रकृतिकोपादिना प्राणा विनश्यन्ति। तस्मात्स्वशरीरवद्राज्ञा राष्ट्रं रक्षणीयमित्युक्तम्।। ११२।।

जिसप्रकार शरीर को अत्यधिक कष्ट देने से प्राणियों के प्राण नष्ट हो जाते हैं।। उसीप्रकार राष्ट्र को अत्यन्त पीड़ा देने से राजा के प्राण भी विनष्ट हो जाते हैं।। ११२।।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते।। ११३।।

राष्ट्रस्य रक्षणे च वक्ष्यमाणमिममुपायमनुतिष्ठेत्। यस्मात्संरक्षितराष्ट्रो राजाऽनायासेन वर्धते।। ११३।।

राष्ट्र की रक्षा के सम्बन्ध में इस नियम का हमेशा पालन करना चाहिए, क्योंकि ठीकप्रकार रक्षा किए गए राष्ट्र से सम्पन्न राजा ही सुखपूर्वक समृद्धि को प्राप्त करता है।। ११३।।

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्।। ११४।।

द्वयोर्ग्रामयोर्मध्ये त्रयाणां वा ग्रामाणां पञ्चानां वा ग्रामशतानां गुल्मं रक्षितृपुरुषसमूहं सत्यप्रधानपुरुषाधिष्ठितं राष्ट्रस्य संग्रहं रक्षास्थानं कुर्यात्। अस्य लाघवगौरवापेक्षश्चोक्तविकल्पः।। ११४।।

राजा दो, तीन, पाँच तथा सौ गाँवों के बीच में सैन्यसमूह को स्थापित करके अपने राष्ट्र की रक्षा करे।। ११४।।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च।। ११५।।

एकग्रामदशग्रामाद्यधिपतीन्कुर्यात्।। ११५।।

राजा ग्रामपति को, द्रस ग्रामाधिपति को, बीस ग्रामाधिपति को, शत ग्रामाधिपति एवं सहस्र-ग्रामाधिपति को भी (रक्षा के लिए नियुक्त करे)।। ११५।।

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने।। ११६।।
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।
शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम्।। ११७।।

ग्रामाधिपतिश्चौरादिदोषान्ग्रामे संजातानात्मना प्रतिकर्तुमक्षमोऽनुत्कृष्टतया स्वयं दशग्रामाधिपतये कथयेत्। एवं दशग्रामाधिपतयो विंशतिग्रामस्वाम्यादिभ्यः कथयेयुः। तथाच सति सम्यक् चौरादिकण्टकोद्धारो भवति।। ११६।। ११७।।

गाँव में उत्पन्न हुए दोषों को ग्रामिक स्वयं दशग्रामाधिपति को कहे। पुनः इसी क्रम से दशग्रामाधिपति, विंशाधिपति से तथा विंशाधिपति को सब कुछ शताधिपति से निवेदन करना चाहिए। इसीप्रकार शतग्रामाधिपति भी स्वयं सहस्र ग्रामाधिपति से निवेदन करे।। ११६-११७।।

एकग्रामाधिकृतस्य वृत्तिमाह—

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।
अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्।। ११८।।

यान्यन्नपानेन्धनादीनि ग्रामवासिभिः प्रत्यहं राज्ञे देयानि न त्वब्दकरं "धान्यानामष्टमो भागः" (अ० ७ श्लो० १३०) इत्यादिकं तानि ग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं गृह्णीयात्।। ११८।।

दशाधिपति एक कुल को, विंशाधिपति पाँच कुलों को, शत ग्रामाधिपति एक गाँव को तथा सहस्त्रग्रामाधिपति एक पुर को भोग सकता है।। ११८।।

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः परम्।। ११९।।

"अष्टागवं धर्महलं षड्गवं जीवितार्थिनाम्। चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगवं ब्रह्मघातिनाम्" इति हारीतस्मरणात्। षड्गवं मध्यमं हलमिति तथाविधहलद्वयेन यावती भूमिर्वाह्यते तत्कुलमिति वदति तद्दशग्रामाधिपतिर्वृत्त्यर्थं भुञ्जीत। एवं विंशत्यधिपतिः पञ्च कुलानि, शताधिपतिर्मध्यमं ग्रामं, सहस्राधिपतिर्मध्यमं पुरम्।। ११९।।

दशाधिपति एक कुल को, विंशाधिपति पाँच कुलों को, शतग्रामाधिपति एक गाँव को तथा सहस्त्रग्रामाधिपति एक पुर को भोग सकता है।। ११९।।

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः।। १२०।।

तेषां ग्रामनिवासिप्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तौ यानि ग्रामभवानि कार्याणि, कृताकृतानि च पृथक्कार्याणि, तान्यन्यो राज्ञो हितकृत्तन्नियुक्तोऽनलसः कुर्वीत।। १२०।।

उन ग्रामवासियों के जो ग्रामसम्बन्धी कार्य तथा अन्य कार्य हैं, उन्हें राजा के प्रति आदर एवं प्रेमभाव रखने वाले, आलस्यहीन अन्य मन्त्री लोग ही देखें ।। १२०।।

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।
उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्।। १२१।।

प्रतिनगरमेकैकमुच्चैःस्थानं कुलादिन महान्तं प्रधानरूपं घोररूपं हस्त्यश्वादिसामग्र्या भयजनकं नक्षत्रादिमध्ये भार्गवादिग्रहमिव तेजस्विनं, कार्यद्रष्टारं नगराधिपतिं कुर्यात्।। १२१।।

प्रत्येक नगर में सभी विषयों पर विचार करने वाला, भयानक स्वरूप वाला, नक्षत्रों में ग्रह के समान तेजस्वी, एक उच्च अधिकारी भी नियुक्त करना चाहिए।। १२१।।

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः।। १२२।।

स नगराधिकृतस्तान्सर्वान्ग्रामाधिपत्यादीनसति प्रयोजने सर्वदा स्वयं स्वबलेनानुगच्छेत्। तेषां च नगराधिकृतपर्यन्तानां सर्वेषामेव यद्राष्ट्रे स्वचेष्टितं तत्तद्विषयनियुक्तैश्चरैः सम्यक्प्रजाः परिणयेदवगच्छेत्।। १२२।।

उस राजा को हमेशा स्वयं ही उन सब उच्चाधिकारियों एवं ग्रामाधिपतियों का निरीक्षण करना चाहिए तथा वह उन सबके राज्य में किए गए प्रत्येक व्यवहार की जानकारी गुप्तचरों द्वारा भलीप्रकार रखे।। १२२।।

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।। १२३।।

यस्माद्ये राज्ञो रक्षाधिकृतास्ते बाहुल्येन परस्वग्रहणशीला वञ्चकाश्च भवन्ति तस्मात्तेभ्य इमाः स्वात्मीयाः प्रजा राजा रक्षेत्।। १२३।।

क्योंकि रक्षाकार्य में नियुक्त किए गए राजकर्मचारी प्रायः रिश्वत लेने वाले और धूर्त होते हैं। इसलिए उनसे प्रजाजनों की रक्षा करनी चाहिए।। १२३।।

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम्।। १२४।।

ये रक्षाधिकृताः कार्यार्थिभ्य एव वाक्छलादिकमुद्भाव्य लोभादशास्त्रीयधनग्रहणं पापबुद्धयः कुर्वन्ति तेषां सर्वस्वं राजा गृहीत्वा देशान्निःसारणं कुर्यात्।। १२४।।

पापबुद्धि वाले जो अधिकारी काम पड़ने वाले कार्यार्थियों से (रिश्वत रूपी) धन प्राप्त करें। उनका सभी कुछ लेकर राजा उन्हें राज्य से बाहर निकाल देवे।। १२४।।

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः।। १२५।।

राजोपयुक्तकर्मनियुक्तानां स्त्रीणां दास्यादीनां कर्मकरजनस्य चोत्कृष्टमध्यमापकृष्टस्थानयोग्यानुरूपेण प्रत्यहं कर्मानुरूपेण वृत्तिं कुर्यात्।। १२५।।

राजा को राज्यकार्यों में नियुक्त किए गए सेविकाओं तथा सेवकवर्ग के पद एवं कार्यों के अनुरूप ही उनके प्रतिदिन का वेतन निर्धारण करना चाहिए।। १२५।।

तामेव दर्शयति—

पणो देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः।। १२६।।

अवकृष्टस्य गृहादिसंमार्जकोदकवाहादेः कर्मकरस्य वक्ष्यमाणलक्षणः पणो भृतिरूपः प्रत्यहं दातव्यः। षाण्मासिकश्चाच्छादो वस्त्रयुगं दातव्यम्। "अष्टमुष्टिर्भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ च पुष्कलम्। पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः।। चतुराढको भवोद्द्रोणः" इति गणनया धान्यद्रोणश्च प्रतिमासं देयः। उत्कृष्टस्य तु भृतिरूपाश्च षट् पणा देयाः। अनयैव कल्पनया षाण्मासिकानि षट् वस्त्रयुगानि देयानि। प्रतिमासं षाण्मास्या द्रोणा देयाः। अनयैवातिदिशा मध्यमस्य पणत्रयं भृतिरूपं दातव्यम्। षाण्मासिकं च वस्त्रयुगत्रयं मासिकं च धान्यं द्रोणत्रयं देयम्।। १२६।।

निकृष्टकार्य करने वाले का एक पैसा तथा उत्कृष्टकार्य का छः पैसा प्रतिदिन वेतन तथा छः माह में एक बार वस्त्र और एक माह में एक द्रोण धान्य देना चाहिए।। १२६।।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्।। १२७।।

कियता मूल्येन क्रीतमिदं वस्त्रं, लवणादिद्रव्यं विक्रीयमाणं चात्र कियल्लभ्यते, कियद्दूरदानीतं, किमस्य वणिजो भक्तव्ययेन शाकसूपादिना परिव्ययेण लग्नं, किमस्यारण्यादौ चौरादिभ्यो रक्षारूपेण क्षेमप्रतिविधानेन गतं, कोऽस्येदानीं लाभयोग इत्येतदवेक्ष्य वणिजः करान्दापयेत्।। १२७।।

क्रय-विक्रय की मात्रा, मार्गव्यय, भोजन तथा रक्षा आदि पर व्यय और योगक्षेम आदि को भलीप्रकार देखकर ही व्यापारी पर कर (Tax) का आरोपण करे।। १२७।।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्।। १२८।।

यथा राजाऽवेक्षणादिकर्मणः फलेन, यथा च कार्षिकवणिगादयः कृषिवाणिज्यादिकर्मणां फलेन संबध्यन्ते तथा निरूप्य राजा सर्वदा राष्ट्रे करान्गृह्णीयात्।। १२८।।

जिससे राजा तथा कार्यों को करने वाला दोनों फलयुक्त होवें, उसीप्रकार भलीप्रकार विचारकर ही राजा को राज्य में हमेशा टैक्स लगाने चाहिएँ।। १२८।।

अत्र दृष्टान्तमाह-

यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।। १२९।।

यथा जलौकोवत्सभ्रमराः स्तोकस्तोकानि रक्तक्षीरमधून्यदन्त्येवं राज्ञा मूलधनमनुच्छिन्दताल्पोऽल्पो राष्ट्रादाब्दिकः करो ग्राह्यः।। १२९।।

जिसप्रकार जल में रहने वाले जोक, बछड़े तथा भौंरे अत्यल्प भोजन करते हैं। उसीप्रकार राजा को राज्य से कम से कम वार्षिककर (Tax) ग्रहण करना चाहिए।। १२९।।

तमाह-

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा।। १३०।।

मूलादधिकयोः पशुहिरण्ययोः पञ्चाशद्भागो राज्ञा ग्रहीतव्यः। एवं धान्यानां षष्ठोऽष्टमो द्वादशो वा भागो राजा ग्राह्यः। भूम्युत्कर्षापकर्षापेक्षया कर्षणादिक्लेशलाघवगौरवापेक्षश्चायं बह्वल्पग्रहणविकल्पः।। १३०।।

राजा को पशु एवं सोने का पचासवाँ भाग तथा धान्य का आठवाँ, छटा अथवा बारहवाँ भाग ही ग्रहण करना चाहिए।। १३०।।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।
गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।। १३१।।
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च।। १३२।।

द्रुशब्दोऽत्र वृक्षवाचकः। वृक्षादीनां सप्तदशानामश्ममयान्तानां षष्ठो भागो लाभाद्ग्रहीतव्यः।। १३१।। १३२।।

इसके अतिरिक्त वृक्ष, मांस, शहद, घी, सुगन्धित पदार्थ, रस पुष्प, जड़ फल तथा पत्ते, शाक, घास, चमड़े, बाँस और मिट्टी के बर्तन, सभी पत्थर के पदार्थों पर कर के रूप में छटा भाग ग्रहण करे।१३१।। १३२।।

म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्।। १३३।।

क्षीणधनोऽपि राजा श्रोत्रियब्राह्मणात्करं न गृह्णीयात्। नच तदीयदेशे वसन्श्रोत्रियो बुभुक्षयावसादं गच्छेत्।। १३३।।

मरता हुआ भी राजा श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर ग्रहण न करे और न ही उसके राज्य में निवास करता हुआ श्रोत्रिय ब्राह्मण कभी भी भूख से पीड़ित हो।। १३३।।

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति।। १३४।।

यस्य राज्ञो देशे श्रोत्रियः क्षुधावसन्नो भवति तस्य राष्ट्रमपि दुर्भिक्षादिभिः क्षुधा शीघ्रमवसादं गच्छति।। १३४।।

किन्तु जिस राजा के राज्य में वेदपाठी ब्राह्मण भूख से पीड़ित होता है। उसकी वह भूख शीघ्र ही राष्ट्र को भी पीडित कर देती है।। १३४।।

श्रुतवृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत्।
संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्।। १३५।।

शास्त्रज्ञानानुष्ठाने ज्ञात्वा अस्य तदनुरूपां धर्मादनपेतां जीविकामुपकल्पयेत्। चौरादिभ्यश्चैनमौरसं पुत्रमिव पिता रक्षेत्।। १३५।।

इस श्रोत्रिय ब्राह्मण के शास्त्रज्ञान, आचरण आदि के बारे में जानकर राजा इसके लिए धर्म के अनुकूल जीविका की व्यवस्था करे एवं पिता द्वारा की गई अपने औरस पुत्र की रक्षा के समान वह इसकी सबप्रकार से सुरक्षा करे।। १३५।।

यस्मात्-

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम्।
तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च।। १३६।।

स च श्रोत्रियो राज्ञा सम्यग्रक्ष्यमाणो यं धर्मं प्रत्यहं करोति तेन राज्ञ आयुर्धनराष्ट्राणि वर्धन्ते।। १३६।।

राजा द्वारा सुरक्षा किया जाता हुआ वह श्रोत्रिय प्रतिदिन जो धर्म करता है। उससे राजा की आयु, धन एवं राष्ट्र की वृद्धि होती है।। १३६।।

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम्।
व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्।। १३७।।

राजा स्वदेशे शाकपर्णादिस्वल्पमूल्यवस्तुक्रयविक्रयादिना जीवन्तं निकृष्टजनं स्वल्पमपि कराख्यं वर्षेण दापयेत्।। १३७।।

राज्य में व्यापार आदि से जीवननिर्वाह करने वाले सामान्यव्यक्ति से भी राजा थोड़ा बहुत जो कुछ भी 'कर' के नाम से अवश्य ग्रहण करे।। १३७।।

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः।। १३८।।

कारुकान्सूपकारादीन् शिल्पिभ्य ईषदुत्कृष्टान्, शिल्पिनश्च लोहकारादीन्, शूद्रांश्च देहक्लेशोपजीविनो भारिकादीन् मासि मास्येकं दिनं कर्म कारयेत्।। १३८।।

अपनी जीविका स्वयं चलाने वाले मजदूरों, कलाकारों, शिल्पियों तथा शूद्रों से राजा प्रत्येक माह में एक-एक दिन कार्य करावे।। १३८।।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्।। १३९।।

प्रजास्नेहात्करशुल्कादेरग्रहणमात्मनो मूलच्छेदः, अतिलोभेन प्रचुरकरादिग्रहणं परेषां मूलोच्छेदः एतदुभयं न कुर्यात्। यस्माद् आत्मनो मूलमुच्छिद्य कोशक्षयादात्मानं पीडयेत्। पूर्वार्धात्परेषां चेत्यपि संबध्यते। परेषां मूलमुच्छिद्य तांश्च पीडयेत्।। १३९।।

अत्यधिक तृष्णा से अपनी तथा दूसरों की जड़ को नहीं काटना चाहिए, क्योंकि अपनी जड़ को काटता हुआ राजा अपने आपको तथा उन सब प्रजाजनों को पीडित करता है।। १३९।।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति संमतः।। १४०।।

कार्यविशेषमवगम्य क्वचित्कार्ये तीक्ष्णः क्वचिमृदुश्च भवेन्न त्वैकरूपमालम्बेत यस्मादुक्तरूपो राजा सर्वेषामभिमतो भवति।। १४०।।

कार्य की प्रकृति को देखकर ही राजा को कठोर और कोमल होना चाहिए। मृदु एवं कठोर दोनों प्रकार का आचरण करता हुआ ही राजा सबका प्रिय होता है।। १४०।।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम्।
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम्।। १४१।।

स्वयं कार्यदर्शने खिन्नः श्रेष्ठामात्यं धर्मविदं प्राज्ञं जितेन्द्रियं कुलीनं तस्मिन्कार्य-दर्शनस्थाने नियुञ्जीत।। १४१।।

थका हुआ राजा धर्म को जानने वाले, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय तथा उच्चकुल में उत्पन्न प्रमुख सचिव को प्रजा के कार्यों को देखने के लिए, निरीक्षक के पद पर नियुक्त करे।। १४१।।

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः।। १४२।।

एवमुक्तप्रकारेण सर्वमात्मनः कार्यजातं संपाद्योद्युक्तः प्रमादरहित आत्मीयाः प्रजा रक्षेत्।। १४२।।

इसप्रकार 'यह सब मेरा कर्तव्य है' इसप्रकार की भावना करके, तत्परता एवं सावधानी के साथ इस सम्पूर्ण प्रजा की सबप्रकार से रक्षा करे।। १४२।।

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति।। १४३।।

यस्य राज्ञोऽमात्यादिसहितस्य पश्यत एव राष्ट्रादाक्रोशन्त्यः प्रजास्तस्करादिभिरपि ह्रियन्ते स मृत एव नतु जीवति। जीवनकार्याभावाज्जीवनमपि तस्य मरणमेवेत्यर्थः।। १४३।।

जिस राजा के राज्य में सेवकों सहित देखते-देखते दस्युओं द्वारा चीखती चिल्लाती हुई प्रजा लूट ली जाती है। वह तो वस्तुतः मरा हुआ राजा है, जीवित नहीं है।। १४३।।

तस्मात् "अप्रमत्तः प्रजा रक्षेत्" इति पूर्वोक्तशेषं तदेव द्रढयति—

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।। १४४।।

धर्मान्तरेभ्यः श्रेष्ठं क्षत्रियस्य प्रजारक्षणमेव प्रकृष्टो धर्मः। यस्माद्यथोक्तलक्षणफलकरादिभोक्ता राजा धर्मेण संबध्यते।। १४४।।

प्रजाओं का पालन ही क्षत्रिय का परमधर्म है तथा शास्त्रों में बताए गए फल का भोग करने वाला राजा ही धर्मयुक्त होता है।। १४४।।

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्।। १४५।।

स भूपो रात्रेः पश्चिमयाम उत्थाय कृतमूत्रपुरीषोत्सर्गादिशौचोऽनन्यमनाः कृताग्निहोत्रावसथ्यहोमो ब्राह्मणान्पूजयित्वा वास्तुलक्षणाद्युपेतां सभाममात्यादिदर्शनगृहं प्रविशेत्।। १४५।।

वह राजा रात्रि के अन्तिमप्रहर में उठकर, शौचादि से निवृत्त हुआ, एकाग्रचित्त होकर यज्ञ करके तथा ब्राह्मणों की ठीक से पूजा करके सुन्दर सभा में प्रवेश करे।। १४५।।

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः।। १४६।।

तस्यां सभायां स्थितो दर्शनार्थमागताः प्रजाः सर्वाः संभाषणदर्शनादिभिः प्रतिनन्द्य प्रस्थापयेत्। ताश्च प्रस्थाप्य मन्त्रिभिः सह संधिविग्रहादि चिन्तयेत्।। १४६।।

वहाँ सभाभवन में स्थित सारी प्रजा को सन्तुष्ट करके विदा करे तथा सभी प्रजाजनों को विसर्जित करके मन्त्रियों के साथ विचारविमर्श करे।। १४६।।

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः।। १४७।।

पर्वतपृष्ठमारुह्य निर्जनवनगृहस्थितोऽरण्यदेशे वा विविक्ते मन्त्रभेदकारिभिरनुपलक्षितः। कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसंपत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरित्येवं पञ्चाङ्गं मन्त्रं चिन्तयेत्।। १४७।।

पर्वत की चोटी पर अथवा महल पर चढ़कर या निर्जन वन में एकान्त में गया हुआ, पूर्णतया गुप्तरूप से स्थित होकर ही राजा मन्त्रणा करे।। १४७।।

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः।। १४८।।

यस्य राज्ञो मन्त्रिभ्यः पृथगन्ये जना मिलित्वास्य मन्त्रं न जानन्ति स क्षीणकोशोऽपि सर्वां पृथिवीं भुनक्ति।। १४८।।

जिस राजा की गुप्तमन्त्रणा को सामान्य लोग आकर नहीं जान पाते हैं, कोश से हीन हुआ भी वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वी को भोगता है।। १४८।।

जडमूकान्धबधिरांस्तैर्यग्योनान्वयोतिगान्।
स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत्।। १४९।।

बुद्धिवाक्चक्षुःश्रोत्रविकलान् तिर्यग्योनिभवांश्च शुकसारिकादीन् अतिवृद्धस्त्रीम्लेच्छरोगयङ्गहीनांश्च मन्त्रसमयेऽपसारयेत्।। १४९।।

गुप्तमन्त्रणा के समय राजा मूर्ख, अन्धे, बहरे, पक्षी, बूढ़े, स्त्री, मलेच्छ रोगी एवं विकृत अङ्गों वालों को दूर हटवा देवे।। १४९।।

यस्मात्—

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च।
स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्।। १५०।।

एते जडादयोऽपि प्राचीनदुष्कृतवशेन प्राप्तजडादिभावा अधार्मिकतयैवावमानिता मन्त्रभेदं कुर्वन्ति। तथा शुकादयोऽतिवृद्धाश्च स्त्रियश्च विशेषेणास्थिरबुद्धितया मन्त्रं भिन्दन्ति। तस्मात्तदपसारणे यत्नवान्स्यात्।। १५०।।

स्वामी द्वारा अपमानित हुए लोग, तिर्यक् योनि में उत्पन्न पक्षी तथा उसी प्रकार विशेषरूप से स्त्रियाँ, गुप्तबातों को प्रकाशित कर देती हैं। इसलिए उन्हें वहाँ से हटाने के विषय में प्रयत्नशील होना चाहिए।। १५०।।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।
चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा।। १५१।।

दिनमध्ये रात्रिमध्ये वा विगतचित्तखेदः शरीरक्लेशरहितश्च मन्त्रिभिः सह एकाकी वा धर्मार्थकामाननुष्ठातुं चिन्तयेत्।। १५१।।

विश्राम किया हुआ, थकानरहित राजा मध्याह्न में, अर्द्धरात्रि में उन मन्त्रियों के साथ अकेला ही धर्म, अर्थ और काम के बारे में चिन्तन करे।। १५१।।

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।
कन्यानां संप्रदानं कुमाराणां च रक्षणम्।। १५२।।

तेषां च धर्मार्थकामानां प्रायिकविरोधवतां विरोधपरिहारेणार्जनोपायं चिन्तयेत्। दुहितॄणां च दानं स्वकार्यसिद्ध्यर्थं निरूपयेत्। कुमाराणां च पुत्राणां विनयाधाननीतिशिक्षार्थं रक्षणं चिन्तयेत्।। १५२।।

परस्पर विरोधी धर्म, अर्थ और काम के विषय में, उनके उपार्जन के बारे में, कन्याओं के विवाह तथा राजकुमारों की सुरक्षादि के विषय में भी चिंतन करे।। १५२।।

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।
अन्तःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम्।। १५३।।

दूतानां संगुप्तार्थलेखहारित्वादिना परराष्ट्रप्रस्थापनं चिन्तयेत्। तथा प्रारब्धकार्यशेषं समापयितुं चिन्तयेत्। स्त्रीणां चातिविषमचेष्टितत्वात्। तथाहि "शस्त्रेण वेणीविनिगूहितेन विदूरथं वै महिषी जघान। विषप्रदिग्धेन च नूपुरेण देवी विरक्ता किल काशिराजम्।।" इत्याद्यवगम्यात्मरक्षार्थं चान्तः पुरस्त्रीणां चेष्टितं सखीदास्यादिना निरूपयेत्। चराणां च प्रतिराजादिषु नियुक्तानां चरान्तरैश्चेष्टितमवधारयेत्।। १५३।।

इसके अतिरिक्त दूत भेजने के विषय में, बचे हुए कार्यों का, अन्तःपुर की गतिविधियों का तथा गुप्तचरों की चेष्टाओं का भी चिन्तन करे।। १५३।।

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।
अनुरागापरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च।। १५४।।
(वने वनेचराः कार्याः श्रमणाटविकादयः।
परप्रवृत्तिज्ञानार्थं शीघ्राचारपरम्पराः।। ११।।
परस्य चैते बोद्धव्यास्तादृशैरेव तादृशाः।
चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्चागूढसंज्ञिताः।। १२।।)

अष्टविधं कर्म समग्रं चिन्तयेत्। तच्चोशनसोक्तम् "आदाने च विसर्गे च तथा प्रैषनिषेधयोः। पञ्चमे चार्थवचने व्यवहारस्य चेक्षणे।। दण्डशुद्ध्योः सदा युक्तस्तेनाष्टगतिको नृपः। अष्टकर्मा दिवं याति राजा शक्राभिपूजितः।।" तत्र आदानं करादीनां, विसर्गो भृत्यादिभ्यो धनदानं, प्रैषोऽमात्यादीनां दृष्टादृष्टानुष्ठानेषु, निषेधो दृष्टादृष्टविरुद्धक्रियासु, अर्थवचनं कार्यसंदेहे राजाज्ञयैव तत्र नियमात्, व्यवहारस्येक्षणं प्रजानानामृणादिविप्रतिपत्तौ, दण्डः पराजितानां, शास्त्रोक्तधनग्रहणम्, शुद्धिः पापे कर्मणि जाते तत्र प्रायश्चित्तसंपादनम्। मेधातिथिस्तु "अकृतारम्भकृतानुष्ठान-मनुष्ठितविशेषणं कर्मफलसंग्रहस्तथा सामदानदण्डभेदा एतदष्टविधं कर्म। अथवा वणिक्पथः, उदकसेतुबन्धनं, दुर्गकरणम्, कृतस्य संस्कारनिर्णयः, हस्तिबन्धनं, खनिखननं, शून्यनिवेशनं, दारुवनच्छेदनं च" इत्याह। तथा कापटिकोदास्थितगृहपति-वैदेहिकतापसव्यञ्जनात्मकं पञ्चविधं चारवर्गं पञ्चवर्गशब्दवाच्यं तत्त्वतश्चिन्तयेत्। तत्र परममर्मज्ञः प्रगल्भच्छात्रः कपटव्यवहारित्वात्कापटिकस्तं वृत्यर्थिनमर्थमानाभ्यामुप-गृह्य रहसि राजा ब्रूयात्, यस्य दुर्वृत्तं पश्यसि तत्तदानीमेव मयि वक्तव्यमिति।

प्रव्रज्यारूढपतित उदास्थितः तं लोकेषु विदितदोषं प्रज्ञाशौचयुक्तं वृत्त्यर्थिनं कृत्वा रहसि राजा पूर्ववद्ब्रूयात्। बहूत्पत्तिकमठे स्थापयेत्प्रचुरसस्योत्पत्तिकं भूम्यन्तरं च तद्वृत्त्यर्थमुपकल्पयेत्। स चान्येषामपि प्रव्रजितानां राजा चारकर्मकारिणां ग्रासाच्छादनादिकं दद्यात्। कर्षकः क्षीणवृत्तिः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिव्यञ्जनस्तमपि पूर्ववदुक्त्वा स्वभूमौ कृषिकर्म कारयेत्। वाणिजकः क्षीणवृत्तिः वैदेहिकव्यञ्जनस्तं पूर्ववदुक्त्वा धनमानाभ्यामात्मीकृत्य वाणिज्यं कारयेत्। मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः सोऽपि क्वचिदाश्रमे वसन्बहुमुण्डजटिलान्तरे कपटशिष्यगणवृतो गुप्तराजोपकल्पितवृत्तिस्तापस्यं कुर्यात्। मासद्विमासान्तरितं प्रकाशं बदरादिमुष्टिमश्नीयात्, रहसि च राजोपकल्पितमाहारं कल्पयेत्। शिष्याश्चास्यातीतानागतज्ञानादिकं ख्यापयेयुः। ते च बहुलोकवेष्टनमासाद्य सर्वेषां विश्वसनीयत्वात्सर्वकार्यमकार्यं च पृच्छन्ति अन्यस्य कुक्रियादिकं कथयन्त्येवंरूपं पञ्चवर्गं यथावच्चिन्तयेत्। एवं पञ्चवर्गं प्रकल्प्य तेनैव पञ्चवर्गद्वारेण प्रतिराजस्यात्मीयानां चामात्यादीनां चानुरागविरागौ ज्ञात्वा तदनुरूपं चिन्तयेत्। वक्ष्यमाणस्य राजमण्डलस्य प्रचारं कः संध्यर्थी को वा विग्रहार्थीत्यादिकं चिन्तयेत्। तं च ज्ञात्वा तदनुगुणं चिन्तयेत्।। १५४।।

इसके अलावा वह सभी आठ प्रकार के कार्यों का, पाँच प्रकार के गुप्तचरों का, प्रजा के प्रेम तथा विरक्ति का तथा अन्य राजाओं के समूह के क्रियाकलापों का भी भलीप्रकार चिन्तन करे।। १५४।।

(शत्रुओं के कार्यों को जानने के लिए राजा को वन में वनेचर, भिक्षुक, जीर्णशीर्ण वस्त्र धारणकर इधर-उधर भ्रमण करने वाले, कार्यों को शीघ्रसम्पन्न करने वाले, (गुप्तचर) नियुक्त करने चाहिएँ।। ११।। साथ ही उसीप्रकार के गुप्तचरों द्वारा उसीप्रकार जानना चाहिए।। १२।।)

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः।। १५५।।

अरिविजिगीषोर्यो भूम्यनन्तरः संहतयोरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोः समर्थः स मध्यमस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत्। तथा प्रज्ञोत्साहगुणप्रकृतिसमर्थो विजिगीषुस्तस्य चेष्टितं चिन्तयेत्। तथा विजिगीषुमध्यमानां संहतानामनुग्रहे समर्थो निग्रहे चासंहतानां समर्थ उदासीनस्तस्य प्रचारं चिन्तयेत्। शत्रोश्च त्रिविधस्यापि सहजस्याकृत्रिमस्य भूम्यनन्तरस्य च पूर्वापेक्षया प्रयत्नतः प्रचारं चिन्तयेत्।। १५५।।

गुप्तस्थानों पर विचरण करने वाले, धूर्त, अपना नाम छिपाकर कार्य करने वाले, राज्य में स्थित मध्यमराजा की चेष्टाओं का, उदासीन राजा की गतिविधियों

(प्रचार) का तथा विजय की इच्छा रखने वाले शत्रु की चेष्टाओं का भी प्रयत्नपूर्वक चिन्तन करना चाहिए।। १५५।।

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।
अष्टौ चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृताः।। १५६।।

एता मध्यमाद्याश्चतस्त्रः प्रकृतयः संक्षेपेण मण्डलमूलं अपरासामभिधास्यमान-प्रकृतीनाममात्यादीनां मूलमित्युच्यते। अन्याश्चाष्टौ समाख्याताः। तद्यथा। अग्रतोऽरिभूमीनां मित्रं, अरिमित्रं, मित्रमित्रं अरिमित्रमित्रं चेत्येवं चतस्त्रः प्रकृतयो भवन्ति। पश्चाच्च पार्ष्णिग्राहः, आक्रन्दः, पार्ष्णिग्राहासारः, आक्रन्दासार इति चतस्त्रः एवमष्टौ प्रकृतयो भवन्ति। पूर्वोक्ताभिश्च मध्यमारिविजिगीषूदासीनशत्रुरूपाभिः मूलप्रकृतिभिः सह द्वादशैताः प्रकृतयः स्मृताः।। १५६।।

मध्यम, विजिगीषु, उदासीन तथा शत्रु ये चार संक्षेप में कही गई राज्य मण्डल की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आठ प्रकृतियाँ भी कही गई हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर ये बारह मानी गई हैं।। १५६।।

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः।। १५७।।

आसां मूलप्रकृतीनां चतसृणामष्टानां शाखाप्रकृतीनामुक्तानामेकैकस्याः प्रकृते-रमात्यदेशदुर्गकोशदुर्गदण्डाख्याः पञ्च द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति। एताश्च पञ्च द्वादशानां प्रत्येकं भवन्त्यो द्वादशगुणजाताः षष्टिरेव द्रव्यप्रकृतयो भवन्ति। तथा मूलप्रकृतिभिश्चतसृभिः शाखाप्रकृतिभिश्चाष्टाभिः सह संक्षेपतो द्विसप्ततिप्रकृतयो मुनिभिः कथिताः।। १५७।।

इसके अतिरिक्त अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, अर्थ, एवं दण्ड नामक दूसरी पाँच प्रकृतियाँ वस्तुतः प्रत्येक की कही गई हैं। इस प्रकार संक्षेप में कुल मिलाकर बहत्तर प्रकृतियाँ हो जाती हैं।। १५७।।

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च।
अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्।। १५८।।
(विप्रकृष्टेऽध्वनीयन्न उदासीनो बलान्वितः।
स खिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिञ्ज्ञेयः स मध्यमः।। १३।।)

विजिगीषोर्नृपस्यानन्तरितं चतुर्दिशमप्यरिप्रकृतिं विजानीयात्। तथा तत्सेविन-मप्यरिमेव विद्यात्। अरेरनन्तरं विजिगीषोर्नृपस्यैकान्तरं मित्रप्रकृतिं विद्यात्। तयोश्चा-रिमित्रयोः परं विजिगीषोरुदासीनप्रकृतिं विद्यात्। आसामेव प्रकृतीनामग्रपश्चाद्भावभेदेन

व्यपदेशभेदः। अत्राग्रवर्तिनोऽरिव्यपदेश एव। पश्चाद्वर्तिनस्त्वरित्वेऽपि पार्ष्णिग्राहव्यपदेशः।। १५८।।

राज्य की सीमा से लगे हुए तथा शत्रु की सेवा करने वाले राजा को शत्रु, राज्य के बाद स्थित राजा को मित्र और इन दोनों से भिन्न को उदासीन समझना चाहिए।। १५८।।

(जिस लम्बे मार्ग में सेनासहित उदासीन राजा हो। उस सम्पूर्ण मण्डल का प्रयोजन जिसमें हो उसे 'मध्यम' मानना चाहिए''।। १३।।)

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरुपक्रमैः।
व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च।। १५९।।

तान्सर्वान्नृपतीन्सामदानभेददण्डैरुपायैर्यथासंभवं व्यस्तैः समस्तैर्वशीकुर्यात्। अथवा पौरुषेण दण्डेनैव केवलेन नयेन साम्नैव वा केवलेनात्मवशान्कुर्यात्। तथा चोक्तम् ''सामदण्डौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये''।। १५९।।

अलग-अलग अथवा एक साथ, साम आदि उपायों द्वारा, पराक्रम द्वारा तथा नीति के माध्यम से उन सभी को अपने वश में रखे।। १५९।।

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा।। १६०।।

तत्रोभयानुग्रहार्थं हस्त्यश्वरथहिरण्यादिनिबन्धनेनावाभ्यामन्योन्यस्योपकर्तव्यमिति नियमबन्धः संधिः, वैरं विग्रहाचरणाद्याधिक्येन, यानं शत्रुं प्रति गमनम्, उपेक्षणं आसनं, स्वार्थसिद्धये बलस्य द्विधाकरणं द्वैधीभावः, शत्रुपीडितस्य प्रबलतर राजान्तराश्रयणं संश्रयः, एतान्गुणानुपकारकान्सर्वदा चिन्तयेत्। यद्गुणाश्रयणे सत्यात्मन उपचयः परस्यापचयस्तं गुणमाश्रयेत्।। १६०।।

राजा को संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन छः गुणों का हमेशा चिन्तन करना चाहिए।। १६०।।

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च।। १६१।।

संध्यादिगुणानां नैरपेक्ष्येणानुष्ठानमनन्तरमुक्तं तदुचितानुष्ठानार्थोऽयमारम्भः। आत्मसमृद्धिपरहान्यादिक कार्यं वीक्ष्य संधायासनं विगृह्य वा यानं द्वैधीभावसंश्रये च केनचित्संधिं केनचिद्विग्रहमित्यादिकमनुतिष्ठेत्।। १६१।।

कार्य को भलीप्रकार देखकर ही राजा को संधि, विग्रह,यान, आसन द्वैधीभाव और आश्रय का प्रयोग करना चाहिए।। १६१।।

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः।। १६२।।

संध्यादीन्षडेव गुणान्द्विप्रकाराञ्जानीयादित्यविवक्षार्थम्।। १६२।।

राजा संधि को, विग्रह को तथा यान, आसन दोनों को भी दो-दो प्रकार का समझे। इसीप्रकार संश्रय को भी दो प्रकार का कहा गया है।। १६२।।

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।
तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः।। १६३।।

तात्कालिकफललाभार्थमुत्तरकालीनफललाभार्थं वा यत्र राजान्तरेण सहान्यं प्रति यानादि कर्म क्रियते स समानयानकर्मा संधिः। यः पुनस्त्वमत्र याहि अहमत्र यास्यामीति सांप्रतिकोत्तरकालीनफलार्थितयैव क्रियते सोऽसमानयानकर्मेत्येवं द्विप्रकारः संधिर्ज्ञातव्यः।। १६३।।

उसीप्रकार वर्तमान तथा भविष्य में ऐश्वर्य प्रदान करने वाली सन्धि भी समान यानकर्मा तथा असमान यानकर्मा भेद से दो प्रकार की जाननी चाहिए।। १६३।।

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः।। १६४।।

शत्रुजयरूपप्रयोजनार्थं शत्रोर्व्यसनादिकमाकलय्य वक्ष्यमाणमार्गशीर्षादिकालादन्यदा यथोक्तकाल एव वा स्वयं कृत इत्येको विग्रहः। अपकृतमपकारः मित्रस्यापकारे राजान्तरेण कृते मित्ररक्षणार्थमपरो विग्रह इत्येवं द्विविधो विग्रहः। गोविन्दराजेन तु "मित्रेण चैवापकृते" इति पठितं व्याख्यातं च— यः परस्य शत्रुः स विजिगीषोर्मित्रं तेनापकारे क्रियमाणे व्यसनिनि शत्राविति। "तस्माल्लिखितपाठार्थौ वृद्धैर्गोविन्दराजतः। मेधातिथिप्रभृतिभिर्लिखितौ स्वीकृतौ मया।।"।। १६४।।

उचित समय पर अथवा असमय में ही स्वयं के कार्य हेतु या मित्र के कार्य के लिए किया गया; शत्रु के प्रति विग्रह दो प्रकार का माना गया है।। १६४।।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते।। १६५।।

आत्ययिकं कार्यं शत्रोर्व्यसनादिकं तस्मिन्नकस्माज्जाते शक्तस्यैकाकिनो यानमशक्तस्य मित्रसहितस्येत्येवं यानं द्विविधमभिधीयते।। १६५।।

इसीप्रकार शत्रु के विपरीत परिस्थितियों में पड़ने पर, अपनी इच्छा से

अकेले या मित्र के साथ मिलकर शत्रु पर चढ़ाई करना दो प्रकार का यान कहा जाता है।। १६५।।

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्।। १६६।।

प्राग्जन्मार्जितेन दुष्कृतेन ऐहिकेन वा पूर्वकृतेन क्रमशः क्षीणहस्त्यश्वकोशादिकस्य समृद्धस्यापि वा मित्रानुरोधेन तत्कार्यरक्षार्थमित्येवं द्विविधमासनं मुनिभिः स्मृतम्।। १६६।।

भाग्यवश या पूर्व में किए गए कर्मों के कारण क्रमशः क्षीण हुए शत्रु की स्वयं या फिर मित्र राजा के अनुरोध से शत्रु राजा के प्रति की गई उपेक्षावृत्ति ही दो प्रकार का 'आसन' कही गई है।। १६६।।

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः।। १६७।।

साध्यस्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं बलस्य हस्त्यश्वादेः सेनाधिपत्याधिष्ठितस्य एकत्र शत्रुनृपोपद्रववारणार्थमवस्थानमन्यत्र दुर्गदेशे राज्ञः कतिचिद्बलाधिष्ठितस्यावस्थानमेवं संध्यादिगुणषट्कोपकारज्ञैः द्विविधं द्वैधं कीर्त्यते।। १६७।।

राजनीति के छः गुणों के ज्ञाता विद्वानों ने द्वैधीभाव को दो प्रकार का कहा है, कार्य के प्रयोजन की सिद्धि के लिए सेना का, सेनापति के अथवा स्वयं अपने अधीन रखना।। १६७।।

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः।। १६८।।

शत्रुभिः पीड्यमानस्य शत्रुपीडानिवृत्त्याख्यप्रयोजनसिद्ध्यर्थम्, असत्यामपि वा तत्काले पीडायां भाविशत्रुपीडनशङ्कया अमुकमयं महाबलं नृपतिमाश्रित इति सर्वत्र व्यपदेशोत्पादनार्थं बलवन्तमुपाश्रयणमेवं द्विविधः संश्रयः स्मृतः।। १६८।।

इसीप्रकार शत्रुओं द्वारा पीडित होते हुए राजा की अपनी रक्षा के लिए तथा भविष्य में होने वाली पीड़ा की आशंका को समाप्त करने के लिए किसी सज्जन एवं बलशाली राजा का आश्रय लेना रूप, दो प्रकार का संश्रय कहा गया है।। १६८।।

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत्।। १६९।।

यदा युद्धोत्तरकाले निश्चितमात्मन आधिक्यं जानीयात्तदात्वे तत्कालेऽल्पधनाद्युपक्षयः तदा त्वल्पमङ्गीकृत्यापि संधिमाश्रयेत्।। १६९।।

राजा जब भविष्य में होने वाली निश्चित उन्नति को तथा वर्तमानसमय में होने वाले कष्ट को, अत्यल्प समझे तो उसे सन्धि का आश्रय लेना चाहिए।। १६९।।

यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्।। १७०।।

यदामात्यादिकाः सर्वाः प्रकृतीर्दानसंमानाद्यैरतीव तुष्टा मन्येत आत्मानं च हस्त्यश्वकोशादिशक्तित्रयेणोपचितं तदा विग्रहमाश्रयेत्।। १७०।।

किन्तु जब शत्रु की सम्पूर्ण प्रजा अत्यधिक अशान्त हो तथा स्वयं को अत्यन्त बलशाली माने, तब शत्रु के साथ युद्ध करे।। १७०।।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति।। १७१।।

यदात्मीयममात्यादिसैन्यं हर्षयुक्तं धनादिना पुष्टं तत्त्वतो जानीयात्, शत्रोश्चामायादिबलं विपरीतं तदा तं लक्षीकृत्य यायात्।। १७१।।

जब राजा अपनी सेना को मन से प्रसन्न तथा सामर्थ्यसम्पन्न माने तथा शत्रु की सेना को इसके विपरीत अप्रसन्न तथा कमजोर समझे, तभी शत्रु के प्रति युद्ध के लिए प्रस्थान करे।। १७१।।

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन्।। १७२।।

यदा पुनर्वाहनेन हस्त्यश्वादिना बलेन चामात्यादिविपत्त्यादिपरिक्षीणो भवेत्तदा सामोपदाप्रदानादिना शत्रून्प्रसान्त्वयन्प्रयत्नेनासनमाश्रयेत्।। १७२।।

किन्तु जब राजा वाहन एवं सेना की दृष्टि से अत्यधिक कमजोर हो, तो प्रयत्नपूर्वक धीरे से शत्रुओं को शान्त करके स्वयं भी चुपचाप बैठा रहे।। १७२।।

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम्।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः।। १७३।।

यदा राजा सर्वप्रकारेण बलीयांसमशक्यसंधानं च शत्रुं बुद्ध्येत्तदा कतिचिद्बलसहितः स्वयं दुर्गमाश्रयेत्। बलैकदेशेन च शत्रुविरोधमाचरेत्। एवं द्विधा बलं कृत्वा मित्रसंग्रहादिकं स्वकार्यं साधयेत्।। १७३।।

जब राजा शत्रु को पूर्णरूप से बलवान् समझे तो अपनी सेना को दो भागों में विभाजित करके अपने कार्य की सिद्धि करे।। १७३।।

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।
तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्।। १७४।।

यदा तु सैन्यानाममात्यादिप्रकृतिदोषादिनातिशयेन ग्राह्यो भवति बलं द्वैधं विधाय दुर्गाश्रयणेनापि नात्मरक्षाक्षमस्तदा शीघ्रमेव धार्मिकं बलवन्तं च राजानमाश्रयेत्।। १७४।।

किन्तु जब वह शत्रुसेनाओं के अधीन होने की स्थिति को प्राप्त हो जावे, तो शीघ्र ही धार्मिक एवं बलवान् राजा का आश्रय ले लेवे।। १७४।।

कीदृशं तं बलवन्तमित्याह —

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा।। १७५।।

यासां दोषेणासौ गमनीयतमो जातस्तासां प्रकृतीनां, यस्माच्च शत्रुबलादस्यभयमुत्पन्नं तयोर्द्वयोरपि यः संश्रितो निग्रहक्षमस्तं नृपं सर्वयत्नैर्गुरुमिव नित्यं सेवेत।। १७५।।

जो मित्र राजा, दुर्बल राजा की प्रकृतियों को तथा शत्रु की सेना को नियन्त्रित करे तो उसकी सभीप्रकार के प्रयत्नों द्वारा दुर्बल राजा को गुरु के समान हमेशा सेवा करनी चाहिए।। १७५।।

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशङ्कः समाचरेत्।। १७६।।

अगतिका हि गतिः संश्रयो नाम। तत्रापि यदि संश्रयकृतं दोषं पश्येत्तदा निःसंशयो भूत्वा शोभनमेव युद्धं तस्मिन्काले समाचरेत्। दुर्बलेनापि बलवतो जयदर्शनान्निहतस्य च स्वर्गप्राप्तेः।। १७६।।

यदि वहाँ भी वह आश्रयदोष का अवलोकन करे, तो उस विषय में सभी शंकाओं का परित्याग करके एकमात्र धर्मयुद्ध का ही आचरण करे।। १७६।।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।। १७७।।

सर्वैः सामादिभिरुपायैर्नीतिज्ञो राजा तथा यतेत, यथास्य मित्रोदासीनशत्रवोऽभ्यधिका न भवन्ति। आधिक्ये हि तेषामसौ ग्राह्यो भवति। धनलोभेन मित्रस्यापि शात्रवापत्तेः।। १७७।।

नीतिशास्त्र में कुशल राजा को सभी सामादि उपायों द्वारा वैसा प्रयास करना चाहिए। जिससे इसके मित्र, शत्रु, और उदासीन राजा अत्यधिक न होवें।। १७७।।

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः।। १७८।।

सर्वेषां कार्याणामल्पानां बहूनामप्यायतिमुत्तरकालं गुणं दोषं विचारयेत्। वर्तमानकालं च शीघ्रसंपादनाद्यर्थं विचारयेत् अतीतानां च सर्वकार्याणां गुणदोषौ किमेषां कृतं विघटितं किं वावशिष्टमित्येवं यथावद्विचारयेत्।। १७८।।

राजा को सभी कार्यों के भविष्य में होने वाले, वर्तमान में हो रहे, भूतकाल में हो चुके, सभीप्रकार के गुण-दोषों का यथार्थरूप से चिन्तन करना चाहिए।। १७८।।

यस्मात्-

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते।। १७९।।

यः कार्याणामागामिकगुणदोषज्ञः स गुणवत्कार्यमारभते दोषवत्परित्यजति। यश्च वर्तमानकाले क्षिप्रमेवावधार्य कार्यं करोति अतीते कार्ये यः कार्यशेषज्ञः स तत्कार्यसमाप्तौ तत्फलं लभते। यस्मादेवंविधकालत्रयसावधानत्वान्न कदाचिच्छत्रुभिर-भिभूयते।। १७९।।

भविष्य के गुण-दोषों को जानने वाला, वर्तमान में शीघ्र निर्णय करने वाला तथा भूतकाल के बचे हुए कार्यों को समझने वाला राजा शत्रुओं द्वारा पराजित नहीं होता है।। १७९।।

किं बहुना-

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः।। १८०।।

यथैनं राजानं मित्रादय उक्ता न बाधेरंस्तथा सर्वसंविधानं कुर्यात् इत्येष सांक्षेपिको नयो नीतिः।। १८०।।

जिसप्रकार मित्र, शत्रु और उदासीन राजा लोग इसे बाधा न पहुँचा सकें, उसीप्रकार सभी कार्य सम्पादित करने चाहिएँ, संक्षेप में यही राजनीति है।। १८०।।

यदा तु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।
तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः।। १८१।।

यदा पुनः शक्तः सन् शत्रुराष्ट्रं प्रति यात्रामारभेत्तदाऽनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण शत्रुदेशमत्वरमाणो गच्छेत्।। १८१।।

किन्तु जब राजा शत्रुराष्ट्र के प्रति युद्ध के लिए प्रस्थान करे तो इस विधि द्वारा धीरे-धीरे शत्रु राष्ट्र की ओर जावे।। १८१।।

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथावलम्।। १८२।।

यश्चतुरङ्गबलोपेतो राजा करिरथादिगमनविलम्बेन बिलम्बितप्रयाणस्तथा हैमन्तिकसस्यबहुलं च परराष्ट्रं जिगमिषुः समुपगमनाय शोभने मार्गशीर्षे मासि यात्रां कुर्यात्। यः पुनरश्वबलप्रायो नृपतिः शीघ्रगतिर्वा सर्वसस्यबहुलं परराष्ट्रं यियासुः स फाल्गुने चैत्रे वा मासि स्वबलयोग्यकालानतिक्रमेण यायात्। अत एवमन्वर्थव्यापारपरं संक्षेपेण याज्ञवल्क्यवचनम्। "यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत्" (अ० २ श्लो० ३४८)।। १८२।।

राजा को शुभ मार्गशीर्ष माह में अथवा फाल्गुन या फिर चैत्र मास में जितनी भी सेना हो, उसके साथ आक्रमण के लिए यात्राहेतु प्रस्थान करना चाहिए।। १८२।।

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः।। १८३।।

उक्तकालव्यतिरिक्तेषु यदात्मनो निश्चितं जयमवगच्छेत्तदा स्वबलयोग्यकाले ग्रीष्मादावपि हस्त्यश्वादिबलप्रायो विगृह्यैव यात्रां कुर्यात्। शत्रोश्चामात्यादिप्रकृतिगोचरदण्डपारुष्यादिव्यसने जातेऽरिपक्षभूतायां तत्प्रकृतावप्युक्तकालादन्यत्रापि यायात्।। १८३।।

किन्तु शत्रु के आपद्ग्रस्त होने पर तथा अन्य समयों में भी जब विजय निश्चित दिखायी दे, जब शत्रुपक्ष में फूट डालकर ही युद्ध के लिए प्रस्थान करे।। १८३।।

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च।। १८४।।
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः।। १८५।।

मूले स्वीयदुर्गराष्ट्ररूपे पार्ष्णिग्राहसंविधानं प्रधानपुरुषाधिष्ठितरक्षार्थं सैन्यै-

कदेशस्थापनरूपं प्रतिविधानं कृत्वा यात्रोपयोगि च वाहनायुधवर्मयात्राविधानं यथाशास्त्रं कृत्वा परमण्डलगतस्य च येनास्यावस्थानं भवति तदुपगृह्य तदीयान्भृत्य पक्षानात्मसात्कृत्वा चारांश्च कापटिकादीन्शत्रुदेशवार्ताज्ञापनार्थं प्रास्थाप्य सम्यक्तया जाङ्गलानूपाटविकविषयभेदेन त्रिविधं पन्थानं मार्गं शोधितपतरुगुल्मादिच्छेदनिम्नोन्नतादिसमीकरणादिना संशोध्य तथा हस्त्यश्वरथपदातिसेनाकर्मकरात्मकं षड्विधं बलं यथोपयोगमाहारौषधसत्कारादिना संशोध्य सांपरायिकं संपरायः संग्रामस्तदुपचितविधिना शत्रुदेशमत्वरया गच्छेत्।। १८४।। १८५।।

दुर्ग की व्यवस्था तथा विधिविधान के साथ यात्रा की व्यवस्था करके, शत्रु के पास के स्थान को भी ग्रहण करके एवं गुप्तचरों को उचित स्थानों पर नियुक्त करके, तीन प्रकार के मार्गों और छः प्रकार की अपनी सेना को संशोधित करके यात्रा के योग्य विधिविधान के साथ, धीरे-धीरे शत्रु के नगर की ओर युद्ध के लिए प्रस्थान करे।। १८४-१८५।।

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः।। १८६।।

यन्मित्रं गूढं कृत्वा शत्रुं सेवते, यश्च भृत्यादिः पूर्वं विरागाद्गतः पश्चादागतस्तयोः सावधानो भवेत्। यस्मात्तावतिशयेन दुर्निग्रहो रिपुः।। १८६।।

इसके अतिरिक्त शत्रु की सेवा में लगे हुए गुप्त मित्र से तथा शत्रु पक्ष में जाकर लौटे हुए व्यक्ति से भी सावधान रहना चाहिए, क्योंकि वह शत्रु से भी अधिक कष्टदायक होता है।। १८६।।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्त शकटेन वा।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा।। १८७।।

दण्डाकृतिव्यूहरचनादि दण्डव्यूहः। एवं शकटादिव्यूहा अपि। तत्राग्रे बलाध्यक्षो मध्ये राजा पश्चात्सेनापतिः पार्श्वयोर्हस्तिनस्तत्समीपे घोटकास्ततः पदातय इत्येवं कृतरचनो दीर्घः सर्वतः समविन्यासो दण्डव्यूहस्तेन तद्यातव्यं मार्गं सर्वतो भये सति यायात्। सूच्याकाराग्रः पश्चात्पृथुलः शकटव्यूहस्तेन पृष्ठतो भये सति गच्छेत्। सूक्ष्ममुखपश्चाद्भागः पृथुमध्यो वराहव्यूहः। एष एव पृथुतरमध्यो गरुडव्यूहस्ताभ्यां पार्श्वयोर्भये सति व्रजेत्। वराहविपर्ययेण मकरव्यूहस्तेनाग्रे पश्चाच्चोभयत्र भये सति गच्छेत्। पिपीलिकापङ्क्तिरिवाग्रपश्चद्भावेन संहतरूपतया यत्र यत्र सैनिकावस्थानं स शीघ्रप्रवीरपुरुषमुखः सूचीव्यूहस्तेनाग्रतो भये सति यायात्।। १८७।।

राजा को उस युद्धहेतु प्रस्थान किये जाने वाले मार्ग पर, दण्डव्यूह अथवा

शकटव्यूह या वाराह एवं मकरव्यूह या सूचीव्यूह अथवा गरुड़व्यूह द्वारा प्रस्थान करना चाहिए।। १८७।।

यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद्बलम्।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्।। १८८।।

यस्या दिशः शत्रुभयमाशङ्केत तस्यामेव बलं विस्तारयेत्समविस्तृतपरिमण्डलो मध्योपविष्टजिगीषुः पद्मव्यूहस्तेन पुरान्निर्गत्य सर्वदा कपटनिवेशनं कुर्यात्।। १८८।।

इसके अलावा राजा जिधर से भी भय की आशंका करे, उधर ही सेना का विस्तार कर दे तथा स्वयं हमेशा पक्षव्यूह द्वारा घिरकर रहे।। १८८।।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।
यतश्च भयमाशङ्केत्प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम्।। १८९।।

हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकस्याङ्गदशकस्यैकः पतिः कार्यः स च पत्तिक उच्यते। पत्तिकदशकस्यैकः पतिः सेनापतिरुच्यते। तद्दशकस्यैक सेनानायकः स एव च बलाध्यक्षः। सेनापतिबलाध्यक्षौ समस्तासु दिक्षु संघर्षयुद्धार्थं नियोजयेत्। यस्याश्च दिशो यदा भयमाशङ्केत्तदा तामग्रे दिशं कुर्यात्।। १८९।।

सेनापति और बलाध्यक्ष दोनों को सभी दिशाओं में नियुक्त करे तथा जहाँ से भय की आशंका हो उसे पूर्व दिशा मानना चाहिए।। १८९।।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंज्ञान्समंततः।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः।। १९०।।

गुल्मान्सैन्यैकदेशानाप्तपुरुषाधिष्ठितान् स्थानापसरणयुद्धार्थंकृतभेरीपटहशङ्खादि-संकेतान् अवस्थानयुद्धयोः प्रवीणान्निर्भयानव्यभिचारिणः सेनापतिबलाध्यक्षान्दूरतः सर्वदिक्षु पारक्यप्रवेशवारणाय शत्रुचेष्टापरिज्ञानाय च नियोजयेत्।। १९०।।

युद्ध करने अथवा न करने की सूचना देने वाले, संकेतों को समझने वाले विश्वस्त, कुशल, निडर, काम-क्रोधादि दोषों से रहित, लोगों को सेना की टुकड़ियों के चारों ओर नियुक्त करना चाहिए।। १९०।।

संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून्।
सूच्या वज्रेण चैवैतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्।। १९१।।

अल्पान्योधान्संहतान्कृत्वा बहून्पुनर्यथेष्टं विस्तारयेत्। सूच्या पूर्वोक्तया वज्राख्येन व्यूहेन त्रिधा व्यवस्थितबलेन रचयित्वा योधान्योधयेत्।। १९१।।

थोड़े सैनिकों को संगठितरूप में युद्ध करावे, संख्या में अधिक को अपनी

इच्छा के अनुसार विस्तार देवे तथा आवश्यकता पड़ने पर सूचीव्यूह तथा वज्रव्यूह द्वारा भी इन्हें व्यूहबद्ध करके युद्ध करावे।। १९१।।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्धयेदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले।। १९२।।

समभूभागे रथाश्वेन युध्येत। तत्र तेन युद्धसामर्थ्यात्तदानुगतोदके नौकाहस्तिभिः। तरुगुल्मावृते धन्विभिर्गर्तकण्टकपाषाणादिरहितस्थले खड्गफलककुन्ताद्यैरायुधैर्युध्येत।। १९२।।

समतल भूमि में रथ तथा अश्वों द्वारा, जल वाले स्थान पर नौका एवं हाथियों द्वारा, वृक्ष और लता आदि से आच्छन्न स्थान पर धनुषों द्वारा और स्थल भाग में तलवार, ढ़ाल, भाला, बर्छी आदि हथियारों से युद्ध करना चाहिए।। १९२।।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालाञ्शूरसेनजान्।
दीर्घांल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत्।। १९३।।

कुरुक्षेत्रभवान्, मत्स्यान्विराटदेशनिवासिनः, पञ्चालान्कान्यकुब्जाहिच्छत्रोद्भवान्, शूरसेनजान्माथुरान्, प्रायेण पृथुशरीरशौर्याहंकारयोगान्सेनाग्रे योजयेत्। तथान्यदेशोद्भवानपि दीर्घलघुदेहान्मनुष्यान्युद्धाभिमानिनः सेनाग्र एव योजयेत्।। १९३।।

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल एवं शूरसेन देश में उत्पन्न हुए लम्बे और छोटे कद वाले लोगों को सेना के आगे के भाग में नियुक्त करना चाहिए।। १९३।।

प्रहर्षयेद्बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत्।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि।। १९४।।

बलं रचयित्वा जये धर्मलाभः अभिमुखहतस्य स्वर्गप्राप्तिः पलायने तु प्रभुदुरितग्रहणं नरकगमनं चेत्याद्यर्थवादैर्युद्धार्थं प्रोत्साहयेत्। तांश्च योधान्केनाभिप्रायेण हृष्यन्ति कुप्यन्ति वेति परीक्षयेत्। तथा योधानामरिभिः सह युध्यमानानामपि सोपध्यनुपधिचेष्टा बुद्ध्येत।। १९४।।

व्यूहरचना करके सेना को प्रोत्साहित करना चाहिए तथा उनकी भलीप्रकार परीक्षा भी लेनी चाहिए। साथ ही शत्रुओं के साथ युद्ध करते हुए, उनकी चेष्टाओं की जानकारी भी रखे।। १९४।।

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्।। १९५।।

दुर्गाश्रयमदुर्गाश्रयं वा रिपुमयुध्यमानमप्यावेष्ट्यासीत। अस्य च देशमुत्सादयेत्। तथा घासान्नोदकेन्धनानि सर्वदाऽस्यापद्रव्यसंमिश्रणादिना दूषयेत्।। १९५।।

शत्रु को घेर कर पड़ा रहे तथा इसके राष्ट्र को उत्पीडित करता रहे। इसके पशुओं के चारे अन्न, जल तथा ईंधन को निरन्तर दूषित करता रहे।। १९५।।

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा।। १९६।।

शत्रोरुपजीव्यानि तडागादीनि नाशयेत्, तथा दुर्गप्राकारादीन्भिन्द्यात्, तत्परिखाश्च भेदेन पूरणादिना निरुदकाः कुर्यात्। एवं च शत्रूनशङ्कितमेव सम्यगवस्कन्दयेत्तथा शक्तिं गृह्णीयात्। रात्रौ च ढक्काकाहलिकादिशब्देन वित्रासयेत्।। १९६।।

इसके अतिरिक्त शत्रु के तालाब, दुर्ग की दीवार तथा खाइयों को भी तोड़ डाले। इसप्रकार इसे पूर्णरूप से निर्बल कर दे और रात्रि में शत्रु को अनेक प्रकार से भयभीत करता रहे।। १९६।।

उपजप्यानुपजपेद्बुध्येतैव च तत्कृतम्।
युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेतभीः।। १९७।।

उपजपार्हान् रिपुवंश्यान् राज्यार्थिनः क्षुब्धानमात्यादींश्च भेदयेत्। उपजापेनात्मीयकृतां च तेषां चेष्टां जानीयात्। शुभग्रहदशादिना शुभफलयुक्ते दैवेऽवगते निर्भयो जयेप्सुर्युध्येत।। १९७।।

शत्रु के फूट डालने योग्य लोगों में फूट डाल देवे और उसके प्रत्येक कार्य की जानकारी रखे। विजय प्राप्त करने का इच्छुक निडर राजा भाग्य के अनुकूल होने पर ही युद्ध करे।। १९७।।

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।
विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।। १९८।।

प्रीत्यादरदर्शनहितकथनाद्यात्मकेन साम्ना हस्त्यश्वरथहिरण्यादीनां च दानेन तत्प्रकृतीनां तदनुयायिनां च राज्यार्थिनां भेदेन। एतैः समस्तैर्व्यस्तैर्वा यथासामर्थ्यमरीन्जेतुं यत्नं कुर्यान्नं पुनः कदाचिद्युद्धेन।। १९८।।

राजा को हमेशा पहले साम, दान और भेद इन तीनों उपायों से संयुक्तरूप से अथवा अलग-अलग शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए, कभी भी युद्ध से शत्रु को जीतने की कोशिश न करे।। १९८।।

अनित्यो विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः।
पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्।। १९९।।

यस्माद्युध्यमानयोर्बहुलबलत्वाद्यल्पबलत्वाद्यनपेक्षमेवानियमेन जयपराजयौ दृश्येते तस्मात्सत्युपायान्तरे युद्धं परिहरेत्।। १९९।।

क्योंकि युद्ध कर रहे दोनों राजाओं की हार और जीत अनिश्चित रहती है। इसलिए पहले युद्ध का परित्याग ही करे।। १९९।।

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे।
तथा युध्येत संपन्नो विजयेत रिपून्यथा।। २००।।

पूर्वोक्तानां त्रयाणामपि सामादीनामुपायानामसाधकत्वे सति जयपराजयसंदेहेऽपि तथा प्रयत्नवान्सम्यग्युध्येत। तथा शत्रूञ्जयेत्। यतो जयेऽर्थलाभोऽभिमुखमरणे च स्वर्गप्राप्तिः। निःसंदिग्धे तु पराजये युद्धादपसरणं साधीयः। यथा वक्ष्यति "आत्मानं सततं रक्षेत्" (अ० ७ श्लो० २१३)। इति मेधातिथिगोविन्दराजौ।। २००।।

पूर्व में कहे गए तीन उपायों के सफल होने की सम्भावना न होने पर ही जिसप्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो सके, उसीप्रकार शक्तिसम्पन्न राजा युद्ध करे।। २००।।

जित्वा संपूजयेद्देवान्ब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।
प्रदद्यात्परिहारांश्च ख्यापयेदभयानि च।। २०१।।

परराष्ट्रं जित्वा तत्र ये देवास्तान्धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान्भूमिसुवर्णादिदानसंमानादिभिः पूजयेत्। जितद्रव्यैकदेशदानादिनैव चेदं पूजनम्। तदाह याज्ञवल्क्यः—"नातः परतरो धर्मो नृपाणां यद्रणार्जितम्। विप्रेभ्यो दीयते द्रव्यं प्रजाभ्यश्चाभयं सदा" (अ० १ श्लो० ३२३)। तथा देवब्राह्मणार्थं मयैतद्दत्तमिति तद्देशवासिनां परिहारान्दद्यात्। तथा स्वामिभक्त्या यैरस्माकमपकृतं तेषां मया क्षान्तमिदानीं निर्भयाः सन्तः सुखं स्वव्यापारमनुतिष्ठन्त्वित्यभयानि ख्यापयेत्।। २०१।।

शत्रु पर विजय प्राप्त करने के बाद देवताओं, धार्मिकों एवं ब्राह्मणों की पूजा करनी चाहिए। युद्ध के कारण नुकसान हुए लोगों को भी पर्याप्तमात्रा में सहायता देनी चाहिए तथा इस दौरान ही भयभीत लोगों के लिए अभय की भी घोषणा करनी चाहिए।। २०१।।

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्।। २०२।।

येषां शत्रुनृपामात्यानां सर्वेषामेव संक्षेपतोऽभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मिन्राष्ट्रे बलनिहत-राजवंश्यमेव राज्येऽभिषेचयेत्। इदं कार्यं त्वया, इदं नेति तस्य तदमात्यानां च नियमं कुर्यात्।। २०२।।

किन्तु इस विषय में शत्रु राजा के मन्त्री आदि सभी की किये जाने योग्य इच्छा को संक्षेप में जानकर, वहाँ उसी शत्रु राजा के वंशज को सिंहासन पर अभिषिक्त कर दे। साथ ही शर्तनामा भी कर लेवे।। २०२।।

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान्।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह।। २०३।।

तेषां च परकीयानां धर्मादनपेतानाचारान्देशधर्मतया शास्त्रेणाभ्युपेतान्प्रमाणीकुर्यात्। एनं चाभिषिक्तममात्यादिभिः सह रत्नादिदानेन पूजयेत्।। २०३।।

इसके अतिरिक्त विजयी राजा विजित लोगों के पूर्वप्रचलित धार्मिककृत्यों को भी स्वीकृति प्रदान करे एवं राज्य के प्रधानपुरुषों के साथ अभिषिक्त राजा का रत्नों द्वारा सम्मान करे।। २०३।।

यस्मात्—

आदानमप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते।। २०४।।

यद्यप्यभिलषितानां द्रव्याणां ग्रहणमप्रियकरं दानं च प्रियकारकमित्युत्सर्गस्तथापि समयविशेषे दानमादानं च प्रशस्यते। तस्मात्तस्मिन्काल एवं पूजयेत्।। २०४।।

क्योंकि मनोवांछित पदार्थों का छिनना उसे (शत्रु राजा को) बुरा लगता है, किन्तु उसको वापस देना उसे अच्छा लगता है। इसलिए विशेष अवसरों पर लेना तथा देना दोनों ही प्रशंसनीय माने गए हैं।। २०४।।

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।
तयोर्दैवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया।। २०५।।
(दैवेन विधिना युक्तं मानुष्यं यत्प्रवर्तते।
परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समाधकम्।। १४।।
संयुक्तस्यापि दैवेन पुरुषकारेण वर्जितम्।
विना पुरुषकारेण फलं क्षेत्रं प्रयच्छति।। १५।।
चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निरापस्तथैव च।
इह दैवेन साध्यन्ते पौरुषेण प्रयत्नतः।। १६।।)

यत्किंचित्संपाद्यं तत्प्राग्जन्मार्जितसुकृतदुष्कृतरूपे कर्मणि दैवशब्दाभिधेये, तथेहलोकार्जितमानुषशब्दवाच्ये व्यापारे आयत्तं, तयोर्मध्ये दैवं चिन्तयितुमशक्यम्। मानुषे तु पर्यालोचनमस्ति। अतो मानुषद्वारेणैव कार्यसिद्धये यतितव्यम्।। २०५।।

इस संसार में सभी कुछ कार्य भाग्य एवं मनुष्य के कर्म के अधीन हैं। उन दोनों में भी भाग्य तो अचिन्त्य है। इसलिए व्यक्ति के कर्म ही प्रमुख होते हैं।। २०५।।

(भाग्य की अनुकूलता के साथ जो मनुष्य द्वारा कार्य किया जाता है, वह अत्यधिक कष्टों के उपरान्त भी सफलता को प्राप्त करता है।। १४।।

भाग्य से जुड़ा हुआ पुरुषार्थ के अभाव में कार्य बिना परिश्रम के खेत में डाले गए बीज के समान ही फल प्रदान करता है।। १५।।

इस संसार में चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह, वायु, अग्नि और जल ये सभी दैव-सहित पुरुषार्थ द्वारा ही कार्यसिद्धि करते हैं।। १६।।)

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।
मित्रं हिरण्ये भूमिं वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम्।। २०६।।

एवमुपक्रमणीयेन शत्रुणा युद्धं कार्यम्। यदि वा स एव मित्रं तेन च दत्तं हिरण्यं भूम्येकदेशो वार्पितं एतत्त्रयं यात्राफलम्। तेन सह सधिं कृत्वा यत्नवान्व्रजेत्।। २०६।।

या फिर विजयी राजा, मित्र, स्वर्ण, एवं भूमि इन तीनप्रकार के फलों पर भलीप्रकार विचार करते हुए, प्रयत्नपूर्वक उस विजित राजा के साथ संधि करके चला जावे।। २०६।।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।
मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्।। २०७।।

विजिगीषोररिं प्रति निर्यातस्य यः पृष्ठवर्ती नृपतिर्देशाक्रमणाद्याचरति स पार्ष्णिग्राहस्तस्य तथा कुर्वतो यो नियामकस्तस्यानन्तरो नृपतिः स आक्रन्दस्तावपेक्ष्य यातव्यम्। मित्रीभूतादमित्राद्वा यात्राफलं गृह्णीयात्। तावनपेक्ष्य गृह्णन्कदाचित्तत्कृतेन दोषेण गृह्यते।। २०७।।

विजयी राजा अपने राज्यमण्डल में पार्ष्णिग्राह तथा आक्रन्द के विषय में भलीप्रकार विचार करके ही यात्रा करे। इसके अलावा संधि किया हुआ शत्रु (मित्र) तथा हारा हुआ शत्रु (अमित्र) इन दोनों से अपनी यात्रा के फल सुवर्ण, भूमि आदि को अवश्य ले लेवे।। २०७।।

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्।। २०८।।

सुवर्णभूमिलाभेन तथा राजा न वृद्धिमेति यथेदानीं कृशमप्यागामिकाले वृद्धियुतं स्थिरं मित्रं लब्ध्वा वर्धते।। २०८।।

स्वर्ण तथा भूमि की प्राप्ति से राजा उसप्रकार की वृद्धि प्राप्त नहीं करता है, जैसी वर्तमान में कमजोर होने पर भी भविष्य में अत्यधिक लाभ प्रदान करने वाले स्थायीमित्र को प्राप्त करके वृद्धि को प्राप्त करता है।। २०८।।

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते।। २०९।।

धर्मज्ञं, कृतोपकारस्य स्मर्तृ, सानुरागमनुरक्तं, स्थिरकार्यारम्भं, प्रीतिमत्प्रकृतिकं यत्तन्मित्रमतिशयेन शस्यते।। २०९।।

धर्म के बारे में जानने वाला, किए हुए उपकार को मानने वाला तथा सन्तुष्ट स्वभाव वाला, प्रेम करने वाला, आरम्भ किए गए कार्यों में धैर्य रखने वाला, छोटी स्थिति वाला भी मित्र प्रशंसनीय होता है।। २०९।।

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।
कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुधाः।। २१०।।

विद्वांसं, महाकुलं, विक्रान्तं, चतुरं, दातारं, उपकारस्मर्तारं, सुखदुःखयोरेकरूपं शत्रुं दुरुच्छेदं पण्डिता वदन्ति। तेनैवंविधशत्रुणा सह संधातव्यम्।। २१०।।

विद्वान् लोग बुद्धिमान्, कुलीन, पराक्रमी, कुशल, दानी, कृतज्ञ तथा धैर्यवान् शत्रु को कठिनता से जीतने योग्य कहते हैं।। २१०।।

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः।। २११।।

साधुत्वं पुरुषविशेषज्ञता, विक्रान्तत्वं, कृपालुत्वं, सर्वदा च स्थौललक्ष्यं बहुप्रदत्वम्। अतएव "स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे" (अमरकोषे विशेष्यनिघ्ने श्लो० ६) इत्याभिधानिकाः। स्थौललक्ष्यमर्थेऽसूक्ष्मदर्शित्वमिति तु मेधातिथिगोविन्दराजयोः पदार्थकथनमनागमम्, एतदुदासीनगुणसामग्रं, तस्मादेवंविध-मुदासीनमाश्रित्योक्तलक्षणेनाप्यरिणा सह योद्धव्यम्।। २११।।

सज्जनता, लोगों की ठीक-ठीक पहचान, शूरवीरता, दयालु स्वभाव एवं हमेशा उदारतापूर्ण आचरण करना ये उदासीन राजा के गुण होते हैं।। २११।।

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुवृद्धिकरीमपि।
परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमविचारयन्।। २१२।।

अनामयादिकल्याणक्षमामपि, नदीमातृकतया सर्वदा सर्वसस्यप्रदामपि, प्रचुर-तृणादियोगात्पशुवृद्धिकरीमपि भूमिमात्मरक्षार्थमविलम्बमानो राजा निजरक्षाप्रकारान्तरा-भावात्परित्यजेत्।। २१२।।

अपनी रक्षा के लिए राजा, बिना विचार किए ही कल्याणकारी, धनधान्य प्रदान करने वाली, पशुओं की वृद्धि करने वाली भूमि का भी, हमेशा परित्याग कर देवे।। २१२।।

यस्मात्सर्वविषयोऽयं धर्मः स्मर्यते—

आपदर्थं धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि।। २१३।।

आपन्निवरणार्थं धनं रक्षणीयम्। धनपरित्यागेनापि दारान्रक्षेत्। आत्मानं पुनः सर्वदा दारधनपरित्यागेनापि रक्षेत्। "सर्वत एवात्मानं योपायीत" इति श्रुत्या शास्त्रीयमरणव्यतिरेकेणात्मरक्षेत्युपदेशात्।। २१३।।

आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धनों द्वारा स्त्रियों की रक्षा करे तथा स्त्रियों एवं धनों द्वारा भी हमेशा स्वयं की रक्षा करे।। २१३।।

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः।। २१४।।

कोशक्षयप्रकृतिकोशमित्रस्य व्यसनादिकाः सर्वा आपदो युगपदतिशयेनोत्पन्ना ज्ञात्वा न मोहमुपेयात्। अपि तु व्यस्तान्समस्तान्वा सामादीनुपायान्शास्त्रज्ञः संप्रयु-ञ्जीत।। २१४।।

सभी आपत्तियों के अत्यधिक मात्रा में एक साथ अपने पर, भलीप्रकार सोच-विचार करके ही राजनीति में निपुण व्यक्ति को संयुक्तरूप से और अलग-अलग राजनीति के सभी उपायों सामदानादि का प्रयोग करना चाहिए।। २१४।।

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः।
एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये।। २१५।।

उपेतारमात्मानं, उपेयं प्राप्तव्यं, उपायाः सामादयः सर्वे ते च परिपूर्णा एतत्त्रयम-वलम्ब्य यथासामर्थ्यं प्रयोजनसिद्धये यत्नं कुर्यात्।। २१५।।

इसप्रकार राजा इन सब सामादि उपायों के विषयों में अपने मन्त्रियों के साथ

भलीप्रकार विंचार करके, इन तीनों उपायों का अपनी सामर्थ्य के अनुसार प्रयोग करके, अपने प्रयोजन की सिद्धि करे।। २१५।।

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः।
व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्।। २१६।।

एवमुक्तप्रकारेण सर्वराजवृत्तं मन्त्रिभिः सह विचार्य अनन्तरमायुधाभ्यासादिना व्यायामं कृत्वा मध्याह्ने स्नानादिकं माध्याह्निकं कृत्यं निर्वाह्य भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्।। २१६।।

इसप्रकार राजा इन सब विषयों को अपने मन्त्रियों के साथ भलीप्रकार विचार करके, व्यायाम तथा स्नान करके मध्याह्न के भोजन के लिए अन्तःपुर में प्रवेश करे।। २१६।।

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मन्त्रैर्विषापहैः ।। २१७।।

तत्रान्तःपुर आत्मतुल्यैर्भोजनकालवेदिभिरभेद्यैः सूपकारादिभिः कृतं सुष्ठु च परीक्षितं चकोरादिदर्शनेन। सविषमन्नं दृष्ट्वा चकोराक्षिणी रक्ते भवतः। विषापहैर्मन्त्रैर्जपिमन्नमद्यात्।। २१७।।

वहाँ आत्मीय, भोजन के समय को भलीप्रकार जानने वाले, ज़िन्हें शत्रुओं द्वारा तोड़ा न जा सके, इसप्रकार के सेवकों द्वारा तैयार किये गये, भलीप्रकार परीक्षा किए गए अन्नादि को, विषनाशक मन्त्रों का उच्चारण करके खावे।। २१७।।

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्।
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा।। २१८।।

विषनाशिभिरौषधैः सर्वाणि भोज्यद्रव्याणि योजयेत्। विषहरणानि च रत्नानि यत्नवान्सर्वदा धारयेत्।। २१८।।

इसके अतिरिक्त इस राजा के सभी खाद्यपदार्थों को विषनाशक औषधियों से संयुक्त करना चाहिए तथा इसे हमेशा विषनाशक रत्नों को भी धारण करना चाहिए।। २१८।।

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः।
वेषाभरणसंशुद्धाः स्पृशेयुः सुसमाहिताः।। २१९।।

स्त्रियश्च गूढचारद्वारेण कृतपरीक्षा गुप्तायुधग्रहणविषलिप्ताभरणधारणशङ्कया

निरूपितवषाभरणो अनन्यमनसः चामरस्नानपानाद्युदकधूपनैरेनं राजानं परिचरेयु
।। २१९।।

परीक्षा ली हुई, परिशुद्ध वेष और आभरण धारण करने वाली तथ
एकाग्रचित्त से काम करने वाली स्त्रियाँ चंवर, जल और सुगन्धितपदार्थों द्वार
राजा की सेवा करें।। । २१९।।

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च।। २२०।।

एवंविधपरीक्षादिप्रयत्नं वाहनशय्यासनाशनस्नानन्नुलेपनेषु सर्वेषु चालंकरणार्थेषु
कुर्यात्।। २२०।।

राजा इसप्रकार यान, आसन, शय्या, भोजन, स्नान, प्रसाधन तथा सभी
आभूषणों के विषय में अपनी सुरक्षा का प्रयास करे।। २२०।।

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।
विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्।। २२१।।

कृतभोजनश्च तत्रैवान्तःपुरे भार्याभिः सह क्रीडेत्। कालानतिक्रमेण च सप्तमे
दिवसस्य भागे तत्र विहृत्याष्टमे भागे पुनः कार्याणि चिन्तयेत्।। २२१।।

तथा भोजन करके अन्तःपुर में ही स्त्रियों के साथ विहार करे, किन्तु विहार
करके समय के अनुसार फिर से राज्यकार्यों का चिन्तन करे।। २२१।।

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च।। २२२।।

कृतालंकारः सन्नायुधजीविनं, वाहनानि हस्त्यश्वादीनि, सर्वाणि च शस्त्राणि
खड्गादीनि, अलंकाररचनादीनि च पश्येत्।। २२२।।

इसके पश्चात् आभूषणों आदि से सुसज्जित होकर, सशस्त्र सैनिकों को,
हाथी, घोड़े आदि वाहनों को तथा सभीप्रकार के शस्त्रों को, आभूषणों को सूक्ष्म
दृष्टि से देखे।। २२२।।

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत्।
रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम्।। २२३।।

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम्।
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः।। २२४।।

ततः संध्योपासनं कृत्वा तस्मात्प्रदेशात्कक्षान्तरं विविक्तप्रकोष्ठावकाशमन्यद्गत्व गृहाभ्यन्तरे धृतशस्त्रो रहस्याभिधायिनां चराणां स्वव्यापारं शृणुयात्। ततस्तं चरं संप्रेष्य परिचारिकास्त्रीवृतः पुनर्भोक्तुमन्तःपुरं विशेत्।। २२३।। २२४।।

संध्या के समय देवोपासना करके, शस्त्र धारण किए हुए ही भीतर कमरे में गुप्तवार्ता बताने वाले, गुप्तचरों के क्रियाकलापों के बारे में सुने। उसके बाद दूसरे कमरे में जाकर गुप्तचरों को भलीप्रकार निर्देशित करके, स्त्रियों से घिरा हुआ सायंकालीन भोजन के लिए अन्तःपुर में प्रवेश करे।। २२३-२२४।।

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः।
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः।। २२५।।

तत्रान्तःपुरे वादित्रशब्दैः श्रुतिसुखैः प्रहर्षितः किंचिद्भुक्त्वा नातितृप्तः कालानतिक्रमेण गतार्धप्रहरायां रात्रौ स्वप्यात्। ततो रात्रेः पश्चिमयामे च विश्रान्तः सन्नुत्तिष्ठेत्।। २२५।।

तत्पश्चात् वहाँ कुछ खाकर प्रसन्नचित्त हुआ, तूर्यघोष के साथ यथासमय सो जावे तथा थकानरहित होकर रात्रि के चौथे प्रहर में उठ जावे।। २२५।।

एद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।
अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत्।। २२६।।

एतद्यथोक्तप्रकारप्रजारक्षणादिकं नीरोगो राजा स्वयमनुतिष्ठेत्। अस्वस्थः पुनः सर्वमेतद्योग्यश्रेष्ठामात्येषु समर्पयेत्।। २२६।। (क्षे० श्लो० १६)

निरोगी होने पर राजा यह सब विधान स्वयं करे, किन्तु अस्वस्थ होने पर यह सब सेवकों को सौंप देवे।। २२६।।

इति मानवे धर्मशास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां सप्तमोऽध्यायः।। ७।।

इति श्रीकुल्लूकभट्टकृतायां मन्वर्थमुक्तावल्यां मनुवृत्तौ सप्तमोऽध्यायः।। ७।।

।। इसप्रकार मानवधर्मशास्त्र में महर्षिभृगु द्वारा कही गई संहिता के अन्तर्गत सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ।।

।। इसप्रकार डॉ. राकेश शास्त्री द्वारा सम्पादित मनुस्मृति सप्तम अध्याय का हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।।